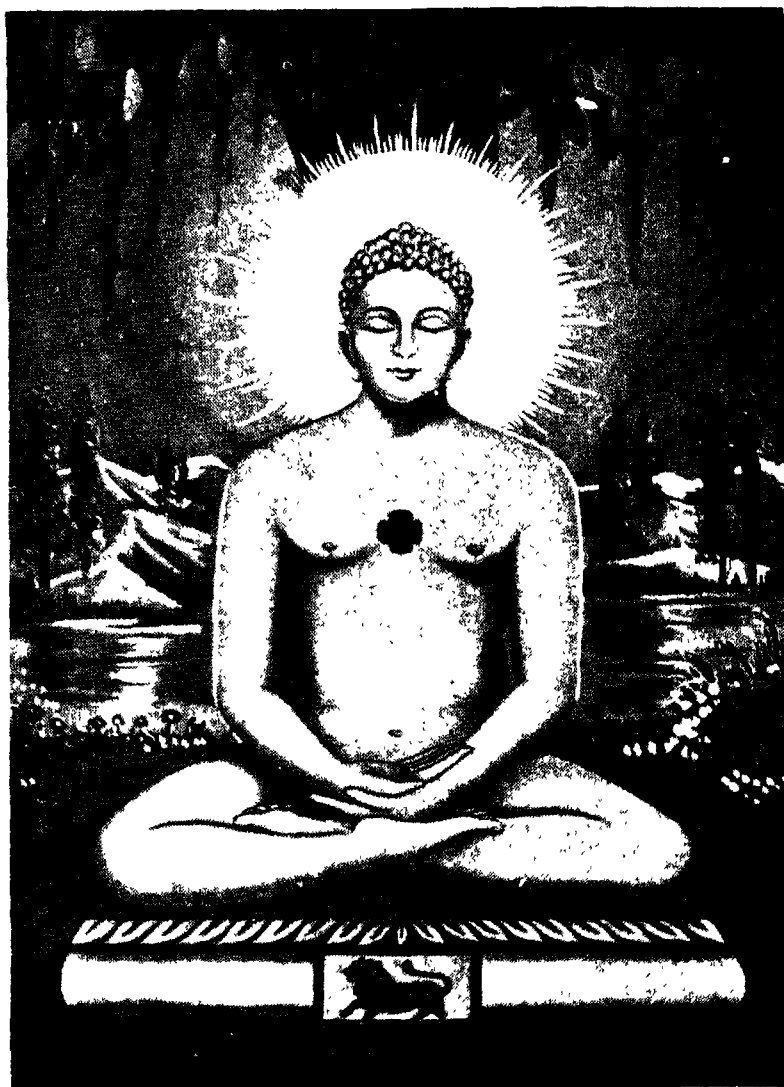


ਮਿਤਰਾਂ ਦੇ ਨਾਲ ਮੇਰੀ ਸ਼ਾਇਰੀ ਪੜ੍ਹ ਕੇ ਖੁਸ਼ ਹੋਣ।

१० दिनांक १२/१२/२०११ को ३-११-११
 को १२-११-११ को १२-११-११ को १२-११-११
 को १२-११-११ को १२-११-११ को १२-११-११

अनेकान्त



अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर

समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का मुखपत्र

विषय-मूची

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
१.	श्री शान्तिनाथ स्तवनम् — वादीभूमिह	१
२.	गवालियर के तोमर राजवंश के समय जैनधर्म — परमानन्द शास्त्री	२
३.	श्री अनुरिक्ष पाश्वनाथ पीली मन्दिर शिरपुर — नेमचन्द धन्नुमा जैन	११
४.	ज्ञानार्णव न योग शास्त्र — एक तुलनात्मक अध्ययन — बालचन्द्र मिश्रदास शास्त्री	१७
५.	रूपक पद (गीत) — कवि घासीराम	२७
६.	चारु कीर्ति — डा० विद्याधर जोहग पुरकर	२८
७.	भ० विनयचन्द्र के समय पर विचार — परमानन्द जैन शास्त्री	३०
८.	धनपाल विरचित भविस्यत्तकहा और उसकी रचना तिथि — डा० देवेन्द्रकुमार जैन	३३
९.	जैन आगमों के कुछ विचारणीय शब्द — मुनि श्री नथमल जी	४०
१०.	श्री गुरुवर्य गोपालदास जी वरेया — प० मारणकचन्द्र जी न्यायाचार्य	४२
११.	रविवर प० श्रीपाल-व्यक्तित्व एवं कृतित्व डा० केशवचन्द्र कासलीवाल	४६

डा० प्र० ने० उपाध्ये
डा० प्रेमसागर जैन
श्री यशपाल जैन



अनेकान्त के पाठकों से

अनेकान्त के प्रेमी पाठकों से निवेदन है कि पिछले एक के साथ सदस्य फीस समाप्त हो चुकी है। अब यह २०वें नये वर्ष का प्रथमांक है, अतएव इस चालू वर्ष का वार्षिक मूल्य ६) रुपया इस किरण के मिलने ही मनीआर्डर में भेजने की कृपा करें। अन्यथा अगला एक बी. पी. में भेजने में १० पैसे अधिक देने होंगे। आशा है प्रेमी पाठक इस निवेदन पर ध्यान देंगे।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

वीरसेवामन्दिर २१, दरियागज, दिल्ली



वीरसेवामन्दिर की सहायता

वीर सेवामन्दिर को बाबू निर्मलकुमार जी मुपुत्र बाबू नन्दलाल जी सरावगी ने श्रवण बेल्गोल के मस्तक-भिषेक में लौटते हुए वीर सेवामन्दिर में ठहरे थे। आपन २१) रुपया प्रदान किए, इसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

व्यवस्थापक

वीरसेवा मन्दिर, २१ दरियागज दिल्ली

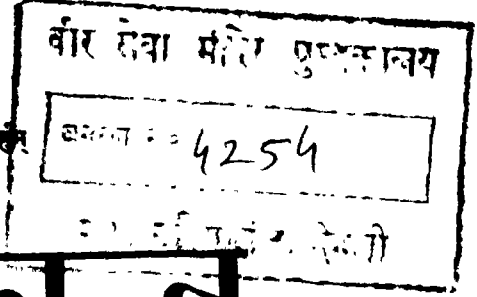


अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैसे

अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्पादक मण्डल उत्तरदायी नहीं है।

व्यवस्थापक अनेकान्त

अनेकान्त



परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमयनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २० }
किरण १ }

वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६
वीर निर्वाण सवत् २४९३, वि० सं० २०२३

{ अप्रेल
सन् १९६७

श्री शान्तिनाथ-स्तवनम्

भगवन् दुर्णयध्वान्तराकीर्णं पथि मे सति ।
सज्जानदीपिका भूयात्संसारवधिवर्धनी ॥
जन्म-जोर्णाटवीमध्ये जनुवान्धस्य मे सती ।
सन्मार्गे भगवन् भक्तिर्भवतान्मुक्तिदायिनी ॥
स्वान्तशान्ति ममेकान्तामनेकान्तकनायकः ।
शान्तिनाथो जिनः कुप्रतिसंप्रतिक्लेशशान्तये ॥

—वादीभसिंह

अर्थ—हे भगवन् ! दुर्णय रूप अन्धकार से व्याप्त मेरे मार्ग मे आपकी भक्ति मोक्ष की प्रकाशक सम्यग्ज्ञान रूप दीपिका होवे । अर्थात् मुझे उस परम ज्ञान की प्राप्ति हो जिसमे मेरा अज्ञान दूर हो ॥

हे भगवन् ! जन्म जरा मरण रूप संसार वन मे जन्माश्रय की तरह भ्रमण करते हुए मुझे सन्मार्ग मे प्रवृत्ति कराने वाली आपकी भक्ति मुक्ति देने वाली हो जाय ।

अनेकान्त अथवा स्याद्वाद के नायक हे शान्तिनाथ जिन ! संसार-सम्बन्धी दुःखों को शान्त करने के लिए मेरे अन्तःकरण में दृढ़ शान्ति उत्पन्न करें । अर्थात् आपकी भक्ति से मेरे अन्तर्मानस में ऐसी सुदृढ़ शान्ति उत्पन्न हो, जिसका कभी विनाश न हो सके ।

ग्वालियर के तोमर राजवंश के समय जैनधर्म

परमानन्द जैन शास्त्री

‘तोमर’ शब्द एक प्रतिष्ठित प्राचीन क्षत्रिय जाति का सूचक है। इस वंश के राजा अन्नंगपाल प्रथम द्वारा दिल्ली को बसाये जाने का श्रेय प्राप्त है+ इतना ही नहीं किन्तु इस वंश के अनेक राजाओं ने दिल्ली और उसके आस-पास के प्रदेशों पर शासन किया है। संभवतः ग्वालियर का तोमर राजवंश भी दिल्ली के तोमर वंश का वंशज हो, लगता है दिल्ली का राज्य चले जाने पर वह वंश ग्वालियर की ओर चला गया हो। ग्वालियर के तोमर वंश ने डेढ़ सौ वर्ष के लगभग शासन किया है। ग्वालियर के तोमर राजाओं के नाम इस प्रकार हैं—

वीरसिंह, उद्धरणसिंह, वीरमदेव, गणपतिदेव, डूंगर सिंह, कीर्तिसिंह या करणसिंह, कल्याणमल, मानसिंह और विश्वमादित्य।

इनमें वीरसिंह दिल्ली के बादशाह की सेवा में रह कर ग्वालियर का किलेदार नियत हुआ था। परन्तु वहाँ के शय्यद किलेदार ने वीरसिंह को किला सोपने से इकार कर दिया। फिर भी वीरसिंह ने उससे मित्रता बढ़ाने का यत्न किया और उसको अपने यहाँ मेहमान कर नशीली चीजों से मिश्रित भोजन कराया और जब वह बेहोश हो गया तब उसे कैद कर लिया। यह सन् १३७५ (वि० स० १४३२) की घटना है। उस समय भारत पर तैमूरलंग ने आक्रमण किया था, तब भारत में मुस्लिम सत्ता ड़ाबा-

+ देशोस्ति हरियानाख्या पृथिव्या स्वर्गसन्निभ।

दिल्लकाख्यापुरी तत्र तोमरेरस्ति निर्मिता ॥१॥

—दिल्ली म्यूजियम लेख।

१. जातः श्रीवीरसिंहः सकलरिपुकुलव्रातनिर्घातिपातो,
वधो श्रीतोमराणा निजविमलयशोख्यातदिक्चक्रवाल।
दानैर्मानै विवेकैर्न भवति समता येन साक नृपाणा,
केशामेषा कवीना प्रभवति धिषणा वर्णने तद्गुणाना ॥

—यशोधरचरित प्रशस्ति

डोल हो गई थी। इसी समय अवसर पाकर वीरसिंह ने ग्वालियर किले पर अधिकार कर लिया था। वीरसिंह एक वीर पराक्रमी शासक था और राजनीति में दक्ष था। वह बड़ा साहसी और विवेकी था, उसमें दोनों की पचाने और उनका निग्रह करने की क्षमता थी।

उद्धरणदेव वीरसिंह का पुत्र था जो अपने पिता के बाद गद्दी पर बैठा था। संभवतः सन् १४०० (वि० स० १४५७) के आस-पास ही राज्य सत्ता इसके हाथ में आई थी। इसने थोड़े ही समय राज्य किया है। इसके राज्य समय की कोई घटना मेरे अवलोकन में नहीं आई।

वीरमदेव उद्धरणदेव का पुत्र था। सन् १४०२ (वि० स० १४५६) या उसके कुछ समय बाद राज्य संतौ वीरमदेव के हाथ में आई थी। यह राजनीति में चतुर और पराक्रमी शासक था। इसने अपने राज्य की सुदृढ़ व्यवस्था की थी। शत्रु भी इसका भय मानते थे। इसके समय हिजरी सन् ८०५ सन् १४०५ (वि० स० १४६२) में मल्लू इकबाल खा ने ग्वालियर पर चढ़ाई की। परन्तु उसे निराश होकर ही लौटना पड़ा। फिर उसने दूसरी बार ग्वालियर पर घेरा डाला, किन्तु इस बार भी उसे आस-पास के इलाके लूट-पाट कर दिल्ली का रास्ता लेना पड़ा।

२. ईश्वर चूडारत्नं विनिहत करघातवृत्तसंहातः।

चन्द्र इव दुग्धसिधोस्तस्मादुद्धरणभूपतिर्जनितः।

—यशोधरचरित प्रशस्ति

३. तत्पुत्रो वीरमेन्द्रः सकलवसुमतीपालचूडामणियं,
प्रख्यातः सर्वलोके सकलबुधकलानदकारी विशेषात्।
तस्मिन् भूपालरत्ने निखिलनिधिगृहे गोपदुर्गे प्रसिद्धि,
भुजाने प्राज्यराज्यं विगतरिपुभय सुप्रजः सेव्यमानः ॥

—यशोधरचरित प्रशस्ति

४. वि० स० १४६० की लिखित प्रशस्ति में वीरमदेव के राज्य का उल्लेख है, जिसे आगे दिया गया है।

वीरमदेवके महामात्य द्वारा मन्दिर और ग्रंथनिर्माण

कुशराज वीरमदेव का विश्वासपात्र महामात्य था, जो जैसवाल जैन कुल में उत्पन्न हुआ था। राजनीति में दक्ष और पराक्रमी था। इसके पिता का नाम जैनपाल और मैत्रा का नाम 'लोणा' देवी था। कुशराज के ५ भाई और भी थे जिनमें चार बड़े और एक छोटा था। हसराज, सोराज, रैराज, भवराज, ये बड़े भाई थे और क्षेमराज छोटा भाई था। इसने ग्वालियर में चन्द्र-प्रभ जिनका एक विशाल मन्दिर बनवाया था और उसका प्रतिष्ठोत्सव बड़े भारी समारोह के साथ सम्पन्न किया था। कुशराज की तीन पत्नियां थी—रत्नो, लक्षणश्री और कौशीरा। ये तीनों ही धर्मपत्नी सती साध्वी, गुणवती और पतिव्रता थी। नित्य जिनपूजन किया करती

१. वशेऽभूज्जैसवाले विमलगुणभूलण साधुरत्न,
साधुश्री जैनरालो भवदुदितयास्तत्सुतो दानशील ।
जैनेन्द्र राधनेसु प्रमुदित हृदय सेवक. सद्गुण्णा,
लोणाख्या सन्यशीलाऽजनि विमलमतिर्जैनपालस्य भार्या
जान पटननयास्तयो मुकृतिनो श्रीहसराजोभवत्,
तेपामाद्यनमस्तत्तत्तदनुजः सोराजनामाऽजनि ।
रैराजोभवराजक ममजनि प्रख्यातर्कातिमहा—
साधुश्री कुशराजकस्तदनु च श्री क्षेमराजो लघुः ॥६॥
जाताः श्रीकुशराज एव सकलक्षमापालचूडामणः,
श्रीमत्तोमर-वीरमस्य विदितो विश्वासपात्रं महान् ।
मन्त्री मन्त्रविचक्षण. क्षणमय क्षीणारिपक्ष. क्षणात् ।
क्षोणीमीक्षणरक्षणक्षणमतिर्जनः पूज्यारतः ॥७॥
स्वर्गस्पदिसमुद्धिको तिविमलश्चैत्यालय. कारितो,
लोकानां हृदयगमो बहुधर्मचन्द्रप्रभस्य प्रभो ।
येनै तत्समकालमेव रुचिरं भव्यं च काव्य तथा,
साधुश्रीकुशराजकेन सुधिया कीर्त्तेश्चिरस्थापक ॥८॥
तिव्रस्तस्यैव भार्या गुणचरितयुपस्तासु रत्नोभिधाना,
पत्नी धन्या चरित्रा व्रतनियमयुता शील शौचेन युता ।
दात्री देवार्चनाढ्या गृहकृतिकुशला तत्सुतः कामरूपो,
दाता कल्याणसिंहो जिनगुहचरणाराधने तत्परोऽभूत् ॥९॥
लक्षणश्रीः द्वितीयाभूत्सुशीला च पतिव्रता ।
कौशीरा च तृतीयेयमभूद् गुणवती सती ॥१०॥
—यशोधर चरित प्रशस्ति

थी। प्रथम पत्नी रत्नो से कल्याणसिंह नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ था, जो बड़ा ही रूपवान, दानी और जिन-गुरु की चरणाराधना में तत्पर रहता था।

वीरमदेव के राज्य में जैनधर्म धारकों को अच्छा सुप्रवसर मिला था; क्योंकि जब राज्य में सुस्थिरता होती है तब जनता पूजा और उपासना में अपना समय ठीक रूप में लगा सकती है। यद्यपि वह समय विषम स्थिति का था। शत्रुओं की दृष्टि उसे हड़पने की थी, किन्तु वीरमदेव ने राज्य को सुदृढ़ बनाने का यत्न किया था, और विवेक के साथ उसके संरक्षण पर दृष्टि रखता था। इस कारण शत्रुगण उससे भय खाते थे। अतएव जनता उस समय निर्भयता से धर्म साधन कर सकी थी।

कुशराज ने वीरमदेव के राज्य में पद्मनाभ नाम के कायस्थ विद्वान से यशोधरचरित्र (दया सुन्दर विधान) नाम का काव्य बनाने का अनुरोध किया था जिसे पद्मनाभ ने ४० गुणकीर्ति के आदेशानुसार रचा था। इसके अतिरिक्त अन्य कोई ग्रंथ उस काल का रचा हुआ मेरे अवलोकन में नहीं आया।

वीरमदेव के राज्य में जैन ग्रंथों की प्रतिलिपियां—

वीरमदेव के राज्यकाल में गोपाचल में लिखी गई ४ ग्रंथलिपि प्रशस्तियां मेरे अवलोकन में आई हैं जो सब १४६०, १४६८, १४६९ और सं० १४७९ की लिखी हुई हैं। अन्वेषण करने पर और भी अनेक प्रशस्तियां उपलब्ध हो सकती हैं।

सं० १४६० में गोपाचल में साहु वरदेव के चैत्यालय में ४० हेमकीर्ति के शिष्य मुनि धर्मचन्द्र ने माघवदि १० मंगलवार के दिन सम्यक्त्वकीमुदी की प्रति आत्मपठनार्थ लिखी थी। यह ग्रंथ जयपुर के नेरापथी मन्दिर के शास्त्र भण्डार में सुरक्षित है।

१. सवत् १४६० शाके १३२५ षष्ठाब्दयोर्मध्ये विरोधी नाम सवत्सरे प्रवर्तन गोपाचल दुर्गस्थाने राजा वीरमदेव राज्य प्रवर्तमाने साहु वरदेव चैत्यालये भट्टारक श्री हेमकीर्तिदेव तत्शिष्य मुनि धर्मचन्द्रेण आत्मपठनार्थ पुस्तकं लिखित, माघ वदि १० भीमदिने ।

—नेरापथी मन्दिर जयपुर

सं० १४६८ में आषाढ़ वदि २ शुक्रवार के दिन भालियर मे राजा वीरमदेव के राज्यकाल में काष्ठासघ माथुरान्वय पुष्करगण के आचार्य श्री भावसेन, सहस्रकीर्ति और ४० गुणकीर्ति की आम्नाय मे साहु मरदेव की पुत्री देवसिरि ने 'पचास्तिकाय' टीका की प्रति लिखवाई थी, जो इस समय कारंजा के शास्त्रभंडार मे उपलब्ध है।

संवत् १४६९ में उक्त राजा के राजकाल मे आचार्य अमृतचन्द्रकृत प्रवचनसार की 'तत्त्वदीपिका' टीका लिखी गई थी, जैसा कि उसकी प्रशस्ति के निम्न वाक्यों से प्रकट है :—

विक्रमावित्यराज्येऽस्मिन् चतुर्दशपरेशते ।

नवषष्ठया युते किन्तु गोपाद्रो देवपत्तने ॥३॥

अनेकभूभक्षपव पद्मलग्नस्तस्मिन्निवासी ननु पाररूपः ।

भृंगारहारी भुवि कामिनीनां भूभक्ष प्रसिद्धः श्रीवीरमेन्द्रः ॥४॥

संवत् १४७९ में अषाढ़ सुदि ५ बुधवार के दिन गोपाचल मे वीरमदेव के राज्य समयर गढोत्पुर के नेमिनाथ चैत्यालय मे काष्ठासघ माथुरान्वय पुष्करगण के भट्टारक भावसेन, सहस्रकीर्ति प्रतिष्ठाचार्य गुणकीर्ति देव, विमलकीर्तिदेव, रामकीर्तिदेव, खेमचन्द्रदेव, भट्टारक गुणकीर्ति के शिष्य यशकीर्ति, हरिभूषण, अजिका धर्मश्री, समयश्री, शीलश्री, चारित्रश्री, धर्ममति विमलमति और सुमतिमति की आम्नाय मे अग्रवान् कुलोत्पन्न चतुर्मुख के निवासी साहु यजन पत्नी उर्दसिरि पुत्र जीतु गुर्जर, जीतु पत्नी सरो पुत्रवाधू उसकी दो स्त्रिया थी जोल्हाही और मुहागश्री, पुत्र आढा। इनके मध्य मे जीतुकी स्त्री सरो ने अपने जानावर्णी कर्म के क्षयार्थ पट्-कर्मोपदेश की यह प्रति लिख कर जैत श्री की शिष्या

१. संवत्सरेस्मिन् विक्रमादित्य गताब्द १४६८ वर्षे आषाढ वदि २ शुक्र दिने श्री गोपाचले राजा वीरमदेव विजय राज्य प्रवर्तमाने श्री काष्ठासघे माथुरान्वये पुष्कर गणे आचार्य श्री भावसेनदेवा तत्पट्टे श्री सहस्रकीर्तिदेवाः तत्पट्टे भट्टारक श्री गुणकीर्तिदेवास्तेषामाम्नाये सघद्द महाराजवधू साधु मरदेव पुत्री देवसिरि तथा इदं पंचास्तिकायसार ग्रंथ लिखापितम् ।

—कारंजा भंडार

२. देखो, आमेर भंडार ग्रंथ प्रशस्ति सं० ।

विमलमति की पूजा विधान महोत्सव के साथ समर्पित की थी, जिसे पंडित रामचन्द्र ने लिखा था। यह प्रति आमेर भंडार में उपलब्ध है।

यद्यपि वीरमदेव के राज्यकाल मे अनेक धार्मिक, सामाजिक राजनैतिक और सांस्कृतिक कार्य सम्पन्न हुए है। किन्तु उन सब का एकत्र संकलन न होने से उस पर इस समय कुछ नहीं लिखा जा सकता। वीरमदेव के बाद उनका पुत्र गणपतिदेव गद्दी पर बैठा। परन्तु उसने भी थोड़े समय ही राज्य कर पाया है, इसी से उसके राज्य-काल के कोई उल्लेख अभी उपलब्ध नहीं हुए।

राजा डूंगरसिंह

सन् १४२४ (वि० सं० १४८१) मे गणपतिदेव का पुत्र डूंगरसिंह गद्दी पर बैठा, डूंगरसिंह एक वीर सेनानी और पराक्रमी शासक था। वह तोमर वंश का राजहंस था, उसकी जैन धर्म पर पूर्ण आस्था थी। उसके जीवन में जैनधर्म के सिद्धान्त उसके सहयोगी बने हुए थे। यद्यपि भालियर की सुदृढ़ स्थिति और वैभव को देखकर शत्रुगण डूंगरसिंह को चैन से रहने नहीं देना चाहते थे। मालवा का हुशंगशाह और दिल्ली का मुबारक शाह दोनों ही मतन कष्ट देते रहते थे। परन्तु डूंगरसिंह राजनैतिक विवेक के साथ अपने कर्तव्य का पालन करता था। हुशंग शाह से पीछा छुड़ाने के लिए वह कभी मुबारक शाह का और कभी हुशंग शाह का सहयोग प्राप्त कर लेता था। इसके लिए उसे कर भी देना पड़ता था, इस तरह वह अपनी चतुराई मे स्वतंत्रता को कायम रखने मे समर्थ हो सका था। उसमे दयालुता और धार्मिकता के साथ अदम्य उत्साह और साहस था जिससे वह विपदा मे भी धैर्य रखता था। धर्म मे उसे दृढ़ता थी। वह राजनीति मे दक्ष, शत्रुओं के मान मर्दन करने मे समर्थ और क्षत्रियोचित क्षात्र तेज से अलंकृत था। गुण समूह से विभूषित, अन्याय रूपी नागों के विनाश करने में प्रवीण, पंचाग मन्त्र शास्त्र मे कुशल, तथा असिरूप अग्नि से मिथ्यात्वरूपी वंश का दाहक था, जिसका यश सब दिशाओं मे व्याप्त था। राज-पट्ट से अलंकृत विपुल भाल और बल से सम्पन्न था। डूंगरसिंह की पटरानी का नाम चदादे था जो अतिशय

रुक्मती और पतिव्रता थी। इनके पुत्र नाम कीर्तिपाल १ था कीर्तिसिंह था, जो अपने पिता के समान ही गुणज्ञ, बलवान और राजनीति में चतुर था। इंगरसिंह ने सन् १४३८ (वि० सं० १४६५) में नरहर के किले पर घेरा डाला था, जो उस समय मालवे के अधीन था। यद्यपि इंगरसिंह को उस समय सफलता न मिली, परन्तु बाद में उस पर तोमर वंश का अधिकार हो गया था। राजा

१. कवि रघू ने श्रीपाल चरित में—‘तहु कितिपाल-
दणु गरिट्ट’ वाक्य द्वारा कीर्तिपाल नाम का उल्लेख किया है, और कीर्तिसिंह नाम भी दिया है।

स्व० गोरीशकर होराचन्द जी ओझा ने टाड राजस्थान के २५० पृष्ठ की नवंबर वाली टिप्पणी में कीर्तिसिंह के दूसरे भाई पृथ्वीराज का उल्लेख किया है, जो सन् १४५२ (वि० सं० १५०९) में जोनपुर के मुलतान महमूद शाह शर्की और दिल्ली के बाद-शाह बहलोल लोदी के बीच होने वाले संग्राम में महमूद शाह के सेनापति फतहखा हार्वी के हाथ से मारा गया था। परन्तु रघू कवि ने इंगरसिंह के द्वितीय पुत्र का कोई उल्लेख नहीं किया।

२. तहि तोमर कुल मिरिरायहमु,
गुणगण-रयणायरु लद्धसमु ।
अण्णाय-णाय-णासण पवीणु,.....।
अरिराय-उरत्थलि-दिण्णि-दाहु ।
समरंगणि पत्तउ विजय-लाहु,
खग्गिगि डहिय जे मिच्छ-वमु ।
जस ऊरिय ऊरिय जे दिसतु,
णिवपट्टालकिय विउल्लभालु ।
अतुलिय बल खल-पलय-कालु,
मिरिणिव गणस णदणु पयडु ।
ण गोरक्खण विहिणउ वमडु,
मत्तग रज्ज भर दिण्ण खधु ।
सम्माण-दाण तोसिय - सबधु,
करवाल पट्टि विप्फुरिय जीहु ।

× × ×

तहु पट्ट महाएबी पसिद्ध, च्चदादेणामा पणायरिद्ध ।
सयलनेउरमज्झह पहाणु णिय-पह-मण-पोषण-सावहाणु ।

इंगरसिंह तोमरवंश का शिरोमणि था, अनेक राजाओं से पूजित और सम्मानित था और शत्रुओं का मान मर्दन करने में दक्ष था। शत्रु जन उसके प्रताप एवं पराक्रम से भयभीत रहते थे। युद्ध स्थल में उसके समान अन्य कोई वीर योद्धा नहीं था। जब उसकी तलवार शत्रुकपोलों पर पड़नी थी तब वे कमलनाल की तरह खड़ित हो जाते थे। वह शत्रुगणों की कामनियों के मन को सल्ल देने वाला था, बहुत कहनेमें क्या उसका यश दशो दिशा में व्याप्त था।

इंगरसिंह द्वारा जैन मूर्ति निर्माण कार्य

जैनधर्म पर उसका केवल अनुगम ही न था किन्तु उस पर उसकी परम आस्था भी थी। उसने किले की वेडोल और असुन्दर लगने वाली चट्टानों को अपार मोन्दय में परिणत कराया। जैन मूर्तियों के निर्माण में उसने सहस्रो रुपया व्यय किये थे। जैन प्रतिमाओं के उत्कीर्ण होने का काल ३३ वर्ष पाया जाता है। यह कार्य इंगरसिंह अपने जीवनकाल में पूरा नहीं करा सका, तब उसके प्रिय पुत्र कीर्तिमह ने पूरा कराया। खालियर गढ़ के चारों ओर कलात्मक जैन मूर्तियों का निर्माण कराकर अपनी उदार भावना का परिचय दिया है। खालियर गढ़ की यह भावमयी प्रतिमा मूर्तिकलाकी महत्वपूर्ण वस्तु है। किले की वेडोल और मूक चट्टानें शिल्पियों की साधना

३ श्री तोमरानुकशिवामणित्व,
य प्राप भूपालशतावितान्निः ।
श्रीराजमानो हनशशुमान,
श्रीइगरेद्रात्र नराधिपोस्ति ॥

—समयसार निधि प्र० मंत्रगण भंडार, कारजा

४ भुयव्वल पमाणु,
समरंगणि अण्णु ण तहु ममाणु ।
णिरुवम अविरल गुण मणि णिकेउ,.....।
माहणममुदु जयसिरिणिवामु,
जस ऊरिय पउरियदहदिसामु ।
करवाल णिहाए अरि-कवाल,
तोडि वि घल्लिउ ण कमलणालु ।
दुप्पिच्छ मिच्छ रणरगु मल्लु,
अरियणकामिणिमण दिण्णु सल्लु ।

—सम्मत्तगुणनिधान प्रशस्ति

और कठोर छैनी से ग्राह्य होती हुई शान्ति और तपस्या की महान् भावना से मुखरित हो उठी हैं। शिल्पी ने कला की अभिव्यञ्जना करते हुए विशालता, वीतरागता और सौन्दर्य की अपूर्व पुष्ट देकर मूर्तियों को उत्कीर्ण किया है। और निर्मापक की निर्मल भावनाओं को साकार रूप देकर अमर बनाने का प्रयत्न किया है। इनसे गढ़ के चारों ओर का वातावरण अपूर्व सौन्दर्य और शान्ति से मुखरित हो उठा है।

उरवाही द्वार की २२ जैन मूर्तियों में आदिनाथ की मूर्ति सबसे विशाल है। वह ५७ फुट की है, उसके चरणों के पास ६ फुट की चौड़ाई है। इनमें नेमिनाथ की पद्मासन मूर्ति ३० फुट ऊँची है। इतनी विशाल मूर्ति अन्यत्र मिलना कठिन है। इन २२ प्रतिमाओं में से छह पर सं० १४६७ से १५१० के लेख अंकित हैं।

किले के उत्तर पश्चिम के मूर्ति समूह में आदिनाथ की एक महत्वपूर्ण मूर्ति है जिस पर १५२७ का अभिलेख अंकित है। उत्तर पूर्व की मूर्तियों की कला सधारण है, और उन पर लेख भी नहीं है।

दक्षिण पूर्व की कलात्मक विशाल मूर्तियाँ ग्वालियर के फून् बाग दरवाजे से बाहर निकलने ही लगभग अर्ध मील तक उत्कीर्ण की हुई दिखलाई देनी हैं। इनमें अनेक मूर्तियाँ २० फुट से ३० फुट तक की ऊँचाई की लिए हुए हैं। उनमें आदिनाथ, नेमिनाथ, पद्मप्रभ, चन्द्रप्रभ, कुन्धनाथ और महावीर आदि की मूर्तियाँ हैं। जिनमें से कुछ पर सं० १५२५ से १५३० तक के अभिलेख उत्कीर्ण हैं।

डूंगरसिंह के राज्य में ग्रंथ निर्माण और मूर्तिप्रतिष्ठा

राजा डूंगरसिंह के समय ग्वालियर के जैन धर्मानुयायी श्रावकों ने भी अनेक मूर्तियों का निर्माण कराया और उनका प्रतिष्ठा महोत्सवादि कार्य भी सम्पन्न किया है। इतना ही नहीं किन्तु अनेक ग्रंथों की रचना भी हुई। और अनेक ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ भी की गई हैं। जिनमें से यहाँ कुछ का उल्लेख पाठकों की जानकारी के लिए किया जाता है।

संवत् १५८६ (सन् १४२९) में भ० गुणकीर्ति के शिष्य भ० यशकीर्ति ने सुकमाल चरित और कवि श्रीधर की संस्कृत भविष्यदत्त पंचमी कथा की प्रतियाँ आत्म पठ-

नार्थ लिखवाई थीं।

कवि रङ्ग ने ग्वालियर निवासी साहु कमलसिंह के लिए सम्मत गुणनिधान नामक ग्रन्थ की रचना सं० १४६२ में भाद्रपद मास की पूर्णिमा के दिन समाप्त की थी। इस ग्रंथ की रचना कवि ने तीन महीने में की थी, जैसा कि उसके पद्यों से प्रकट है :—

चउदह सय वणव उत्तरालि, वरिसइ गय विक्कमरायकालि,
वक्खेयत्तु जि जण-वय समक्खि, भद्दवमासम्मि ससेय पक्खि।
पुण्णमि दिण कुजवारे समोइ, सुहपारें सुहणामें जणोइ।
तिहु मास रंयति पुण्ण हउ, सम्मत गुणाहिणिहाणु धूउ।

मवत् १४६२ में पूर्व साहु खेमसिंह के पुत्र कमलसिंह ने ११ हाथ ऊँची आदिनाथ की एक विशाल मूर्ति का निर्माण कराया था। जिसके प्रतिष्ठोत्सव के लिए राजा डूंगरसिंह ने आज्ञा मागी थी। तब राजा ने स्वीकृति देते हुए कहा था कि आप इस धार्मिक कार्य को सम्पन्न

१. मवत् १४८६ वर्षे अश्वणि वदि १३ सोमदिने गोपाचल दुर्गे राजा डूंगरसिंहदेव विजयराज्य प्रवर्तमाने श्री काष्ठासंघे माथुरान्वये आचार्य श्री भावसेन देवास्तत्पट्टे श्रीमहम्मकीर्ति देवास्तत्पट्टे श्री गुणकीर्ति देवास्तत्तिष्ठयेन श्री यश कीर्तिदेवेन निजज्ञानावरणी कर्म क्षयार्थ इदं सुकमाल चरित लिखापितं। कायस्थ याजनपुत्र थलू लेखनीय। —जयपुर भंडार

मवत् १४८६ वर्षे आपाढ वदि ६ गुरु दिने गोपाचल-दुर्गे राजा डूंगरसिंह राज्य प्रवर्तमाने श्री काष्ठासंघे माथुरान्वये पुष्करगणे आचार्य श्री सहस्रकीर्ति देवास्तत्पट्टे आचार्य गुणकीर्ति देवास्तत्तिष्ठयेन यशकीर्ति देवास्तेन निजज्ञानावरणी कर्म क्षयार्थ इदं भविष्यदत्त पंचमी कथा लिखापित।

(नया मंदिर धर्मपुरा दिल्ली)

२ जो देवाहिदेव तित्थंकरु, आइणाहु तित्थोय सुहंकरु।

तहु पडिमा दुग्गइ-णिण्णासणि,

जा मिच्छत्त-गिरिद-सरासणि।

जा पुणु भव्वह सुहगइ-सासणि,

जा महिरो-सोय-दुह-णासणि।

सा एयारह कर भविहणी, काराविय णिरुवम अइतुगी॥

—सम्मत गुण नि० जैन ग्रंथ प्रश. स भाग २ पृ. ८६

कीजिए। मुझसे जो आप मांगेंगे वही दूंगा। और ताम्बूल आदि से उसका सम्मान भी किया था। इससे डूंगरसिंह की धार्मिक उदारता का परिचय मिलता है। इसका उल्लेख कवि रङ्ग ने सम्मत्त गुणनिधान की पीठिका में किया है।

इसके बाद कवि रङ्ग ने नेमिनाथ चरित, पार्श्वनाथ चरित और बलभद्र चरित (रामायण) की रचना की है। क्योंकि सं० १४६६ में रचे जाने वाले सुकीर्ण चरित में उक्त ग्रंथों के रचे जाने का उल्लेख किया है।

संवत् १४६७ में परमात्मप्रकाश की सटीक प्रति लिखी गई, जो इस समय जयपुर के ठोलियों के मन्दिर के शास्त्रभंडार में सुरक्षित है।

संवत् १५०६ में धनपाल की भविष्यदत्त पंचमी कथा की प्रति लिपि की गई, जो कारजा के शास्त्र भंडार में मौजूद है।

संवत् १५१० में समयसार की प्रतिलिपि की गई, जो अब कारजा के सेनगण भंडार में उपलब्ध है।

संवत् १४६७ और संवत् १५१० में प्रतिष्ठापित मूर्तियों के लेख उपलब्ध हैं।

डूंगरसिंह के राज्य में ग्वालियर

इस तरह गोपाचल जैन संस्कृति का केन्द्र बना हुआ था। वहाँ जैन संस्कृति के प्रचार और प्रसार में भ० गुणकीर्ति, उनके शिष्य प्रशिष्यों का पूर्ण सहयोग रहा है। भ० गुणकीर्ति एक प्रभावशाली विद्वान् भट्टारक और प्रतिष्ठाचार्य थे। उन्होंने अनेक मूर्तियों की प्रतिष्ठा कराई थी। ग्वालियर के तोमर राजवंश पर भ० गुणकीर्ति का महत्वपूर्ण प्रभाव था। उनके शिष्यों का बड़ा परिकर ग्वालियर में विद्यमान था। राजा डूंगरसिंह के राज्यकाल में ग्वालियर चरमोन्नति की सीमा को पहुँच चुका था। वहाँ की प्रजा अत्यन्त खुशाल थी और सन्तोष पूर्वक

जीवन बिता रही थी। नैतिक धरातल उच्चकोटि का था, इसी से वहाँ चोरी, अन्याय, अत्याचार आदि नहीं होते थे। प्रजा में कहीं भी वीरता दिखाई नहीं देती थी। सभी वर्ग अपने-अपने व्यवसाय में अनुरक्त रहते थे। और सभी को अपने-अपने धर्मसेवन की स्वतंत्रता प्राप्त थी। हाँ राज्य की ओर से गौ संरक्षण अनिवार्य था। वहाँ के बाजारों में विविध वस्तुओं का ऋय-विक्रय होता था। जनता का व्यवहार निष्कपट और सुखद था। वहाँ खेल, दुष्ट और पिशुन जन देखने में नहीं आते थे। लोगों का व्यवहार सरल और प्रेममय था। लोग आत्म निरीक्षण को अधिक पसन्द करते थे। यही कारण है कि राज्य में कहीं भी अशान्ति दृष्टिगोचर नहीं होती थी। उस समय ग्वालियर में महाजन और धनाढ्य व्यक्ति निवास करते थे, जो देवशास्त्र और गुरु की विमर्श करते थे। श्रावक लोग आवश्यक पदार्थों का दृढता से पालन करते थे। और नारीजन शील व्रत का दृढता से पालन करती थीं। सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित्र का निरन्तर अभ्यास होता था, लोग भव-भोगों से विरक्त रहते थे, सामायिक और स्वाध्याय समय पर होते थे, पर्व के दिनों में प्रोषध (उपवास) भी किया करते थे। इस तरह श्रावक जन विषय-कषायों को जीतने का उपक्रम करते थे। दूसरों के अवगुणों पर कभी दृष्टि नहीं डालते थे। जुआ आदि सप्तव्यसनो में रहित होकर अणुव्रतादि द्वादश व्रतों का अनुष्ठान करते थे। सम्यग्दर्शन में विभूषित थे। लोक कल्याण में प्रवृत्ति करते हुए आत्म-साधना में निरत रहते थे। अहार के समय द्वारपूषण में भावधान रहते थे। दानादि द्वारा जन कल्याण करना आत्म कर्तव्य मानते थे। जिनेन्द्र पूजा और महोत्सव रूप व्यवहार धर्म में प्रवृत्ति करके हुए भी अपने लक्ष्य भूत आत्मा के चैतन्य गुण पर दृष्टि रखते थे। और निरन्तर जिन सूत्र रूप रसायन के पान से सन्तुष्ट रहते थे। इस प्रकार उस समय के श्रावकों की दिनचर्या से स्पष्ट है कि ग्वालियर में जैन धर्म का प्रचार एवं प्रसार किस रूप में हो रहा था।

- देखो, जनरल एशियाटिक सोसाइटी भाग ३१, पृ० ४२३।

गोपाचल दुर्गें तोमरवंश के राजा श्री गणपति देवास्त पुत्रो महाराजाधिराज श्रीडूंगरसिंह राज्ये [प्रतिष्ठितं] चौरासी मथुरा की मूलनायक मूर्ति का लेख।

राजा डूंगरसिंह ने संवत् १४६१ से स. १५१० तक ३० वर्ष तक ग्वालियर पर शासन किया है। उसके राज्य काल में प्रजा सुखी और समृद्ध रही है।

राजा कीर्तिसिंह

यह एक वीर पराक्रमी शासक था। इसने अपने पिता के राज्य को संरक्षित रखते हुए उसे और भी बढ़ाने का यत्न किया था। यह दयालु, सहृदय और प्रजावत्सल था। यह भी अपने पिता के समान जैनधर्म पर विशेष अनुराग रखता था। और उसने अपने पिता द्वारा आरब्ध जैन मूर्तियों की खुदाई के अवशिष्ट कार्य को पूरा किया था। कविवर रघू ने इसके राज्यकाल में 'सम्पत्त्व कोमुदी या श्रावकाचार की रचना की थी। उसमें कवि ने कीर्तिसिंह के यश का वर्णन करते हुए लिखा है कि—“वह तोमर कुल रूपी कमल को विकसित करने वाला सूर्य था और दुर्वार शत्रुओं के सग्राम से अतृप्त था। और अपने पिता के समान राज्यभार के धारण करने में समर्थ था। सामन्तों ने जिसे भारी अर्थ समर्पित किया था, तथा जिसकी यशरूपी लता लोकव्याप्त हो रही थी और वह उस समय कलिकाल चक्रवर्ती था।”

राजा कीर्तिसिंह ने अपने राज्य को खूब पल्लवित एवं विस्तृत किया था और वह उस समय मालवे के समकक्ष हो गया था। और दिल्ली का बादशाह भी कीर्तिसिंह की रूपा का अभिलाषी बना रहना चाहता था, परन्तु सन् १४६५ (वि. स. १५२२) में जोनपुर के महमूदशाह के पुत्र हुशैनशाह ने खालियर को विजित करने के लिए बहुत बड़ी सेना भेजी थी, तब से कीर्तिसिंह ने दिल्ली के बादशाह बहलोल लोदी का पक्ष छोड़ दिया था और

१. तोमर कुल कमल वियास-मित्तु,
दुर्वार-वैरि सगर अतित्तु।
इंगर निव रज्जधरा ममत्थ,
बदियण समप्पिय भूरि अत्थु।
चउराय विज्ज पालण अतंदु,
णिम्मल जसवल्लनी भवण-कुदु।
कलि चक्रवट्टि पायड णिहालु,
सिरि कित्तिसिन्धु महिवड्ड पहाणु ॥

—सावयचरिउ प्रशस्ति

२. बहलोल लोदी देहली का बादशाह था। उसका राज्यकाल सन् १४५१ (त्रि० स० १५०८) से लेकर सन् १४८६ (वि० स० १४४६) तक ३८ वर्ष पाया जाता है।

जोनपुर वालों का सहायक बन गया था। सन् १४७८ में हुशैनशाह दिल्ली के बादशाह बहलोल लोदी से पराजित होकर अपनी पत्नी और सम्पत्ति बगैरह को छोड़ कर भागा और भागकर खालियर में राजा कीर्तिसिंह की शरण में गया था। तब कीर्तिसिंह ने धनादि से उसकी सहायता की थी और कालपी तक उसे सकुशल पहुँचाया भी था। कीर्तिसिंह के समय के दो लेख सन् १४६८ (वि. स. १५२५) और सन् १४७३ (वि. सं. १५३०) के मिले हैं। कीर्तिसिंह की मृत्यु सन् १४७६ (वि. सं. १५३६) में हुई थी। अतः इसका राज्यकाल स. १५१० से १५३६ तक माना जाता है।

इसके राज्यकाल में होने वाला मूर्ति उत्खनन का कार्यकाल सं० १५२२ से स. १५३१ तक का मिलता है। संवत् १५२५ की प्रतिष्ठित की कई मूर्तियाँ हैं जिन पर अंकित लेख में कीर्तिसिंह के राज्य का उल्लेख है। उनमें से पाठकों की जानकारी के लिए बाबा बावडी के दाहिनी ओर पार्श्वनाथ की खड्गामन मूर्ति के चरणभाग में उत्कीर्ण लेख नीचे दिया जाता है। इसकी साइड में ६ मूर्तियाँ और भी हैं जिनमें कुछ पश्चामन और खड्गामन हैं। उनका मुख खडित कर दिया गया है

श्रीमत्परमगंभीरस्याद्वादोमोघलाञ्छनम् ।

जीयात्रंलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥

स्वस्ति संवत् १५२५ वर्षे चैत्र सुदी १५ गुरी श्रीमूल सधे सरस्वती गच्छे बलात्कारगणे श्री कुन्दकुन्दाचार्याम्नाये भट्टारक श्री प्रभाचन्द्रदेवा तत्पट्टे भट्टारक श्री पद्मनन्दिदेवा तत्पट्टे भट्टारक श्री शुभचन्द्रदेवा तत्पट्टे भट्टारक श्री जिनचन्द्र यतीश्वरा; तत्पट्टे भ० सिंहकीर्ति ऋषीश्वरास्ते-पामुपदेशात् श्री गोपाचलु पर्वताये श्री तोमरान्वये महा-राजाधिराज श्री कीर्तिसिंह विजयराज्ये प्रतिष्ठापकः श्री श्रावक वंशोद्भव गोलाराडेटि मज्जक. श्री शान्तिरस्तु तुष्टि-रस्तु.....सदास्तु मे ।

संवत् १५२१ में उक्त कीर्तिसिंह के राज्यकाल में खालियर के जैसवाल कुलभूषण उल्हा साहु के ज्येष्ठ पुत्र पद्मसिंह ने अपनी चंचल लक्ष्मी का सदुपयोग करने के लिए २४ जिनालयों का निर्माण कराया और एक लाख ग्रन्थ

लिखवा कर भेट किए थे। यह ग्रन्थ बाराबंकी के शास्त्रभंडार में मौजूद है।

संवत् १५२१ में लिपि की गई जानार्णव की एक प्रति जैन सिद्धान्त भवन आरा में उपलब्ध है।

भ० गुगुभद्र ने अनेक कथाओं का निर्माण भी ग्वालियर निवासी श्रावको की प्रेरणा से किया था। इस तरह कीर्तिसिंह के राज्य में अनेक सांस्कृतिक कार्य निर्माण किये गये हैं, कीर्तिसिंह ने स. १५१० से १५३६ तक राज्य किया।

कीर्तिसिंह के बाद राज्यसत्ता कल्याणमल (मल्लसिंह) के हाथ में आई थी, इसके राज्यकाल के सांस्कृतिक कोई उल्लेख नहीं मिले। सिर्फ १५५२ का एक मूर्तिलेख उपलब्ध है।

बलहृदचरित में सिर्फ हरिवंशपुराण (नेमिजिन चरित) के रचे जाने का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि बलहृदचरित के बाद हरिवंश पुराण की रचना हुई है। हरिवंश पुराण में त्रिपट्टिशलाकाचरित (महापुराण) मेघेश्वर चरित, यशोधर चरित, वृत्तसार और जीवधर चरित्र इन छह ग्रन्थों का उल्लेख है। इससे ये छह ग्रन्थ भी स. १४६६ से पूर्व रचे गये हैं।

मम्मडजिनचरित प्रशस्ति में मेघेश्वर चरित, त्रिपट्टि महापुराण, सिद्धचक्रविधि, बलहृदचरित, सुदर्शन चरित और धन्यकुमार चरित नामक ग्रन्थों का समुल्लेख है। इन कहना चाहिए कि ये ग्रन्थ भी रड्धू ने स. १४६६ से पूर्व किसी समय रचे हैं। संभवतः ये सभी ग्रन्थ स. १४६२ से १४६६ के मध्यवर्ती काल में रचे गये हैं। इनसे कवि-वर रड्धू की कविता करने की शक्ति का अंदाज लगाया जा सकता है।

मुझे अभी हाल में जयपुर के आमेर भंडार में रड्धू

१. विज्जुल चंचलु लच्छीसहाउ,
आलोइविडु जिनधम्मभाउ।
जिण गंधु लिहावउ लक्खु एकु,
सावय लक्खा हारीति रिक्खु।
मुणि भोजण भुंजाविय सहासु,
चउवीस जिणालउ किउ सुभासु।

—जैन ग्रन्थ प्रशस्ति सं० पृ० १४४

२. जैन लेखमंग्रह पूर्णचन्द नाहर भाग २

के 'आत्म संबोध काव्य' की २६ पत्रात्मक जीर्ण प्रति मिली है जो संवत् १४४८ की लिखी हुई है। "संवत् १४४८ वर्षे फाल्गुण वदि १ गुरी दिने खावग लघ्मण कम्मक्षय विनाशार्थं लिखितं।" इस प्रशस्ति से स्पष्ट है कि यह रड्धू कवि की आद्य रचना है। इससे रड्धू कवि का समय स. १४४८ से १५२५ तक का उपलब्ध होता है जिसमें रचनाकाल संभवतः १५१५ और उसके कुछ बाद तक रहा है। और प्रतिष्ठाकार्य स. १४६७ से १५२५ तक जान पड़ता है। इससे यह तथ्य निकलता है कि रड्धू कवि दीर्घ जीवी थे। इससे वे शतवर्ष जीवी रहे जान पड़ते हैं।

मानसिंह

कल्याणमल का पुत्र मानसिंह अपने पिता के बाद ग्वालियर की गद्दी पर बैठा था। यह राजा प्रतापी संगीत प्रिय और कला प्रिय था। और जिस किसी प्रकार से अपने पूर्वजों द्वारा संरक्षित एवं संवर्द्धित राज्य को स्वतंत्र रखने में समर्थ हो सका था। इसके राज्य समय दिल्ली के बादशाह बहलोल लोदी ने ग्वालियर पर आक्रमण करना प्रारम्भ कर दिया। तब मानसिंह ने कूटनीति से कभी धन देकर उस संकट से पीछा छुड़ाया। बहलोल लोदी की मृत्यु सन् १४८६ में हो गई। उसके बाद सिकन्दर लोदी गद्दी पर बैठा। इसकी ग्वालियर पर दृष्टि थी ही, परन्तु उसने इस बलिष्ठ राजा की ओर पहले मंत्री का हाथ बढ़ाया। और राजा को छोड़ा तथा पीशाक भेजी। मानसिंह ने भी एक हजार घुड़मवारों के साथ अपने भतीजे को भेंट लेकर सुन्तान से मिलने के लिए वयाना भेजा। इससे मानसिंह कुछ समय तक निष्कटक राज्य कर सका। सन् १५०१ में तोमरों के राजदूत निहाल से क्रुद्ध होकर सिकन्दर लोदी ने ग्वालियर पर आक्रमण किया, किन्तु मानसिंह ने धन देकर और अपने पुत्र विक्रमादित्य को भेजकर सुलह कर ली। सन् १५०५ में सिकन्दर ने ग्वालियर पर आक्रमण किया, और

१. एक सोवनकी लका जिस, ती वर राउ सबल वरवीर।
भुबल आयु जु साहस धीर, मानसिंह जग जानिये।
ताके राज सुखी सब लोग, राज समान करहि दिनभोग।
जैनधर्म बहुविधि चलै, श्रावगदिन जु करै पट कर्म।

—नेमीश्वर गीत

इस बार भी मानसिंह ने धन देकर तथा पुत्र को भेजकर सुलह कर ली। सन् १५०५ में सिकन्दर ने ग्वालियर पर पुनः आक्रमण किया। अबकी बार ग्वालियर की सेना ने उसके दांत खट्टे कर दिये। उसकी रसद काट दी गई, और वह बड़ी दुरावस्था के साथ भागा। पश्चात् सन् १५१७ तक मानसिंह को चैन मिला। परन्तु इस बार सिकन्दर पूर्ण तैयारी के साथ ग्वालियर पर हमला करना चाहता था किन्तु सिकन्दर मर गया।

मानसिंह का कलाप्रेम—

मानसिंह ने मृगयना गूजरी के लिए गूजरी महल बनवाया। और 'मान कुतूहल' नाम के संगीत ग्रन्थ की रचना की। ग्वालियर का मानमन्दिर (चित्रमहल) हिन्दू स्थापत्य कला का अद्भुत नमूना है। इसका निर्माण विष्णु भारतीय शैली में हुआ है। जिसने मुगल स्थापत्य कला को प्रभावित किया है। इस महल को अनुपम चित्रों से अलंकृत किया है। उनका रंग आकर्षक चटकीला है। मानमन्दिर के आगनों और झरोखों में अत्यन्त सुन्दर खुदाई का काम है। आगन के खम्भों, भीतों, तोड़ों और गोखों में सुन्दर पुष्पों, मयूरो तथा सिंह, मकर आदि उत्कीर्ण किये गये हैं। बाबर ने भी इस महल की कारीगरी की प्रशंसा की है।

मानसिंह के राज्य समय में क्या कुछ सांस्कृतिक कार्य हुए हैं। इस सम्बन्ध में यद्यपि विशेष अनुसन्धान नहीं हो पाया है तो भी एक दो उल्लेख नीचे दिए जाते हैं—

सन् १५०१ (वि० स० १५५८) में चैत्र सुदी १० सोमवार के दिन गोपाचल दुर्ग में राजा मानसिंह के राज्य में काष्ठासध नदिगच्छ विद्यागण के भट्टारक सोमकीर्ति और भ० विजयसेन के शिष्य ब्रह्मकाला ने अमरकीर्ति के षट्कर्मोपदेश की प्रति अपने पठनार्थ लिखाई थी।

१. अथ नृपति विक्रमादित्य सवत् १५५८ वर्षे चैत्र सुदी १० सोमवासरे अश्लेषा नक्षत्रे गोपाचलगढ़ दुर्गे महा-राजाधिराज श्री मानसिंह राज्ये प्रवर्तमाने श्री काष्ठा

सन् १५१२ (वि. स. १५६९) २ में राजा मानसिंह के राज्य में गोपाचल में श्रावक सिरिमल के पुत्र चतरु ने नेमीश्वर गीत की रचना ४४ पद्यों में की है। यह ग्रन्थ आमेर भंडार में सुरक्षित है। जिसमें जैनियों के २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ का जीवन-परिचय अंकित है।

तोमरवंश का अन्त—

सिकन्दर के बाद इब्राहीम लोदी दिल्ली की गद्दी पर बैठा। राज्य सभालते ही उसकी महत्वाकांक्षा ग्वालियर लेने की हुई। उसे अपने प्रपिता बहलोल लोदी और पिता सिकन्दर लोदी के असफल होने की बात याद थी ही। अतः उसने सम्पूर्ण शक्ति तय्यारी में लगाई। उसने ग्वालियर के किले पर घेरा डाल दिया, उसी समय मानसिंह की मृत्यु हो गई। मानसिंह के बाद तोमर लोदियों के आधीन हो गए। और मानसिंह का बेटा विक्रमादित्य अपने पूर्वजों की स्वातन्त्र्य भावना को निभा न सका।

उपसंहार—

इस तरह ग्वालियर के तोमर वंश में जैन धर्म का ठोस सांस्कृतिक कार्य हुआ है, उसका यहां कुछ निर्देश किया गया है। मेरा विचार है कि ग्वालियर राज्य में जितने जैन शिलालेख, मूर्तिलेख हैं, यदि उनका संकलन कर सका तो तत्कालीन विद्वान भट्टारकों, राजाओं और श्रावकों का प्रामाणिक इतिवृत्त भी लिखा जा सकेगा।

ग्वालियर में पुरातनकाल से जैन सस्कृति के पालक विद्वान मुनि, भट्टारक और श्रेष्ठिजन अपनी शक्ति भर जैन धर्म को समुन्नत करने के प्रयत्न में लगे रहे हैं। यही कारण है कि वहां जैनियों के पुरातत्त्व की विपुलता है।

मधे नदिगच्छे विद्यागणे भ० श्री सोमकीर्तिदेवास्त-
त्पट्टे भ० श्री विजयसेन देवास्तत् शिष्य ब्रह्मकाला
इदं षट्कर्मोपदेशशास्त्रं लिखाप्यं आत्मपठनार्थं।

—प्रशस्ति स० आमेर पृ० १७३

२. सवतु पंद्रह सँ दो गने, गुनहुत्तरि ताऊपर अने।

भादौ वदि पंचमीवार, सोम नषितु रेवती सार।

—नेमीश्वर गीत

श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ पौली मंदिर, शिरपुर

नेमचन्द्र धन्नुसा जैन

शिरपुर जिला अकोला में श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ नाम के दो दिगम्बर जैन मंदिर हैं। जहाँ आज देवाधिदेव १००८ श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ की प्रतिमा विराजमान है और जिसके दोनों मंजिल पर अनेक दिगम्बर जैन मूर्ति पादुका, गुरुगादी आदि विराजमान है। इसका विवेचन हम आगे करेंगे। आज जिस मंदिर की जानकारी हम वाचक को देना चाहते हैं वह है दूसरा मंदिर। जो गाव के पश्चिम में और हेमाडपंथी है। यह मंदिर एलिचपुर के श्रीपाल ईल राजा ने बनवाया है। यह मंदिर बगीचे में है और यहाँ के ही पुगने कुवाँ के जल से श्रीपाल-ईल राजा का कुष्ठ रोग गया था। आज भी श्रद्धापूर्वक इसी पानी का उपयोग करने से अनेको लोगो के कुष्ठ, चर्मरोग, नष्ट हो रहे हैं और उदर व्याधि भी चली जाती है ऐसा अनुभव आता है। दीर्घ काल भगवान की प्रतिमा इसी कूप में रही है तो उसके मसर्ग से उस जल में कुछ विशिष्ट गुण पैदा हो गये होंगे तो आश्चर्य नहीं।

बड़ी भक्ति और श्रद्धा के बाद राजा ईल को यह प्रतिमा मिली थी। अतः वे इस प्रतिमा को एलिचपुर ले जाना चाहते थे। लेकिन वह यहाँ ही—जहाँ बस्ती मंदिर बना है—स्थिर हो गई। इसलिए बीच में ही इसकी स्थापना करने के बजाय जहाँ इसको प्राप्त किया वहाँ ही इसके लिए भव्य मंदिर बना कर उसमें इस प्रतिमा को स्थापन करना इस हेतु से ईल राजा ने यह मंदिर निर्माण किया। लेकिन मूर्ति यहाँ से न हटने के कारण इस मंदिर में प्रभु की मूर्ति की स्थापना न हो सकी। यद्यपि इस मंदिर में बाद में अन्य अनेक पार्श्व १. श्वे० लोग कहते हैं कि “राजा को इस मंदिर निर्माण करने के बाद गर्व हो गया था, इसलिए प्रतिमा ने इस मंदिर में प्रवेश नहीं किया।” यह वान एकदम झूठ है।

प्रभु आदि की दि० जैन प्रतिमाएँ स्थापित हैं, तो भी इस ही श्री अंतरिक्ष पार्श्व प्रभु की मूर्ति के लिए यह मंदिर बंधाया गया था इसलिए इस मंदिर को आज भी श्री अं० पार्श्व पौली मंदिर ऐसा ही कहते हैं।

या यों कहिए कि यह इस मंदिर का ‘विशेष नाम’ है, शास्त्रों में जिसे ‘नाम निक्षेप’ कहते हैं। क्योंकि इस मंदिर पर जो शिलालेख ई० स० १४०६ का उत्कीर्ण है उसमें ‘अंतरिक्ष श्री पार्श्वनाथ’ यह नाम है। और इसी लिए इस मंदिर को श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ पौली मंदिर कहते हैं।

इस लेख के ऊपर के एक शिला पर ‘श्रीमन्नेमिचन्द्राचार्य प्रतिष्ठित दिगम्बर जैन मंदिर’ ऐसा लेख मिलता है। इससे इतना तो स्पष्ट है कि यह मंदिर आज तक अप्रतिष्ठित है, ऐसा जो श्वेताम्बर कहते हैं वह असत्य है और श्री नेमिचन्द्राचार्य नाम के दि० मुनि के तत्त्वावधान में इस मंदिर की प्रतिष्ठा हुई है।

मंदिर की रचना शैली और शिल्प—यद्यपि इस मंदिर का काम देवगिरी के हेमाद्रिपत के करीबन एक शतक पहले प्रारम्भ हुआ था, तो भी बाद में ही पूरा करने का प्रयत्न किया गया इसलिए इस मंदिर को हेमाडपंथी ही कहने हैं। अर्थात् यह मंदिर मूल में पूरा पाषाण का ही है और पाषाण को मिट्टी या चूना से न जोड़ते हुए लाँहे के काँच से जोड़ा गया है।

मंदिर के सामने एक महाद्वार बनाया गया है इससे इस मंदिर के इर्द-गिर्द एक परिकर बनाने की योजना थी ऐसा लगता है, लेकिन वह पूरी न हो सकी, और यह प्रवेशद्वार आज धूप तथा पानी के मार से जीर्ण हो गया है। इसकी मरम्मत अदाजा २०० साल पहले हो गई थी मगर अभी इसकी पश्चिम बाजू गिर गई है। इसके पूर्व

के दरवाजे पर एक पद्मासनी दि० जैन मूर्ति उत्कीर्ण है।

मूल मंदिर की रचना दो भागों में बट सकती है। गर्भागार और सभामंडप। गर्भागार—बाहर से पचकोणा-कृति होकर प्रत्येक बाजू में जो देवली रखी है उनमें एक-एक क्षेत्रपाल की स्थापना की गई है। सभामंडप चौरस है, इसके पूर्व, पश्चिम और दक्षिण में ३ दरवाजे हैं। इन तीनों द्वार के सामने स्वतंत्र तीन छोटे सभामंडप बनाये गये थे, लेकिन सामने के दर्शनीय भाग का सभामंडप नष्ट हुआ है। उसके अवशेष अभी वहाँ पड़े हुए हैं। एक बड़ा भग्न धर्मचक्र भी उस प्रसिद्ध कुवा के पास रखा गया है।

मंदिर पूर्वाभिमुख है। मंदिर में प्रवेश करने के पहले ऊपर उल्लेखित शिलालेखों पर नजर जाती है। तथा उसके ऊपर आज 'श्री अतरिक्ष पादर्वनाथ दिगम्बर जैन पीली मंदिर' ऐसा बोर्ड भी लगा हुआ है। इस पर से श्वेताम्बर यात्री भी यह कहते हैं कि यह मंदिर दिगम्बरों का ही है। तथा अनपढ़ आदमी भी इस मंदिर के शिल्प को देखकर कहते हैं कि यह मंदिर दिगम्बर जैनो का ही है। क्योंकि इस मंदिर के जो ३ द्वार हैं उन पर आज बाजू २ यक्षेन्द्र तथा कम से कम एक फुट ऊँची ऐसी दो-दो खड्गासन प्रतिमाजी उत्कीर्ण हैं, और ऊपर एक-एक पद्मासन मूर्ति है। इसी तरह गर्भागार के द्वार पर भी एक पद्मासन मूर्ति है।

तथा गर्भागार के पास सीधे हाथ के कोने में स्तम्भ पर एक ६ इंच की खड़ी नग्न प्रतिमा उत्कीर्ण है। इसलिए गर्भागार में जाकर प्रभुजी के दर्शन करने के पहले मन सभामंडप के स्तम्भों पर के शिल्प देखने में दग होता है। वह जैसा थोड़ा पीछे हटता है वैसे ही उसको पश्चिमोत्तर बाजू के स्तम्भ पर पूर्वाभिमुख खड़ी ६ इंच ऊँची हाथमें पीछी कमण्डलु लिए हुए प्रतिमा दिखाई देती है। इस पर से जान पड़ता है कि इस मंदिर के निर्माण में किसी दि० जैन मुनि का सहयोग जरूर रहा होगा।

उसी स्तम्भ पर प्रभुजी के जन्माभिषेक समय प्रभु के माता-पिता को जो कृत्रिम निद्रा आती है उसका दृश्य बहुत ही उठावदार है। बाजू में उन माता पिता की सेवा करने वाले देवगण हैं। उसी और उसके सामने के स्तम्भ

पर नृत्य पथक तथा वाद्य पथक अनेक वाद्यों से अलंकृत है दरवाजे पर भी अनेक वाद्यपट्ट बताये गये हैं। इस सभामंडप की दीवाल में १२ तथा गर्भागार के पास के दो ऐसे कुल १४ स्तम्भ हैं। इस बीच एक और चार स्तम्भ वाला सभामंडप है। इसके पश्चिम-दक्षिण के स्तम्भ पर एक ६ इंच की खड़ी नग्न प्रतिमा है। इस बीच के सभामंडप में जमीन पर पापाण की कमलाकार रचना की है।

जब गर्भागार में प्रवेश करते हैं तो वह अन्दर से चौरस और एकदम प्लेन देख कर आश्चर्य होता है। अन्दर कोई शिल्प या नक्शिका काम नहीं है। सीधे हाथ के कोने में एक अखंड पापाणका मानस्तम्भ है। उस पर सामने का उल्लेख करने वाला शिलालेख है। अन्दर वेदी पर तथा बाहर भी सगमरमर की अनेक दि० जैन मूर्तियाँ हैं तथा पापाण की एक पच पम्पेष्ठी की प्रतिमा वहाँ है जो अति प्राचीन है।

इस मंदिरकी मूर्तियाँ, यत्र, शिलालेख तथा घण्टा आदि उपकरण सबथी दो लेख अनेकान्तके पिछले अंको में क्रमशः प्रसिद्ध हुए ही हैं। अदाजा १०-१५ साल पहले इस मंदिर के प्रसिद्ध कूप का गार निकालते समय एक दो फुट का पद्मासनी पापाण की प्रतिमा मिली थी, उसका सिर धड़ से अलग था, लेकिन शिल्पकार ने पूरी वीतरागता उसमें भर दी थी। यह प्राचीन प्रतिमा इस मंदिर में स्थापन की होगी मगर परचक्र के आक्रमण में इसका विध्वंस किया गया होगा। इसलिए उसे जल समाधि दी गई है।

रचनाकाल और क्रम—इस मंदिर को देखने के बाद ऐसा लगता है कि इस मंदिर का काम चार बार हुआ है और वह भी अन्त में अधूरा ही रहा है। महाद्वार का अकेला रहना या परिकर नहीं होना यह तो उसकी अपूर्णता ही दिखती है। मगर मूल मंदिर में पापाण का काम दो दफे हुआ है, बाद में चूना और ईंट का काम भी दो दफे होकर ऊपर शिखर की सिर्फ चाल छोड़ी है, शिखर की अपूर्णता पूरे बाधकाम की अपूर्णता ही बताती है।

पापाण का काम दो दफे हुआ था, यह कहने के दो हेतु हैं। (१) मंदिर पर जो दर्शनीय भाग के दरवाजे पर लेख खुदा है उसमें ई० स० १४०६ तथा जयसिंह राजा

का उल्लेख मिलता है। अगर यह मंदिर दसवीं सदी के ईल राजा ने ही बंधाया है तो उस पर १४वीं या १५वीं सदी और जयसिंह चालुक्य (अन्तिम ई० स० १३०४) का उल्लेख कैसा? यह लेख पढ़ने वाले कुछ पाश्चात्य विद्वान कहते हैं कि—‘इस लेख की खुदाई के कम से कम सौ साल पहले यह मंदिर बाधा गया होगा।

यह लेख बाद में किसी ने तो भी खुदाया होगा ऐसा कहना उचित नहीं होगा। ईल राजा का अपूर्ण काम पूर्ण करने का प्रयत्न उस समय हुआ होगा और वैसे उल्लेख या ‘जीर्णोद्धारक’ ऐसा जयसिंह का नाम होगा तो उचित ही होगा। तथा मंदिर के अन्दर गर्भागार के पास सभामंडप का काम देखने से ऐसा लगता है कि गर्भागार का काम पहले ही किया गया होगा बाद में सभामंडप जुड़ाया गया होगा। इसका कारण भी स्पष्ट है कि भगवान की मूर्ति बाहर धूप में थी। अतः जड़ से जमीन तक का और मंदिर का सम्पूर्ण तलकाम तो एकदम चालू किया गया होगा मगर मूर्ति को जल्दी से जल्दी अन्दर विराजमान करने की दृष्टि से पहले गर्भागार का काम कर लिया है और बाद में सभामंडप जुड़ाया है। इस समय भगवान की मूर्ति को यहां लाने का प्रयत्न किया गया, लेकिन वह अपने ही स्थान पर स्थिर रहने से बस्ती में उभी स्थान पर एक नया मंदिर बाधा गया।

इस तरह गांव में दूसरा मंदिर बनने से इस मंदिर के तरफ स्वभावतः दुर्लक्ष हो गया और ई० स० १०२० के दरम्यान शाह अब्दुल रहमान गाजी के साथ ईल राजा का युद्ध हो गया। बाद में कुछ दिन के भीतर ही राजा का पंच पिगे द्वारा खून हो गया। इससे इस क्षेत्र को मिला हुआ राजाश्रय बन्द हुआ। शायद चालुक्य राजा जयसिंह (द्वितीय वा तृतीय) इन्होंने इस मंदिर को पूरा करने के लिए मदद दी होगी। इसीलिए उनका नाम उस मंदिर के शिलालेखों में मिलता है।

यद्यपि उस समय भी यह मंदिर शिखरबन्द न हो सका तो भी उसका काम बहुत कुछ हो गया था। या यो कहिए कि उस समय शिखर विरहित भी जिनमंदिर बनते थे। जिनतूर (जि० परभणी) के पास में नेमगिरी करके एक अतिशय क्षेत्र है, वहां बड़े विशाल तीन जिनबिंब हैं

तो भी उस मंदिर के ऊपर शिखर नहीं है।

ऐसा लगता है कि बस्ती के मंदिर की पंच परमेष्ठी की पाषाण की बड़ी प्रतिमा औरंगजेब के जिस सरदार ने खडित की उसी सरदार ने इस मंदिर का दशनीय भाग को नष्ट कर मंदिरके विध्वंस की चेष्टा की होगी। बाद में श्री जिनसेन जी भट्टारक महाराज ने यहाँ अपना लम्बा जीवन (ई० स० तक) बिताया और इस मंदिर की चूना और ईंटों से दुरुस्ती की। इसको भी अधूरा जान कर भट्टारक श्री पद्मनन्दि के उपदेश से ई० स० १८२० के दरम्यान महाद्वार की मरम्मत की गयी, इस मंदिर के ऊपर फिर ईंट और चूना से छत की गयी और शिखर बनाना प्रारम्भ किया। मंदिर में जहा-जहा गोल गुम्मत की रचना की है वहा-वहां अगर शिखर बांधा जाता तो यह मंदिर छह शिखर वाला होता, और अभी भी पांच शिखर वाला बन सकता है। तो भी उस समय भी वहा एक भी शिखर पूर्ण न हो सका। आज भी वही हालत कायम है।

समाधि :—इस मंदिर के सामने ४ दिगंबर जैनों की समाधिया है—(१) भट्टारकजी श्री जिनसेन उर्फ कुबड़े स्वामी (२) भट्टारक श्री शांतसेन महाराज (३) पं० जीतमलजी (४) पं० गोविंद बापुजी।

इस मंदिर बावत साहित्यिक उल्लेख तथा लोकमत—
इस बावत सबसे प्राचीन उल्लेख ‘गुरु विनती’ में मिलता है। उसमें लिखा है—

“विवादि भूतवाद हि त्यक्त्वा श्री जिणालयम्।

नूतनं विरचय्यासौ बक्षिणापथगव्यभूत्॥”

श्री मलधारि पद्मप्रभदेव आचार्य जब श्रीपुर बुलाये गये, तब उन्होंने इस मंदिर मध्वन्धी वाद को जानकर मूर्ति जहा रुकी थी वहा ही नया मंदिर बंधाया। उस समय दूसरा मंदिर निर्माण होने से पहला यह मंदिर अधूरा रह गया हो तो आश्चर्य नहीं।

(२) भट्टारक श्री महीचंद्र जी (स० १६७४) श्री अ० पा० विनती में लिखते हैं—“राजा को प्रतिमा का साक्षात्कार होने से राजा ने प्रथम मंदिर का काम शुरु किया। बाद में मूर्ति को कर प्राप्त उसे एलिचपुर ले जाना चाहा। लेकिन वह वहा ही स्थिर होने से राजा के

मंदिर तक भी न जा सकी। ज्योतिषी लोगों से राजाको यह हाल मालूम पड़ा कि यह मूर्ति राजा के मंदिर में न प्रवेश करेगी तो राजा बैसा ही एलिचपुर गया। (देखो श्लोक...)

इस पर से यह तो स्पष्ट है कि राजा के मंदिर में मूर्ति ने प्रवेश नहीं किया इसलिए राजा के एलिचपुर चले जाने पर भावकों ने ही बस्ती में मंदिर बनाया। आश्चर्य यह है कि इसमें या अन्य दिगम्बर साहित्य में दो मंदिर और गुरु का कोई उल्लेख नहीं है। श्वेतावरों के भी किसी साहित्य में इस मूर्ति के लिए दो मंदिर या किसी गुरु का उल्लेख नहीं है। इसीलिए ईल राजा ने मूर्ति की स्थापना कहां की थी—इस बात शका किसी को आती है। कोई कहते हैं कि राजा ने इसी पौली मंदिर में उस मूर्ति की स्थापना की थी और वह मुगलों के आक्रमण के समय गांव में लाकर प्रतिष्ठित की होगी। इस प्रकार मानने से किसी गुरु को भी बुलाने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

कोई कहते हैं राजा के मंदिर में मूर्ति ने प्रवेश नहीं किया इसलिए बस्ती में दूसरा मंदिर बनाया गया। और जैसे पूजा-प्रतिष्ठा महोत्सव प्रसंग में चतुर्विध सव को आमंत्रित करने की पहले से प्रथा तो है ही, उसमें इस सातिशय मूर्ति की स्थापना किसी त्यागी के हाथ से करने की भावना होना स्वाभाविक है। सवाल यही है कि जिस हेतु से गुरु महाराज को बुलाया गया वह हेतु सफल नहीं हुआ और दूसरा मंदिर बाधना ही पड़ा। साथ में वे थे इसलिए उनके तत्त्वावधान में प्रतिष्ठा हुई होगी, अन्यथा वह किसी के हाथ से तो हो ही जाती। इस प्रकार उस प्रसंग को खास महत्त्व न देकर किसी ने यदि वह घटना नहीं बताई तो उसका मतलब वह घटना ही नहीं घटी, ऐसा नहीं होता।

(३) मि० कौभिन साहेब “प्रोग्रेस रिपोर्ट १९०२ पृष्ठ ३ पर लिखते हैं—“श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ मंदिर दिगंबर जैनो का है। उस पर संस्कृत में एक शिलालेख ई० स० १४०६ का है। लेकिन वह मंदिर इससे सौ साल

१. भावविजय जी की जो रचना बतायी जाती है वह कृत्रिम है। वह शायद ऊपर निर्दिष्ट गुरु विनती की नकल है। उसमें जो काल बताया है वह एकदम गलत है और कुछ घटना भी कपोलकल्पित है।

पहले का तो निश्चित है।”

(४) श्री रायब० होरालाल जी—डिस्ट्रिक्शन ऑफ लिस्ट ऑफ इस्क्रिप्शन इन सी. पी. एंड वेरार १९१६ की किताब में सफा १३४ में लिखते हैं—“यह अंतरिक्ष पार्श्वनाथ मंदिर दिगंबर जैनो का है। उस पर के शिलालेख में ‘अंतरिक्ष पार्श्वनाथ का और मंदिर बांधनेवाले ‘जग-मिह’ (जयमिह) का उल्लेख आता है।”

इसी तरह इस मंदिर को दिगंबर जैनो का प्रमाणित करने वाले नीचे के चार ग्रंथ हैं।

(५) गवर्नमेंट आफ बाम्बे जनरल डिपार्टमेंट ऑफ आर्चियालोजिकल प्रोग्रेस रिपोर्ट आफ दि आर्चियालोजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इंडिया फार दि इयर एडिग ३० जून १९०२।

(६) अकोला डि० गजेटियर वोल्यूम न० १

(७) मेट्रन प्रोविन्सेस एंड वेरार डिस्ट्रिक्ट गजेटियर अकोला डिस्ट्रिक्ट वोल्यूम ८ डिस्ट्रिक्ट बाय-सी. ब्राऊन आय-सी. यस्. एड ए. ई. निलेन आय सी. यस्. जनरल एडोटर एड सुपरिटेण्डेंट आफ गजेटियर्स। तथा

(८) इपीरियल गजेटियर्स आफ इंडिया वोल्यूम २३।

(९) श्री गठी जज (वाशीम)—इस पौली मंदिर के खेन के केश के जन्मेट में लिखते हैं—“यह ऊपर की चारो किताबों स्पष्ट करती है कि पौली मंदिर अति प्राचीन है, तथा दिगंबर जैनो का है। दो इपीरियल गजेटियर इसके भी आगे जाकर बताता है कि शिरपुर का अंतरिक्ष पार्श्वनाथ बस्ती मंदिर भी दिगंबर जैनो का है।”

(१०) श्री यादव माधव काले—‘व-हाडचा इतिहास’ पृष्ठ ७० पर लिखते हैं—“इलिचपुर को इलावर्त कहते हैं। यहां ईल नरेश राज्य करता था। वह जैनधर्मी होकर महान पराक्रमी था। इसका अभल एलोरा तक था। इसने णाह दून्हा रहिमान गाजी का पगभव किया। (तथा पृ० ३०४ पर) जैनधर्मी इमारती—एक दके बहाड पर जैन राजा का अभल था। उससे बहाड में जैनधर्मी मंदिर भी बहुत हैं। उनमें सातपुडा में मुक्तागिरी के धबधबा के पास का मंदिर तथा शिरपुर का जैन मंदिर प्रसिद्ध है।

(११) मि० फर्ग्यूसन साहेब—हिस्ट्री आफ इंडियन एंड ईस्टर्न आर्चिटेक्चर इस किताब में लिखते हैं—“एलिच-

पुर के राडू (ईल) राजा ने यह अंतरिक्ष पार्श्वनाथ का मंदिर बंधाया। वह दिगंबर जैनों का है।” आदि।

(१२) श्री अ० पा० संस्थान के १९१० के केस में पैरा २० के में जब दि० जैनों की तरफ से कहा गया था—शिरपुर का प्राचीन हेमाडपंथी मंदिर श्री देवाधिदेव अंतरिक्ष पार्श्वनाथ की मूर्ति को विराजमान करने के लिए दिगंबर जैन ईल राजा ने बंधाया था। और उस पर का शिल्प भी दिगंबर पंथ का ही पोसक है” आदि। तब इस विधान को ठुकराते हुए श्वेतांबर कहते थे—“कि इस कलम में किया गया विधान वादी को मंजूर नहीं। यह मूर्ति विराजमान करने के लिए दिगंबर धनिक ने यह हेमाडपंथी मंदिर बंधाया नहीं। जिस श्वेतांबरी राजा को यह मूर्ति मिली और जिसने वह शिरपुर तक लाई वही राजा ने मूर्ति के लिए एक मंदिर बंधाया। और उसमें यह मूर्ति ले जाने का प्रयत्न किया। लेकिन वह सिद्धि को गया नहीं। उस राजा ने बंधा हुआ मंदिर हाल में पहले जैसा कायम नहीं। उस मंदिर का बहुत सा भाग अनेक कारणों से नष्ट हुआ है। और उसमें कालांतर से और कालगती से बहुत फेरफार हुए हैं। इससे ‘शिरपुर गांव के पश्चिम बाजू में हाल जो मंदिर है वह ही प्राचीन मंदिर है। अब जिस स्थिति में है उस ही स्थिति में जब बाधा गया तब था’ ऐसा वादी (श्वे०) मान्य नहीं करता।

(देखो ता. २०-१२-१९११ का जवाब)

टोप —श्वेतांबरों ने यह जवाब हेतुपुरस्सर दिया था। इस मंदिर का रूप अनिश्चित रख कर जिस मूर्ति के लिए यह मंदिर बनाया उसका भी स्वरूप अनिश्चित-सा कर दिया। ऐसा नहीं करते तो इस मंदिर के स्पष्ट स्वरूप से, जैसा यह मंदिर दिगंबरी सिद्ध होता है वैसा ही जिस मूर्ति के लिए यह मंदिर बनाया गया वह मूर्ति भी दिगंबर आम्नाय की स्पष्ट सिद्ध होती। यह मान्यता श्वेतांबरों को अनिष्ट थी, इसलिए उन्होंने ऊपर जैसा जवाब दिया और वह मूर्ति श्वेतांबर सम्प्रदाय की है ऐसा कोट को झूठा भास कर दिया। उससे उनकी सिर्फ मूर्ति और मंदिर का केवल मैनेजमेंट करने का अधिकार दिया गया। साथ में दिगंबरों का भी समान रूप से पूजन और मैनेजमेंट का अधिकार कायम रखा गया। लेकिन

‘हम मैनेजर हैं’ याने संस्थान की पूरी स्टेट के अकेले ही सर्वाधिकारी हो गये ऐसे मनोराज्य में वे पीछे कब, कैसा क्यों बके इसका विस्मरण होकर वे अब खुद ही उस मंदिर की तारीफ कर रहे हैं।

श्वेतांबरी ने ‘श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ’ इस नाम से गुजराती, हिन्दी, मराठी और संस्कृत भाषा में एक किताब प्रसिद्ध की है। उसमें वे लिखते हैं—“वहां (शिरपुर में) एक कलापूर्ण और विशाल सुन्दर जिनमंदिर है। और उसके पास ही एक बड़का बड़ा वृक्ष है। शिरपुर के लोग कहते हैं, कि इस ही पेड़ के नीचे प्रतिमा अचल और अधर हुई थी। और इसी प्रतिमा के लिए ही राजा ने यह मंदिर बंधाया है। लेकिन राजा के अभिमान से भगवान ने इस मंदिर में प्रवेश नहीं किया। इसलिए अब वह मंदिर खाली है। यह बात अन्य दृष्टि से देखते हुए भी बराबर दीखती है। अनेक यूरोपियन अधिकारियों ने बहाड (विदर्भ) में प्रवास करके बहाड के शिल्प स्थापत्य पर लिखा है। उन्होंने बहाड के सुन्दरतम और प्राचीनतम शिल्प स्थापत्य में शिरपुर गांव के बाहर होने वाले अपने जैन मंदिर का भी वर्णन किया है। बहाड के महान इतिहासज्ञ यादव माधव काले इन्होंने ‘बहाड का इतिहास’ नामकी पुस्तक में इस मंदिर का आर्ट पेपर पर सुन्दर फोटो छपा के सुन्दर मचमुच इसकी सुन्दरता और महत्ता प्रकाशित की है। साथ ही शिल्पशास्त्रों के ऐतिहासिक ग्रन्थों में भी यह स्पष्ट है कि शिरपुर का यह मंदिर करीबन एक हजार साल पुराना है।”

इन दोनों उतारों से पाठक समझ गये होंगे कि ऊपर का उल्लेख श्वेतांबरों का स्वयंचनबाधित ही है। यूरोपियन और भारतीय लेखकों के विचार इसी लेख में दिए

१. असल में तो शिरपुर के वृद्ध लोग इस बात का उपहास करते हुए कहते हैं कि यह वृक्ष हमारे सामने लगाया गया है और इसके पहले न वहां कोई वृक्ष था और न वहां मूर्ति अड गयी थी।

२. इस मंदिर में पहले जमाने से अनेक दि० जैन मूर्ति प्रतिष्ठित हैं। मगर वहां एक भी श्वेतांबर मूर्ति न होने से उनकी दृष्टि से यह मंदिर रिक्त ही है।

हैं तथा यादव माधव काले का उतारा भी देखा है। काले जी के और भी विचार आगे के लेख में दिए जाएंगे। ये सब इतिहासज्ञ और शिल्पज्ञ पीली मंदिर की दिगंबरों का ही सिद्ध करते हैं। तो भी 'मेरे मुर्गे की एक ही टांग' ऐसा कहने वाले विघ्नसंतोषी लोग आज भी कहते हैं कि—“(i) यह मंदिर श्वेतांबर का ही है। (ii) इस मंदिर में एक भी दिगंबरी मूर्ति नहीं है। (iii) इस मंदिर पर मैनेजमेंट श्वेतांबरों का ही है।”

एक श्वेतांबर साधु तो यहाँ तक लिखते हैं कि दिगंबरों ने जबदस्ती से इस मंदिर में हालही कुछ दिगंबरों की मूर्तियाँ रखी हैं आदि। यह सब उल्लेख जनता के सामने रखने का कारण यह है कि यहाँ हमको कुछ धोखा दिख रहा है। आज तक कब्जा और मैनेजमेंट इस मंदिर पर दिगंबरों का ही है। मगर उसमें बाधा डाली जायगी तथा शायद वहाँ प्रतिष्ठित दिगंबर मूर्तियाँ हटाकर श्वेतांबर मूर्तियाँ स्थापित होगी। इस धोखाको टालनेके लिए दुस्तुबी कार्य प्रारम्भ कर दिया है, उसका बजेट १५ हजार रुपये के करीबन है। आशा करता हूँ दानी लोग इसको न भूलेंगे।

अब पाठकों के अधिक विश्वास के लिए और भी कुछ आधुनिक उतारे पेश कर रहा हूँ। बीमवी सदा के अन्त में भी इस मंदिर के शिल्प वाकन लिखने वाले इस मंदिर को 'दिगंबरी' ऐसा स्पष्ट लिखते हैं। देखिए—

(१३) महाराष्ट्र राज्य परिचय—(सरकारी प्रकाशन) पान १२८ पर 'प्रेक्षणीय स्थले' में लिखा है—“शिरपुर यह दो जैन मंदिर के लिए प्रसिद्ध है। उसमें एक दिगंबर जैन समाज का अंतरिक्ष पार्श्वनाथ का अतिशय प्राचीन मंदिर है।”

१. जब इस मंदिर में इलेक्ट्री फिटिंग दिगंबरियों की तरफ से की गई, तब उसमें बाधा लाने हुए श्वेतांबरों ने ऐसा लेखी जवाब दाखल किया है। लेकिन संतोष की बात है कि इस कार्य की दिगंबरी नेताओंमें लगन रहने से वह कार्य देरी से क्यों न हो, पूर्ण हुआ है।

(१४) महाराष्ट्रातील जिल्हे—अकोला जिला इस किताब में भी ऊपर जैसा उल्लेख मिलता है।

टीप :—शिरपुर में पांच साल पहले एक विशाल श्वेतांबर मंदिर की प्रतिष्ठा हुई है। उसका नाम विघ्न-हर पार्श्वनाथ है।

(१५) 'मन्दिरमाल मुक्तागिरी' इस किताब का अर्जन लेखक दि० जैन सिद्ध क्षेत्र मुक्तागिरी का इतिहास बता कर पृष्ठ ६ पर लिखता है—(अनुवाद) “सातपुडे के पायथे में एलिचपुर इस राजधानी में राज्य करने वाले ईल राजा ने (ई० स० १०५८) ईशान्य दिशा में पांच कोस पर मुक्तागिरी यह रमणीय स्थल निर्माण किया। निदान इस क्षेत्र का पहला जीर्णोद्धार ईल राजा ने किया और तब से जैनो का यात्रास्थल करके उसको प्रसिद्धि मिली। इस ईल राजा के अंभल में विदग्ध में अनेक जैन स्थल निर्माण हुए। जैनो के इतिहास का वह बहुरकाल था। शिरपुर, मादक, पातूर आदि के जैन मन्दिर भी इसी काल में निर्माण हुए हैं। इस कार्य में ईल राजा का बड़ा महयोग था।”

(१६) 'एलिचपुर के राजा ईल तथा मुक्तागिरी' इस लेख में आधुनिक महान इतिहासज्ञ श्री य. खु. देशपांडे लिखते हैं कि ईल राजा दिगंबर जैन धर्मानुयायी था। उसने शिरपुर का भी मन्दिर बनवाया था।

आदि अनेक भारतीय इतिहासज्ञों के मत, इस मंदिर को स्पष्टतया दिगंबरी ही घोषित करने वाले, दिये जा सकते हैं। लेकिन विस्तार भय के कारण इस विषय को यहाँ ही छोड़ देता हूँ। अमृत पूरा चाखने पर ही मीठा लगता है, ऐसा नहीं तो उसका अंश भी मिठाई के लिए पर्याप्त है।

अन्त में कहता हूँ कि जिस श्री देवाधिदेव अंतरिक्ष पार्श्वनाथ की मूर्ति के लिए यह दिगंबरी शिल्पवाला मंदिर निर्माण हुआ वह मूर्ति भी दिगंबरी ही है। इसका पूरा विवेचन पाठकों को आगे के लेख में मिलेगा। पाठक देरी के लिए क्षमा करें। अस्तु।

ज्ञानार्णव व योगशास्त्र : एक तुलनात्मक अध्ययन

बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री

ज्ञानार्णव

आचार्य शुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्णव एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसमें प्रमुखता से ध्यान का वर्णन किया गया है। इसीमें हमें योगप्रदीपाधिकार भी कहा गया है। यह परमार्थ प्रभावक मण्डल बम्बई में प्रकाशित (१९२७) प्रति के अनुसार ४२ प्रकरणों में विभक्त है। भाषा उसकी मस्कृत है जो सरल व आकर्षक है। ग्रन्थ का अधिकांश भाग अनुष्टुप् छन्द में है, साथ ही उसमें यत्र तत्र शार्दूल-विक्रीडित, अथवा, मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी और मालिनी आदि अनेक अन्य रोचक छन्दों का भी उपयोग किया गया है। ग्रन्थ का प्रमुख वर्णनीय विषय ध्यान होनेसे यहाँ उससे सम्बद्ध ध्याना— ध्यान के अधिकारी, ध्येय और ध्यान-फल का भी वर्णन किया गया है।

ध्याना का वर्णन करते हुए ग्रन्थकर्ता ने उस ध्यान के अधिकारी उन और वीर महापुरुषों को बतलाया है जो कामभोगों में विरक्त होकर अपने शरीर की ओर से भी निमग्न हो चुके हैं, जिनका चित्त चपलता को छोड़ स्थिरता प्राप्त कर चुका है, तथा जिन्होंने समय की धुग को धारण कर प्राणों का विनाश होने पर भी फिर कभी उसे नहीं छोड़ा है^१। इसके विपरीत जो लोकानु-ग्रजन करने वाले पापकार्यों को करते हुए अपने को गौरवान्वित समझते हैं, जिनका मन आत्मध्यान में नहीं रगा है, जो इन्द्रियविषयों में अनुग्न हो रहे हैं, जिनके अन्त-करण में शल्य नहीं निकल सकी है, अध्यात्म का जिन्हें

१ इत्यादिपरमोदागपुण्याचरणलक्षिता ।

ध्यानमिद्वे समाख्याता पात्र मुनिमहेश्वर ॥

पृ. ८७ श्लोक १७

२. सम्मयमधुग धीरर्न हि प्राणात्ययेऽपि यै ।

त्यक्त्वा महत्त्वमालम्ब्य ते हि ध्यान-धनेश्वरा ॥

पृ. ८५ श्लोक ४

निश्चय नहीं हुआ है, तथा जिनकी अशुभ भावलेख्या नष्ट नहीं हुई है; ऐसे व्यक्तियों को उस ध्यान का अधिकारी बतलाया गया है^३। इसी प्रसंग में यह भी संकेत किया गया है कि जो मुनिधर्म को जीवन का उपाय बना लेते हैं उन्हें लज्जा आनी चाहिए। उनका यह दुष्कृत्य ऐसा घृणास्पद है जैसे कोई अपनी माँ को बेवश्या बनाकर जीवनयापन करने लग जाय। जो साधु होकर भी निर्लज्ज होते हुए इस प्रकार के घृणित कार्य किया करते हैं वे सम्मार्ग की विराधना करके नरक के मध्य में प्रविष्ट होते हैं^४।

प्रकृत में प्रयोजन मोक्ष का है और उस मोक्षरूपी महल की सीढ़ियाँ हैं अनित्यादि बारह भावनाएँ। इसी-लिए प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रथमतः उन बारह भावनाओं का निरूपण किया गया है। कर्मरूप सांकलों के तोड़ने का उपाय एक ही है, वह है सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यस्वरूप रत्नत्रय की प्राप्ति। अतः ध्यान की सिद्धि के लिए रत्न-त्रय की प्राप्ति को अनिवार्य समझ यहाँ सम्यग्दर्शन, सम्यग्-ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य का भी वर्णन किया गया है^५। तत्पश्चात् कर्माय और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के लिए उनके स्वभाव का चित्रण किया गया है।

३. लोकानुग्रजके पापैः कर्मभिर्गौरवं श्रिताः ।

अग्रजिननिजस्वान्ता अक्षार्थगहने रताः ॥

अनुद्धूतमन शन्या अकृताध्यात्मनिश्चया ।

अभिन्नभावदुर्लेश्या निपिड्या ध्यानसाधने ॥

पृ. ८० श्लोक ४६-४७

४ यन्निव जीवनीयाय कुर्यन्त. किं न लज्जिताः ।

मानु पण्यमिवालम्ब्य यथा केचिद् गतघृणा ॥

निस्त्रपा. कर्म कुर्वन्ति यतित्वेऽप्यतिनिन्दितम् ।

ततो विराद्य सम्मार्गं विशन्ति नरकोदरे ॥

पृ. ८१ श्लोक ५६-५७

५. पृ. ९१-९५.

कुछ लोगो ने शिवतत्त्व, गरुडतत्त्व और कामतत्त्व की कल्पना की है। ये तत्त्व परमात्मस्वरूप ही हैं, उससे भिन्न नहीं हैं; यह प्रगट करते हुए प्रकृत ग्रन्थ में गद्य सन्दर्भ के द्वारा उक्त तीन तत्त्वों की उमी रूप में प्ररूपणा की गई है (पृ० २२१-२६)।

अन्यत्र किन्ही ऋषियों के द्वारा यम, नियम, आमन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि; ये आठ अंग तथा किन्ही के द्वारा यम-नियमके बिना शेष छह ही ध्यान के स्थान माने गये हैं। उनके विषय में आचार्य शुभचन्द्र कहते हैं कि उक्त योग के आठ अंग चित्त की प्रसन्नता के द्वारा मुक्ति के कारण हो सकते हैं। जो जिस ने उस चित्त को वश में कर लिया है उसके वश में सब कुछ हो चुका है। इस प्रकार उन्होंने मन के नियन्त्रण पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। मन की शुद्धि से राग-द्वेषादि का भी निरोध हो जाता है और जहां राग-द्वेषादि का निरोध हुआ कि योगी समताभाव पर आरुढ़ हो जाता है।

ध्यान के सामान्यतया दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—दुर्ध्यान और प्रशस्त ध्यान। इनमें आतं और रौद्र के भेद से दुर्ध्यान दो प्रकारका है तथा धर्म और शुक्ल के भेद से प्रशस्त ध्यान भी दो ही प्रकारका है। अपने-अपने भेद-प्रभेदों के साथ इन चारों ध्यानों का यहा यथास्थान विस्तार में वर्णन किया गया है। प्रसंगवश यहा प्राणायाम (पृ० २८४-३०३), प्रत्याहार और धारणा का भी निरूपण किया गया है।

सर्वीयं ध्यान का विवेचन करते हुए कहा गया है कि अपने ही विलास से उत्पन्न राग-द्वेषादि से बद्ध होकर मैं इस दुर्गम संसार में परिभ्रमण करता रहा हूँ। आज मेरा वह रागभाव विनष्ट हुआ है तथा मोह-निद्रा भी दूर हुई है, इसीलिए अब मैं ध्यानरूप खड्ग के द्वारा कर्मरूप शत्रु को नष्ट कर देता हूँ। सम्पद्दर्शनादि गुणों का समुदाय शक्तिरूप से मुझमें है, और व्यक्तिरूप स परमेष्ठी के है, यही तो शक्ति और व्यक्तिरूप स्वभाव से दोनों में भेद है। इत्यादि रूप से यहा आत्मा-परमात्मा का विचार

किया गया है (पृ० ३०७-१६)।

जिसने निज के स्वरूप को नहीं समझा है वह परमात्मा को नहीं जान सकता। अतएव यदि उस परमात्मा को जानना है तो सर्वप्रथम अत्मस्वरूप का निश्चय करना चाहिए। इसी तत्त्व को लक्ष्य में रखकर यहा आचार्य शुभचन्द्र ने समस्त प्राणियों में विद्यमान उस आत्मा के बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इन तीन भेदों का निर्देश करते हुए उस आत्मस्वरूप को विस्तार से समझाया है (पृ. ३१६-३५)।

अनादि काल से पडे हुए सस्कार के कारण अन्य की तो बात बया, किन्तु जिस योगी ने उस आत्मतत्त्व को जान लिया है वह भी मोहादि के वशीभूत होकर उसमें भ्रष्ट हो जाता है, इसीलिए यथावस्थित समस्त लोक का साक्षात्कार करने के लिए तथा आत्मविशुद्धि को प्राप्त करने के लिए निरन्तर वस्तुस्वरूप में स्थिर रहते हुए अलक्ष्यभूत तत्त्व से लक्ष्यभूत तत्त्व का, स्थूल तत्त्व से सूक्ष्म तत्त्व का और आलम्बन सहित तत्त्व से आलम्बन विहीन तत्त्व का चिन्तन करना चाहिए। इस प्रकार उस निरालम्बन—निर्विकल्प समाधि—की प्राप्ति के उपायभूत

२. मम शक्त्या गुणग्रामो व्यक्त्या च परमेष्ठिन।

एतावानावयोर्भेदः शक्ति-व्यक्तिस्वभावतः॥

पृ. ३०६ श्लोक १०

३. बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा से सम्बद्ध यह पूरा प्रकरण आचार्य पूज्यपाद के समाधितंत्र से अतिशय प्रभावित है—समस्त प्रकरण समाधितंत्र को सामने रखकर रचा गया है। इसका निर्णय सख्या-क्रमसे उक्त दोनों ग्रन्थों के निम्न श्लोकों का मिलान करने से होता है—

समाधितंत्र—८-६, १०, १३, १८-२६, २७, २८ से ३७, ३६-५३, ६३-६६, ६७-६९, ७०, ७१, ७२ से ७५, ७७, ७६-८४।

ज्ञानार्णव (३२वा प्रकरण)—१३-१४, १५, २०, २५-३३, ३६, ४२-५१, ५२-६६, ७० (समाधितंत्र के ६३-६६ श्लोकों का भाव ज्ञानार्णव के ७२वें श्लोक में संगृहीत है), ७३-७५, ७७, ७६, ७८-८१, ८२, ८३-८८।

१. यम-नियम-आसन-प्राणायाम - प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधयोऽष्टावङ्गानि। योगसूत्र २-२६।

यहां धर्मध्यान के प्राज्ञाविचयादि चार भेदों का विस्तार-पूर्वक निरूपण किया गया है (पृ. ३३६-८०)।

तत्पश्चात् ध्यान के पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत, इन चार भेदों का निर्देश करके पिण्डस्थ ध्यान में पार्थिवी, आग्नेयी, श्वसना (वायव्य), वायुणी और तत्त्वरूपवती. इन पांच धारणाओं का तथा पदस्थ ध्यान में अनेक प्रकार के मन्त्रपदों का वर्णन किया गया है। तृतीय रूपस्थ ध्यान में निरन्तर स्मरणीय अर्हेत् प्रभु के अलौकिक माहात्म्य की प्रगट किया गया है तथा अन्तिम रूपातीत ध्यान का वर्णन करते हुए यह कहा गया है जो योगी वीतराग परमात्मा का स्मरण करता है वह स्वयं वीतराग होकर कर्मबन्धन में मुक्ति पा लेता है, और जो रागी सराग देवादि का आश्रय लेता है वह क्रूर कर्मों के दृढ़ बन्धन में बद्ध होकर भयानक दुःख को सहता है। इस रूपातीत ध्यान में आकाश के समान निर्लेप, निराकार—वर्णोदि से रहित, सिद्धि को प्राप्त—कृतकृत्य, शान्त, अच्युत—जन्म-मरणादि में अतीत, अन्तिम शरीर से कुछ हीन, सधन आत्मप्रदेशों में अवस्थित, लोकशिखर पर विराजमान, शिवीभूत—सर्व दुःखों से निर्मुक्त होकर निराबाध व शाश्वतिक अनन्त सुख में परिपूर्ण, रोग से सर्वथा रहित और पुरुषाकार को प्राप्त, ऐसे अमूर्त मिष्ट परमात्मा का ध्यान करना बतलाया गया है। (पृ. ३८१-४२३)

इस प्रकार धर्मध्यान को पूर्ण कर व शुक्लध्यान को लक्ष्य बनाकर ग्रन्थकार कहते हैं कि जो मुनि विश्वदुःखा को श्री को—सार्वज्ञ्य लक्ष्मी को—चाहता है उसे दूरत जन्म-मरण रूप ज्वर से कूटिल अपने मनका सम्यक् प्रकार निरोध करना चाहिए। पर अल्प वीर्यवाला मुनि यदि उसे वश में करने के लिए समर्थ नहीं होता है तो उसे राग-द्वेष को दूर कर उस मन को स्थिर करना चाहिए। अल्प शक्तिके धारक प्राणियों का मन चूँकि स्थिर करने पर भी विचलित हो उठता है, अतएव ऐसे हीन शक्ति वाले प्राणियों को शुक्ल ध्यान का अधिकार नहीं प्राप्त है, किन्तु जो वज्रर्षभ-वज्रनाराचसहनन का धारक—महा-शक्तिशाली—पुरुष है वही उस शुक्लध्यान में अधिकृत है। ऐसा महानुभाव शरीरके छिन्न-भिन्न होने, नष्ट होने और जन जाने पर भी अपने को उससे सर्वथा दूर देखता है,

वह वर्षा, आधी और शीतातपादि की बाधा से कभी विचलित नहीं होता; तथा वह न कुछ देखता है, न कुछ सुनता है, न सूँघता है, और न किसी प्रकार के स्पर्श का भी अनुभव करता है। इस प्रकार योगी धर्मध्यान के प्रभाव से देव व मनुष्यों के अनुपम सुख को भोगता हुआ इस शुक्ल ध्यान का सहारा लेकर अविनश्वर पद को प्राप्त करता है (पृ. ४२३-२६)।

अन्त में सर्वसाधारण के लिए असंभव उस शुक्ल ध्यान के पृथक्त्ववितर्क आदि चार भेदों का उल्लेख कर आर्हन्त्य अवस्था, केवलिगमुद्घात और योगनिरोध आदि का दिग्दर्शन कराते हुए ग्रन्थ को समाप्त किया गया है तथा सर्वान्त में यह सूचना कर दी है कि ज्ञानार्णव—ज्ञान-समुद्र—के माहात्म्य का चिन्तन में निर्धारण कर भव्य जीव दुस्तर भव-समुद्र से पार हो सकता है।

योगशास्त्र

जिस प्रकार दिगम्बर सम्प्रदाय में योगविषयक पूर्वोक्त ज्ञानार्णव ग्रन्थ अप्रतिम है उसी प्रकार श्वेताम्बर सम्प्रदाय में आचार्य हेमचन्द्र का यह योगशास्त्र भी एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। बारह प्रकाशों में विभक्त वह भी ज्ञानार्णवके समान सरल व सुबोध संस्कृत में रचा गया है। इसका ६१ पद्यमय ११वां प्रकाश आर्यावृत्त में और १२वें प्रकाश के प्रारम्भिक ५१ पद्य भी आर्या में, ५२ व ५३ ये दो पद्य क्रम से पृथ्वी व मन्दाक्रान्ता वृत्तों में तथा अन्तिम दो पद्य शार्दूलविक्रीडित वृत्त में रचे गये हैं। शेष सब ही ग्रन्थ अनुष्टुप् छन्द में निमित्त हुआ है। ग्रन्थ के कर्ता हेमचन्द्र मुरि ने मंगल के पश्चात् प्रकृत योगशास्त्र के रचने की प्रतिज्ञा करते हुए यह सूचना की है कि मैं श्रुत-समुद्र, गुम्फरम्परा और स्वकीय अनुभव में योग का निर्णय कर इस योगशास्त्र को रचता हूँ। तत्पश्चात् योग के प्रभाव को प्रदर्शित करने हुए यह कहा गया है कि वह योग समस्त विपत्तियों का विघातक व अनेक ऋद्धियों का उत्पादक है। यह उस योग का ही प्रभाव है जो भरत क्षेत्र का अधिपति भरत विस्तृत साम्राज्य को भोगकर

१. श्रुताम्भोधेरधिगम्य संप्रदायाच्च सदगुरोः।

स्वमवेदनतश्चापि योगशास्त्र विरच्यते ॥

यो. शा. १-४.

कैवल्यविभूति को भी प्राप्त हुआ है। चारों पुरुषार्थों में प्रधान पुरुषार्थ मोक्ष है और उस मोक्ष की प्राप्ति का उपाय है ज्ञान-श्रद्धान-चारित्र्यरूप रत्नत्रय। इसमें ग्रन्थकार ने प्रथमतः सम्यग्ज्ञान और सम्यक्श्रद्धान—सम्यग्दर्शन—का स्वरूप मात्र निर्दिष्ट करते हुए चारित्र्य का विस्तार से वर्णन किया है। चारित्र्य के कथन में प्रथमतः मुनिधर्म को लक्ष्य करके अहिंसादि पाच व्रतों और उनकी पृथक् पृथक् भावनाओं का वर्णन करते हुए पाच समितियों एवं तीन गुणियों के स्वरूप का निर्देश किया गया है।

मुने जहां उपयुक्त अहिंसादि व्रतों का सर्वात्मना परिपालन करते हैं वहां उस मुनिधर्म में अनुरक्त गृहस्थ उक्त व्रतों का देशन ही पालन करते हैं। इस गृहधर्म की प्ररूपणा करते हुए ग्रन्थकार ने प्रथमतः १० श्लोकों में (४७-५६) यह बतलाया है कि कैसा गृहस्थ उस गृहधर्म के परिपालन के योग्य होता है। तत्पश्चात् पाच अणु-व्रतादिस्वरूप गृहस्थ के बारह व्रतों की सम्यक्त्वमूलक बतला कर यहां उस सम्यक्त्व व उसके विषयभूत देव, गुरु और धर्म का भी वर्णन करते हुए उन बारह व्रतों का विस्तार से कथन किया गया है। यह सब वर्णन प्रारम्भ के तीन प्रकाशों में पूर्ण हुआ है।

चतुर्थ प्रकाश में कषायजय, इन्द्रियजय, मनःशुद्धि और राग-द्वेषजय की विधि का विवेचन करते हुए समता-भाव को उद्दीप्त करने वाली बारह भावनाओं का वर्णन किया गया है। साथ ही वहां यह कहा गया है कि मोक्ष जिस कर्मक्षय से संभव है वह कर्मक्षय आत्मज्ञान से होता है, और वह आत्मज्ञान सिद्ध किया जाता है ध्यान से। साम्यभाव के बिना ध्यान नहीं और ध्यान के बिना वह स्थिर साम्यभाव भी सम्भव नहीं है। इसीलिए दोनों परस्पर एक दूसरे के कारण हैं। इस प्रकार ध्यान की भूमिका बाधते हुए आगे ध्यान का स्वरूप व उसके धर्म्य और शुक्ल ये दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं तथा धर्म्यध्यान को संस्कृत करने के लिए मैत्री आदि भावनाओं को

१. यो. शा. १, १८ ४६

२. सागारधर्माभूत के अन्तर्गत 'न्यायोपात्तधनो यजन् गुणगुरुन्—' इत्यादि श्लोक (१, ११) इन श्लोकों से पूर्णतया प्रभावित है।

ध्यान की रसायन बतला कर उनका भी संक्षेप में स्वरूप दिखलाया गया है।

ध्यान की सिद्धि के लिए योगी को, जिसने आसन पर विजय प्राप्त कर ली है, आत्मस्थिति के हेतुभूत किसी तीर्थस्थान अथवा अन्य किसी भी पवित्र स्थान का आश्रय लेना चाहिए। इसके लिए प्रकृत में पर्यक, वीर, वज्र, कमल, भद्र, दण्ड, उत्कटिका (उत्कुटुक), गोदोहिका और कायोत्सर्ग; इन आसनविशेषों का निर्देश करके उनका पृथक् पृथक् लक्षण भी दिखलाया गया है।

पाचवें प्रकाश में प्राणायाम की प्ररूपणा करते हुए प्राणापानादि वायुभेदों के साथ पाथिव, वाह्य, वायव्य और आग्नेय नामक वायुमण्डलों तथा उनके प्रवेश-निगमन को लक्ष्य में रखकर उसमें सूचित फल की विस्तार में चर्चा की गई है।

छठे प्रकाश में परपुरप्रवेश व प्राणायाम को निरर्थक कष्ट-द बतलाकर उसे मुक्तिप्राप्ति में बाधक बतलाया है। साथ ही धमध्यान के लिए मन को इन्द्रियविषयों की ओर से खींचकर उसे नाभि आदि विविध ध्यानस्थानों में से जिस किसी भी स्थान में स्थापित करने की प्रेरणा की गई है।

सातवें प्रकाश के प्रारम्भ में कहा गया है कि ध्यान के इच्छुक जीव को ध्याता, ध्येय और उसके फल को जान लेना चाहिए, क्योंकि, सामग्री के बिना कभी काय सिद्ध नहीं होते हैं। तदनुसार यहां ध्याता के विषय में कहा गया है कि जो मयम की धुरा को धारण करके प्राणों का नाश होने पर भी कभी उसे नहीं छोड़ता है, शीत-उष्ण आदिकी बाधासे कभी व्यग्र नहीं होता है, क्रोधादि कषायों से जिसका हृदय कभी कलुषित नहीं होता है, जो काम-भोगों से विरक्त होकर शरीर में भी निःस्पृह रहता है, तथा जो सुमेरु के समान निश्चल रहता है, वही ध्याता प्रशसनीय है।

ध्येय (ध्यान का विषय) के पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत; इर चार भेदों का निर्देश करके पिण्डस्थ में सम्भव पाथिवी, आग्नेयी, माहती, वाहणी और तत्रभू इन पाच धारणाओं का पृथक् पृथक् विवेचन किया गया है। साथ ही उस पिण्डस्थ ध्येय के आश्रय में जो योगी

को अपूर्व शक्ति प्राप्त होती है उसका भी दिव्यदर्शन कराया गया है ।

आठवे प्रकाश में पदस्थ, नौवे प्रकाश में रूपस्थ और दसवे प्रकाश में रूपातीत ध्यान का वर्णन किया गया है । इसके अतिरिक्त दसवे प्रकाश में उस धर्मध्यान के आजा-विचयादि अन्य चार भेदों का स्वरूप दिखलाते हुए उक्त धर्मध्यान का फल भी सूचित किया गया है ।

ग्यारहवे प्रकाश में पृथक्त्ववित्तक आदि चार प्रकार के शुक्लध्यान का उल्लेख करके केवली जिनके महात्म्य को प्रगट किया गया है ।

अन्तिम बारहवे प्रकाश के प्रारम्भ में 'श्रुत-समुद्र और गुरु के मुख से जो कुछ मैंने जाना है उसका वर्णन कर चुका हूँ, अब यहाँ निर्मल अनुभवसिद्ध तत्त्व को प्रकाशित करता हूँ' ऐसा निर्देश करके विशिष्ट, यातायात, द्रिष्ट और मुलीन, इन चित्तभेदों के स्वरूप का कथन करते हुए बहिरात्मा अन्तरात्मा और परमात्मा का स्वरूप भी कहा गया है । अन्त में चित्त की स्थिरता पर विशेष बल दिया गया है ।

उक्त दोनों ग्रन्थों की समानता

उपर जो दोनों ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय कराया गया है उसमें इतना तो भली भाँति विदित हो जाता है विषयविवेचन की अपेक्षा दोनों ग्रन्थ समान है—एक में जिन विषयों का समावेश है, दूसरे में भी प्रायः १ वे ही १. 'प्रायः' कहने का अभिप्राय यह है कि कुछ २४ विषयों की दोनों ग्रन्थों में हीनाधिकता भी देखी जाती है । जैसे—

(१) ज्ञानार्णव में ध्यान के प्रशस्त व अप्रशस्त इस प्रकार सामान्य से दो भेदों का निर्देश करके आर्त रोग स्वरूप अप्रशस्त ध्यान का भी निरूपण किया है (पृ. २५६-७१) व उनका फल क्रम से तिर्यक् और नरक गति की प्राप्ति बतलाया है । इस अप्रशस्त ध्यान का उल्लेख योगशास्त्र में उपलब्ध नहीं होता—वहाँ मात्र ध्यान के धर्म्य और शुक्ल ये दो भेद ही निर्दिष्ट किये गये हैं । यथा—

मुहूर्तान्तर्मनःस्थैर्यं ध्यानं छद्मस्थयोगिनाम् ।

धर्म्यं शुक्लं च तद् द्वेधा यागरोधस्त्वयोगिनाम् ॥४-११५

विषय समाविष्ट हैं, भले ही वे क्रम की अपेक्षा आगे पीछे क्यों न हों । यह बात निम्न विषयसूची से और भी स्पष्ट हो जाती है—

विषय	ज्ञानार्णव	योगशास्त्र
१२ भावनाये	पृ. १६-६०	४, ५५-११०
रत्नत्रय	,, ६१-१६५	८, १५ से ३-५५
४ कपाये	,, १६६-२१२	४, ६-२३
इन्द्रियजय	,, २१२-१६	,, २४-३४
मनोनिरोध	,, २३२-२८	,, ३४-४४
राग-द्वेषजय	,, २८६-४५	,, ४५-५०
साम्यभाव	,, २४६-५२	,, ५०-५४
मन्त्री आदि ४ भावनाये	,, २७२-७४	,, ११७-२२
ध्यानस्थान	,, २७४-७८	,, १२३
द्यानासन	,, २७८-८०	,, १२४-३६
प्राणायाम-प्रत्याहार	,, २८४-८३	५, १-२६१
बहिरात्मादि ३ जीवभेद	,, ३१७-३५	१२, ७-१२
आजाविचयादि ४	,, ३३-८०	१०, ७-८४
पिण्डस्थ पदस्थ आदि ४	,, ३८१-४२३	७, ८ से १०-६
शुक्ल ध्यान ४	,, ४३०-४७	११, १-५१

हा, यह अवश्य है कि किसी विशेष विषयों पर प्रवृत्ति यदि एक में संक्षिप्त है तो दूसरे में वह कुछ विस्तृत है । जैसे—बहिरात्मा आदि ३ जीवभेदों का वर्णन ज्ञानार्णव

(२) ज्ञानार्णव में कुछ स्थान ध्यान के अयोग्य कहे गये गये हैं (पृ. २७४ श्लोक २०-३४), जो योगशास्त्र में नहीं देखे जाते । इसी प्रकार ध्यानयोग्य आसन भी ज्ञानार्णव में निर्दिष्ट हैं (पृ. २७७ श्लोक १-८), परन्तु इसके लिए योगशास्त्र में यह एक ही श्लोक पाया जाता है—

तीर्थं वा स्वस्थताहेतुं यत्तद्वा ध्यानसिद्धये ।

कृतासनजयो योगी विविक्तं स्थानमाश्रयेत् ॥४-१२३

(३) योगशास्त्र में चारित्र्य के प्रसंग में महाश्रावक की दिनचर्या (३, १२१-१४७) की प्रवृत्ति का गढ़ है, जो ज्ञानार्णव में उपलब्ध नहीं होती । वह दिनचर्या सागारधर्मावृत्त के छठे अध्याय में उपलब्ध होती है, जो योगशास्त्रप्ररूपित इस दिनचर्या में पर्याप्त प्रभावित है ।

मे कुछ विस्तार से किया गया है, जो योगशास्त्र में सक्षिप्त है। इसी प्रकार प्राणायाम की प्ररूपणा योगशास्त्र मे जानार्णव की अपेक्षा कुछ विस्तृत है। (देखिए पूर्वोक्त विषयसूची)।

इस प्रकार विषयविवेचन व रचनाशैली को देखने हुए यदि यह कहा जाय कि एक ग्रन्थ को सामने रखकर दूसरे ग्रन्थ की रचना हुई है तो यह अतिशयोक्ति नहीं होगी। उदाहरण स्वरूप यहाँ दोनों ग्रन्थों के कुछ श्लोकों का मिलान किया जाता है, जिससे यह ज्ञात हो सके कि एक ग्रन्थ का प्रभाव दूसरे पर सुनिश्चित है। यथा—

प्रशंसनीय ध्याता का उल्लेख करते हुए जानार्णव मे (पृ० ८५) मे यह कहा गया है—

सत्संयम-धुरा धीरर्न हि प्राणात्ययेऽपि यः।

त्यक्ता महत्त्वमालम्ब्य ते हि ध्यान-धनेश्वराः ॥४॥

इससे मिलता-जुलता यह श्लोक योगशास्त्र मे उपलब्ध होता है—

अमुञ्चन् प्राणनाशोऽपि संयमकधुरीणताम्।

परमप्यात्मवत् पश्यन् स्वस्वरूपापरिच्युतः ॥७-२

इसी प्रकरण मे जानार्णव (पृ ८६) मे दूसरा श्लोक यह उपलब्ध होता है—

स्वर्णाक्षल इवाकम्पा ज्योतिःपथ इवामलाः।

समीर इव निःसङ्गा निमग्नत्वं समाश्रिताः ॥१५॥

इसका मिलान योगशास्त्रके निम्न श्लोक से कीजिए—

सुमेधरिव निष्कम्पः शशीवानन्ववायकः।

समीर इव निःसङ्गः सुषोर्ध्याता प्रशस्यते ॥७-७

जानार्णव मे (पृ. २१८) 'मीना मृत्यु प्रयाताः' आदि २ श्लोकों (३५-३६) के द्वारा पाँचों इन्द्रियों मे से एक एक इन्द्रिय के वशीभूत होकर कष्ट भोगने वाले मछली आदि प्राणियों का उदाहरण देते हुए उन प्राणियों पर आश्चर्य प्रगट किया गया है, जो पाँचों ही इन्द्रियों के विषयों में मग्न रहा करते हैं।

यही अभिप्राय योगशास्त्र में भी ६ (४, २८-३३) श्लोकों द्वारा व्यक्त किया गया है।

जानार्णव (पृ. ३०५) में श्लोक ४ का उत्तरार्ध है—

प्राणायामेन विक्षिप्तं मनः स्वास्थ्यं न विन्वति।

यही भाव उसी प्रकार के शब्दों द्वारा योगशास्त्र मे

इस प्रकार दर्शाया गया है—

तन्नाप्नोति मनः स्वास्थ्यं प्राणायामैः कदचित्तम्।

६-४ का पूर्वार्ध

इसका उत्तरार्ध इस प्रकार है—

प्राणस्यायमने पीडा तस्यां स्याच्चित्तविप्लवः।

यह जानार्णव (पृ. ३०६) गत श्लोक ६ के पूर्वार्ध से समानता रखता है। यथा—

प्राणस्यायमने पीडा तस्यां स्यादातंसम्भवः।

दोनों में अन्तर मात्र 'चित्तविप्लव' और 'आतंसम्भवः' का है।

जानार्णव (पृ ३०६) मे निम्न श्लोक के द्वारा ध्यान के कुछ (१०) स्थान दिखला कर उनमे से किसी एक स्थान पर विषयवाछा मे रहित मन को आश्रित करने की प्रेरणा की गई है—

नेत्रद्वन्द्वे श्रवणयुगले नासिकाग्रे ललाटे

वक्त्रे नाभौ शिरसि हृदये तालुनि भ्रूयुगान्ते।

ध्यानस्थानान्यमलमतिभिः कीर्तितान्यत्र वेहे

तेष्वेकस्मिन् विगतविषयं चित्तमालम्बनीयम् ॥१३

यही अभिप्राय योगशास्त्र मे निम्न दो श्लोकों के द्वारा व्यक्त किया गया है—

नाभि हृदय-नासाग्र-भाल-भ्रू-तालु दृष्टयः।

मुखं कर्णौ शिरश्चेति ध्यानस्थानान्यकीर्तयन् ॥

तेषामेकत्र कुत्रापि स्थाने स्थापयतो मनः।

उत्पद्यन्ते स्वसवित्तर्बहवः प्रत्ययाः किल ॥६, ७-८

इस प्रकार कितने ही स्थल ऐसे हैं जहाँ उक्त दोनों ग्रन्थों के अन्तर्गत अनेक श्लोकों मे शब्द, अर्थ अथवा उभय से भी समानता देखी जाती है। इसके अतिरिक्त प्राणायाम का प्रकरण तो ऐसा है जहाँ पूरे प्रकरण मे ही प्रायः अनुक्रम से दोनों ग्रन्थों मे समानता पाई जाती है।

इस प्रकरण को प्रारम्भ करते हुए जानार्णव (पृ. २८४) मे कहा गया है कि जिन मुनियों ने सिद्धान्त का निर्णय कर लिया है वे ध्यान की सिद्धि और अन्तरात्मा (अन्तःकरण) को स्थिर करने के लिए प्राणायाम की प्रशंसा करते हैं। यथा—

मुनिर्णीतमुसिद्धान्तैः प्राणायामः प्रशस्यते।

मुनिभिर्ध्यातिसिद्धयर्थं स्थैर्यार्थं चान्तरात्मनः ॥१

लगभग यही भाव योगशास्त्र में भी इन शब्दों द्वारा व्यक्त किया गया है—

प्राणायामस्ततः कंश्चित् आश्रितो ध्यानसिद्धये ।

शक्यो नेतरथा कर्तुं मनःपवननिर्जय ॥५-१

उक्त प्राणायाम के पूरक, कुम्भक और रेचक इस प्रकार से तीन भेद दोनों ही ग्रन्थों में निर्दिष्ट किये गये हैं । यथा—

त्रिधा लक्षणभेदेन संस्मृतः पूर्वसूरिभिः ।

पूरकः कुम्भकश्चैव रेचकस्तदनन्तरम् ॥ जा० २

प्राणायामो गतिच्छेदः श्वास-प्रश्वासयोर्मतः ।

रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकश्चेति स त्रिधा ॥ यो. ५-४

विशेषता यह है कि योगशास्त्र में प्राणायाम के सामान्य स्वरूप का निर्देश करते हुए उक्त तीन भेदों का उल्लेख किया गया है, परन्तु ज्ञानार्णव में उस प्राणायाम-सामान्य का लक्षण नहीं निर्दिष्ट किया गया है । इसके अतिरिक्त योगशास्त्र में अन्य ऋषियों मतानुसार उक्त तीन भेदों के साथ प्रत्याहार, शान्त, उत्तर और अधर; इन चार अन्य भेदों को सम्मिलित करके उसके सात भेद भी कहे गये हैं । यथा—

प्रत्याहारस्तथा शान्त उत्तरश्चाधरस्तथा ।

एभिर्भेदश्चतुर्भिस्तु सप्तधा कीर्त्यते परः ॥५-५

आगे चलकर वहाँ इन सात भेदों का उसी क्रम में लक्षणनिर्देश करते हुए उनमें से प्रत्येक के फल का भी उल्लेख किया गया है (५, ६-१२) ।

तत्पश्चात् वहाँ प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान, इन पांच वायुभेदों का उल्लेख कर उनके जीतने की प्रेरणा करते हुए पृथक् पृथक् लक्षणनिर्देशपूर्वक उनके जीतने की विधि भी बतलाई गई है (१३-२०) । इसके अतिरिक्त उक्त पांच वायुओं में यै, पै, वै और ली इन बीजपदों के ध्यान करने की और आकृष्ट करने हुए उनके जीतने के फल का भी निर्देश किया गया है (५, २१-२४) ।

आगे उक्त पांच वायुओं के अभ्यास में कुशल होकर उनको कहा किस क्रम से धारण करे, इसका निर्देश करते

१. ज्ञानार्णव में मात्र पूर्व सूरियों के अनुसार उक्त ३ ही भेदों का निर्देश करते हुए उन्हीं तीनों का लक्षण निर्दिष्ट किया गया है (पृ. २८५, ३-६) ।

हुए उनके धारण के फल की भी सूचना की गई है (५, २६-३५) ।

यह हुई योगशास्त्र की विशेषता । अब आगे जो इन दोनों ग्रन्थों में समानता दृष्टिगोचर होती है वह इस प्रकार है—

ज्ञानार्णव (पृ. २८५) में कहा गया है कि नाभि से निकलकर हृदय-कमल के मध्य में जाती हुई द्वादशान्त में विश्राम को प्राप्त हुई वायु को परमेश्वर जानना चाहिए । साथ ही यह भी कहा गया है कि उक्त वायु के संचार, गति और स्थिति को जानकर निरन्तर अपने काल, आयु एवं शुभाशुभ फल की उत्पत्ति को जानना चाहिए । यथा—

नाभिस्कन्धाद् विनिष्क्रान्तं हृत्पद्मोदरमध्यगम् ।

द्वादशान्ते सुविश्रान्तं तज्ज्ञेय परमेश्वरम् ॥७॥

तस्य चार गति बुध्वा संस्था चंचारमनः सदा ।

चिन्तयेत् कालमायुश्च शुभाशुभफलोदयम् ॥८॥

लगभग उन्हीं शब्दों में इसी अभिप्राय के २ सूचक निम्न दो श्लोक योगशास्त्र में भी उपलब्ध होते हैं—

नाभेर्निष्क्रामतश्चारं हृन्मध्ये नयतो गतिम् ।

तिष्ठतो द्वादशान्ते तु विद्यात् स्थान नभस्वतः ॥५-३७

तच्चार-गमन स्थानज्ञानादभ्यासयोगतः ।

जानीयात् कालमायुश्च शुभाशुभफलोदयम् ॥५-३८

आगे ज्ञानार्णव में 'उक्त च श्लोकद्वयम्' कहकर निम्न दो श्लोक कहे गये हैं—

समाकृष्य यदा प्राणधारणं स तु पूरकः ।

नाभिमध्ये स्थिरीकृत्य रोषणं स तु कुम्भकः ॥

यत् कोष्ठावतियत्नेन नासाग्रहपुरातनः ।

बहिः प्रक्षेपणं वायोः स रेचक इति स्मृतः ॥

ये दोनों श्लोक कुछ पाठभेद के साथ विपरीत क्रम में योगशास्त्र में इस प्रकार उपलब्ध होते हैं—

यत् कोष्ठावतियत्नेन नासाग्रहपुरातनः ।

बहिः प्रक्षेपणं वायोः स रेचक इति स्मृतः ॥५-६

२. भेद इतना है कि जहाँ ज्ञानार्णव में उक्त वायु को परमेश्वर—मर्वश्रेष्ठ—कहा है वहाँ योगशास्त्र में उक्त वायु का स्थान जानना चाहिए, ऐसा कहा गया है । यहाँ वाक्य कुछ माकाक्ष सा बना रहता है ।

समाकृत्य यदापानात् पूरणं स तु पूरकः ।

नाभिपद्मे स्थिरीकृत्य रोधनं स तु कुम्भकः ॥५-३॥

यहां यह विचारणीय है कि क्या ये दोनों श्लोक ज्ञानार्णव में योगशास्त्र से लेकर उद्धृत किये गये हैं। इस विषय में श्री अन्तिम निर्णय करना तो शक्य नहीं है। कारण कि बहुधा ऐसा हुआ करता है कि प्रकृत विषय के विद्वान् कुछ समानता देखकर ग्रन्थान्तरो के अवतरणों को हस्तलिखित प्रतियों के मार्जिन आदि पर लिख देते हैं, जा आगे चलकर उस प्रति के आधार से ग्रन्थान्त्य प्रतियों के लेखकों द्वारा उसी का अंश समझ कर मूल प्रति में सम्मिलित कर दिये जाते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी सम्भव है कि 'उक्तं च श्लोकद्वयम्' यह पाठ मूल में न रहा हो और पीछे किसी प्रकार से जुड़ गया हो।

इसके अतिरिक्त दोनों ग्रन्थों में उन दोनों श्लोकों का क्रमव्यवस्थाय भी विचारणीय है। यदि आ. शुभचन्द्र बुद्धि पुरस्कार उन दोनों श्लोकों को योगशास्त्र से लेकर उद्धृत करते हैं तो उनके विपरीत क्रम से उद्धृत करने का कोई कारण नहीं दिखता। यह अवश्य है कि ज्ञानार्णव में पूरक, कुम्भक और रेचक इन तीन वायुओं का जो क्रम रहा है (देखिए श्लोक ३) तदनुसार वहां वे दोनों श्लोक यथाक्रम से ही हैं। साथ ही योगशास्त्र में भी उनके जिस क्रम को अपनाया गया है तदनुसार वे वहां भी यथाक्रम से ही हैं। वास्तव में तो पुरातन योगविषयक ग्रन्थों में उक्त वायुओं के क्रम के विषय में मतभेद रहा ही है। यथा—

स प्राणायामो बाह्यवृत्तिराम्य-तरवृत्तिस्तम्भवृत्तिरिति त्रिधा, रेचक-पूरक-कुम्भकभेदात् । × × × याज-वत्कथेन पूरक-कुम्भक-रेचक इति क्रम उक्तः ।

(योगसूत्र—नागोजीभट्टवृत्ति २-५०)

दोनों ग्रन्थगत उन श्लोकों में जो पाठभेद दृष्टिगोचर होता है उस पर विचार करने से ज्ञानार्णव का पाठभेद

१. देखिए जैनसिद्धान्त-भास्कर भाग ११ किरण १ पृ. ६-१२ में श्री पं० फूलचन्द जी शास्त्री का "ज्ञानार्णव और उसके कर्ता के काल के विषय में कुछ ज्ञातव्य बातें" शीर्षक लेख तथा 'जैन साहित्य व इतिहास' में स्व. अद्वैत प्रेमी जी का "शुभचन्द्र का ज्ञानार्णव" शीर्षक लेख।

कुछ सगत नहीं दिखता। वहां के पाठभेद के अनुसार पूरक का लक्षण यह होता है—'समाकृत्य यदा प्राणधारणं स तु पूरकः'। तदनुसार 'खेच कर जब प्राण धारण करना वह तो पूरक है' यह सम्बद्ध अर्थ नहीं है। 'यदा' का 'तदा' से जैसा सम्बन्ध अपेक्षित है वैसा 'स.' से नहीं बनता, और योगशास्त्रगत 'समाकृत्य यदापानात् पूरणं स तु पूरकः' पाठभेद के अनुसार सम्बद्ध अर्थ यह होता है—अपान वायु से खेच कर जो (यत्-अपानात्) पूर्ण किया जाता है वह पूरक प्राणायाम होता है।

अन्यत्र पूरक के लक्षण डम प्रकार उपलब्ध होते हैं—'दक्षिणेन बाह्यपूरणं पूरकः' (यो. सू. ना. भट्टवृत्ति २-५०)। अर्थात् दक्षिण नासिकापुट से बाह्य वायु को पूर्ण करना, इसका नाम पूरक है।

*वक्त्रेणोत्पलनालेन तोयमाकर्षयेन्नरः ।

एवं वायुर्गृहीतव्यः पूरकस्येति लक्षणम् ॥

अर्थात् जिस प्रकार मनुष्य कमलनाल के द्वारा मुख में जल को खींचता है उसी प्रकार वायु को जो ग्रहण किया जाता है, वह पूरक का लक्षण है।

हमारे श्लोक में जो 'पुरातन' के स्थान में ज्ञानार्णव में 'पुरातन' पाठभेद हुआ है वह त और न की बनावट में अधिक भेद न होने के कारण लिपिदोष से हुआ है। और यह पाठ चूकि हिन्दी टीकाकार श्री प. जयचन्द्रजी के सामने रहा है, अतएव उन्होंने "नासिकाग्रहण के जानने वाले पुरातन पुरुषों ने कहा है" ऐसा अर्थ करके पाठ की मंगति बँटाने का प्रयत्न किया है, परन्तु उक्त अर्थ वस्तुतः मंगत प्रतीत नहीं होता। वहाँ 'जानना' अर्थ का बोधक कोई शब्द भी नहीं है। प्रत्युत इसके योगशास्त्रगत पाठभेद के अनुसार 'अतिशय प्रयत्न पूर्वक जो वायु को नासिका, ब्रह्मपुर और मुख के द्वारा बाहिर फेंका जाता है उसे रेचक कहा जाता है' यह अर्थ सगत प्रतीत होता है।

*यो सू. २-४६ की जयकिपनदास जेठा भाई विग्विन गुजराती टीका में उद्धृत।

गुजराती अनुवाद—जेम कमलना नालवडे माणस पाणीनू आकर्षण करे छे तेज प्रमाणे नासिका व मुख द्वारा वायु ने आकर्षण करीने अ ग्रन्थन्तर देशमा स्थापी देवी ये पूरकनू लक्षण छे।

रेचक का लक्षण योगसूत्र (२-५०) की नागोजी भट्टवृत्ति में इस प्रकार प्राप्त होता है—

तत्र वामनामापुटेन अन्तर्वायोस्तयागो रेचकः ।

अर्थात् बायें नासिकारन्ध्र से भीतरी वायु का त्याग करना—निकालना—इसका नाम रेचक है ।

उसकी पूर्वोक्त गुजराती टीका (पृ. २७५) में उसके लक्षणस्वरूप उद्धृत यह श्लोक उपलब्ध होता है—

उत्क्षिप्य वायुमाकाश शून्यं कृत्वा निरात्मकम् ।

शून्यभावेन यञ्जीयाद्वेचकस्येति लक्षणम् ॥

अभिप्राय यह कि भीतरी वायु को [नासिका द्वारा] बाहिर निकाल कर निरात्मक करके शून्य आकाश में जोड़ना—छोड़ देना—इसका नाम रेचक है ।

एक बात और भी है, वह यह है कि उक्त दोनों श्लोक चाहे आ. शुभचन्द्र द्वारा स्वयं सगृहीत किये गये हों या विषय की समानता देखकर अन्य किसी के द्वारा मूल में सम्मिलित कर दिये गये हों; पर वे आ. शुभचन्द्र द्वारा पूर्व में निर्दिष्ट (४-६) उक्त पुरक आदि के लक्षणों के पोषक है और किसी अन्य ग्रन्थ के ही है, अन्यथा पुनः कविन अनिवार्य है । इसीलिए उनका अवस्थानक्रम श्लोक ६ के बाद सम्भव है ।

इस प्रकार प्रसंगपर उन दोनों श्लोकों की स्थिति पर विचार करके अब हम प्रकृत विषय पर आ जाते हैं—

उक्त दोनों श्लोकों के अनन्तर ज्ञानार्णव में श्लोक १० में कहा गया है कि योगी निरालस होकर वायु के साथ मन को निरन्तर धीरे-धीरे हृदय-कमल का कर्णिका में प्रविष्ट कराते हुए उसे वही पर नियन्त्रित करे । फिर आगे २ श्लोकों द्वारा उस मन के स्थिर कर देने से क्या-क्या लाभ होता है, यह सूचित किया गया है । वे तीनों श्लोक इस प्रकार हैं—

शनः शनर्मनोऽजलं वितन्द्रः सह वायुना ।

पवेद्य हृदयाम्भोजकर्णिकायां नियन्त्रयेत् ॥१०॥

त्रिकल्पा न प्रसूयन्ते विषयाशा निवर्तन्ते ।

अन्तः स्फुरति विज्ञानं तत्र चित्ते स्थिरीकृते ॥११॥

एवं भावयतः स्वान्ते यात्यविद्या क्षयं क्षणात् ।

विमवी स्युस्तथाक्षाणि कषायरिपुभिः समम् ॥१२॥

इसी भाव को वैसे ही शब्दों में अन्तर्हित करने वाले

ये २ श्लोक योगशास्त्र के भी देखिए—

ततः शनः समाकृत्य पवनेन समं मनः ।

योगी हृदय पद्मान्तर्निविष्य नियन्त्रयेत् ॥३६॥

ततोऽविद्या विलीयन्ते विषयेच्छा विनश्यति ।

विकल्पा विनिवर्तन्ते ज्ञानमन्तर्विजृम्भते ॥४०॥

आगे जाकर दोनों ही ग्रन्थों में यह कहा गया है कि उक्त प्रकार से चित्त के स्थिर हो जाने पर वायु का विश्राम कहा पर है, नाडिया क्या है, वायुम्रो का सक्रमण नाडियों में किस प्रकार होता है, मण्डलगति क्या है, और यह प्रवृत्ति क्या है; यह सब जाना जाता है—

कुत्र इवसनविश्रामः का नाडयः संक्रमः कथम् ।

का मण्डलगतिः केयं प्रवृत्तिरिति बुध्यते ॥ ज्ञा. १३

क्व मण्डले गतिर्वायोः सक्रम. क्व क्व विश्रमः ।

का च नाडीति जानीयात् तत्र चित्ते स्थिरीकृते ॥

यो. ५, ४१

तत्पश्चात् ज्ञानार्णव (श्लोक १६ व १८) और योगशास्त्र में (५-४२) भी नासिकारन्ध्र को अधिष्ठित करके जो पार्थिव (भौम), वायु, वायव्य और अग्नि-मण्डल, ये चार पुर (मण्डल) अवस्थित हैं उनके नामों का निर्देश किया गया है ।

ज्ञानार्णव के उपर्युक्त दोनों श्लोकों के मध्य में स्थित १७वें श्लोक में यह कहा गया है कि उक्त पार्थिव आदि चार वायुमण्डल यद्यपि दुर्लक्ष्य हैं तो भी कुशाग्र-बुद्धि मनुष्य के लिए वे अभ्यास के वश स्वकीय संवेदन (स्वानुभव) के विषय बन जाते हैं ।

यह सूचना योगशास्त्र में आगे—उन चारों के लक्षण-निर्देश के पश्चात्—४७वें श्लोक द्वारा की गई है ।

उन चारों मण्डलों के लक्षण का निर्देश ज्ञानार्णव में क्रम से श्लोक १६-२२ के द्वारा और योगशास्त्र में श्लोक ४३-४६ के द्वारा किया गया है ।

तदनन्तर ज्ञानार्णव में श्लोक २४-२७ और योगशास्त्र में श्लोक ४७-५१ द्वारा उक्त मण्डलों में सम्भव चार वायुम्रो के स्पर्श, वर्ण, प्रमाण और नाम (१ पुरन्दर, २. वरुण, ३. पवन और उज्ज्वलन—दहन) का उल्लेख समान रूप से किया गया है ।

पश्चात् दोनों ग्रन्थों में यह सूचना की गई है कि स्तम्भादि कार्य में पुरन्दर (महेन्द्र—इन्द्र), प्रशस्त सब कार्यों में वरुण, चल-मलिन कार्यों में वायु और वश्यादि कार्य में वल्लि को उद्देश्य करना चाहिए—आज्ञा देना चाहिए। यथा—

स्तम्भादिके महेन्द्रो वरुणः शस्तेषु सर्वकार्येषु ।

चल-मलिनेषु च वायुर्वश्यादौ वल्लिरुद्देश्यः ॥ ज्ञा. २८ इन्द्रं स्तम्भादिकार्येषु वरुणं शस्तकर्मसु ।

वायुं मलिन-लोलेषु वश्यादौ वल्लिमाविशेत् । यो ५२

इस प्रकार तुलनात्मक रूप से इतने क्रमिक विषय-विवेचन को देख कर पाठक यह निर्धारित कर सकेंगे कि उक्त दोनों में आश्रय-आश्रयी भाव अवश्य रहा है। पर किसने किमन्त्रो आधार बनाया है, इस सम्बन्ध में अभी कुछ न लिख कर यथावसर अन्य लेख के द्वारा उस पर कुछ प्रकाश डालने के लिए प्रयत्नशील रहूँगा।

अब मैं आगे अधिक विस्तार में न जाकर इन दोनों ग्रन्थों की श्लोकसंख्या का निर्देश मात्र कर देता हूँ जो विषय, अर्थ और बहुतांश में शब्दों की अपेक्षा भी परस्पर में समानता रखते हैं। यथाक्रम से मिलान कीजिये—

ज्ञानार्णव—२६-३२, ३३-३४, ३५, ३७, ३८, ३९, ४०, ४३-४५, ४७, ४८-४९, ५०, ५१, ५२, ५३-५६, ६१, ६२-६३, ६४, ६५, ६६, ६७-६८, ६९, ७०, ७७, ७८-८०, ८१-८६, ८८-८९, ९१, ९२, ९३-९८, ९९, १००; पृ. ३०५ श्लोक ५ उ., १० ।

योगशास्त्र—५३-५६, ५७-५८, ५९ का पू. व ६० का पू., ६० का उ. व ५९ का उ., ६५, ६६, ६७, ६२ से ६४, २१३, २१५-१६, २१७, २१८, २१९, २२० से २२६, २३०, २३१-३२, २२७, -३३, ३४, २३६-३९, २४०, २४१, २४२, २४३, २४४-४७, २४८-४९, २५०, २५१, ५२४-५६, २६१, ६-१, ६-४ पू., ६-५ ।

विशेष—

१. ज्ञानार्णव के ३१-३२ श्लोकों (पृ. २६०) में जो क्रमव्यत्यय उपलब्ध होता है वह लिपिकार के प्रमाद से हुआ दिखता है—किसी लिपिकार के द्वारा प्रमादवश ३१ को छोड़कर ३२वा लिख देने पर व तत्पश्चात् गलती

के ध्यान में आ जाने पर उसके आगे ३१वां लिख दिया और संख्या आगे की डाल दी गई है। स्वीकृत क्रम के अनुसार पवन के पश्चात् दहन का उल्लेख किया जाना चाहिए था।

२ ज्ञानार्णव का ६१ और योगशास्त्र का २५०वा श्लोक उभयत्र शब्दशः समान है।

३ तुलना में ६४ के बाद योगशास्त्र के २१५-१६ आदि श्लोक आते हैं। इसका कारण यह है कि वहाँ इस बीच में श्लोक ६५-८५ में वामा नाडी (चन्द्रनाडी) और दक्षिणा नाडी (सूर्यनाडी) शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष में सूर्य-चन्द्र के उदयादि में कंसा शुभाशुभ फल देने वाली है, इत्यादि विचार किया गया है। आगे श्लोक ८६-२०४ में काल का निर्णय—नाडी, जन्मनक्षत्र, नाडियों में वायु-संचार, इतर शकुन-अपशकुन व स्वप्न आदि के अवलोकन के आश्रय से अन्य शुभाशुभ के साथ ही मृत्युकाल का भी निश्चय किया गया है। इसके आगे २१२ श्लोक तक विद्याबल से उस काल का विचार किया गया है। इस सब की सूचना वहाँ निम्न श्लोकों द्वारा की गई है—

अथेदानीं प्रवक्ष्यामि किञ्चित् कालस्य निर्णयम् ।

सूर्यमार्गं समाश्रित्य स च षोष्णे च गम्यते ॥८६

इति यन्त्रप्रयोगेण जानीयात् कालनिर्णयम् ।

यदि वा विद्याया विद्याद् वक्ष्यमाणप्रकारया ॥२०४

एवमाध्यात्मिकं कालं विनिश्चेतुं प्रसंगतः ।

ब्राह्मस्यापि हि कालस्य निर्णयः परिभाषितः ॥२१२

उपर्युक्त यह सब वर्णन ज्ञानार्णव में दृष्टिगोचर नहीं होता है।

४ ज्ञानार्णव श्लोक ९३-९८ और योगशास्त्र श्लोक २५४-५९ में परपुरप्रवेश—उत्तरोत्तर अभ्यास को बढ़ाते हुए योगी का क्रम से अकंतूल, जाति (मालती) आदि पुष्प, कपूर आदि गन्धद्रव्य, सूक्ष्म पत्रि-(पक्षि-) काय, भ्रमर-पतंग आदि के शरीर, मनुष्य-घोडा-हस्तिशरीर और अन्त में पत्थर आदि में आत्मप्रवेश एवं निःसरण की क्रिया—वर्णित है।

यहाँ योगशास्त्र में आगे के श्लोक में यह सूचना दी गई है कि इस प्रकार वाम नासिका से मृतशरीर में प्रवेश

करना चाहिये । पाप की शका से जीवित शरीर में प्रवेश
यहां नहीं कहा जा रहा है । यथा—

एवं परासु-वेहेषु प्रविशेद् वामनासया ।
जीवदेहप्रवेशस्तु नोच्यते पापशंकया ॥५, २६०

पूर्व साहित्य का परिशीलन

दोनों ग्रन्थों में प्ररूपित विषयों को देखते हुए यह यह निश्चित ज्ञात होता है कि आचार्य शुभचन्द्र और हेमचन्द्र दोनों ही तलस्पर्शी विद्वान् थे । उनके सामने जो भी योगविषयक प्राचीन साहित्य उपस्थित था उसका उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया था । इसका संकेत इन दोनों ग्रन्थों के विषयविवेचन में स्वयं उपलब्ध होता है । यथा—

१. त्रिधा लक्षणभेदेन सस्मृतः पूर्वसूरिभिः ।
पूरकः कुम्भकश्चैव रेचकस्तदनन्तरम् ॥

ज्ञाना पृ. २८५-३

२. अग्रे वामविभागे चन्द्रक्षेत्रं वदन्ति तत्त्वविदः ।

पृष्ठे च दक्षिणाङ्गे रवेस्तदाह्वराचार्याः ॥

ज्ञाना. पृ. २६७-७०

३. नाडीशुद्धिं कुरुते बह्वनुरं दिनकरस्य मार्गेण ।
निष्कामद्विषादि बोः पुरमित्रेण केऽप्याहुः ॥

ज्ञाना. पृ. ३००-८७

४. षोडशमितः कंश्चित् निर्णीतो वायुसंक्रमः ।
अहोरात्रमिते काले द्वयोर्नाड्योर्ध्याकमम् ।

ज्ञाना पृ. १०१-६०

योगशास्त्र—

१. प्राणायामस्ततः कंश्चित् आश्रितो ध्यानसिद्धये ॥ ५-१

२. प्रत्याहारस्तथा शान्त उत्तरश्चाधरस्तथा ।

अभिर्भेदश्चतुर्भिस्तु सप्तधा कीर्त्यते परं ॥ ५-५

३. चन्द्रे स्त्री पुरुषः सूर्ये मध्यभागे नपुंसकम् ।

प्रदन्काले तु विज्ञेयमिति कंश्चिन्निगद्यते ॥ ५-३५

४. अग्रे वामविभागे हि शशिक्षेत्रं प्रचक्षते ।

पृष्ठे दक्षिणभागं तु रविक्षेत्रं मनीषिणः ॥ २४१

रूपक पद

कवि घासीराम

सोहनी राग में गाया गया कवि घासीराम का यह रूपक पद आत्मा और शरीर की पृथक्ता पर सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है । कवि कहता है कि जीव को इस कायारूपी नगरी में किस प्रकार से रहना चाहिए । उसका एक सुन्दर दृश्य अंकित किया है । शरीर रूपी कुआँ एक है पाँचों इन्द्रियाँ पनिहारी हैं, वे अपना-अपना नीर भरती हैं । उसके पुर जाने में कुआँ का पानी सूख गया, तब वे पाँचों पनिहारी विलखती हैं । हम उड़ गया केवल मिट्टी पड़ी रहनी है, उस कचन महल और रूपामय छज्जे को छोड़ कर नगरी का राजा बना गया । इससे हमें विवेक की ओर दृष्टि देना चाहिए और पर पदार्थों में ममता हटा कर चैतन्य स्वरूप आत्मा की ओर दृष्टि देना चाहिए ।

राग सोहनी

इस नगरी में किस विधि रहना नित उठ तलब लगावे री भेना ।

एक कुआँ पाँचों पनिहारी, नीर भरे सब न्यारी न्यारी ॥१

पुर गया कुआँ सूख गया पानी, विलख रही पाँचों पनिहारी ॥२

बालू की रेत ओस की टाटी, उड़ गया हंस पड़ी रही माटी ॥३

कंचन महल रूप्यमय छाजा, छोड़ चला नगरी का राजा ॥४

‘घासीराम’ सहज का मेला, उड़ गया हाकिम लुट गया डेरा ॥५

चारुकीर्ति

डा० विद्याधर जोहरापुरकर

भगवान गोमटेश्वर की महामूर्ति से पवित्रीकृत तीर्थ श्रवणबेलगुल में जैन भट्टारकों का एक मठ है। यहां के बहुत से आचार्यों के उल्लेख माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित जैनशिलालेखसंग्रह के पहले और तीसरे भाग में प्राप्त होते हैं। इन में कई आचार्य चारुकीर्ति इस एक ही नाम से जाने जाते थे। पिछले वर्ष जैनशिलालेखसंग्रह का चौथा भाग प्रकाशित हुआ है। इस में भी चारुकीर्ति नामक कई आचार्यों के उल्लेख हैं। इन सब उल्लेखों का समन्वित अध्ययन प्रस्तुत करना ही इस लेख का उद्देश है। इस में जो ग्रन्थ-पृष्ठों के उल्लेख हैं वे सब उपर्युक्त जैनशिलालेख संग्रह के हैं।

हमारे अध्ययन के अनुसार चारुकीर्ति नामक सब से पुरातन आचार्य यापनीय सघ के वृक्षमूल गण के मुनिचन्द्र त्रैविद्य के शिष्य थे। इन्हें सोविमेष्टि नामक सज्जन ने एक उद्यान अर्पण किया था ऐसा वर्णन दोणि ग्राम के एक शिलालेख में है। यह लेख सन १०६६ का है (भाग ४ पृ० १२२)।

चारुकीर्ति नामक दूसरे आचार्य का उल्लेख श्रवणबेलगुल के शक १०५०=सन ११२८ के एक लम्बे शिलालेख में है। लेख का लेखक बोकिमथ्य उनका शिष्य था। किन्तु इसमें उनकी परम्परा अथवा गुरु आदि के बारे में कोई विवरण नहीं मिलता। (भाग १ पृ० ६७)।

तीसरा उल्लेख सोराष्ट्र के वेरावल नगर के एक खण्डित लेख में है। नन्दिमघ के कई आचार्यों के नाम इसमें हैं जिनमें एक चारुकीर्ति भी है। किन्तु लेख आधा टूटा होने में उनके गुरु-शिष्यादि के बारे में कोई विवरण इसमें नहीं मिलता। इस लेख का समय बारहवीं शताब्दी का अन्तिम चरण है (भाग ४ पृ० २२१)। मैसूर प्रदेश में बाह्य चारुकीर्ति नामक आचार्य का यह एकमात्र उल्लेख है।

चौथे उल्लेख का अनुमानित समय भी सन १२०० है। बन्दलिके ग्राम के इस लेख में अभयचन्द्र के शिष्य चारुकीर्ति द्वारा एक मन्दिर का जीर्णोद्धार किये जाने का वर्णन है (भाग ३ पृ० ६५)।

पाचवा उल्लेख श्रवणबेलगुल के एक समाधिलेख में है जिसका समय शक १२३५=सन १३१३ है। इसमें वर्णित देशीगण की गुरुपरम्परा इस प्रकार है—कुलभूपण—माघनन्दि—शुभचन्द्र—चारुकीर्ति—माघनन्दि—अभयचन्द्र—बालचन्द्र—रामचन्द्र। रामचन्द्र के शिष्य शुभचन्द्र का उक्त वर्ष में स्वर्गवास हुआ था। अतः इसमें वर्णित चारुकीर्ति का समय भी सन १२०० के आसपास प्रतीत होता है (भाग १ पृ० ३०-३३)।

छठवा उल्लेख हलेबीड के एक सम धिलेख में है। इसमें देशीगण की इगलेश्वरबलि की गुरुपरम्परा इस प्रकार बतलाई है—गण्डविमुक्त—शुभनन्दि—चारुकीर्ति—माघनन्दि—अभयचन्द्र—बालचन्द्र—अभयचन्द्र। अन्तिम आचार्य अभयचन्द्र का स्वर्गवास शक १२०१=सन १२७६ में हुआ था। अतः इसमें वर्णित चारुकीर्ति का समय भी सन १२०० के आसपास प्रतीत होता है (भाग ३ पृ० ३७१-७३)।

सातवा उल्लेख श्रवणबेलगुल के एक शिलालेख में है जिसका अनुमानित समय शक १२४७=१३२५ है। इसमें देशीगण के अभिनव चारुकीर्ति पण्डित के शिष्य मगायि द्वारा त्रिभुवनचूडामणिवसति बनवाने का वर्णन है (भाग १ पृ० २६०)।

आठवा उल्लेख कणवे ग्राम के शक १२८४=सन १३६२ के एक लेख में है। इसके प्रारम्भ में देशीगण के चारुकीर्ति पण्डित की प्रशंसा है और बाद में महाराज बुक्कराय के समय में एक मन्दिर की भूमि के बारे में

कुछ विवादों का अधिकारियों द्वारा निर्णय दिये जाने का वर्णन है (भाग ३ पृ० ३६३) ।

नौवा उल्लेख गेरसोपे के शक १३२३=सन १४०१ के एक समाधिलेख में है। इसमें नगिरपुर के सामन्त मंगरस के स्वर्गवास का वर्णन है। लेख टूटा होने से इसमें जो चारुकीर्ति पण्डित का नाम है उसका पूर्वापर सम्बन्ध अस्पष्ट है (भाग ४ पृ० २६७) ।

दसवा उल्लेख श्रवणबेलगुल के दो लेखों में है जिनका समय शक १३२०=सन १३९८ तथा शक १३५५=सन १४३३ है। इसमें वर्णित चारुकीर्ति देशीगण की इगलेश्वर-बलि के श्रुतकीर्ति के शिष्य थे।

लेखों में चारुकीर्ति के शिष्य पण्डितयति, पण्डितयति के शिष्य सिद्धान्तयोगी और सिद्धान्तयोगी के शिष्य श्रुत-मुनि की प्रशंसा है। श्रुतमुनि का स्वर्गवास शक १३५५ में हुआ था। अतः इस लेख में वर्णित चारुकीर्ति का समय सन १३५० के आसपास पतनी होता है। इन चारुकीर्ति के वर्णन में सारत्रय, युक्तिशास्त्र और शब्दविद्या में उनकी प्रवीणता की प्रशंसा है तथा बल्लालराज को नीरोम करने का श्रेय भी उन्हें दिया गया है (भाग १ पृ० २१३ तथा २०३) ।

ग्यारहवां उल्लेख मूडबिदुरे के एक ताम्रपत्र का है जिसका समय शक १४२६=सन १५०४ है। इसमें कदम्ब कुल के शासक लक्ष्मणरस अपरनाम भंगरस द्वारा जैनो के ७२ मस्थानों के प्रधानाचार्य चारुकीर्ति के एक शिष्य को अपने राज्य के एक भाग के धार्मिक अधिकार प्रदान किये जाने का वर्णन है (भाग ४ पृ० ३१३) ।

बारहवां उल्लेख अजनगिरि के शक १४६६=सन १५४४ के एक लेख में है। इसके अनुसार देशीगण-इगलेश्वरबलि के बेलगुलपुर के चारुकीर्ति पण्डित के प्रशिष्य के शिष्य अभिनव चारुकीर्ति पण्डित थे। इनके शिष्य शान्तिकीर्ति थे जिन्होंने सुवर्णावती नदी से प्राप्त दो जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा के लिए एक मन्दिर बनवाया था तथा उसके लिए चन्दा एकत्र किया था (भाग ३ पृ० ५३०-३३) ।

तेरहवां उल्लेख मूडबिदुरे के शक १४८५=सन १५६३ के ताम्रपत्र में है। इसके अनुसार मूडबिदुरे के चण्डो-

पाश्वर्नाथ मन्दिर के लिए शंकरसेट्टि ने कुछ दान दिया था जो अभिनव चारुकीर्ति पण्डित के आज्ञावर्ती सेट्टि-कारो को सौंपा गया था। (भाग ४ पृ० ३२६-७) ।

चौदहवां उल्लेख चिक्कहनसोगे के सन् १५८५ के शिलालेख में है। इसके अनुसार चारुकीर्ति पण्डित के शिष्य पण्डितय्य द्वारा तीन जिनमूर्तियों की स्थापना की गई थी (भाग ४ पृ० ३३१) ।

पन्द्रहवां उल्लेख श्रवणबेलगुल के शक १५५६=सन १६३४ के शिलालेख में है। इसके अनुसार बेलगुल के मन्दिरों की सम्पत्ति गिरवी रखी गई थी। राजा चाभराज वोडेयर के कहने पर तथा चारुकीर्ति पण्डित के समक्ष चेन्नण आदि सेठों ने इस सम्पत्ति को श्रृणमुक्त कर दिया था (भाग १ पृ० १६८) ।

सोलहवां उल्लेख मूडबिदुरे के शक १५६२=सन १६४१ के ताम्रपत्र में है। इसके अनुसार अभिनव चारुकीर्ति तथा उनके शिष्यवर्ग को चिक्कराय ओडेयर द्वारा सुरक्षा का आश्वासन दिया गया था (भाग ४ पृ० ३४१) ।

सत्रहवां उल्लेख श्रवणबेलगुल के एक समाधिलेख में है। इसके अनुसार शक १५६५=सन १६४३ में चारुकीर्ति पण्डित का स्वर्गवास हुआ था (भाग १ पृ० २६३) ।

अठारहवां उल्लेख श्रवणबेलगुल के एक मूर्तिलेख में है। इसके अनुसार कारजा के भट्टारक धर्मचन्द्र तथा चारुकीर्ति पण्डित के उपदेश से शक १५७०=सन १६४८ में यह मूर्ति स्थापित की गई थी (भाग १ पृ० २२६) ।

उन्नीसवां उल्लेख श्रीरंगपट्टम के सन १६६६ के एक शिलालेख में है। इसके अनुसार चारुकीर्ति पण्डित के शिष्य पायण ने अष्टान्हिका महोत्सव के लिए कुछ दान दिया था (भाग ४ पृ० ३४३) ।

बीसवां उल्लेख मदन ग्राम के शक १५९५=सन १६७३ के एक शिलालेख में है। इसके अनुसार बेलगुल के चारुकीर्ति पण्डित की मूर्त के देवराज ओडेयर ने मदन ग्राम दान दिया था (भाग ३ पृ० ५६६) ।

इक्कीसवां उल्लेख मूडबिदुरे के शक १६७६=सन १७५७ के एक ताम्रपत्र में है। इसके अनुसार इम्मडि [शेष पृ० २२ पर]

भट्टारक विनयचन्द्र के समय पर विचार

परमानन्द जैन शास्त्री

भट्टारक विनयचन्द्र का जो समय मैंने 'प्रशस्ति संग्रह' द्वितीय भाग की प्रस्तावना में दिया था^१। उस पर आपत्ति करते हुए अग्रचन्द्र जी नाहटा ने जैन सन्देशकेशोधाक १८ में पृष्ठ २७३ पर 'चूनड़ी' के रचयिता भ० विनयचन्द्र का समय' शीर्षक लेख में बिना किसी प्रमाण के विनयचन्द्र का समय १४०० के आस-पास का बतलाया है। और लिखा है कि भापा के आधार पर उसका समय इसमें पूर्व का नहीं हो सकता। परन्तु आपने भापा के उस आधार का, जो आपके समय की समर्थक हो, उसका कोई विश्लेषण या प्रमाण उपस्थित नहीं किया, और न कोई ऐसा ऐतिहासिक आधार ही उपस्थित किया जो उनके अभिमत को पुष्ट करता हो। ऐसी स्थिति में उस कल्पना को १४०० के आस पास का समर्थक कैसे कहा जा सका है ? बिना किसी प्रमाण के दिगम्बर विद्वानों और उनकी रचनाओं को अवर्चान बतलाना, तथा जान भंडारों की बिना किसी जाच के यह लिख देना कि दि० विद्वानों द्वारा इस विषय का साहित्य नहीं रचा गया। बाद में वह साहित्य दि० भंडारों में मिल गया, तब उनकी वह कल्पना निरर्थक हो गई। इसमें लेख लिखते समय विचार कर ही लिखना चाहिए। दूसरे अमुक ग्रन्थकार ने अमुक सम्प्रदाय के ग्रन्थों का उल्लेख तक नहीं किया। यह उस शोधक विद्वान की कमी नहीं, उसने तो अपना प्रबन्ध लिखने के लिए प्रयत्न किया ही होगा। फिर भी यदि किसी सम्प्रदाय के किसी ग्रन्थका परिचय या ग्रंथ लेखक को प्राप्त नहीं हुआ हो तो वह ऐसी स्थिति में उसका उल्लेख कैसे कर सकता है ? गलती तो तब कहलाती जब उसके मन में वह ग्रंथ होता और वह उसका उल्लेख भी न करता। अतः भविष्य में इन बातों के सम्बन्ध में नाहटा जी को थोड़ा-सा समय से काम लेना चाहिए, जल्दी से उस विषय

का निर्णय नहीं देना चाहिए।

भट्टारक विनयचन्द्र माथुर संघ के भट्टारक उदयचन्द्र के शिष्य और बालचन्द्र मुनि के दीक्षा शिष्य थे। विनयचन्द्र ने 'चूनड़ीग्राम' में 'माथुर संघ' उदय मुणीसर' और 'निर्भर पंचमी कहाग्राम' में उदयचन्द्र गुरु' रूप से उदयचन्द्र का स्मरण किया है। और बालचन्द्र का चूनड़ी में 'बालचन्द्र गुरु गणहर, तथा 'निर्भर पंचमी कहा रास' में 'वंदिवि बाल मुणे' रूप में उल्लेख किया है। इस कारण वे उन दोनों के शिष्य थे। किन्तु उदयचन्द्र ने जब 'सुगंध-दशमी कथा' बनाई, उस समय वे गृहस्थ थे; क्योंकि उन्होंने उक्त कथा के अन्त में अपनी पत्नी 'देमति' का उल्लेख किया है। बाद में वे मुनि हो गए जान पड़ते हैं। विनयचन्द्र ने जब 'नरक उतारी—कथा' लिखी, तब उसकी प्रशस्ति में उदयचन्द्र को मुनि नहीं लिखा किन्तु 'गुण गणहर गरुड' रूप में स्मरण किया है। और बालचन्द्र को मुनिरूप में स्मृत किया है। जैसा कि उसके निम्न पद्य से स्पष्ट है :—

उदय चन्द्र गुण गणहर गरुड,
सो मई भावें मणि अणुसरियउ ।
बालचन्द्र मुनि नविवि निरंतर,
नरक उतारी कहमि कहंत ॥'

इस कथा को कवि ने यमुना नदी के तट पर बसे हुए महावन नगर के जिन मन्दिर में रचा है^१। इसमें स्पष्ट जान पड़ता है कि उदयचन्द्र बाद में मुनि बने हैं।

विनयचन्द्र ने 'निर्भर पंचमी कहा रास' त्रिभुवन गिरि (नहनगड) की तलहटी में रचा है। और चूनड़ी रास की रचना का स्थल त्रिभुवनगिरि नगर के अजय नरेंद्र

१ अमिय सरीसउ जवण जलु, णयर महावणु सगु ।

तहि जिण भवणि वसंत इणि विरइउ रासु समगु ॥

—नरक उतारी कथा

(अजयपाल) कृत राज विहार को बतलाया गया है। उस समय तहनगढ़ जन धन से समृद्ध था। उसकी इस समृद्धि की पुष्टि चून्डी रास की निम्न पंक्ति से होती है जिसमें उसे—‘सगखण्ड णं धरियल आयउ’—स्वर्ग खण्ड के समान सुभग बतलाया गया है। उसे विजयपाल के पुत्र तहनपाल ने बसाया था। वयाना (श्रीपथ) तहनगढ़ (त्रिभुवनगिरि) और करौली के शासक यदुवशी क्षत्रिय थे, जो श्रीकृष्ण के वंशज कहलाते थे। उनकी परम्परा निम्न प्रकार मिलती है—जैतपाल, विजयपाल, तहनपाल धर्मपाल, अजयपाल, हरिपाल, सहनपाल और कुमारपाल आदि। इस परम्परा में कुमारपाल का नाम सहनपाल के बाद आता है, जिसका उल्लेख सन् १११२ के लेख में मिलता है। किन्तु वृत्त विलास वाली परम्परा में प्रयुक्त नामों में कुछ क्रम भग भी पाया जाता है। जैसे धर्मााल के बाद और अजयपाल से पूर्व कुवरपाल का नाम दिया हुआ है।

किन्तु नाहटा जी ने लिखा है कि—“जगदीशसिंह गहलोत लिखित राजस्थान के इतिहास में करौली राज्य का इतिहास दिया है, उसमें अजयराज कुमारपाल के बाद सोहनपाल, नागार्जुन, पृथ्वीपाल के नाम आते हैं। तदनन्तर तिलोकपाल विमलदेव, सांसदेव, आमलदेव के नाम आते हैं। फिर गोकुलदेव के उत्तराधिकारी महाराजा अर्जुनपाल का विशेष विवरण है जिसने करौली स १४०५ में बसा कर राजधानी बसाई। अर्जुनपाल का समय स० १३८४ से १४१८ का दिया है।”

(जैन सन्देश गोधाक पृ० २७४)

नाहटा जी ने ऊपर जिस इतिहास का उल्लेख किया किया है, वह यथा नहीं है। पर उन्होंने अर्जुनपाल को अजयपाल समझ कर विनयचन्द्र का समय स० १४०० के आस-पास का बतलाया है। जो किसी तरह भी संगत नहीं बैठता। अर्जुनपाल ने स० १४०५ में जब करौली बसाई

तब उससे पूर्व स० १३८४ में वे कहा के राजा थे। यह स्पष्ट करना चाहिए था। अर्जुनपाल क्या त्रिभुवन गढ़ भी रहा, यदि नहीं तो फिर उसके साथ एकत्व कैसा ?

अर्जुनपाल अजयपाल नहीं हो सकते। क्योंकि दोनों के समय में काफी अन्तराल है। अजयपाल की प्रशस्ति सन् ११५० की है और अर्जुनपाल का समय १३८४ से १४१८ तक बतलाया गया है। ऐसी हालत में दोनों की एकत्व कल्पना निरर्थक जान पड़ती है। मेरे पास करौली के शासकों की जो सूची है। उसमें भी बहुत राजाओं के बाद अर्जुनपाल का नाम दिया है। और कुवरपाल के बाद अजयपाल का सप्रमाण उल्लेख आगे किया गया है अजय नरेन्द्र ही अजयपाल है। और उनका समय भी दिया गया है। उससे स्पष्ट हो जाता है, कि अर्जुनपाल अजयपाल नहीं हो सकते।

वृत्तविलास की वशावली प्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान हीराचन्द्र जी ओझाके निबन्ध संग्रह में प्रकाशित हुई है। उसी पर से कुछ पद्य नीचे दिये जाते हैं। और वे इस प्रकार हैं—

भये कृष्ण के वश में विजय पाल महिपाल।

तिनके सुत परगट भये, तिहुणपाल छितिपाल ॥६॥

अश्वमेध जिहि जग किया, दीने द्रगनित दान।

हेमकोटि दस सहस गो, गज सहस परिमान ॥७॥

बीस सह (सह) य सातसं, सासन बीने गाम।

धर्मपाल तिनके भये, भूप धरम के धाम ॥८॥

कुंवरपाल तिनके भये, भूपति बखत विलास।

अर्जुनपाल प्रगट बहुरि, कयों जगत प्रतिपाल ॥९॥

हरिपाल तिनके भये, भूप मुकुट जिम हीर।

तिनके साहनपाल नृप, साहस समुव मंभीर ॥१०॥

अनगपाल नृप प्रगट हुव, तिनके पृथ्वीपाल।

तिनके सुत प्रगटे बहुरि, राजपाल महिपाल ॥११॥

यह क्रम ऐतिहासिक दृष्टि से विरुद्ध-सा जान पड़ता है; क्योंकि अजयपाल की महावन से प्राप्त प्रशस्ति में समय सन् ११५० (वि० स० १२०७) दिया हुआ है। और अजयपाल के उत्तराधिकारी हरिपाल के राज्य की उत्कीर्ण प्रशस्ति उसी महावन से सन् ११८० (वि० स० १२३७)

१. तिहुयण गिरि पुरु जगि विवसायउ,

सग खंडु ण धरियलि आयउ।

तहि निवसंते मुणिवरे अजयणरिदहो राज विहारहि।

वेगे विरइय, चूनडिय सोहहु मुणिवर जे सुयधारहि ॥

—चूनडीरास प्रशस्ति

२. देखो, एपिग्राफिका इंडिका जिल्द १ पृ० २८६।

की मिली है। तथा भरतपुर के 'अघपुर' नामक स्थान से प्राप्त मूर्तिखण्ड पर सन् ११६२ के उत्कीर्ण लेख में सहनपाल नरेश का उल्लेख है। एव मुसलमानी तबारीखों में हिजरी सन् ५७२ सन् ११६२ में कुमारपाल का उल्लेख है। इन ऐतिहासिक तथ्यों से ऊपर वाली परम्परा का क्रम ठीक जान पड़ता है। फिर भी इस सम्बन्ध में और अन्वेषण करने की आवश्यकता है। जिससे अन्य प्रमाणों की रोजनी में उस पर विशेष प्रकाश पड़ सके। हो सकता है कि करौली में शामकी की प्रामाणिक सूची और समय-यादि मिल सके।

कहा जाता है कि कुमारपाल सन् ११६२ (वि. स० १२४६) के आस-पास गद्दी पर बैठा था। मुसलमानी तबारीख 'जुलामासीर' में हसन निजामी ने लिखा है कि—'हिजरी सन् ५७२ (वि० स० १२५२) में मुहम्मद गौरी ने तहनगढ़ पर आक्रमण कर अधिकार कर लिया था। उस समय वहा का राजा कुमारपाल था। उस समय वहा के हिन्दू जैन मन्थ परिवार नगर छोड़कर यत्र-तत्र भाग गये। वहा मूर्तिपूजा का बड़ा जोर था अतएव वहां बड़ा अन्याय अन्याचार किया गया, मन्दिर और

१. एपिग्राफिका इंडिका खण्ड २ पृ० २७६ तथा

A canningham V.L. XX.

मूर्तियां नष्ट-भ्रष्ट कर दी गईं। वि० स० १२७५ में रचे गये जिनदत्त चरित की प्रशस्ति में कवि लक्ष्मण ने तहनगढ़ के विनाश की घटना का उल्लेख किया है। चूँकि कवि स्वयं वहा का निवासी था और स्वयं अपने परिवार सहित वहां से भागा था। कवि लक्ष्मण ने वहां के राजा का यदि उल्लेख कर दिया होता तो समस्या सहज ही समाप्त हो जाती, पर ऐसा नहीं हुआ।

जब अजयपाल का राज्य वहा सन् ११५० (वि० स० १२०७) में तहनगढ़ में था, और कितने समय रहा, यह अभी अज्ञात है। पर सन् ११७० से पूर्व तक उसकी सीमा का अनुमान किया जा सकता है। क्योंकि सन् ११७० में हरिपाल का राज्य था। चूँकि चूनड़ी रास विनयचन्द्र ने अजयनरेन्द्र (अजयपाल) के राज विहार में बैठ कर बनाया। इससे स्पष्ट है कि उक्त चूनड़ी रास विक्रम की १३वीं शताब्दी के प्रारम्भिक समय में रचा गया है। मुसलमानी साम्राज्य होने पर तो वहा राज विहार में बैठ कर रचना करना संभव भी नहीं जचता। उस समय तो उस नगर की बहुत बुरी दशा थी। ऐसी दशा में बिना किसी प्रमाण के उसे स० १४०० के आस-पास की रचना कैसे कहा जा सकता है। आशा है नाहटा जी इस पर विचार करेंगे और आगे भट-पट लिखने की अपेक्षा सोच-विचार कर लिखने का प्रयत्न करेंगे। ★

[१० २६ का शेषांश]

अरसप्पोडेय ने चारुकीर्ति पण्डित की वेणुगाव की कुछ भूमि अर्पित की थी (भाग ४ पृ० ३४७)।

बाईसवा उल्लेख श्रवणबेलगुल के शक १७३१=सन १८१० के एक समाधिलेख में है। इसके अनुसार देसिगण के चारुकीर्ति के शिष्य अजितकीर्ति के शिष्य शान्तिकीर्ति के शिष्य अजितिकीर्ति का उक्त वर्ष में स्वर्गवास हुआ था (भाग १ पृ० १५४)।

तेईसवा उल्लेख श्रवणबेलगुल में प्राप्त एक सनद का है। इसके अनुसार दीवान पूर्णया ने बेलगुल के सन्यासी चारुकीर्ति को एक ग्राम की आय दिये जाने की संमति

प्रदान की थी। यह सनद सन १८१० की है (भाग १ पृ० ३५६)।

चौबीसवा उल्लेख भी श्रवणबेलगुल की एक सनद का है। इसके अनुसार सन १८३० में कृष्णराज वडेयर ने चारुकीर्तिमठ की रक्षा के लिए चार ग्राम अर्पित किये थे (भाग १ पृ० २६१)।

पच्चीसवा उल्लेख श्रवणबेलगुल के दो मूर्तिलेखों का है। इसके अनुसार शक १७७८=सन १८५६ में चारुकीर्ति पण्डित के शिष्य मन्मत्तिसागर वर्णी के लिए ये मूर्तियां स्थापित की गई थीं (भाग १ पृ० ३६४-६५)। ★

धनपाल विरचित “भविसयत्त कहा” और उसकी रचना-तिथि

डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री

अपभ्रंश-साहित्य में “भविसयत्त कहा” अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रबन्धकाव्य है। भारतवर्ष में प्रकाशित होने वाला अपभ्रंश का यह प्रथम काव्य ग्रन्थ है। सन १९२३ में यह कथाकाव्य गायकवाड़ ओरियन्टल सोरिज, बड़ौदा से प्रकाशित हुआ था। उस समय तक अपभ्रंश-साहित्य के सम्बन्ध में बहुत ही कम जानकारी मिल पाई थी। इधर अपभ्रंश की प्रमुख रचनाओं के प्रकाशन से हिन्दी-जगत् में पर्याप्त चर्चा होने लगी है। किन्तु अपभ्रंश-साहित्य का वास्तविक मूल्यांकन अभी तक कई दृष्टियों से नहीं हो सका है। इसका मुख्य कारण यही है कि सम्प्रति अपभ्रंश का अधिकांश साहित्य भण्डारी में है। जब तक प्रामाणिक रूप में हिन्दी अनुवाद सहित इस साहित्य के प्रकाशन की समुचित व्यवस्था नहीं होती तब तक साहित्य-मसार में इसे यथोचित स्थान नहीं मिल सकेगा। केवल भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी एक ऐसी संस्था है जो अपभ्रंश के प्रकाशन का कार्य हाथ में लिए है, अन्य प्रकाशनों से कोई आभार लक्षित नहीं होते। क्योंकि हम स्वयं इसे महत्त्वपूर्ण नहीं समझते। वास्तव में यह भावना हीन प्रवृत्ति का द्योतन करने वाली है। कुछ प्रकाशक अपने निहित स्वार्थों के कारण तथा व्यापारिक उद्देश्य में इस और ध्यान ही नहीं देना चाहते। अतएव समाज में ऐसे संस्थानों की आवश्यकता है जो इस प्रकार का महत्त्वपूर्ण कार्य-भार वहन करने में समर्थ हो।

अभी हाल में ही भारतीय ज्ञानपीठ में डा० देवेन्द्र-कुमार जैन का शोधप्रबन्ध “अपभ्रंश भाषा और साहित्य” प्रकाशित हुआ है। डा० जैन ने इस कृति में चरितकाव्य और कथाकाव्य में कोई अन्तर नहीं माना है। उनके ही शब्दों में—

१. डा० देवेन्द्रकुमार जैन : अपभ्रंश भाषा और साहित्य, १९६५, पृ० ८५।

“अभी तक जो अपभ्रंश साहित्य उपलब्ध हुआ है उसमें गद्य और दृश्य काव्यों का अभाव है। समूचा साहित्य पाठ्य काव्य के अन्तर्गत है। उनके मुख्य तीन भेद हो सकते हैं—प्रबन्ध, खण्ड और मुक्तक काव्य। जो प्रबन्ध-काव्य ग्रन्थ उपलब्ध है, वे मुख्य रूप से कथा-काव्य हैं। उनमें कथा और काव्य का अद्भुत मिश्रण है। इस काव्यधारा के भी दो भेद हैं—पुराणकाव्य और चरितकाव्य। चरितकाव्य के दो रूप हैं—एक शुद्ध या धार्मिक चरितकाव्य और दूसरा रोमाण्टिक।………… प्रबन्धकाव्य को कथाकाव्य कहना अधिक संगत है, क्योंकि उसमें कथा की ही मुख्यता है। कथा चाहे पौराणिक हो या काल्पनिक।” सामान्य रूप से डा० जैन अपभ्रंश के प्रबन्धकों को कथाकाव्य कहते हैं। और इसलिए उन्होंने “णायकुमारचरित” की भाँति “भविसयत्त कहा” को कथा-काव्य माना है, जो उनकी दृष्टि में वास्तव में रोमाण्टिक चरितकाव्य है। वस्तुतः डा० जैन की यह मान्यता अपभ्रंश की कुछ प्रकाशित रचनाओं के आधार पर है। अपभ्रंश में अभी तक कई ऐसी हस्तलिखित रचनाएँ लेखक की जानकारी में हैं जो उक्त सीमा के अन्तर्गत नहीं आतीं। अपभ्रंश का कथा-साहित्य विषय और परिणाम की दृष्टि में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हुआ है। इसे न तो चरितकाव्य कह सकते हैं और न पौराणिक। सामान्य रूप से यह हस्त-लिखित साहित्य दो रूपों में मिलता है—

सन्धिवद्धवृत्त कथाओं के रूप में, जो निश्चय ही प्रबन्धकाव्य हैं और दूसरे सन्धिवद्ध लघुकथाओं के रूप में। यह समस्त साहित्य पद्यबद्ध है। सन्धिवद्ध होने के कारण इसमें कथा और काव्यतत्त्व का समान रूप से संयोग है। इनमें कुछ ऐसी भी रचनाएँ हैं जो कविकल्पनाप्रधान या लोकजीवनप्रसूत हैं; जैसे कि जिनदत्तकथा (लाखू कृत जिणयत्तकहा)। इसी प्रकार के अन्य कथाकाव्यों का

विचार उक्त शोधप्रबन्ध में नहीं किया गया। यह सम्भव भी नहीं था। क्योंकि डा० जैन १९५६ ई० में अपना शोधप्रबन्ध लिख चुके थे। इस प्रबन्ध के लिखे जाने के उपरान्त जो महत्त्वपूर्ण रचनाएँ प्रकाश में आई हैं उनमें से एक साधारण सिद्धसन कृत—“विलासवईकहा” है, जिसका उल्लेख डा० कोछड, डा० तोमर और डा० जैन की किसी भी कृति में नहीं है। इसी प्रकार अन्य रचनाएँ भी हैं। अतएव जब तक सम्पूर्ण प्रकाशित-अप्रकाशित एवं हस्तलिखित अपभ्रंश-साहित्य का अनुशीलन न किया जायेगा तब तक डा० जैन जैसे विद्वान् भले ही अपभ्रंश-कथाकाव्य की स्वतन्त्रविधा का अस्तित्व स्वीकार न करे पर प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य में कथाकाव्यमूलक कई प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं, जिनसे यह पता चलता है कि कथाकाव्य की इस विधा का विकास अपभ्रंश में प्राकृत-काव्य-धारा से हुआ।

भारतीय साहित्य में कथाकाव्य की परम्परा अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है। काल के मूल में जीवन की लिपिबद्ध कथाएँ ही हैं जो श्रुति रूप में वर्षों तक प्रचलित रही हैं और देश-देशान्तरो में अपने अपने मूल रूप में स्थानान्तरित होती रही हैं। अपभ्रंश में ऐसी ही कथाएँ महाकाव्यों की कडी में परिबद्ध कथाकाव्य के रूप में लक्षित होती हैं जिनमें मानवीय सवेदना कतिपय घटनाओं के विग्रह में सजीव एवं चारित्रिक बन्धनों में अनुस्यूत रहती है। कथा ही कथाकाव्य में मुख्य होती है जो किसी उद्देश्य से कही जाती है और वह उद्देश्य नायक के कार्य-व्यापारों से सम्बद्ध रहता है। यह कथाएँ प्रायः वक्ता-श्रोता शैली में कही जाती हैं। इनमें कही-कही सुनने वाला कथा एवं घटना के सम्बन्ध में जिज्ञासा और उत्सुकता प्रकट करता चलता है और लेखक उसकी उत्सुकता की वृद्धि करता हुआ भाग्य की घटनाओं का सजीव वर्णन करता चलता है। चरितकाव्यों में नायक के जीवन का समूचा इतिवृत्त अलौकिक रूप में वर्णित रहता है। उनमें अभिप्राय विशेष भी नायक के आदर्श तथा असाधारण गुणों तथा अतिलौकिक चमत्कारों से समन्वित होते हैं। जिन कथाकाव्यों में वस्तु सोद्देश्य नियोजित नहीं है वे लोककथाएँ हैं जो साहित्यिक रूढ़ियों के साथ

कालान्तर में काव्य के साचे में प्रबन्ध के रूप में ढाल दी गई हैं। इसीलिये इन कथाओं में कई प्रकार के परिवर्तन तथा जोड़-मोड़ मिलते हैं। कुछ कथाएँ लोककथा या जन श्रुति के रूप में प्रचलित होने पर भी व्रत-माहात्म्य तथा अनुष्ठानों से सम्बद्ध होकर काव्य-बध का अंग ही नहीं, प्राण बन गई हैं। हीरोइक पोइट्री में कथा अल्प तथा सूक्ष्म रहती है। परन्तु कथाकाव्य में मुख्य वस्तु, कथा संयोजना तथा घटनाओं का महत्त्वपूर्ण वर्णन रहता है। भविष्यदत्तकथा ऐसी ही कथा है जो पहले श्रुति के रूप में जन-मानस में प्रचलित रही और फिर परम्परागत प्रबन्ध काव्य की शैली में लिखी गई। इसीलिए हीरोइक पोइट्री से भी कई बातों में अन्तर दिखाई पड़ता है, क्योंकि जब हीरोइक पोइट्री रोमाश में परिणत होने लगती है तब उसमें गेय चेतना, कोमल भावनाओं और आकर्षक दृश्यों से मृदु तथा साहसिक कार्यों के मध्य विराम देने वाली आनन्दमयी अनुभूतियों से सवेदनीय हो जाती है। अतएव अपभ्रंश तथा भारतीय साहित्य में कथाकाव्य तथा चरितकाव्य की विधा अपने ढंग की अलग ही प्रबन्ध-रचना है।

भारतीय साहित्य में कदाचित् प्राकृत और अपभ्रंश में इस साहित्यिक विधा का मूलपात हुआ जिनमें कथा और काव्य मिल कर लोक जीवन के परिपाश में यथाथ रीति से गतिशील तथा मनुष्य जीवन में घटनाओं का रोमाचक एवं वास्तविक प्रभाव दर्शाते हुये लक्षित होते हैं। यद्यपि कही कही पौराणिक प्रवृत्ति के अनुगमन से घटनाओं में अस्वाभाविकता-सौ जान पड़ती है परन्तु प्रबन्ध-संघटना और रचना-शिल्प में शिथिलता नहीं दिखाई पड़ती। अपभ्रंश के इन कथाकाव्यों की विशेष प्रवृत्ति है—प्रेम की मधुर व्यञ्जना। अधिकतर नायक पवित्र प्रेम से प्रेरित एवं संचालित दिखाई पड़ते हैं। कही-कही प्रेम की उदात्त व्यञ्जना धार्मिक वानावरण में हुई है और वही-कहीं शुद्ध मानवीय। इस रूप में हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यवस्तु एवं शिल्प-रचना की दृष्टि से ही नहीं शैली और प्रेम की मधुर व्यञ्जना में भी अपभ्रंश के इन कथाकाव्यों से प्रभावित जान पड़ते हैं।

कथा पहले आख्यात थी, जो शुरू इतिवृत्त थी परन्तु

ज्यो-ज्यों काव्य-तत्वों से उमका ताल-मेल बैठता गया, त्यो-त्यो वह कहानी और उपन्यास का रूप ग्रहण करती गई। भविष्यदत्तकथा को पद्य में लिखा हुआ एक प्रकार का उपन्यास ही समझना चाहिये। यद्यपि रचना-तत्वों में अनमानता है पर हम उसे कथा ही कहते आये हैं और इसलिए भी कि वस्तु रूप में वह लोक कथा ही है। संस्कृत में लिखी गई कथाएँ गद्य में हैं। बाणभट्ट की 'कादंबरी' तो उपन्यास ही जान पड़ती है। परन्तु वह कथा ही है। प्राकृत और अपभ्रंश में छोटी तथा बड़ी लगभग सभी प्रकार की कथाएँ छन्दोबद्ध हैं। 'कुवलयमाला कथा' अवश्य गद्य में लिखी मिलती है। इसी प्रकार अन्य रचनाएँ भी गिनाई जा सकती हैं, परन्तु प्राकृत और अपभ्रंश में पद्यबद्ध कथाएँ लिखने की सामान्य प्रवृत्ति रही है। गुणाध्याय की 'बृहत्कथा' से लेकर आज तक न जाने कितनी तरह की कथाएँ और कहानियाँ लिखी गईं जो नीति-रीति, मानवीय स्थितियों की विविधता और यथायत्न से समन्वित लिखी जाती रही हैं। भाषा की भाँति साहित्यिक विधाओं का भी यह परिवर्तन आज इतिहास की वस्तु बन कर रह गया है। उन परिवर्तनों का पूर्ण विवरण देना आज असंभव-सा जान पड़ता है।

अपभ्रंश साहित्य का ही नहीं, यदि हम दसवीं शताब्दी से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी तक के भारतीय साहित्य का अनुशीलन करें तो ज्ञात होता है कि मध्य-युगीन भारतीय काव्यों की मुख्य प्रवृत्ति उदात्त प्रेम की मधुर व्यञ्जना रही है। यद्यपि इस युग के काव्यों में वर्णित प्रेम अतिलौकिक भाव-भूमिका में भी चित्रित हुआ है, परन्तु काव्य का सामान्य धरातल लौकिक प्रेम में ही अभिव्यक्त हुआ है। इसलिये अतिलौकिक प्रेम और आदर्शों को समझने के लिये हमें किन्हीं प्रतीकों और रूपों के रहस्यों को खोलना पड़ता है। परन्तु अपभ्रंश के कथा-काव्यों में प्रायः यह व्यञ्जना नहीं मिलती है। यद्यपि प्रेम-बीज से लेकर उसके विकास तक की सम्पूर्ण परिस्थितियों एवं अवस्थाओं का इनमें पूर्ण विकास लक्षित होता है परन्तु व्यक्तिवादी वैचित्र्य एवं चमत्कार नहीं मिलता। वस्तुतः ये कथाकाव्य मध्ययुगीन भारतीय साहित्य की देन हैं जो लोकजीवन की वरष्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं।

अतएव हम इस युग को पुनर्जागरण काल (Renaissance) कह सकते हैं, जिनमें जनवादी प्रवृत्तियाँ जन्म ले रही थीं और पौराणिकता से हट कर साहित्य लोक-चेतान्मुखी हो रहा था। अतएव लोक-जीवन के विविध तत्व कथा-काव्य में सहज ही लक्षित होते हैं। इस युग में कथाकाव्य का नायक आदर्श पुरुष ही नहीं, राजा, राजकुमार, बरिया, राजपूत या अन्य कोई साधारण से साधारण पुरुष हो सकता था जो अपने पुरुषार्थ से साधारण व्यक्तित्व तथा गुणों को प्रकट कर मानव बन सकता था। सभी कथा-काव्यों में यह व्याप्ति पूर्णतया लक्षित होती है। इससे देश के साहित्यिक विकास की एक नवीन उत्थानिका का पता लगता है जो मध्ययुगीन साहित्य की विशिष्टता है।

अपभ्रंश और हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यों में निम्न-लिखित बातों में बहुत कुछ समानता मिलती है :—

१. कथा-वस्तु एवं घटनाओं में कहीं-कहीं भद्भुत समानता दृष्टिगोचर होती है। प्रत्येक कुवर या राजकुमार की समुद्र-यात्रा और सिंहलद्वीप में सुन्दरी का वरण करना, एक ऐसी सामान्य घटना है जो लगभग सभी प्रेमाख्यानक काव्यों में मिलती है। इसी प्रकार चित्र-दर्शन-रूप-दर्शन, प्रथम मिलन व दर्शन में ही प्रेम हो जाना आदि बातें समान रूप से मिलती हैं।

२. सामन्तयुगीन वैभव, भोग-विलास तथा युद्ध के चित्रण भी इन काव्यों में वर्णित हैं। किसी-किसी कथा-काव्य में सुन्दरी के लिये भी युद्ध किया जाता है, जैसे कि भविष्यदत्तकथा में भविष्यदत्त सुमित्रा की रक्षा के लिये युद्ध करता है और अपनी गूर-वीरता प्रदर्शित करता है।

३. कथानक-रूढ़ियों के साथ ही प्रबन्ध-रचना एवं संघटना में भी साम्य लक्षित होता है। ईश-वन्दना, नम्रता-प्रदर्शन, कवि या काव्य-रचनाओं का उल्लेख, काव्य पढ़ने का अधिकारी, काव्य विषयक संकेत तथा मान्यता आदि बातों का उल्लेख परम्परागत रूढ़ियाँ हैं जिनका प्रचलन सम्भवतः प्राकृत युग से हुआ है।

अपभ्रंश-कथाकाव्यों में धनपाल कृत "भविसयत्तकहा" का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। अपभ्रंश-काव्य साहित्य में कथाकाव्यों में "भविसयत्तकहा" और प्रेमाख्यानक

काव्यों में साधारण सिद्धसेन विरचित 'विलासवईकहा' प्रतिनिधि रचनाएँ हैं। ये दोनों ही काव्य प्राकृत काव्य-परम्परा से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए उस शृङ्खला के समान हैं जो एक ओर अभिजात्य साहित्यिक सूत्र से सम्बद्ध हैं और दूसरी ओर नव-युगोन्मेषी स्वच्छन्द प्रवृत्तियों की विकसनशील भाव-धारा से आन्दोलित हैं। जिसमें एक ओर सामन्तीय समाज का वर्णन है और दूसरी ओर जन मानव का यथार्थ चित्रण है। यद्यपि दोनों प्रबन्धकाव्य धार्मिक परिवेश में रचे गये हैं पर काव्य-कला की दृष्टि से तथा शृंगार की पूर्ण अभिव्यञ्जना होने से विशुद्ध कथाकृतियाँ हैं। कथाओं में निबद्ध घटनाएँ सहज तथा लोक-जीवन की हैं। यद्यपि कहीं-कहीं उन्हें अति लौकिक तत्वों से भी समन्वित किया गया है पर वे यथार्थ से दूर नहीं हैं। उनमें कथाभि-प्राय तथा रूढ़ियों का प्रचुर सन्निवेश लक्षित होता है। यथार्थ में मध्ययुगीन भारतीय साहित्य में इस प्रकार की काव्य-रचनाएँ विशेष महत्वपूर्ण हैं जो एक ओर प्राचीन परम्परा का निर्वाह करती हैं और दूसरी ओर नवीन विधाओं में आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के साहित्य के लिए प्रेरणादायक तथा नव्य भूमिकाएँ स्थापित करने वाली सिद्ध हुई हैं। अतएव पुरानी हिन्दी, जूनी गुजराती, प्राचीन बंगला तथा राजस्थानी आदि भाषाओं में लिखा हुआ प्रारम्भिक साहित्य बहुत कुछ प्राकृत एवं अपभ्रंश-साहित्य से प्रभावित है। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के जिन साहित्यिक अंग तथा रूपों पर अपभ्रंश-साहित्य का प्रभाव लक्षित होता है उनमें से मुख्य है—प्रबन्ध-सघटन, पद-शैली, छन्दोयोजना, वर्णन की तारतम्यता, कथानक रूढ़ियों का प्रयोग, भाषागत शब्द-प्रयोग तथा भाषा की सवेदनशीलता के हेतु अनुरणन-श्रुति-सगीत-नाद आदि विविध तत्वों का समावेश। मध्यकालीन भारतीय संस्कृति और इतिहास पर भी इस साहित्य के अध्ययन से पर्याप्त जानकारी मिलती है। केवल भाषा के रूप में ही नहीं धर्म, समाज तथा संस्कृति के रूप में इस साहित्य के आलोक में मध्ययुगीन भारतवर्ष के सहजस्फूर्त तथा रूप में मण्डित रेखा-चित्र परिलक्षित होते हैं।

यद्यपि संस्कृत-साहित्य के समानान्तर ही प्राकृत तथा

अपभ्रंश-साहित्य की रचना हुई है और प्रभाव रूप में संस्कृत-साहित्य की कई विशेषताएँ अपभ्रंश-कवियों की रचनाओं में मिलती हैं पर अपभ्रंश-भाषा के व्याकरण की रचना की भाँति इस देशी भाषा के साहित्य के लिए शास्त्रीय साहित्य आदर्श नहीं बन सका है। इस साहित्य का समग्र रूप लोक-जीवन से हिल्लोलित है। यथार्थ में वातावरण लोक-जीवन का होने पर भी आलोच्यमान साहित्य-शास्त्रीय तथा लोकशैली के मध्यवर्ती रूप में लिखा गया है। अतएव स्थानीय रूप-रंगों से चित्रित होने पर भी प्रबन्ध काव्यों की साहित्यिक शैलियों तथा सामन्तवादी जीवन-रेखाओं से भी चर्चित हैं। और यही कारण है कि शुद्ध रूप में इसे लोक-साहित्य भी नहीं कहा जा सकता है। यह इन दोनों ही साहित्य के बीच की कड़ी है जो परवर्ती युगों में देशी साहित्य के नाम से अभिहित हुआ है।

कहा जाता है कि हिन्दी के सूफी काव्यों की रचना 'मसनवी' शैली में हुई है। मसनवी का अर्थ 'दो' है। इसमें प्रत्येक शेर के दो मिसरे होते हैं। इसका प्रत्येक शेर छन्द और भाव की दृष्टि से पूर्ण होता है। मुक्तक की भाँति इनमें भाव या चित्रपूर्ण होता है तथा वाक्य-रचना भी कसो हुई रहती है। मिसरा समतुल्य होता है, जिनका आगे की पवितियों से तुक की दृष्टि से कोई सम्बन्ध नहीं होता। काव्य सर्गों में या परिच्छेदों में विभक्त न होकर विषयानुरूप शीर्षकों में तथा घटनाओं में आबद्ध रहता है। इस शैली में लिखा गया किसी प्रकार का भी प्रबन्ध काव्य क्यों न हो वह मसनवी माना जायगा। फिरदौसी का 'शाहनामा' और 'यूसुफ-जुलेखा' मसनवी काव्य माने जाते हैं। किन्तु अपभ्रंश कथाकाव्य और चरितकाव्य की रचना संधिबद्ध होती है तथा सन्धि या परिच्छेद 'कडवकबद्ध' होते हैं। कडवक पढ़ड़िया, अडिल्ला, या उमी आकार के किसी छन्दों का समूह होता है जिसमें किसी एक दृश्य या भाव का वर्णन रहता है। अपभ्रंश में कडवकों तथा उनमें विहित छन्दों की संख्या नियत नहीं है। साधारणतः एक कडवक में आठ यमक या सोलह पवितियों का प्रयोग किया जाता रहा है। परन्तु

कई काव्यों में अठारह, बीस, बाईस, चौबीस, तीस, बत्तीस और छत्तीस तक पंक्ति तथा छन्द एक कडवक में लक्षित होते हैं। कडवक द्विपदी या दुवई अथवा दोहा के आकार के किसी छन्द से जुड़े रहते हैं। कही कही कडवक के आदि में और कहीं-कहीं अन्त-आदि दोनों में दोहा के आकार का कोई न कोई छन्द संयुक्त रहता है। अधिकतर यह अन्त में जुड़ा देखा जाता है। प्रबन्ध-रचना की यह शैली अपभ्रंश तथा हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यों के समान रूप से मिलती है। वस्तु, घटना, कथानक-रूढ़ि तथा चरित्र-चित्रण में ही नहीं प्रबन्ध रचना भी सूफी काव्य अपभ्रंश काव्यों की परम्परा से प्रभावित जान पड़ते हैं। स्पष्ट रूप में हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यों की रचना चौपाई-दोहा शैली में हुई है जो अपभ्रंश काव्यों का देन है। यह अवश्य है कि अपभ्रंश काव्यों की रचना सन्धि, परिच्छेद, विक्रम या भास आदि में की गई है और सूफी तथा प्रेमाख्यानक काव्यों की रचना शीपंकबद्ध है। परन्तु प्राकृत का ‘गडवह’, कुवलयमालाकहा और अपभ्रंश में हरिभद्रमूरि रचित ‘प्रेमिणाहचरित’ सर्गहीन रचनाएँ हैं। संभव है कि इस प्रकार की रचनाएँ और भी लिखी गई हों पर काल-प्रवाह में न बच पाई हों। इस संबंध में श्री परशुराम चतुर्वेदी द्वारा निष्कर्ष रूप में अभिव्यक्त विचार ही उचित जान पड़ता है—“जिस समय हिन्दी के सूफी प्रेमाख्यानों की रचना आरम्भ हुई उस समय तक उनके रचयिताओं के लिये ऐसी अनेक बातें प्रस्तुत की जा चुकी थी जिनका वे किसी न किसी रूप में बड़ी सरलता से उपयोग कर सकते थे। क्या कथा-वस्तु, क्या काव्य-रूप, क्या रचनाशैली, और कथा-रूढ़ियों जैसी सामग्री, इनमें से कदाचित् किसी के लिये भी उन्हें न तो कोई सव्या नवीन मार्ग निमित्त करने की आवश्यकता थी और न अधिक प्रयास करने की।” और यह सर्वमान्य सत्य है कि सूफी प्रेमाख्यानों में प्रयुक्त अधिकतर कथाएँ भारतीय हैं, भारतीय लोक-जीवन की हैं। उदाहरण के लिये—अपभ्रंश की ‘विलासवतीकथा’ और दुखहरनदासकृत ‘पुहुपावती’ में अद्भुत साम्य है। इस प्रकार पद्मावती तथा मृगावती

की कथाएँ भी जैन कथाओं से बहुत कुछ मिलती जुलती हैं। परम्परागत प्रचलित भारतीय लोककथाओं को ग्रहण कर सूफी कवियों ने प्रेम अभिव्यजना तथा अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए कहीं-कहीं उनमें परिवर्तन भी किया और अन्तर्कथाओं को छोड़ कर जन मानस में अपने आदर्शों की प्रतिष्ठा करने का भी प्रयत्न किया। वस्तुतः वे इस रीति को छोड़कर भारतीय जनता के बीच लोक प्रिय नदी बन सकते थे। इसलिये कथा, चरित्र, शैली, भाषा और अभिव्यक्ति के अन्य उपादानों को भी उन्होंने ग्रहण कर आदर्शों का प्रचार किया। अपभ्रंश के कथा तथा चरितकाव्यों से ये केवल एक बात में ही भिन्न लक्षित होते हैं और वह है—चलते हुये कथानक में अलौकिक प्रेम की व्यजना। परन्तु यह विशेषता जायसी के पद्मावत में ही मिलती है। अपभ्रंश की अभी तक कोई रचना नहीं मिल सकी है।

अपभ्रंश में प्राकृत की भाँति धार्मिक वातावरण में ही लोक-जीवन की उन्मुख दशाओं में भी स्वयं भाव-भूमि पर लोक गाथाओं को प्रेम एवं रसमयी वाणी प्रदान की गई है उनमें लोक-चेतना का महज प्रवाह लक्षित होता है। तथा सामन्तकालीन अभिजात्य वर्ग के सामाजिक रूप का स्पष्ट दर्शन होता है। अपभ्रंश में कथा काव्यों में प्रयुक्त अधिकतर कथाएँ प्रेमगाथाएँ हैं जो किन्हीं विभिन्न उद्देश्यों में कई उप-कथाओं के साथ जुड़ी हुई हैं और उद्देश्य प्रधान होने के कारण कई स्थलों पर धार्मिक वातावरण में अभिव्यक्ति की गई है। चरितकाव्यों की कथाओं में मोह तथा परिवर्तन कम है, क्योंकि उनमें आरम्भ में ही नायक को असाधारण एवं अतिलौकिक रूप चित्रित किया जाता है। देव लोग उनका स्नान-अभिषेक करते हैं, तरह-तरह के माधन जुटाते हैं और उनके प्रति-पक्ष रूप तथा स्वरूप में पहने से ही प्रभावित एवं आकर्षित रहते हैं। किन्तु कथाकाव्य में दुःख-मुख के भूनों में भूलने हुए, अघर्ष-विषयों में टकराने हुए, आशा-निराशा में डूबते-उतरने हुए नायक अपने जीवन का स्वयं निर्माण करते हैं और साधारण में साधारण पुरुष की

१. “लोकगाथा और सूफी प्रार्थान” शीपंक लेख, “हिन्दुस्तानी”, भाग २३ अंक २, पृ० ३८।

२. देखिये, कुतुबन कृत मृगावती—डा० शिव गोपाल मिश्र, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

भाति दुःख तथा वेदनाओं को भेलते है ।

यद्यपि चरितकाव्यों में भी नायक के साहस तथा शूर-वीरता के कार्य-व्यापारी का वर्णन रहता है पर वह अति-लौकिक शक्तियों से प्रेरित तथा समन्वित होता है । इसलिए उममें सहज ही दैवी भाव लक्षित होता है । पुराणों की भांति चरितकाव्यों में प्रायः एक से अधिक कथाएँ एक साथ वर्णित देखी जाती है । कथा में से कथा फूट कर जन्म-जन्मान्तरों की घटनाओं तथा इतिवृत्तों से इस प्रकार सयुक्त हो जाती है मानो कथा की ही मुख्य श्रृंग हों । चरितकाव्यों की अपेक्षा कथाकाव्यों में इस प्रकार की चिप्पिया कम लगी मिलती है और कम से कम पूर्वार्द्ध कथाओं तथा घटनाओं में ऐसा व्यवस्थित क्रम मिलता है कि क्रियान्वित का निर्बाह नहीं देखा जाता है । चरितों के माध्यम से अपभ्रंश कवियों ने किसी-किसी चरितकाव्य में धार्मिक उद्देश्य भी प्रकट किया है । महाकवि पुष्पदन्त ने 'जसहरचरित' की रचना "अहिमा परम धर्म है" इस मन्थता की प्रभावशाली ढंग से प्रकट करने के लिये की है, और इस उद्देश्य के साथ ही ग्रन्थ की भी समाप्ति हो जाती है । हिन्दी के प्रेमसाह्यानों में भी यही प्रवृत्ति मिलती है ।

अपभ्रंश के कथा तथा चरितकाव्यों में जिस सामन्त-कालीन वातावरण का चित्रण मिलता है वही आगे चलकर कुतुबन कृत 'मृगावती' तथा अन्य सूफी एवं प्रेमसाह्यानक काव्यों में दिखाई पड़ता है । राजकुमार का बहुपत्नीत्व, समुद्र-यात्रा, आदर्श प्रेम, रोमान्स तथा धन-यौवन आदि वैभव एवं समृद्धि से उल्लसित जीवन इसी तथ्य की ओर संकेत करते हैं ।

इस प्रकार मध्ययुगीन साहित्य में विकसनशील पौराणिक तथा लोकाह्यानों से एक नवीन काव्यधारा का प्रचलन हुआ, जो आगे चलकर सूफी प्रेमसाह्यानक तथा हिन्दी के प्रेमसाह्यानों में पल्लवित तथा पुष्पित हुई । वस्तुतः अपभ्रंश-कथाकाव्य की यह धारा चित्रप्रचलित प्राकृत लोकाह्यानों की परम्परा में विकसित हुई है, जो मूलतः नायक के चरित तथा धार्मिक प्रभाव की प्रकाशित एवं प्रसारित करने में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए हैं । यही कारण है कि अपभ्रंश के प्रत्येक कथा तथा चरितकाव्य

में किसी न किसी आदर्श की प्रतिष्ठा हुई है । भारतीय मान्य सिद्धान्तों की भांति इनका मूल स्वर आदर्श का है, यथार्थ का नहीं । यद्यपि व्यक्तिवादी आदर्शों तथा मान्यता की अवहेलना नहीं की गई है और कही-कही उनका प्रभाव भी दर्शाया गया है किन्तु सन्त धार्मिक वातावरण तथा आदर्श सिद्धान्तों के पालन और पूर्णता के साथ हुआ है । स्पष्ट ही अपभ्रंश के कथा तथा चरितकाव्यों का प्रारम्भ और अन्त शान्त रस में पर्यवसित हुआ है । इसलिये इन काव्यों के अध्ययन से कभी-कभी यह प्रतीत होने लगता है कि जीवन के मूल्यों की अपेक्षा की गई है परन्तु हमारे ही क्षण शान्त और वैराग्य की झलक बहिर्मुखी लोक से अन्तर्लोक की ओर आकर्षित किये बिना नहीं रहती है । यही इसकी सामान्य विशेषता है ।

भविसयत्तकहा की रचना-तिथि

यह अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि दसवीं शताब्दी से लेकर सोलहवीं शताब्दी तक जो अपभ्रंश-साहित्य लिखा गया उसमें कही भी— धनपाल का उल्लेख किसी भी कवि ने नहीं किया । इसका एक कारण यह कहा जा सकता है कि कवि की प्रसिद्धी लोक में अधिक समय तक नहीं रही । इसलिए अपभ्रंश के परवर्ती कवियों ने जिन पूर्व कवियों का उल्लेख किया है उनमें किसी भी धनपाल का नाम नहीं मिलता । अपभ्रंश में धनपाल नामक दो कवियों का विवरण प्राप्त होता है । इनमें से "भविसयत्तकहा" के लेखक धनपाल चौदहवीं शताब्दी के लगभग हुए थे । और दूसरे धनपाल "बाहुबलि चरित" के रचयिता है, जो पन्द्रहवीं शताब्दी के कवि थे । य गुजरात के पुरवाड वंश के तिलक स्वरूप थे । इन दोनों ही कवियों का विशेष विवरण प्राप्त नहीं होता । "भविसयत्तकहा" में अवश्य स्वयं कवि ने उल्लेख किया है कि उसे सरस्वती में वर मिला था । इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि कवि असाधारण व्यक्तित्व से सम्पन्न था काव्य-रचना से इस संबंध में विशेष पुष्टि नहीं होती । परन्तु यह निश्चय ही कहा जा सकता है कि अपभ्रंश कथाकाव्यों में यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति है । रचना-परिभाषा की दृष्टि से कथाकाव्य की विधा में अभी तक

इतनी बृहत् रचना उपलब्ध नहीं हो सका है। यद्यपि बहिरङ्ग रूप में कोई ऐसा ठोस प्रमाण नहीं मिलता, जिसके आधार पर काव्य की रचना-तिथि का निर्णय किया जा सके, किन्तु अन्तरङ्ग प्रमाण के आधार पर यह कथाकाव्य महाकवि धनपाल के शब्दों में "पौष शुक्ल द्वादशी, सोमवार, सवत् १३६३ (१३३६ ई०) में लिखा गया था।" उन दिनों दिल्ली के राज्य-सिंहासन पर मुहम्मदशाह आरुढ़ था। कवि ने स्वयं उसका उल्लेख किया है। इतिहास में मुहम्मद नाम के कई बादशाह हुए। इसलिए मुहम्मदशाह से यहाँ पर—इतिहास प्रसिद्ध मुहम्मद बिन तुगलक अभिप्रेत है। मुहम्मद तुगलक के अन्य नामों में मुहम्मदशाह भी मिलता है^२। मुहम्मदशाह का राज्य काल सन् १३२५—१३५१ माना जाता है। कवि-लिखित-प्रशस्ति के अनुसार १३३५ ई० के लगभग दिल्ली में बगावत विद्रोह हुआ था। सन् १३३५ ई० में मुल्तान मुहम्मदशाह जब मदुग के लिए कूच करता है। तब वारंगल में ही लौट आता है। जब मुल्तान दिल्ली वापिस लौट कर आता है तब देखा है कि चारों ओर अकाल पड़ रहा है। सहस्रो मनुष्य और पशु मर गये। इसलिए वह अपनी राजधानी दिल्ली से हटा कर—गंगा के पाम शमशाबाद में ले गया^३। प्रशस्ति में भी कवि ने इस अकाल का संकेत किया है। प्रतीत होता है कि उस समय दिल्ली में भयंकर अकाल पड़ा था, जिसे हिमपाल जैसे साहूकार भी—दर्द्रि हो गये थे और बहुत से लोग अपने प्राण-धन की रक्षा करते हुए बहुत दूर-दूर प्रदेशों में जा कर बस गये थे। प्रशस्ति में कहा गया है कि—
लोग अपने-अपने स्थानों को छोड़ कर—'महादुग्गदूग्गमि

देमैः पत्ता' अर्थात् अत्यन्त दुर्गम दूर देशों में पहुँच गये थे। उस समय मुहम्मद शाह का शासन दिल्ली राज्य पर था। कहा गया है कि उसका राज्य दक्षिण भारत तक बहुत दूर-दूर तक फैला था^४। इतिहास के उल्लेखों से पता लगता है कि वह एक सफल शासक था। उसने दक्षिण भारत तक के कई बलवों को दबाया था। जिस समय प्रचण्ड मुहम्मदशाह दिल्ली में राज्य कर रहा था, उसी समय दिल्ली से साठ कोस दूर पश्चिम में अत्यन्त रम्य 'घासीपवण्णु' नगर में रत्नपाल नाम का भगवान् कुल में उत्पन्न जैन श्रावक रहता था। उसका पुत्र मदन-मिह अत्यन्त परोपकारी था। उसके चार पुत्र उत्पन्न हुए ज्येष्ठ पुत्र का नाम 'दुल्लह' था। उसके तीन सुपुत्र उत्पन्न हुए। पहले का नाम हिमपाल, दूसरे का देवपाल और तीसरे का लुदपाल था। हिमपाल दिल्ली में रहता था। वह अत्यन्त धन-संपन्न था। उसके पुत्र का नाम बाधू था। अकाल पड़ने पर बाधू जफराबाद चला गया। जफराबाद जोनपुर के पाम, जोनपुर में चौदह मील दूर है। वही पर कवि धनपाल ने बाधू के हेतु इस काव्य ग्रन्थ का प्रणयन किया^५। इससे यह भी स्पष्ट है कि कवि धनपाल जफराबाद में रहते थे। इस प्रकार ऐतिहासिक उल्लेखों के आधार पर यह निश्चिन है कि कवि धनपाल मुहम्मद बिन तुगलक के शासनकाल में तथा राज्य में रहते थे और उन्होंने राजनैतिक स्थिति के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है वह अक्षरशः सत्य है।

४. मुहम्मद साहो वि रागो पयडो,
लिओ तेण मायण पमाणेहि दडे ।
उमविकट्टु णिद्विनि मनिओवि माणो,
किओ रज्जु दकच्छति डडे उवयतमाणो ।
—अन्त्य प्रशस्ति, भविसयत्तकहा ।

५. पयट्टे वि दूग्गमि काले रउट्टे,
पहुत्तो मुवदूम दफणवादे ।
इहत्ते पण्णे मुहागग्गेउ,
तिणे लिहिये मुअपंचमी णियहं हेउ ॥

—अन्तिम प्रशस्ति

१. सुमवच्छरे अक्किरा विक्कमेणं,
अहीएहि तेणवदि तेग्गसएण ।
वग्गिस्सेय पूमेण मेयाम्बि पस्से,
तिही वारमी सोमि रोहिणिहि रिक्खे ॥
२. दिल्ली मञ्जनत, प्रकाशित भारतीय विद्याभवन,
बम्बई, प्रथम संस्करण, पृ० ६१ ।
३. वही, चतुर्थ परिच्छेद, पृ० ७७ ।

जैन आगमों के कुछ विचारणीय शब्द

मुनि श्री नथमल

पम्ह या पम्म—

जैन आगमों में छह लेश्याएँ प्ररूपित हैं। उनमें पाचवीं लेश्या पद्म है। पद्म का प्राकृत रूप 'पम्म' या 'पउम' हो सकता है किन्तु श्वेताम्बर साहित्य-आगम कर व आगमेतर ग्रन्थों में 'पम्ह' रूप मिलता है। पम्ह का संस्कृत रूप पद्म होता है। प्राकृत व्याकरण के अनुसार पद्म को 'म्ह' होता है^१।

पद्म—पम्ह, पद्म—पम्म या पउम

पम्ह का संस्कृत रूप पद्म नहीं होता—यह प्रश्न इतने लम्बे समय में क्यों नहीं उठा? पम्ह का प्रयोग किसी एक स्थल में एक बार नहीं है, किन्तु अनेक बार है। इस स्थिति में यह मान लेना कि लिपि-दोष के कारण यह रूप परिवर्तित हो गया, सहज नहीं है। उच्चारणभेद के कारण हुआ हो, यह फिर भी संभव हो सकता है। पम्म और पम्ह के उच्चारण में बहुत कम भेद है। किन्तु यह उच्चारण भेद सर्वत्र स्थान पा गया, यह भी ठठिन कल्पना है। स्थानाग मूत्र में पम्ह पम्ह कूड, पम्ह गावती पम्ह लेस्सा, पम्हा और पम्हावई—इतने प्रयोग मिलते हैं। इनमें वृत्तिकार अभयदेवमूरि ने पम्ह^२ का संस्कृत रूप पद्म और पम्हकूड का संस्कृत रूप पद्मकूट किया है^३। किन्तु वर्तमान प्राकृत व्याकरणों से इसका समर्थन नहीं होता। उनके अनुसार पम्हकूड का संस्कृत रूप पद्मकूट भी हो सकता है।

लेश्याओं के नाम वर्ण के आधार पर हैं—

लेश्या	वर्ण	लेश्या	वर्ण
कृष्ण	काला	नेत्रम	अग्निकण, लाल
नील	हरा	पद्म	पद्मगर्भ वर्ण, पीला
कापोत कबूतरिया रंग	धृञ वर्ण	शुक्ल	सफेद

१. हेमचन्द्र।

२. स्थानागवृत्ति, पत्र २७०।

३. स्थानाग वृत्ति, पत्र ६२।

पद्म का अर्थ लाल है। छठे तीर्थंकर का नाम पद्म-प्रभ है। उनका वर्ण रक्त बतलाया गया है^४। माणक धातु का नाम पद्मराग है। वह लाल होता। इसीलिए उसे लोहितक और अरुणोपल कहा गया^५।

पद्म लेश्या का हरिताल, हलदी आदि के समान पीत बताया गया है। इस पर यह संदेह है कि पीत लेश्या के पुद्गलो को पद्म क्यों कहा गया? इसका समाधान हम निम्न शब्दों में पा जाते हैं। पद्म पीला नहीं होता किन्तु उसका गर्भ भाग पीला होता है। उसी के आधार पर इन लेश्या का नाम पद्म रखा गया है। अभयदेव मूरि ने इसे पद्म गर्भवर्ण वाली बताया है^६।

यदि पम्ह का पद्म रूप किया जाय तो भी पीत वर्ण के साथ इसका सम्बन्ध हो सकता है। पद्म का एक अर्थ केसर (फिजन्क-पुष्परेणु) है। पुष्परेणु के समान पीत वर्ण वाली लेश्या को पद्म-लेश्या कहा जा सकता है।

इस चिन्तन के तीन फलित हैं—

१. पम्म का रूप परिवर्तन होकर पम्ह शब्द प्रचलित हुआ है।

२. पद्म का पम्म का अप्रत्यक्ष व्याकरण-सिद्ध हो तो भले हो किन्तु वर्तमान प्राकृत-व्याकरण से यह सिद्ध नहीं है।

३. पम्ह का संस्कृत रूप पद्म किया जाय तो भी अर्थ में सगति हो सकती है।

इन तीनों फलितों पर विशेष विमर्श के मैं अनुसन्धियुक्त वर्ग को सादर आमन्त्रित करता हूँ।

भोग या भोज—

रूप-विषय के उदाहरण मिलते हैं। उनमें एक है

४. अभिधान चिन्तामणि १।४६ 'रक्ती च पद्मप्रभ वासुपूज्यौ। ५. वही ४।१२०।

६. स्थानाग वृत्ति २२१ पद्मगर्भवर्ण लेश्या पीत वर्ण-त्यर्थ, पद्मलेश्या.....।

भोग । वश के प्रकरण में 'उग्गा भोगा राइण्णा'—ऐसा पाठ मिलता है । भोग शब्द का मूल 'भोज' है । भोजवश महाभारत कालीन प्रसिद्ध वंश है । उत्तराध्ययन^१ तथा दशवैकालिक^२ में 'भोग' का प्रयोग मिलता है । उत्तराध्ययन के वक्तिकार श्री शातिसूरि ने 'भोग' का संस्कृत रूप 'भोज' किया है^३ । औपपातिक (सूत्र १४) में 'भोग पव्वइया' पाठ है । अभयदेवसूरि ने उसका अर्थ भोग (आदिदेव का गुरु स्थानीय वश) किया है^४ । यह मूल से दूर है । इस प्रकार एक ही शब्द अनेक आचार्यों द्वारा अनेक अर्थों में व्याख्यात हुआ है ।

जात या नाग—

'भगवान महावीर जातपुत्र थे या नागपुत्र ?'—शोषक मेरे लेख की ओर संकेत करते हुए प० बेचरदास जी जीवराजजी दोसी ने लिखा है—“कुछ समय पूर्व अनेकान्त नामक जैन पत्र में, एक जैन मुनि ने नागपुत्र का संस्कृत रूपान्तर नागपुत्र करके श्रमण भगवान महावीर को नागवशी प्रमाणित करने का यत्न किया है । यह प्रयत्न जैन और बौद्ध साहित्य तथा ऐतिहासिक परम्परा की दृष्टि में सर्वथा असंगत है । जब कि बौद्ध त्रिपिटक ग्रन्थों के मूल में 'दीघ तपस्सी निगण्ठो नातपुत्तो' के रूप में अनेकशः भगवान महावीर के लिए 'नातपुत्त' शब्द का प्रयोग हुआ है और वह साक्षी रूप में आज भी निर्विवाद रूप में पानी त्रिपिटक में उपलब्ध है, तब प्राकृत जैनागमों में प्रयुक्त नातपुत्त का संस्कृत रूप नागपुत्त समझना और भगवान महावीर को इतिहास प्रसिद्ध जातवश से संबंधित न मानकर उनका नागवश से सम्बन्ध जोड़ना स्पष्ट ही निराधार कल्पना नहीं तो और क्या है ? आचार्य हर्षिभद्र और आचार्य हेमचन्द्र आदि प्राचीन बहुश्रुत आचार्यों ने भी नागपुत्र का जातपुत्र ही संस्कृत रूप बनाया है । और अनेकशः उनका जात-नदन के रूप में उल्लेख किया है । ऐसी स्थिति में व्यर्थ की निराधार एवं भ्रान्त कल्पनाओं

के आधार पर हम अपने प्राचीन उल्लेखों एवं मान्यताओं को सहसा कैसे झुठला सकते हैं ।

चाहे फासुप शब्द को लीजिए, चाहे नागपुत्र शब्द को या किसी और शब्द को । प्राचीन प्राकृत विशेष नामों के संस्कृत रूपान्तर की कल्पना करते समय बहुत बड़ी सावधानी की अपेक्षा है । अन्यथा स्वकल्पना प्रेरित मात्र शब्द-साम्य की दृष्टि संस्कृतीकरण की प्रवृत्ति से, केवल एक और अधिक नई भ्रान्ति उत्पन्न करने के अतिरिक्त और कुछ भी परिणाम नहीं होगा^५ ।”

प० बेचरदास जी नागपुत्र का नागपुत्त रूप करने पर यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि आचार्य हरिभद्र और आचार्य हेमचन्द्र आदि प्राचीन बहुश्रुत आचार्यों ने भी नागपुत्र का जातपुत्र ही संस्कृत रूप बनाया है और अनेकशः उनका जात नदन के रूप में उल्लेख किया है । ऐसी स्थिति में व्यर्थ की निराधार एवं भ्रान्त कल्पनाओं के आधार पर हम अपने प्राचीन उल्लेखों एवं मान्यताओं को सहसा कैसे झुठला सकते हैं ?” किन्तु दूसरी ओर फासुप शब्द का अनेक बहुश्रुत आचार्यों द्वारा 'प्रासुक' रूप किया गया है, उसके स्थान पर पडिनजी 'सर्शुक' रूप को उपयुक्त बताते हैं^६ ।

मडाई—मृतादी का अर्थ क्या अभयदेवसूरी ने प्रासुक-भोजी नहीं किया है ? किन्तु पडिनजी इसका अर्थ याचित-भोजी करना चाहते हैं और वह उपयुक्त भी लगता है^७ ।

इसी प्रकार नागपुत्र का अर्थ यद्यपि अनेक बहुश्रुत आचार्यों ने जातपुत्र किया है किन्तु वश-इतिहासके अध्ययन में यह ज्ञान होता है कि वह सगत नहीं है । इसका प्रतिपादन मैं अपने पूर्ववर्ती दो निबन्धों में कर चुका हूँ । आचार्य अभयदेवसूरी भी नाग के संस्कृत रूप के बारे में असदिग्ध नहीं थे । उन्होंने औपपातिक (सूत्र १४) में आये हुए 'णाव' शब्द के दो रूप किए हैं—जात या नाग^८ । अतः एणव का नाग रूप निराधार नहीं है ।

१. उत्तराध्ययन २३।४३ ।

२. दशवैकालिक २।८

३. वृहद्वृत्ति, पत्र ४६५ ।

४. औपपातिक वृत्ति, पृष्ठ ५० ।

५. उत्तराध्ययन वृहद्वृत्ति, पत्र ४६५ ।

६. रत्नमुनि स्मृति ग्रन्थ, आगम और व्याख्या महिन, पृ. १०१

७. रत्नमुनि स्मृति ग्रन्थ, आगम और व्याख्या सहित, पृष्ठ १०१ । २. वही ।

८. औपपातिक १४ वृत्ति, पृष्ठ ५० : जात इक्ष्वाकुवंश-विशेषभूता नागावा-नागवंशप्रसूता ।

श्री गुरुवर्य गोपालदासजी वरैया

पं० माणिकचन्द जी न्यायाचार्य

इस शताब्दी में श्रीमान् गुरु गोपालदास जी बड़े अनुभववी गणनीय विशिष्ट विद्वान् हो चुके हैं। मैं संवत् (विक्रम) १९६४ में बनारस अध्ययनार्थ गया था उससे २० वर्ष प्रथम काशी में ब्राह्मणों में पं० बालशास्त्री जी बड़े भारी विद्वान् विद्यमान थे। वे व्याकरण, न्यायसाहित्य परिष्कार, काव्य आदि विषयों के प्रकाण्ड पण्डित थे। षड्दर्शनों के पारदृष्टा थे। मैं जब बनारस पहुँचा था तब स्वर्गीय पं० बालशास्त्री जी के शिष्य श्री शिवकुमार जी शास्त्री, दामोदर जी शास्त्री, सीतागम जी शास्त्री, राम-मिश्र जी शास्त्री, तात्या जी शास्त्री, गंगाधर जी शास्त्री, देवीप्रसाद जी शुक्ल प्रभृति विद्वान् बनारस में ख्याति प्राप्त थे। ये सब राज्यमान्य महामहोपाध्याय थे। एक से एक प्रखर पण्डित थे। इनका परस्पर शास्त्रार्थ बड़ा रुचिकर होता था।

उसी प्रकार ५०-५५ वर्ष प्रथम पण्डित प्रवर गोपालदास जी हुए थे। उनके शिष्य पण्डित बन्शीधर जी (बेरनीवासी), पं० खूबचन्द जी उमरावासिह जी, पं० मखनलाल जी, पं० वशीधर जी, (महरोनी), पं० देवकी नन्दन जी और मैं ऐसे आठ, दस विद्वान् इस जैन धरा मण्डल को अलंकृत कर चुके थे। पण्डितजी की बुद्धि बड़ी पंनी थी। वे यद्यपि चोटी बाँध कर, आग्वे पानी से भिगो कर, घड़ी में अलार्म लगा कर, व्याकरण न्याय की पुस्तकों को गुरु सम्मुख खोलकर एकाग्र बैठकर चार, छ वर्ष तक न्याय, व्याकरण, साहित्य, धर्मशास्त्र नहीं पढ़े थे फिर भी प्रतिभा नितान्त तीक्ष्ण थी। क्षयापशम तीव्र होने से वे व्याकरण, न्याय, साहित्य विषयों में भी अन्त — प्रवेश कर लेते थे। अगाध गम्भीर पण्डित वरेण्य बल्देवदास जी से आगरे में पण्डित जी ने कुछ अध्ययन किया तथा अजमेर में पं० मोहनलालजी पहाड़े साहब के साथ गुरु जी का चर्चा पूर्ण सम्पर्क रहा। आगरेमें स्तोक संस्कृत का अध्ययन

किया था। लगन के पक्के धनी थे।

गुरुजी जैन सिद्धान्त के तो अगाध तलस्पर्शी अधि-कारी पण्डित थे। एक बार त्रिलोकसार पढ़ाते हुए उनसे ऊर्ध्वलोक का पिनष्टि गणित नहीं लगा। किन्तु दो दिन घोर परिश्रम कर पण्डित जी ने पिनष्टि के रेखागणित को परिपूर्ण हस्तगत कर लिया और तीसरे दिन हम सभी छात्रों को हस्तामलकवत् स्पष्ट समझा दिया। जिस गणित के लिए महाविद्वान् आचार्य देशीय पण्डित टोडर-मलजी सा० ने भी त्रिलोकसार भाषा टीका में लिख दिया है कि यह प्रकरण मेरी समझ में नौका नहीं आया है। गोम्मटसार, त्रिलोकसार, पंचाध्यायी के तो पण्डित जी अन्तः प्रवेशी विद्वान् थे ही, जैन न्याय के भी प्रकाण्ड विद्वान् थे। प्रमाण, प्रामाण्य, प्रमाण फल, स्वतः प्रामाण्य परतः प्रामाण्य का सच्चा विवेचन करते थे।

निःस्वार्थ सेवी

पण्डित जी समाज से भेट, दक्षिणा नहीं लेते थे। यद्यपि उनकी आर्थिक स्थिति प्रशस्त नहीं थी फिर भी जैन बन्धुओं से स्वभावतः उनमें एक पैसा नहीं लिया। एक बार बम्बई समाज से मार्ग व्यय जो दिया गया था उसमें दस आने अधिक आ गये थे। वे मनीआर्डर करके बम्बई वापिस भेज दिए गए। पण्डित जी यदि चाहते तो ५०-४० हजार रुपये उनको जैन धनिकों से अनायास मिल सकते थे, किन्तु पण्डित जी ने एक पैसा नहीं लिया। एक बार एक पण्डित जी को बाहर के दो भाईं लिवाने आये। कुछ गृह कलह के कारण पण्डित जी घर में कपड़े नहीं ले पाए। जैसा मलिन कुर्ता पहने थे, उसी वेष में चल दिए, मुझे भी साथ ले गये थे। इटावा पहुँच कर पण्डित जी ने नवीन दो कुर्ता बनवाए और दूकानदार को मूल्य २ ₹) फौरन अपनी जेब से निकाल कर दे दिए। तत्रस्थ जैन बन्धु मेपवत् यो ही देखते रहे, कुछ कहते नहीं बना निः

स्वार्थ ज्ञानदानी का अक्षुण्ण प्रभाव था। पण्डित जी को जैन धर्म प्रभावना, शास्त्रार्थ करना, स्याद्वाद प्रचार का गाढ़ अनुराग था। नितान्त घोर परिश्रम करके, परीषहे सह कर उन्हें जैनधर्म की पताका ऊँची फहराना अभीष्ट था। इटावा के पण्डित पुत्तलाल जी, चन्द्रमैन जी वैद्य दिग्विजयसिंह जी, रूपचन्द्र जी वैद्य आदि उत्साही जैन वन्दुओं ने तत्त्वप्रकाशिनी सभा स्थापित कर रखी थी। उसके द्वारा जीवनेर, अटेर, अजमेर आदि अनेक स्थानों पर शास्त्रार्थ किए गए तथा जैनसिद्धान्त की उत्कट प्रभावना की गई।

आद्य परिचय

जीवनेर (जयपुर स्टेट) के ठाकुर साहब विचार विमर्श के अनुरागी थे। आर्यसमाजी विचार के थे। वैशाख सम्बत् १९६८ में ठिकानेदार रईस ने तत्त्वप्रकाशिनी सभा (इटावा) को निमन्त्रित किया। मुझे भी ठोस प्रतिभाशाली, विद्वान् श्री अर्जुनलाल जी सेठी ने तार देकर आमन्त्रित किया। तदनुसार मैं चावली से जीवनेर पहुँचा। पं० गोपालदास जी, सेठी जी, दिग्विजयसिंह जी, चन्द्रमैन जी मन्त्री वहा प्रथमतः शास्त्रार्थ में डटे हुए थे। बड़ा मुशोभन प्रबन्ध था, वातावरण सन्तोषक था। विद्वानों के व्याख्यान हुए। गुरुजीकी सुकीर्ति विद्वत्ता व्याख्यान शैली पाण्डित्यपूर्ण थी। मुझे भी व्याख्यान देने का अवसर दिया गया। मुझसे गुरु जी भारी प्रसन्न हुए। मेरे गले में बाँहे डालकर गुरुजी ने सामोद आग्रह किया कि अब मैं तुमको नहीं छोड़ूँगा, साथ ही मोरेना ले चलूँगा।

उनके गाढ़ स्नेहपूर्ण आन्दोलन को मैं नहीं टाल सका और १५ दिन में पूज्य भाई जी की आज्ञा लेकर मोरेना पहुँच जाना मैंने स्वीकार कर लिया।

जैठ सुदी ९ वि० सं० १९६८ को मैं मोरेना पहुँचा। उस समय गुरुजी गोम्मटसार की देशावधि मार्गशा को पढ़ा रहे थे। पं० खूबचन्द्र जी, पं० वंशीधर जी, पं० मन्मथलाल जी, पं० उमरावसिंह जी, पं० देवकीनन्दन जी ये प्रधान विद्यार्थी थे। दूसरे दिन गुरुजी ने मुझे न्यायाध्यापक नियुक्त कर दिया। मैंने मोरेना में उपयुक्त छात्रों को प्रमेयरत्नमाला, आप्तपरीक्षा, प्रमेयकमल मार्तण्ड,

अष्टसहस्री, श्लोकवातिक पर्यन्त न्याय ग्रन्थ पढ़ाए। अन्य भी पचासों छात्र न्याय, सिद्धान्त ग्रन्थों को पढ़ते रहे। पं० जी जिनवाणी के नितान्त श्रद्धालु थे। कभी कभी श्री १०८ विद्यानन्द आचार्य की कठिन पक्तियों को सुनने के लिए अथवा मेरा अध्यापन परीक्षण करने के लिए पाठनावसर पर बैठ जाते थे।

पण्डित जी की तीक्ष्ण प्रतिभा न्यायशास्त्रों में अन्तः प्रवेश कर जाती थी, क्षयोपशम तीव्र जो था। जिनवाणी की प्रभावना की उत्कट भावना जो थी। गोम्मटसार आदि के तो वे अन्तर्मी महारथी विद्वान् थे ही।

तीन चार वर्ष तक मोरेना में किराए के मकान में गुरु जी सिद्धान्त ग्रन्थों में गोम्मटसार, त्रिलोकसार, पञ्चाध्यायी को पढ़ाते थे। और मैं पं० वंशीधर जी, पं० मन्मथलाल जी आदि को अष्टसहस्री, मार्तण्ड, श्लोकवातिक पढ़ाता था। और गुरुजी से सिद्धान्त ग्रन्थों का अध्ययन भी वंशीधर जी आदि के साथ करता था। बड़ा आनन्द आता था। दिन रात अध्ययन, अध्यापन, शास्त्रचर्चा में ही व्यतीत होते थे। पण्डित जी की तीव्र भावना थी कि विद्यालय उन्नति करे और विद्यालय का निज का भवन होय।

पावन तीव्र भावना अवश्य फलवती होती है। पचासत विचारानुसार स्थानीय दिगम्बर पादर्वनाथ जैनमन्दिर के विशाल ग्रहाने में ही विद्यालय भवन का निर्माण प्रारम्भ हो गया। इस कार्य में पण्डितजी की भारी परिश्रम करना पड़ा। उनके अर्थोपार्जन का कार्य भी शिथिल पड़ गया। पं० जी बड़े साहसी, पराक्रमी थे। प्रारम्भ करके हट जाना उनकी प्रकृति में नहीं था। दो तीन वर्ष में ही सिद्धान्तविद्यालय भवन पूर्ण बन गया और नवीन भवन में पठनपाठन चालू हो गया।

उस समय मोरेना विद्यालय की कीर्ति प्रशस्त थी प्रत्येक विद्यालय के छात्र मोरेना अध्ययन की छाप लगवाने थे। यों सं० १९७० में मोरेना विद्यालय में २५ छात्र ४ अध्यापक (पं० मन्मथलाल जी, पं० वंशीधरजी महारथी, पं० जगन्नाथ जी शास्त्री और मैं) नियुक्त थे। फिर विद्यालय का कार्य बढ़ता ही गया। गुरुजी ने सर्वदा से मुझे प्रधानाध्यापक पद पर प्रतिष्ठित किया। कुछ दिन

मै मन्त्री भी रहा। किन्तु प्रबन्ध करने में राग-द्वेष की अनेक झंझटें होती हैं। सूरजभान जी वकील देवबन्द की प्रेरणा से एक जैन छात्र मुझे निकालना भी पड़ा जिसका कि मुझे अद्यापि अनुताप है। अतः पठन-पाठन ही मेरी प्रकृति के अनुकूल पड़ा। विद्यालय के अंगभूत छात्राश्रम, सुपरिन्टेन्डेंट, रसोइया, भोजनशाला की सुव्यवस्था भी कर दी गई, यो मोरेना विद्यालय का तदानीन्तन अत्यधिक का नाम काम बढ़ गया था। १०० छात्र थे ७ अध्यापक थे।

बम्बई परीक्षालय की वार्षिक परीक्षाएं होती थीं। फल ६० प्रतिशत निकलता था। विद्यालय में पढ़कर ५० वंशीधर जी, ५० मन्खनलाल जी ने अष्टसहस्री में अच्छे नम्बर प्राप्त किए थे। पुनः अग्रिम वर्ष शनोकवार्तिक में भी परीक्षा देकर उत्तीर्णता प्राप्त कर ली। अत्यन्त प्रसन्न होकर गुरुजी ने ५० मन्खनलाल जी और वंशीधर जी को न्यायालयाध्यक्ष पदवी से विभूषित किया था उस दिन विद्यालय में विशेष अधिवेशन किया गया था। और पण्डितजी ने मुझे अभिनन्दित किया तथा वेतन में १०) मासिक वृद्धि की। हित बढ़ाया। तथा स्वपुरुषार्थ से जिनवाणी की प्रभावना देखकर अनेक पुत्र जन्मों से भी अधिक आत्मीय हर्ष का अनुभव किया, अपने लगाए हुए वृक्ष के मधुर फलों का आस्वादन कर पण्डित जी ने हर्ष से गद्गद होकर ये शब्द कहे कि—“आज मुझे परम हर्ष है कि विद्यालय में उच्चकोटि के न्याय और सिद्धांत के अध्यापक विद्यमान है।

बुद्धि वैभव

गुरुजी जैनधर्म प्रभावनाथ बाहर भी जाते थे तो मुझे भी साथ रखते थे। कई स्थानों पर गर्विष्ठ विद्वान् आ जाते थे जो कि कठिन मस्कृत भाषा में भाषण करते हुए पूर्व पक्ष उपस्थित कर देते थे। वे दक्षिण महाराष्ट्र सभा के सभापति होकर बेलगाव गये थे। उनके साथ परम प्रभावक मान्य ५० धनलाल जी भी थे। ५० जी मुझे भी साथ ले गये थे। वहाँ उनका सभापति भाषण नितान्त गम्भीर हुआ था। दक्षिण के जैन भाइयों की गुरुजी पर तीव्र श्रद्धा थी। हजारों दाक्षिणात्य जैनबन्धु धनिक उनके भक्त हो गये थे। चरणस्पर्श करते थे।

कलकत्ता में बाबू धनूलाल जी अटर्नीके निमन्त्रण पर सं. १९७२ में गए थे। तब भी पण्डितजी मुझे साथ ले गए थे। कलकत्ते के सैकड़ों उद्भूट विद्वान् सभा में आमंत्रित थे। पण्डितजी ने बड़ी विद्वत्ता के साथ जिनागमोक्त द्रव्य, गुण, पर्यायों तथा अनेकान्त का प्रतिपादन किया। ५० सतीशचन्द्र जी डी. लिट्., प्रमथनाथ न्यायचक्रवर्ती आदि २०० वैष्णव ब्राह्मण चूड़ामणि विद्वानों ने ५० जी को ‘न्यायवाचस्पति’ पदवी से अलंकृत किया।

इसी प्रकार अजमेर में हजारों जैनजैन जनता के सम्मुख स्वामी श्रद्धानन्दजी के साथ पण्डितजी का शास्त्रार्थ हुआ। पण्डितजी की अकाट्य युक्तियों के सम्मुख स्वामी जी की युक्तियां निर्बल रही। उस समय “सरस्वती” पत्र के सम्पादक महावीर प्रसाद जी द्विवेदी आदि प्रौढ़ विद्वानों ने स्वकीय प्रसिद्ध पत्रिकाओं में यही टिप्पणी लिखी थी कि जैनो की ओर से विशेष प्रबल युक्तियां दी गई थी। अजमेर में मेरा भी ५० यज्ञदत्त जी न्यायशास्त्री से संस्कृत भाषा में दो दिन शास्त्रार्थ हुआ था। जैनधर्म की प्रकाण्ड प्रभावना हुई।

पण्डितजीकी समय पर सूझ बढ़ी तीक्ष्ण थी। प्रतिष्ठा, मेज़ा, दशलक्षण, शास्त्रसभाओं में भी तत्त्वों का प्रतिपादन अन्तःप्रविष्ट होकर करते थे। जोवनेर, अटेर, भिण्ड, मोनागिर, दिल्ली आदि में गम्भीर सुशिक्षित वकील, वैरिक्टर, दार्शनिक आदि विद्वत्समाज में ५० जी का धारा-प्रवाही व्याख्यान गम्भीर विद्वत्तापूर्ण होता था। वे जिनागम को दिपावने वाले सूर्य थे।

बम्बई में माधोबाग में पण्डित जी का सार्वजनिक भाषण हुआ। ८ हजार विचारशील जनता उपस्थित थी। ईश्वरदास, अनेकांत द्रव्यनिरूपण विषयों पर ५० जी २ घण्टे तक बोलते रहे। गुणी सज्जनों ने पण्डितजी को “स्यादादवारिधि” पदवी प्रदान कर कृतज्ञता प्रगट की।

पण्डित जी स्वल्प सन्तोषी थे। आशा रहित थे। प्रतिभाशाली महापण्डित थे। ५० जी के जीवनकाल में सिद्धान्त विद्यालय मोरेना का भारी अम्युदय हुआ। आज कल जो आरातीय विद्वान् दृष्टिगोचर हो रहे हैं सब ५० जी की शिष्य प्रशिष्य परम्परा में ही अन्तर्निहित है। ५० जी ने जैन समाज का बड़ा भारी उपकार किया है। जैन

समाज उनके उपकारों से अनृण नहीं हो सकता है। उनकी स्नेहपूर्ण कृतियों को हम स्मरण कर उनके चरणों में श्रद्धाजलि समर्पित करते हैं।

एक बात प्रकरणान्तर की कहानी है। मुझे पं० दुर्गादास जी, जीवमनाथ भा, हरिवश ओभा, सहदेव भा, अम्बादासजी शास्त्री, रामावतार पाण्डेय, आदि वैष्णव विद्वानों से सिद्धान्तकौमुदी, मनोरमा शब्देन्दुशेखर, व्युत्पत्ति-वाद, शक्तिवाद, काव्यप्रकाश, रसगगाधर, सामान्य निरुक्ति, सिद्धान्तलक्षण, साधारण, सन्प्रति पक्ष आदि वैष्णव ग्रन्थों को पढ़कर जो आनन्द प्राप्त हुआ था। गुरुजी से धर्मशास्त्र के ग्रन्थ पढ़कर वह सब प्रकाण्ड सुख के सम्पन्नज्ञान रूपा से परिणत हुआ। यह सब गुरु जी के प्रसाद से प्राप्त हुआ "नेम्रो गुरुभ्यो नमः" गुरुजी को जैन ग्रन्थों के ही अध्ययन अध्यापन का पक्ष था।

पूज्य पं० वर्णी जी महाराज गणेशप्रसाद जी (गणेश-कीर्ति मुनिराज) पं० महेन्द्रकुमार जी, पं० दरबारीलाल जी कोटिया आदि विद्वानों ने भी अवच्छेदकावच्छिन्न फक्किकाग्रों, परिष्कार आदि पढ़ाने में भारी श्रम किया है। मैंने भी १५ वर्ष घोर अध्ययनमाय कर वैष्णव न्याय, व्याकरण, साहित्य के अध्ययन में अजमेर, जयपुर, मथुरा, काशी में समय यापन किया है किन्तु इनमें अमृताब्धि विलोडन कर भी प्रवाल ही प्राप्त हुआ।

हा गोमटसार, राजवात्तिक, श्लोकवात्तिक ग्रन्थों में पर्याप्त अमृतसर्वस्व मुझे प्राप्त हुआ। अतः गस्कृताध्ययन करने वाले छात्रों से मेरा साग्रह निवेदन है कि वे अत्य-सार ग्रन्थों में अधिक श्रम नहीं कर जैन वाङ्मय जैनन्याय काव्य ग्रन्थों में परिश्रम करें। जिनसे ठाम विद्वत्ता के साथ स्वपर कल्याण करते हुए घोर परिश्रम को सफल कर सकें। "तद्वि जानन्ति तद्विदः"

शासक

पण्डितजी महोदय गोपाल सिद्धान्त विद्यालय के तो सर्वांगीण शासनकर्त्ता थे ही। स्थानीय म्युनिसिपैल्टी के भी कमिश्नर थे तथा स्थानीय पंचायती बोर्ड के भी मजिस्ट्रेट रह चुके थे। वे सत्य और न्याय अनुसार निर्णय देने

थे। एक दो बार पेशकार ने कुछ लज्जा ले ली थी। पं० जी उम पर अत्यधिक कुपित हुए पुनः उसको पृथक् कर दिया। पं० जी का राज्य में विशेष आदर प्रभाव था। खालियर के महाराज साहब ने पण्डित जी को दरबारी पोशाक देकर सत्कृत किया था। राज्य के तदानीन्तर पमारसाब तो गुरुजों के मित्र थे तथा शिक्षा मन्त्री एच. एम. बुल (अग्रज) पण्डितजी को मान्य करते थे। यो राज्य, राष्ट्र प्रजाजनों में पण्डितजी का पुष्कल आदर सम्मान था।

स्थानीय रईस ला० रामजीवनजी (सभापति), लाला मिट्टनलालजी (व्यापारी), ला वशीधरजी चौधरी, सेठ गिरवरजी, छीतरमलजी जैन, सभी प्रतिष्ठित नागरिक सज्जन पं० जी को उच्चासन देते थे। "विद्वान् सबन्त पूज्यते"

पं० जी ने सम्मेलनशिखरजी, जैनबद्री, सोनागिरिजी, मुक्तागिरिजी आदि अनेक तीर्थों की भावभक्ति पूर्ण वन्दनाएँ की थीं। धर्म अर्थ, काम का परस्पराविरोध से सेवन करते थे। न्यायपूर्वक आजीविका करते थे। अल्प आरम्भ परिग्रह उनको रुचिकर था। संवेदी निर्वेदी थे।

पण्डितजी के एक कौशल्या लड़की थी। भाई माणिक-चन्द्र एक लड़का था। दो पोत्र थे। पण्डितानी, पुत्रवधू, पोत्र, नातिनी २ यो छोटा सा ही परिवार था। मोरेना में आड़त की दुकान की। साधारण वस्त्र भूपावेप था।

पण्डित जी का पठन-पाठन चर्चावार्ता, शङ्का समाधान व्याख्यान, लेख लिखना, यही रात्रि दिवसीयचर्या थी। सात्त्विक वृत्ति के जैन पत्रों के सम्पादक भी रह चुके थे। उम समय पण्डितजी के लेखों का भारी प्रभाव था। निर्भीक होकर आगमोक्त तत्त्वों का प्रतिपादन करते थे। वे किसी धनिक के प्रभाव या चाटुकारिता के प्रसङ्ग में नहीं पड़े।

न्याय पक्ष अनुसार वे धनिकों को भी भत्तित कर देने थे। अन्तरङ्ग में दयानुता, धार्मिक स्नेह, समुद्र तरंगित रहता था। पण्डितजी जैन समाज के आधार स्तम्भ थे। ऐसे निस्वार्थ उपकारी, धुरन्धर विद्वान् भी काल कवलित हो गए। "यमम्य करुणा नास्ति कर्त्तव्यो धर्म सचयः।"

(जैन मन्देश में साभार)

कविवर पं० श्रीपाल-व्यक्तित्व एवं कृतित्व

डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल एम. ए. पी-एच. डी.

१५वीं शताब्दी में भट्टारक सकलकीर्ति के आकर्षक एवं सेवाभावी व्यक्तित्वसे बागड (राजस्थान) एवं गुजरात प्रदेश के साधु एवं भावक दोनों ही वर्गों में साहित्यिक प्रति अद्भुत प्रेम उत्पन्न हो गया था। सकलकीर्ति स्वयं ने तो एक विशाल साहित्य की रचना की ही थी किन्तु अपने शिष्य प्रशिष्यों में भी साहित्य सेवा के भावों को कूट-कूट कर भर दिया था। यही कारण है कि उनके पीछे होने वाले प्रायः सभी भट्टारको एवं उनके शिष्यों ने खूब साहित्य रचना की। इनमें ब्रह्म जिनदास, भ० ज्ञानभूषण, भ. शुभचन्द्र, भ. रत्नकीर्ति, कुमुदचन्द्र आदि के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। साधुवर्ग से प्रभावित श्रावकों ने भी साहित्य सेवा के इस अनुष्ठान में पूरा योग दिया और कितनी ही महत्पूर्ण रचनाएँ लिखकर समाज को एक नया मार्ग दर्शन दिया। प्रस्तुत लेख में ऐसे ही एक श्रावक कवि का परिचय दिया जा रहा है—

कविवर श्रीपाल १८वीं शताब्दी के विद्वान् थे। गुजरात व सूरत नगर इनका जन्म स्थान था जो संभवतः हेमतर के नाम से भी विख्यात था। इसी नगर में रहते थे कवि के पूर्वज पितामह वणायग एवं पिता जीवराज जो सिंहपुत्रा जातिके श्रावक थे। श्रीपाल अपने पिता के लाडले पुत्र थे इसलिए लालन-पालन की ओर भी विशेष ध्यान दिया गया था। प्रारम्भ से ही अध्ययन की ओर विशेष रुचि होने के कारण ये साधुओं की सगति में अधिक रहने लगे। पहले उन्होंने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, गुजराती एवं राजस्थानी भाषा का अध्ययन किया एवं उनके प्रवचनों का लाभ उठाया।

श्रीपाल का किस आयु में विवाह हुआ यह तो उनकी रचनाओं एवं प्रशस्तियों से ज्ञात नहीं हो सका है। किन्तु एक प्रशस्ति के अनुसार उनकी स्त्रीका नाम महत्तलदे था। इसी प्रशस्ति में उनके ६ पुत्रों एवं तीन पुत्रियों के नाम भी गिनाये गये हैं पुत्रों के नाम थे प० अरवई, अमरसी,

अबाईदाम, अनन्तदास, बल्लभदास एवं विमलदास। पुत्रियाँ थी अमरबाई, भगनीबाई एवं वेलबाई। इस प्रकार प० श्रीपाल बहुत कुटुम्ब वाले विद्वान् थे।

कवि ने अपने पदों एवं गीतों में भ. अभयचन्द्र, भ. शुभचन्द्र एवं भ. रत्नचन्द्र के गुण गाये हैं इससे ज्ञात होता है कि उन्होंने अपने जीवन में उक्त तीनों भट्टारकोका समय देखा था। इन भट्टारकों के सम्बन्ध में गीत लिखकर कवि ने एक अच्छी परम्परा को जन्म दिया। इनके पदों एवं गीतों में ऐतिहासिक सामग्री भरी पड़ी है और कितनी ही नवीन जानकारी उपलब्ध होती है। कार्य की कृतियों को हम निम्न भागों में विभक्त कर सकते हैं—

१ ऐतिहासिक गीत, २. तीर्थवन्दना गीत, ३. स्तुति परक पद, ४ एवं श्रावकाचार प्रबन्ध।

ऐतिहासिक गीत—

कविवर श्रीपाल ने कितने ही ऐतिहासिक पद लिखे हैं। ये पद तत्कालीन भट्टारको, श्रावकों एवं संघ पतियों की प्रशंसा में लिखे गये हैं। इन गीतों के अध्ययन से भट्टारकों के व्यक्तित्व एवं लोकप्रियता पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। जैन कवियों ने इस प्रकार के किसी साधु एवं श्रावक के व्यक्तित्व पर बहुत कम साहित्य लिखा है केवल भ. रत्नकीर्ति एवं कुमुदचन्द्र के आम्नाय में होने वाले साधुओं एवं श्रावक विद्वानों ने विशेष रूप से लिखे हैं। लेखक को ऐसे १०० से भी अधिक गीत एवं पद प्राप्त हो चुके हैं। श्रीपाल द्वारा भ. अभयचन्द्र के प्रति लिखे हुए दो पदों को पढ़िये—

राग धन्नासी

चन्द्रवदनी मृगलोचनी नारि।

अभयचन्द्र गच्छ नायक बंदो सकल संघ जयवारि ॥१॥

मदन महामद मोडेरौ मुनिवर, गोयमसम गुणधारी।

अमावन्तवि गंभीर विचक्षण, गुरुयो गुण भंडारी ॥२॥

निखिल कलानिधि विमल विद्यानिधि विकटवादी हठ हारो।

रम्य रूप रंजित नर नायक, सज्जन जन सुखकारी ॥३॥
सरसती गछ शृंगार शिरोमणि, मूलसंघ मनोहारी ।
कुमुदचन्द्र पद कमल दिवाकर, श्रीपाल तुम बलिहारी ॥४॥

[२]

आज आनंद मन अति घणो रा, काँई वरतपो जय जयकार ।
अभयचन्द्र मुनि आबया रा, काँई सूरत नयर मभार रे ॥१॥
घरे घरे उछव अति घणाए, काँई माननी मगल गाघरे ।
अग पूजा ने उबराणा रा, काँई कंकुम पगदे बडाय रे ॥२॥
श्लोक वखाणो गोरसोभता रे, वाणी मोठी अपार सार रे ।
धर्मकथा ये माणीने मतिबोधे रा,

कोई कुमतिनो करे परिहार रे ॥३॥

सवत सतर छलोतरे, काँई हरजी मेमजी नो दूंगी भास रे ।
रामजी ने श्रीपाल हरखो पाए,

काँई बेलजी कुंअरजी मोहनकामदे ॥४॥

गौतम समगोर सोभतारा, काँई बधे जपो अभयकुमार रे ।
सकल कला गुण मडणोरा, काँई देवजो कहे उदयो उदार रे ॥

उक्त दोनो पदों में भ. अभयचन्द्र के विषय में कितने तथ्यों का पता लगता है कि वे भ. कुमुदचन्द्र के शिष्य थे तथा आकर्षक व्यक्तित्व वाले थे । सवत् १७०६ में वे जब एक बार सूरत नगर पधारे थे तो समाज ने उनका हादिक स्वागत किया था । सूरत नगर में उस समय हरिजी, मेमजी, वेलजी, कुवर मोहनदास समाज के प्रतिष्ठित व्यक्ति थे । स्वयं कवि भी इस स्वागत समारोह में सम्मिलित हुआ था ।

भ. शुभचन्द्र अपने समयके अछें विद्वान् थे । भ. सकल-कीर्ति की परम्परा में होने वाले भ. विजयकीर्ति के शिष्य भ. शुभचन्द्र से ये भिन्न हैं । प्रस्तुत शुभचन्द्र भ. अभयचन्द्र के शिष्य थे । कवि इनकी विद्वत्ता एवं सिद्धान्त ज्ञान पर विशेष रूप से मुग्ध था । इनकी प्रशंसा में भी कवि ने ५ गीत लिखे हैं । एक गीत में संवत् १७०१ में इनका भट्टारक पद पर अभिषेक होने का वर्णन भी दिया है—

संवत् सतर एक्कीस रे, जेठ बढी पडवे चग ।
जय जयकार करे नरनारी, ढाले कलश उत्तंग रे ॥१६॥
धर्मभूषण सूरि मंत्रज आप्पा, थाप्या की शुभचन्द्र ।
अभयचन्द्र ने पारि बिराजि, सेवे सज्जन वृन्द रे ॥२०॥

शुभचन्द्र के सम्बन्ध में ही एक और पद देखिये—

आखो सखी सटु संगे सुन्दरी मिली ।
बाँविये श्री शुभचन्द्र मननो रली ॥१॥
पंच महाव्रत पंच सुसति धारी ।
त्रण्य गुपति गुरु अरेवि चारी ॥२॥
सहस्र अष्टादस शील गुण सागर ।
पुण्य प्रतापे ए प्रगटयो प्रभाकर ॥३॥
मूलसंघ मडण मुनिवर महन्त ।
सरसति गछ माहि गोर सोहन्त ॥४॥
अभयचंद ने पारि आनंदकारी ।
जतिवर जगमाहि जपो जे कारी ॥५॥
परमत वादोगज केसरी कहोर ।
सकल सिद्धान्त अंबु उदधि-महीए ॥६॥
मनमथ रूपे बुद्धे अभयकुमार ।
शील मुदसण नित समे श्रीपाल ॥७॥

शुभचन्द्र के पश्चात् भ. रामचन्द्र भट्टारक गादी पर बैठे । कवि ने इनका समारोह देखा था । वे इनसे भी अन्यधिक प्रभावित थे । एक गीत में कवि ने उनके उत्तम चरित्र की निम्न प्रकार प्रशंसा की है—

आखो रे सखी चद्रवदन गुणमाल ।
सूरिवर रत्नचन्द्र को वधाओ मोतीपडे भरे बाल ॥१॥
शील आभूषण अंग मोहे सयम त्रिवंश प्रकार ।
अष्टाविंशति मूलमुक्तोत्तम धर्म सदा बश चार ॥२॥
परिसा सहे निज अंगे रंगे, करे परिग्रह त्याग ।
श्रीपाल कहे यह पंचम काले, प्रगट करे शिव भाग ॥३॥
भट्टारकों के प्रतिरिवन मधपति वाघ जी एव सधपति
हरिजी गीत भी लिखे हैं एव भट्टारकों के गीतों में प्रमुख श्रावकों के नामों का उल्लेख किया है ।

(२) तीर्थ वन्दना गीत—

कवि ने एक बार सर्पागार मागीतुंगी की यात्रा की थी जिसका सक्षिप्त वर्णन एक गीत में किया है । इस मध का नेतृत्व भ. रत्नचन्द्रने किया था मध सूरतनगरसे रवाना हुआ था तथा बारडोली, बोडोड आदि होता हुआ मागीतुंगी पहुँचा था । वहाँ उसने कितने प्रकार के उत्सव भी किये थे ।

मागीतुंगी पूजा चालिए रे, वीन चौये गुणवान ।
गीत गाये वर कामिणी रे, जय जय बोले बाण ।

जय जय बोले वाण बदे सहलोक, अपनो फरो बाप्यो फोर ।
अंणी परे उछव करे सहकोय, पीपल नार आध्य सुख होय ॥

(३) स्तुति परक पद—

श्रीपाल कवि ने कुछ पद भी लिखे हैं जो स्तुति परक हैं तथा वर्णनात्मक हैं। पद बड़े हैं और विभिन्न राग-रागनियों में लिखे गये हैं इनमें नेमिनाथ गीत, आदीश्वरनु गीत, बलभद्र की वीनती, विरहमान वीनती आदि के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। ये गीत एवं भाव, भाषा एवं शैली की दृष्टि से विशेष उच्चस्तर के नहीं हैं।

श्रावकाचार प्रबन्ध—

यह कवि की सबसे बड़ी एवं मौलिक कृति है। इस कृति में इसका दूसरा नाम उपासकाध्ययन भी दिया हुआ है। ग्रन्थ की एक प्रति भट्टारकीय शास्त्र भण्डार डूंगरपुर में सग्रहीत है। इसमें ६ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में सम्यक्त्व एवं मिथ्यात्व का वर्णन है। दूसरे अध्याय में सात तत्त्व, नव पदार्थ एवं गुणस्थान चर्चा है। तीसरे में सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का, सप्तव्यसनो तथा शिक्षाव्रत एवं गुणव्रतों का वर्णन किया गया है। चौथे अध्याय में प्रतिमात्रो का वर्णन चलता है जो अन्तिम अध्याय (छठा) तक चलता है। बीच बीच में कथाएँ भी दी हुई हैं।

प्रबन्ध में चौपाई, दूहा, रागदेगारव, दूहाराग भैरव, दूहाराग, आमाउगी, चाल बारामासनी, ढाल मुक्तावली, राग मारू, केदारो, गोडी, महार आदि रागों का प्रयोग किया गया है। इसकी रचना हूँवड वंश में उत्पन्न होने वाले मधपति राम के आग्रह वंश की गई थी। इसका रचनाकाल नहीं दिया गया है लेकिन एक प्रशस्ति में भट्टारक शुभचन्द्र का उल्लेख किया गया है इसमें यह स्पष्ट है कि यह संवत् १०२१ के पश्चात् लिखी गई थी। कवि के प्रारम्भ में लिखी हुई एक प्रशस्ति पढ़िए—
सरस्वती गच्छ सिरोमणी, काँड़ बलात्कार गणधार रे ।
अभयचन्द्र सूरि सरह हवा, काँड़ बिछा गुण दातार रे ।
तस पद पंढज वसि कसं, काँड़ श्री सुभचन्द्र मुनीन्द्र रे ।
गच्छ नायक गणे आगलो, काँड़ सेवित मज्जन वन्द रे ।
एह गुरना पद अनुसुरी, कह्यो पंच मिथ्यात विचार रे ।
सांभले समकति उपजे, होय निमल भवपार रे ।
हूँवड वंश बड़ी साखा रा, जीवा कुज भृंगार रे ।

संधपति राम तिनो उपदेसे, वहे सु श्रावकाचार रे ।

सहेट वंस सिरोमणि, सोहे जीवराज सुत सार रे ।

श्रीपाल विबुध बंदर बाणी, सांभलता जयकार रे ॥

समय—

कवि ने अपने समय के बारे में बहुत कम उल्लेख किया है। केवल ५ गीतों एवं प्रशस्तियों में विभिन्न घटनाओं के समय का संकेत किया है। इनमें सर्व प्रथम सं० १७०६ की घटना है जब भ. अभयचन्द्र सूरत नगर में पधारे थे और समाज ने उनका पूरे उत्साह से स्वागत किया था। संवत् १७२१ में भ. शुभचन्द्र का एवं संवत् १७३४ में भ. रत्नचन्द्र के महाभियेक का भी संक्षिप्त आखों देखा हाल दिया है। संवत् १७४८ की जो एक प्रशस्ति उपलब्ध हुई है उसमें भ. रत्नचन्द्र के साथ साथ अपने परिवार के भी पूरे नाम दिये हैं और अपने पुत्र एवं पुत्रियों की सख्या एवं उसके नाम भी दिये हैं इस प्रशस्ति से पता चलता है कि संवत् १७४८ में कवि अपने पूरे परिवार के साथ थे। उक्त कुछ लेखों से अनुमान लगाया जा सकता है कि श्रीपाल ने १७वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में जन्म लिया था और सं० १७५० के करीब वे जीवित रहे थे। इस प्रकार कवि १७-१८वीं सदी के एक अच्छे विद्वान् थे।

अब तक कवि की निम्न रचनाएँ उपलब्ध हो चुकी हैं। ये सभी हिन्दी में हैं और उनकी प्रतियाँ डूंगरपुर एवं ग्निभदेव के शास्त्र भण्डारों में सग्रहीत हैं। इन कृतियों के नाम निम्न प्रकार हैं—

१. श्रावकाचार प्रबन्ध, २. शातिताथना भवांतरनुगीत,
३. पद, ४. बलिभद्र स्वामिना गीत, ५. अभयचन्द्र भट्टारक स्वागन,
६. रत्नचन्द्र स्तवन, ७. गीत (श्री शुभचन्द्र कुल वंश दिवाकर),
८. रत्नचन्द्रना गीत, ९. संधपति बाघजी गीत,
१०. मधपति हीर जी गीत, ११. श्रीपाल प्रशस्ति,
- १२-१४. मुनि शुभचन्द्र गीत, १५. शुभचन्द्र हमची,
- १६-१८. पद, २०. गुरुगीत (अभयचन्द्र स्तवन), २१. गुर्वावलि,
२२. बलभद्रनी वीनती, २३. नेमिनाथ की वीनती,
२४. विरहमान वीनती, २५. आदिनाथकी धमाल,
२६. भरतेश्वरनु नवविधाननु गीत, २७. नेमिनाथ गीत,
२८. आदीश्वरनु गीत, २९. गीत ।

पंचकल्याणक प्रतिष्ठा और गो. वरैया जन्म शताब्दी समारोह

देहली में दि० ११ से १६ मई तक पंचकल्याणक प्रतिष्ठा श्री लाला राजकृष्ण जी जैन की ओर से सम्पन्न हो रही है। इसी समय के लगभग दि० १७-१८ में यहाँ श्री प० गोपालदास जी वरैया जन्मशताब्दी समारोह बड़े पैमाने पर होने जा रहा है। उसमें दिल्ली के प्रतिष्ठित महानुभावों के अतिरिक्त भारत सरकार के अनेक मंत्री गण और उच्चकोटि के विद्वानों के सम्मिलित होने की आशा है। उसी समय 'वरैया स्मृति ग्रन्थ' भी भेंट किया जावेगा। ऐसे पुनीत अवसर पर विद्वानों को उसमें सम्मिलित होना अत्यन्त आवश्यक है।

वीर-सेवा-मन्दिर और "अनेकान्त" के सहायक

१०००) श्री मिश्रीलाल जी धर्मचन्द जी जैन, कलकत्ता	१५०) श्री जगनोहन जी सरावगा, कलकत्ता
१०००) श्री देवेन्द्रकुमार जैन, ट्रस्ट	१५०) ,, कस्तूरचन्द जी आनन्दीलाल जी कलकत्ता
श्री साहु शीतलप्रसाद जी, कलकत्ता	१५०) ,, कन्हैयालाल जी सीताराम, कलकत्ता
५००) श्री रामजीवन सगावगी एण्ड सम, कलकत्ता	१५०) ,, प० बाबूलाल जी जैन, कलकत्ता
५००) श्री गजराज जी सरावगी, कलकत्ता	१५०) ,, मालीराम जी सगावगी, कलकत्ता
५००) श्री नथमल जी सेठी, कलकत्ता	१५०) ,, प्रतापमल जी मदनलाल पाड्या, कलकत्ता
५००) श्री वैजनाथ जी धर्मचन्द जी, कलकत्ता	१५०) ,, भागचन्द जी पाटनी, कलकत्ता
५००) श्री रतनलाल जी भाभरी, कलकत्ता	१५०) ,, शिखरचन्द जी सरावगी, कलकत्ता
२५१) श्री रा० बा० हरखचन्द जी जैन, रांची	१५०) ,, सुरेन्द्रनाथ जी नरेन्द्रनाथ जी कलकत्ता
२५१) श्री अमरचन्द जी जैन (पहाडघा), कलकत्ता	१०) ,, मारवाडी दि० जैन समाज, व्यावर
२५१) श्री स० मि० धन्यकुमार जी जैन, कटनी	१०१) ,, दिगम्बर जैन समाज, कैकड़ी
२५१) श्री सेठ मोहनलाल जी जैन,	५०१) ,, सेठ चन्डूलाल कस्तूरचन्दजी, बम्बई न० २
मंसर्स मुन्नालाल द्वारकादास, कलकत्ता	१०१) ,, लाला शान्तिलाल कागजी, वरियागज दिल्ली
२५१) श्री लाला जयप्रकाश जी जैन	१०१) ,, सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल, इम्फाल
स्वस्तिक मेटल वर्क्स, जगाधरी	१०१) ,, शान्तिप्रसाद जी जैन, जैन बुक एजेन्सी, नई दिल्ली
२५०) श्री मोतीलाल हीराचन्द गाधी, उस्मानाबाद	१०१) ,, मेठ जगन्नाथजी पाण्डया भूमरीतलैया
२५०) श्री बन्दीधर जी जुगलकिशोर जी, कलकत्ता	१०१) ,, सेठ भगवानदास शोभागाम जी सागर
२५०) श्री जुगमन्दिरदास जी जैन, कलकत्ता	(म० प्र०)
२५०) श्री सिधई कुन्दनलाल जी, कटनी	१०१) ,, बाबू नृपेन्द्रकुमार जी जैन, कलकत्ता
२५०) श्री महावीरप्रसाद जी अग्रवाल, कलकत्ता	१००) ,, बट्टीप्रसाद जी आत्माराम जी, पटना
२५०) श्री बी० आर० सी० जैन, कलकत्ता	१००) ,, रूपचन्दजी जैन, कलकत्ता
२५०) श्री रामस्वरूप जी नेमिचन्द्र जी, कलकत्ता	१००) ,, जैन रत्न सेठ गुलाबचन्द जी टोंग्या
१५०) श्री वजरगलाल जी चन्द्रकुमार जी, कलकत्ता	इन्दौर
१५०) श्री चम्पालाल जी सरावगी, कलकत्ता	

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

K. N. 10591/62

सभी ग्रन्थ पौने मूल्य में

- (१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थों से उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए. डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द १५-००
- (२) आप्त परीक्षा—श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर, विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं. दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८-००
- (३) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। ... २-००
- (४) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगलकिशोर मुख्तार की महत्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १-०
- (५) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पञ्चाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिकरचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १-५०
- (६) युक्त्यनुगामन—तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... ७५
- (७) श्रीपुरपादवर्नाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ७५
- (८) जामनचतुस्त्रिका—(तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वीं शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित ७५
- (९) समीचीन धर्मशास्त्र—स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थावर-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३-००
- (१०) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० १ संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह उपर्युक्तों ११ परिशिष्टों की ओर प० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक माहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ... ४-००
- (११) समाधितन्त्र और हट्टोपदेश—अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००
- (१२) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दीकी महत्त्वका रचना, मुख्तार श्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित २५
- (१३) तत्त्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... २५
- (१४) श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैनतीर्थ। १-२५
- (१५) महावीर का सर्वोदय तीर्थ १६ पैसे, (५) समन्तभद्र विचार-दीपिका १६ पैसे, (६) महावीर पूजा २५
- (१६) बाहुबली पूजा—जुगलकिशोर मुख्तार कृत २५
- (१७) अध्यात्म रहस्य—प० आशाधर की सुन्दर कृति मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। १-००
- (१८) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा २ अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्वपूर्ण संग्रह। ५५ ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रन्थ-परिचय और परिशिष्टों सहित। स. प० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द १२-००
- (१९) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ मख्या ७४० सजिल्द (वीर शासन-सप्त प्रकाशन ५-००
- (२०) कसायपाहुड सुत्त—मूलग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णपूत्र लेखे। सम्पादक प. हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पृष्ठ कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। ... २०-००
- (२१) Reality आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द ६-००

प्रकाशक—प्रेमचन्द जैन, वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपबाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली से मुद्रित।

अनेकान्त



पार्ष्णाथ जीर पद्मावती वि० जीन मन्दिर मागदा (एकलिंग जी)
डबलपुर

समन्तभद्राश्रम (बोर-सेवा-मन्दिर) का मुखपत्र

विषय-सूची

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
१.	ऋषभ जिन स्तोत्रम्—मुनि श्री पद्मनन्दि	४६
२.	अनूप पाश्र्वनाथ प्रगाद—मुनि कातिमागर	५१
३.	देवगढ का शान्तिनाथ जिनालय— प्रो० भागचन्द जी जैन एम. ए.	६२
४.	श्री अनरिक्त पाश्र्वनाथ पतली दिगम्बर जैन मन्दिर शिरपुर—नेमचन्द धन्ना जैन	६६
५.	कैवल्य दिव्य एक मुक्ताव—मुनि श्री नगराज	७४
६.	महावीर और बुद्ध के पारिपाश्विक भिक्षु- भिक्षुणिया—मुनिश्री नगराज	७५
७.	राजा श्रेणिक या बिम्बमार का आयुष्यकाल— प० मिलापचन्द कटारिया	८४
८.	पंडित भगवतीदास कृत वैद्यविनोद— डा० विद्याधर जोहरापुरकर	९०
९.	भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा १९६६ का पुरस्कार घोषित—लक्ष्मीचन्द जैन भारतीय ज्ञानपीठ	९१
१०.	साहित्य-समीक्षा—परमानन्द शास्त्री	९३



सूचना

इस अंक के दूसरे प्रेम में छपने के कारण कुछ क दो फार्मों के नम्बर १ से १६ तक छान गये हैं। उनके स्थान पर ४६ से ६४ तक के नम्बर बना लेना चाहिए।



सम्पादक-मण्डल

डा० आ० ने० उपाध्ये
डा० प्रेमसागर जैन
श्री यशपाल जैन



अनेकान्त के ग्राहकों से

अनेकान्त के जिन प्रेमी ग्राहकों का वार्षिक मूल्य प्राप्त नहीं हुआ है। उन्हें चाहिए कि वे २०वें वर्ष का वार्षिक शुल्क छह रुपया मनीआई से भिजवा दे। अन्यथा अगला अंक वी० पी० से भेजा जावेगा, जिसमें ८५ पैसा वी० पी० खर्च का देना होगा। आशा ही नहीं किन्तु विश्वास है कि प्रेमी पाठक वार्षिक मूल्य भेज कर अनुगृहीत करेंगे।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

वीरसेवामन्दिर २१, दरियागंज, दिल्ली



जिनवाणी के भक्तों से

वीरसेवामन्दिर का पुस्तकालय अनुमन्धान से सम्बन्ध रखता है। अनेक अधिक विद्वान अपनी थीसिस के लिए उपयुक्त मॉटर यहां से संगृहीत करके ले जाते हैं। सचालक गण चाहते हैं कि वीरसेवामन्दिर की लायब्रेरी की और भी उपयोगी बनाया जाय तथा मुद्रित और अमुद्रित शास्त्रों का अच्छा संग्रह किया जाय। अतः जिनवाणी के प्रेमियों से हमारा नम्र निवेदन है कि वे वीरसेवामन्दिर लायब्रेरी को उच्चकोटि के महत्त्वपूर्ण प्रकाशित एवं हस्त-लिखित ग्रन्थ भेंट भेज कर तथा भिजवा कर अनुगृहीत करें। यह गस्था पुरातत्त्व और अनुमन्धान के लिए प्रसिद्ध है।

व्यवस्थापक

वीरसेवा मन्दिर, २१ दरियागंज दिल्ली



अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया।
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पं०

अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्पादक मण्डल उत्तरदायी नहीं है।

व्यवस्थापक अनेकान्त

ग्रोम ग्रहण

अनेकान्त

परमागस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयबिलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २० }
किरण २ }

वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६
वीर निर्वाण सम्बत २४६३, वि० स० २०२३

{ जून
सन् १९६७

ऋषभ जिन स्तोत्रम् (मुनि श्री पद्मनन्दि)

णिहोसो अकलंको अजडो चंदो 'व' सहसि तं तह वि ।
सोहासणायलत्थो जिणिव कय कुवलयाणंदो ॥२३॥

अर्थ - हे जिनेन्द्र ! महासन रूप उदयाचल पर स्थित आप चू कि चन्द्रमा के समान कुवलय (पृथिवी-मण्डल, चन्द्र पक्ष में कुमुद) को आनन्दित करने है, अतएव उस चन्द्रमा के समान मुगोभित होते है, तो भी आपमें उस चन्द्रमा की अपेक्षा विशेषता है—कारण कि जिम प्रकार आप अज्ञानादि दोषों से रहित होने के कारण निर्दोष हैं। उम प्रकार चन्द्रमा निर्दोष नहीं है—वह सदोष है। क्योंकि वह दोषा (रात्रि) से सम्बन्ध रखता है। तथा आप जड़ता (अज्ञानता) से रहित होने के कारण अजड है, परन्तु चन्द्रमा अजड नहीं है। किन्तु जड़ है—हिम में अस्त है।

अच्छंतु ताव इयरा फुरिय विवेया णमंतसिर सिहरा ।
होइ अशोओ रुखो वि णाह तुह संणिहाणत्थो ॥२४॥

अर्थ—हे नाथ ! जिनके विवेक प्रगट हुआ है तथा जिनका शिररूप शिखर आपको नमस्कार करने में नम्रीभूत है ऐसे दूसरे भव्य जीव तो दूर ही रहे, किन्तु आपके समीप में स्थित वृक्ष भी अशोक हो जाता है।

विशेषार्थ—यहाँ स्तुतिकार ऋषभ जिन की स्तुति करते हुए उनके समीप में स्थित अष्ट प्रातिहार्यों में से प्रथम अशोक वृक्ष का उल्लेख करते हैं। यद्यपि वह वृक्ष नाम में ही 'अशोक' प्रसिद्ध है, फिर भी वे अपने शब्द चातुर्थ्य से यह व्यक्त करते हैं कि जब जिनेन्द्र मगवान की केवल समीपता को पाकर वह स्थावर वृक्ष भी अशोक (शोक रहित) हो जाता है तब भला जो विवेकी जीव उनके समीप में स्थित होकर इन्हे भक्ति पूर्वक नमस्कार आदि करते हैं वे शोक रहित कैसे न होंगे ? अवश्य ही वे शोक रहित होकर अनुपम सुख को प्राप्त करेंगे ॥२४॥

अनेकान्त

छत्तत्तयमालंबियणिम्मलमुत्ताह लच्छला तुज्झ ।

जणलोयणेषु बरिसइ अयमं पि व णाह विदूहिं ॥२५॥

अर्थ—हे नाथ ! आपके तीन छत्र लटकते हुए निर्मल मोतियों के छल से मानो बिन्दुओं के द्वारा भव्यजनों के नेत्रों में अमृत की वर्षा करते हैं—भगवान् ऋषभ जिनेन्द्र के शिर के ऊपर जो तीन छत्र अवस्थित थे उनके सब ओर जो सुन्दर मोती लटक रहे थे, वे लोगों के नेत्रों में ऐसे दिखते थे जैसे कि मानो वे तीन छत्र उन मोतियों के मिष से अमृत बिन्दुओं की वर्षा ही कर रहे हैं ।

कमलोयलोयणुप्पलहरिसाइ सुरेसहत्थ चलियाइ ।

तुह देव सरयससहरकिरणकयाइ व चमराइ ॥२६॥

अर्थ—हे देव ! लोगों के नेत्रोरूप नील कमलों को हर्षित करने वाले जो चमर इन्द्र के हाथों से आपके ऊपर ढंरे जा रहे थे वे शक्तकालीन चन्द्रमा की किरणों से किये गए (निर्मित) के समान प्रतीत होते थे ।

विहलीकयपंचसरे पंचसरो जिण तुमम्मि काऊण ।

अमरकयपुप्फविट्ठिच्छला बह मुवइ कुसुमसरे ॥२७॥

अर्थ—हे जिन ! आपके विषय में अपने पंच बाणों को व्यर्थ देख कर वह कामदेव देवों के द्वारा की जाने वाली पुष्प वृष्टि के छल से मानो आपके ऊपर बहुत से पुष्पमय बाणों को छोड़ रहा है—काम देव का एक नाम पंचदाग भी है, जिसका अर्थ पंच बाणों वाला होता है । ये बाण उसके लोहमय न होकर पुष्पमय माने जाते हैं । वह इन्हीं बाणों के द्वारा कितने ही अश्विदेवी प्राणियों को जीत कर उन्हें विषयासक्त किया करता है । प्रस्तुत गाथा में भगवान् ऋषभ जिनेन्द्र के ऊपर जो देवों के द्वारा पुष्पों की वर्षा की जा रही थी उस पर यह उत्प्रेक्षा की गई है कि वह पुष्प वर्षा नहीं है, किन्तु भगवान् को वश में करने के लिये जब उस कामदेव ने उनके ऊपर अपने पाँचों बाणों को चला दिया और फिर भी वे उसके वश में नहीं हो सके तब उसने मानो उनके ऊपर एक साथ बहुत से बाणों को छोड़ना प्रारम्भ कर दिया था ॥२८॥

एस जिणो परमप्पा णाणो अण्णाण सुणह मा वयणं ।

तुह दुंदही रसंतो कहइ व तिजयस्य मिलियस्स ॥२८॥

अर्थ—हे भगवन् ! शब्द करती हुई तुम्हारी भेरी तीनों लोकों के सम्मिलित प्राणियों को मानो यह कह रही थी कि हे भव्य जीवो ! यह जिनदेव ही ज्ञानी परमात्मा हैं, दूसरा कोई परमात्मा नहीं है; अतएव एक जिनेन्द्रदेव को छोड़ कर तुम लोग दूसरों के उपदेश को मत सुनो ॥२८॥

रविणो संतावयर ससिणो उण जडुयायरं देव ।

संतावजडत्तहरं तुज्झ च्चिय पडु पहावलयं ॥२९॥

अर्थ—हे देव ! सूर्य का प्रभामण्डल तो सताप को करने वाला है और चन्द्र का प्रभामण्डल जडता (जैत्य) को उत्पन्न करने वाला है । किन्तु हे प्रभो ! सताप और जडता (अज्ञानता) इन दोनों को दूर करने वाला प्रभामण्डल एक आपका ही है ॥२९॥

संदिरमहिजमाणंबरासिणिग्घोससंणिहा तुज्झ ।

वाणो सुहा ण अण्णा संसारविसस्स णासयरी ॥३०॥

अर्थ—मेरे पवंत के द्वारा मथे जाने वाले समृद्धकी ध्वनि के समान गम्भीर आप की उत्तम वाणी अमृत स्वरूप हो कर संसार रूप विष को नष्ट करने वाली है, इसको छोड़ कर और किसी की वाणी उस संसार विष को नष्ट नहीं कर सकती ।

अल्लोप पार्श्वनाथ-प्रासाद

(मुनि कान्तिसागर)

व्यक्तिस्वातंत्र्यमूलक श्रमण-संस्कृति की गरिमा की सर्वोपरि अभिव्यक्त करने वाले नामहृद-नागदा गिरण अरक्षित-उपेक्षित प्रासादों में अल्लोप पार्श्वनाथ का शिखरमण्डित मन्दिर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। राजमार्ग से ही दृष्टि आकृष्ट कर लेता है। लगभग एक सहस्र वर्ष से भी अधिक प्राचीन शिखर, भले ही कालिमावृत्त हो गया है पर इसकी विशालता उसके व्यतीत वैभव को व्यक्त कर रही है। नागदा और कैलाशपुरी के गण्यमान लेखयुक्त मन्दिरों में इसकी परिगणना की जाती है। यद्यपि यह समय-समय पर जीर्णोद्भूत होता रहा है तथापि इसकी मौलिकता अपना विशिष्ट महत्त्व रखती है इस स्वतन्त्र प्रासाद की अपेक्षा गुहा-प्रासाद कहना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। कारण कि इसके गर्भगृह की मयोजना किसी गुहा से कम नहीं। पुरातन काल में गुहा-मन्दिरों की ही परम्परा थी, वही मुनि वाम करते थे। भारतीय संस्कृति का विकास गुहा-संस्कृति से सम्बद्ध है। मेदपाट शिल्पियों ने इस कला में अद्भुत नैपुण्य प्राप्त किया था।

यों तो मन्दिर मात्र आध्यात्मिक साधना और उत्प्रेरणा का पावन केन्द्र होता है। पर जहाँ साधक आत्म-निरीक्षण के द्वारा प्रगति का प्रगल्भ पथ पाता है। पर जहाँ नैसर्गिक मुषमा है वहाँ वह मौस्क्रुतिक साधनों में और भी अतुल्य बल प्रदान करता है। कलाकार भी प्रकृति से समुज्ज्वल उपाशन ग्रहण कर नोदय की रचना करता है और अपनी सौदर्याभिव्यजक साधना में जगत् को भी सम्मिलित कर लेता है, लोकोत्तर-साधना और अन्तर्मुखीचित्तवृत्तियों के विकास में निष्ठापूर्वक जो गतिमान होता है उसे बाह्य-भौतिक वातावरण अधिक प्रभावित नहीं करता, परन्तु जो सामान्य कांति के लोग हैं उन्हें आत्म-साधना में बाह्योपादानों का सहारा लेना पड़ता है। अतः प्रकृति के प्रांगण में स्थापित देव भवनों

का बड़ा महत्त्व है। यहाँ के कण-कण में शताब्दियों के हास-विकास अविस्मरणीय का इतिवृत्त परिदर्शित होता है। किसी समय आत्मलक्षी, परकल्याणवांछु और समय-शील मनीषियों का यहाँ सतत निवास रहता था, प्रासाद के घण्टानादों से नागदा की उपत्यकाएँ लोकोत्तर स्वर लहरियों से गुँज गुँज उठती थी एवम् भारत के विभिन्न कोणों से आगत श्रद्धालु जन भावभीनी अर्पणांजलि समर्पित कर कृतकृत्य होते थे किन्तु आज स्थिति यह है कि चमगादड़ों चक्रमण करती हैं और यदाकदा हिंस्रपशु भी निर्भयता से विचरण करते हैं। आश्चर्य तो इस बात का है कि अहिंसा और संस्कृति के परमोन्मायक पार्श्वनाथ के स्थान पर कभी विश्वकल्याण का चिन्तन होता था, पर आज तो निमित्त इतिहास को रौंदने वाला भी कदाचित् ही भूले-भटकते पहुँच पाते हैं, नहीं कहा जा सकता उनमें से कितने पाषाणों पर बिखरी हुई स्वर्णिम इतिहास की मृपाठ्य रेखाओं को हृदयनेत्रों से पढ़-देख पाते हैं।

पद्म रावल या पार्श्वनाथ

अपेक्षित ज्ञान की अपूर्णता के कारण और पुरातन अवशेषों के प्रति निश्चित दृष्टिकोण के अभाव में भारत स्थापत्यावशेषों के साथ समुचित न्याय नहीं हो पाया है। ग्रामीण जनता द्वारा उनके साथ अनेक प्रकारके लौकिक आख्यायन जोड़ दिये जाते हैं। और क्रमशः उन पर जनश्रुतियों का इतना अवार चढ़ जाता है कि सत्य भी धूमिल हो जाता है। इसी से संस्कृति और सभ्यता के मुख्य को उज्ज्वल करने वाले प्रेरक कलात्मक प्रतीकों का वास्तविक इतिहास निर्मावृत्त रहा है। पाषाणों की वाचा रहित वाणी को आत्ममान् करना सभी के लिए सम्भव नहीं है। यहाँ की सदाम रेखाओं में शताब्दि-

अनेकान्त

यों का जो गौरव सुरक्षित रहा है उसे समझने के लिए अन्तर्दृष्टि चाहिए और संवेदनशील हृदय ।

अलोप पार्श्वनाथ का प्रासाद भी किंवदन्तियों के अम्बर से अनावृत नहीं है । जनता का विश्वास है कि आलोच्य मन्दिर पद्म रावल का है, जैसे खुमान देवरा, और ममीपवर्ती पद्मावती का मन्दिर, जिसे पद्म रावल की अर्द्धांगिनी का मन्दिर माना जाता है । ये दोनों स्मारक नागदा में हैं । ऐतिहासिक दृष्टि से यह विचारणीय है, किसी भी नरेश का स्मारक बनाने का जहां तक प्रश्न है, यह बात समझ में आती है, कि पर उनके नाम पर स्वतन्त्र प्रासाद बने हों और वह भी नागदा में । यह तो सर्वथा ही असम्भव है । पुष्ट प्रमाण के अभाव में इस जनश्रुति पर विश्वास नहीं किया जा सकता, कारण कि मन्दिर के सम्बन्ध में विशेष कुछ कहने की अपेक्षा यहां की शैलिपक शैली स्वयं बोलती है । स्थापत्य ही उसका इतिहास है । यद्यपि यह सत्य है कि मेदपाट के सिंहासन पर पद्मसिंह रावल हुआ है जो मधनमिह का उत्तराधिकारी था, इसी ने योराज को नागदे की कोतवाली सुप्रत की थी, मचमुच यदि उनका मन्दिर होता तो चौरवा-प्रशस्ति में उल्लेख अवश्य ही मिलता । उनकी रानी पद्मावती रही होगी, सच बात तो यह है कि प्रासाद पार्श्वनाथ का है और पद्मावती उनकी अधिष्ठाता है । प्रासाद की शिल्पकला और तथा उत्कीर्ण लेख भी उपयुक्त तथ्य का समर्थन करते हैं, दूसरी बात यह है कि यहां की मूर्तियाँ स्वयं अपने आपमें अकाट्य प्रमाण है । सं० ११६२ का लेख भी इसे जैन मन्दिर ही प्रमाणित करता है, पद्म रावल का अस्तित्व समय तेरहवीं गती है । तात्पर्य प्रासाद पर्याप्त पूर्ववर्ती है ।

प्रासाद-स्थान

नागदा से देवकुलपाटक-देलवाडा जाने वाले पुरातन राजमार्ग से कुछ ऊपर उपत्यकारी वर्णित प्रासाद अव-

स्थित है । विशाल गिरिशृंग से सटा है । यहां भी किसी समय सोपान थे । तोरण सहित सिंहद्वार भी था, किन्तु शताब्दियों के भूसलाधार जल प्रवाह के कारण इन सबका अस्तित्व विलीन हो गया । अवशिष्ट चिह्नों से से इसका सहज ही अनुमान होता है । गिरिशृंग की मुख्य जलधारा का पतन केन्द्र सौपान ही थे, पहाड़ी की तलहटी में निमित्त दोनों प्रासादों को भी पर्याप्त क्षति पहुँची है । यहां तक कि पद्मावती प्रासाद तो बहुत ही ढक गया है । गर्भ गृह का स्थानकिञ्चित् ही दृष्टि-शेष रहा है । यदि इसी प्रकार इस शिल्प वैभव के प्रति कुछ वर्षों तक उपेक्षा रही तो मन्दिर का उल्लेख केवल इतिहास के पृष्ठों में ही रह जायगा ।

प्रासाद का नव्य नामकरण

जैन स्तुतिपरक साहित्य में “नागहृद्देश्वर” पार्श्वनाथ का उल्लेख आता है और उसको लेकर दोनों सम्प्रदायों में कभी वाद भी चला था जिसका विस्तृत विवेचन यथा स्थान होगा, यहाँ तो केवल इतना ही संकेत अलम् होगा कि पुरातन जैन साहित्य और शिलोत्कीर्ण लेखों में पार्श्वनाथ के इस मन्दिर का उल्लेख पाया जाता है और समय-समय पर जो भी यात्री आये उनमें के कुछेकने अपने आगमन काल और उद्देश्य मन्दिर की भित्ति पर अंकित कर दिये हैं ।

मन्दिर की वर्तमान अवस्था पर विचार प्रकट करने के पूर्व प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इसका नाम “अलोप पार्श्वनाथ” कैसे पड़ा ? भगवान् शंकर और तीर्थंकरों में पार्श्वनाथ के अनेक नाम हैं, उनमें यह नव्य है । केवल यात्रियों के सकेतो में यह नाम पाया जाता है अनुमान है कि गर्भगृह में अन्धकार होने के कारण दिन को भी प्रतिमा अदृश्यवत् प्रतीत होती है इस लिए नामकरण भी वैसा ही कर दिया गया है, इस नामकरण का इतिहास १६ वीं शती से प्राचीन नहीं है, शिलोत्कीर्ण प्रशस्तियों में तो पार्श्वनाथ का ही सूचन है ।

प्रासाद की वर्तमान स्थिति

कभी-कभी प्रेरक भी स्वयं प्रेरणा का पात्र बन

1. श्रीपद्मसिंहभूपालो द्योगराजस्तलारता ।

नागहृद्देपुरे प्रायः पौरप्रीतिप्रदायकः ॥

—चौरवा प्रशस्ति

जाता है, यह प्रासाद इस का अपवाद नहीं, शिखर कालिमावृत्त है। क्षुप उत्पन्न हो गये हैं, सभा मण्डप के पाषाण खिसकने लगे हैं। भीतरी अंश भी जल धारा से प्रभावित है। गर्भगृह चमगादड़ों से परिपूर्ण है। कक्षासन की प्रतिमाएँ और मण्डावरीय मूर्तिएँ सरकाई जा चुकी हैं, सुन्दर पत्थर गिरने की स्थिति में हैं। तात्पर्य प्रत्येक दृष्टि से प्रासाद को क्षति पहुँचाने के सभी प्रयत्न साकार हुए हैं। बावजूद भी उसका अपना अस्तित्व है।

प्रवेशद्वार

प्रवीण स्थपतिको ने प्रासाद-प्रवेश द्वार को सवारने का पूरा प्रयत्न किया है। सौंदर्यमण्डित ऐसे द्वारों से न केवल व्यक्ति का सात्विक भावनाओं को ही बल मिलता है, अपितु, आराध्य के प्रति भी हादिक श्रद्धांजलि अर्पित करने को मन विकल हो उठता है। प्रवेशद्वारों पर खनिज आकृतियाँ आध्यात्मिक भाव मूर्ष्टि के साथ जनजीवन का भी उद्दीपन करती हैं। भारतीय कला की यही सर्वांगीण विशेषता है।

गुप्तकाल में वास्तु और मूर्तिकला उन्नति के चरम उत्कर्ष पर थी। उस युग के प्रवेशद्वार सौंदर्याभिव्यजन के साथ अन्तर्मुखी जीवन-विकास की ओर दिशा निर्देश करते हैं। तिगवा और देवगढ़ के द्वार इसके साक्षी हैं। उनकी कलाभिव्यक्ति अद्भुत है। यहाँ उल्लेखनीय है कि गुप्त या गुप्तपूर्वकाल से मध्यकाल तक के इस प्रकार के गुहा या मन्दिरों के द्वारों का क्रमिक विकास इतिहास शिल्प-स्थापत्यशास्त्र के प्रकाश में लिखा जाना चाहिए, ताकि विविध कलात्मक अलंकरणों की विकसित परम्परा का सम्यक् अध्ययन प्रस्तुत किया जा सके। मन्दिर और मूर्तिकला के विकासमान इतिवृत्त के समान इसका भी रोचक इतिहास कम उपादेय नहीं। स्वल्प अध्ययन से विदित हुआ कि प्राचीनतम शैलिक रचनाओं के सम्पूर्ण सिद्धान्तों का परिपालन सर्वत्र प्रासादों में दृष्टिगोचर नहीं होता। यह क्रम मध्यकाल और तदनन्तर भी प्रचलित रहा है। इसका एक मात्र कारण यही ज्ञात होता है कि मौलिक सिद्धान्तों की रक्षा करते हुए स्थ-

पतिको ने स्वतन्त्र कलोपकरणों का उन्मुक्त भाव से उपयोग कर प्रान्तीय या क्षेत्रगत शैलियों को सुरक्षित रखा है। राजस्थान के मध्यकालिक देवायतन के प्रवेशद्वार गुप्तयुगीन कलोपकरणों से सर्वथा अप्रभावित नहीं हैं। नागदा स्थित सास-बहू का मन्दिर और कैलाशपुरीस्थ लकुलीशप्रासाद और अशोक: कुम्भस्थाम गुप्तकला से प्रभावित होने के बावजूद भी उनमें अपना क्षेत्रगत निजत्व है।

वास्तुशास्त्र विज्ञों ने अपनी परिभाषा के अनुसार चार भागों में विभक्त किया है। उदुम्बर-ऊबरा-दहली दो पार्श्वस्तम्भ, उत्तरंग-सिरदल इन चतुरंगों को स्व-क्षमतानुसार सर्वत्र सजाने-संवारने का सद्प्रयत्न किया है। द्वारशाखा के निचले अंश में अर्द्धचक्राकार आकृति, दोनों गगारे, शंखावटी एवम् लतासह पद्मपत्रों का अंकन किया जाता था। कवि कालीदास ने उत्तर में इन शब्दों में उल्लेख किया है :—

द्वारोपात्ते लिखितवपुषो शंखपद्मो च दृष्ट्वा

दहली के तीन अंश कर, तद्मध्यवर्ती भाग में लता-युक्त कमल पंखुड़ियों का अर्द्धगोलाकार तक्षण करने का विधान रहा है, शिल्पी परिभाषा में इसे मन्दारक कहते हैं।

पार्श्वस्तम्भों के तीन भागों को छोड़ कर एक भाग के उदय में दोनों ओर द्वारपाल बनाने का विधान है। शेष स्तम्भ शाखा बनानी चाहिए। इन शाखाओं को कलाकार अपनी कलाओं द्वारा सजाते-सवारते थे। इनका क्रम प्रासाद अगानुसार रहता था।

उत्तरंग अथवा मिरदल भी द्वारका महत्वपूर्ण अंग है, इसके मध्य में गर्भगृह स्थापित प्रतिमा का बिम्ब रहता है, जैन मन्दिरों में इसका सर्वत्र परिपालन दृष्टि-

1— द्वारद्वयै चतुर्थांश द्वारपालो विधीयते।

स्तम्भ शाखादिकं शेष त्रिशाला च विभाजयेत् ॥६२

—प्रासादमण्डन, अध्याय ३

2— यस्य देवस्य या मूर्तिः सैव कार्योत्तरंगे।

शाखायां च परिवारो गणेशश्चोत्तरंगे ॥६३॥

—प्रासादमण्डन, अध्याय ३

गत होता है, हर जैनेतर प्रासादों में कहीं-कहीं केवल गगेशप्रतिमा ही स्थापित कर सन्तोष कर लिया जाता है, उत्तरग के उभयपार्श्व में गवाक्ष आदि भी दृष्टिगोचर होते हैं, ऐसे अनेक द्वार इस क्षेत्र की विशिष्ट उपलब्धि है।

प्रामाद-द्वारपालों के समीप ही दोनों ओर क्रमशः मकरवाहिनी गंगा और कच्छपवाहिनी यमुना की प्रतिमा स्थापित की जाती है। वावाटकवश के मन्दिरों में तो प्रायः सर्वत्र इसका परिपालन किया गया है, कारण कि वावाटक न केवल गंगाप्रेमी ही थे, अपितु, उनके शत्रुओं को परास्त कर गंगाप्रदेश पर आधिपत्य स्थापित किया था, हिन्दूकर्मकाण्डमूलक रचनाओं में द्वारगुजन के प्रसंग में दक्षिणशाखा में गंगा और वाम शाखा में यमुना को स्थापित करने का समर्थन है। बिना किसी साम्प्रदायिक भेदभाव के कैलाशपुरी और नागदा के समस्त मन्दिरों में इसका अस्तित्व है।

नागहृद-नागदा के पार्श्वनाथ मंदिर का प्रवेशद्वार ६ फुट ऊँचा और ५ फुट १ इंच चौड़ा है, उदम्बर, शखा-वटी मकरवक्त्र, द्वारपाल, नृत्यरता नारी आदि का पारम्परिक अंकन के साथ आभ्रानुम्बमहिम देवी प्रतिमा है जिसकी बायीं गोद में एक बालक है, यह अम्बिका की प्रतिमा है। दाहिनी ओर इसी स्थान में गोमेद यक्ष है। इसके बायें हाथ में वज्र तथा एक हाथ में विज्रीण एवम् शेष खण्डित है।

पार्श्वनाथ की अधिष्ठाता तो पद्मावती देवी है और अधिष्ठाता धरणिन्द्र। अम्बिका तो नेमिनाथ की अधिष्ठाता है, मंदिर पार्श्वनाथ का है, यह विषमता कैसी? महंगा प्रश्न उठता है। यहाँ स्पष्ट करना आवश्यक है कि मूर्ति-विधान शास्त्रों का यह नियम सर्वत्र परिपालित नहीं है कि जिस तीर्थंकर का मन्दिर हो उसी के अधिष्ठाता अधिष्ठाता के विम्ब द्वार के पास स्थापित करने चाहिए। प्राचीन अनेक ऋणभेदों की प्रतिभाएं मिली हैं जिनमें चक्रेश्वरी के स्थान पर अम्बा ही मिलती है, अम्बिका की विशिष्ट सामान्यताओं के कारण ही ऐसा किया गया प्रतीत होता है। मूर्तिविधानशास्त्र के प्रकाश में प्रतिमाओं

के अध्ययन में कभी-कभी अनुभव के अभाव में ऐसी विषमताओं का सामना करना पड़ता है।

रूपशाखाओं का अंकन बहुत ही सामान्य है, लला विम्बों में पार्श्वनाथ का रूप है। शृंगार चौकी सामान्य है। लगभग यह अंश ११ फुट लम्बा चौड़ा है, सकाल प्रस्तर संयोजना से विदित होता है कि वह जीर्णोद्भूत है शैलिक वेषमय भी है। मध्य में जैन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ, सश्रद्धानु विद्यमान हैं नृत्य के अनेक प्रसंगों का आलेखन आकर्षक है। कक्षासन लगभग सभी गिर चुके थे जिन्हें श्री एकलिंगजी पुरातत्व संग्रहालय के लिए सुरक्षित करवा लिया है, इनमें त्रिमूर्तियों का सुन्दर अंकन है। प्राग्मण्डप में एक भव्यक कमलाकृति है जिसके अधो भाग में यह लेख खुदा है:—

१ सिद्धी श्री सबत् १७२५ वर्षे

२ श्री मूलसंगे (घे) श्री पारस्व

३ नाथ चेत्यालये पण्डित थान

४ सिंह कमल कीथा

सभामण्डप

मण्डपों की परम्परा के बीच वैदिक यज्ञयाग के मण्डपों में सम्बद्ध है। कालान्तर में आवश्यकतानुसार परिवर्तन किये जा रहे। पौराणिक साहित्य और नाटकों में इसकी सामग्री सुरक्षित है, गुप्त युग में यह विकास की सीमा पर थी। मध्यकालिक शिल्पियों ने अनुकूल परिवर्तन कर माज-मज्जा में उल्लेखनीय अभिवृद्धि की है। शैलिक नियमों का परिपालन करते हुए मण्डपों में उन-उन सम्प्रदायों के पौराणिक प्रसंगों का तक्षण होने लगा था। वाद्ययन्त्रमहिम नृत्यागनाएँ, विद्याधर गजतानु रूपकण्ठ आदि स्थानों के मौदय की प्रतिष्ठा कर धार्मिक भावों को उद्दीपित किया है।

पार्श्वनाथ मन्दिर में सभा मण्डपों की लम्बाई अन्तर्गल महिम गभंगृहद्वार में शृंगार चौकी के अंश को छोड़ कर २७ फुट है और चौड़ाई पूर्व से पश्चिम २३ फुट २ इंच। १६ स्तम्भ सामान्य है। आठ पर तो अश्वारूढा महिलाएँ हैं। सभी के कर में चक्र है। गतिमान अश्वों

का तक्षण अत्यन्त भव्य है। नृत्यमण्डप में नर्तकियों का अंकन अनिवार्य माना गया है सूचित प्रासाद इसका अपवाद नहीं। “गीत वाद्य तथा नृत्य संगीतत्रयमुच्यते” के भाव ये सुन्दरिया साकार किए हैं। वितानकी शालभंजिकाएँ अब नहीं रही।

भित्ति पर पर्यटक संकेत

सभामण्डप त्रिद्विक् खुला है। दीवारों पर पलस्तर कर मेवाड शैली के चित्र अंकित किए हैं, शेष स्थानों में पर्यटकों के संकेत हैं इतिहास की दृष्टि से इनकी उपयोगिता है अतः इन्हें उद्धृत करना आवश्यक है :—

१ संवत् १६५० वर्षे ज्येष्ठ सुदि ८ भौमे गांधर्व ठा० बिहारीदास सा० जी दोसी मानसिग लक्ष्मीचंद सराडा ए सहसार्थी भट्टारक श्री क्षेमचन्द्र सार्थी श्री नागदा पारस्वसनाथ जात्रा सफल कीधी

२ महाराजाधिराज महाराणा श्री अमरसिंह जी, संवत् १७५० चैत बदी १ ए पंचौली गंधर्व सुन्दर जी रामचन्द्र गंधर्व पारसनाथ जी जात्रा कीधी ।

३ ... सुतार गाजी जी एत बेटा टीला राज श्री उदेपुर जात पूरव्या देहरे काम करी जात्रा गया, सुतार नान जी को श्री राणा राज सिध जी ॥ कुवर जेसिध जी ... सोवन की पालखी प्रते लि पेथा ॥

४ संवत् सिध श्री अलोपपारस्वसनाथ जी रा देवरा कमाई भेटवा पुर ले जी करावी आने नवलषागोत्रे बाई जी श्री मेणकबाई जी करावीआ संवत् १७१३ वर्षे आषाढ़ वद ७ सुतरगा जी जसतर ... कीधुं ।

५ संवत् १७६४ वर्षे माहमासे कृष्णपक्षे तिथौ - गुरुवासरे पारसनाथजीकी जात्रा सफल की थी, श्री विजयगच्छे महर्षि . . . सौभाग्यसागर सूरि जी रिषि रूपजी रिषि हेभा . . . आदीया

रिषि बलदेव ... रिषि धेप्रानन्द जी ।

६ संवत् १७६६ वर्षे फागण सुदि ५ बुधवासरे श्रीचंद्रगच्छे ठाणे आठसुं रिषि छीतरजी ज्ञान जी भाणौजी गिरधर जी सुन्दर जी लाभानन्द जी षडगोजी वेमोजी अतरा ठाणे आतरा अलोप पारसनाथ जी री सफल, मोना भेद भणें जैन चीतोडारा पाप, वांचे जिणे बदना धर्मलाभ ।

७ संवत् १७६६ वर्षे मागसर वदि ६ दस्ये गुरु लालचन्द देवचन्द गुलाब चन्द मयाचन्द फूलजी पुस्त बलोप पारसनाथ जी जात्रा सामल कीधी ... ।

८ संवत् १७७३ प्रवर्तमाने चैत्रमासे कृष्णपक्षे एकादशी बुधवासरे भट्टारक श्री १०८ विश्वभूषणस्तत्पट्टे भट्टारक श्री १०५ सुरेन्द्र भूषण त० शिष्येण ब्र० कपूरचन्द्रण ।

९ संवत् १७६८ वर्षे पीप वदि १ दिने भ० श्री जिनहर्षसूरी जी लषित महामहोपाध्याय श्री हीरसागर गणि धेमचन्द्र जी जात्रा कीधी ।

इन संकेतों के अतिरिक्त बिना काल के भी अनेक लेख हैं ।

स्तम्भ लेख

गर्भगृह मन्मुख एक स्तम्भ पर त्रिमूर्ति पद्मामन और खड्गामन में उत्कीर्णित हैं, प्रतिमाएँ अनावत हैं। कोणों में दो लेख खुदे हैं, पठिताय इस प्रकार हैं :-

: १ :

१ ॥ ५० ॥ स्वस्ति श्रीमूलसंघेजनि नंदि

२ संघे तस्मिन् बलात्कारगणेति रम्ये

३ तत्रैदभापूर्वपदांश बेदि श्री माघनंदि

४ नरदेववद्ये श्री अनन्तकीर्तिदेया ... द्विरी प

५ दे काका ... पितृ सा० भीमा पुत्र

६ लेबु टाली ... पुत्र मोहन पासा

७ ताल्हण भ वाला जाला ...

अनकान्त

- ८ लोकदे ... पु० भीभिणि बेटो
 ९ उसीनां शुभं भवतु गुरु ...
 १० सघई भीमा अगिवाण ...
 ११ हु॥ पुनु सं १४३६ व
 १२ र्वे ज्येष्ठ वदि ११ वारु शुक्रे

: २ :

- १ ॥ ५० ॥ स्वस्ति श्री देवकीर्तिदेवः
 २ निषेदिका ण
 ३ ... पणमति
 ४ सा० राडू भार्या ... का
 ५ राज ... मति ... आता
 ६ ...
 ७ ... श्री ग्रहवसव
 ८ सं० १४३६ वर्षे
 ९ ...

इन दो लेखों के अतिरिक्त इसी स्तम्भ के पूर्वाभिमुख अंश में दम्पति युगल है, ऊपर नीचे दो लेख भी खुदे हैं, दूसरा स्तम्भ सयुक्त होने से उन्हें सम्भव नहीं पर लेखों का सम्बन्ध दिगम्बर सम्प्रदाय से है

गर्भगृहद्वार और गर्भगृह

गर्भगृह देवभवन का महत्वपूर्ण भाग होता है। इसी में आराध्य का आवास रहता है, मंदिर का गर्भगृहद्वार ६ फुट ऊंचा और ३ फुट चौड़ा है, सोपेक्षतः इसका मदारक, कीर्तिमुख और शंखावटी सुन्दर है, द्वार इस क्षेत्र की परम्परा के अनुसार नहीं है। सज्जा का अभाव है। दोनों ओर अधः भाग में अन्योपकरणों के साथ धरोण्ड और पद्मावती का अंकन है। साथ ही यहाँ भी अम्बिका अनुप्रेक्षणीय रही है, अग्रिम भाग में दो ताक मूर्तिसूच्य है, यहाँ भी एक विस्तृत लेख के दर्शन हुए परन्तु उन पर चूने की ऐसी गहरी पुताई हो गई है कि पर्याप्त सफाई के बाद भी पाठ अपठनीय ही रहा।

गर्भगृह की लम्बाई-चौड़ाई क्रमशः ८ फुट ६ इंच और ११ फुट ७ इंच है। त ३-३ फुट ऊंची और चौड़ी सुन्दर कलापूर्ण वेदिका उपत्यका के मूल में निमित्त है

३ आले भी बने हुए हैं, पार्श्ववर्ती स्तम्भों पर खड्गासनस्थ जिन प्रतिमाओं का अंकन है। इस प्रासाद को नव्योपलब्धि में इस शिलालेख को मानता हूँ जिसमें भगवान पार्श्वनाथ के जीवन सम्बन्धी मुख्य घटनायें उत्कीर्णित हैं, कमठोपसर्ग का सफल अंकन तो उस समय की पूर्ण स्थिति का तादृश रूप खड़ा कर देता है, प्रसन्नता है कि इस पर सं० ११६० अंकित है, पुरातत्त्व और कला-समन्वित इस अंश का विशिष्ट महत्व है। यह शिला मूलभाग के ऊपर के भाग में खड़ी है, लेख ६ पंक्ति का है, पर भीतरी अंधकार के कारण उसे पढ़ना असम्भव ही है, निरंतर वर्षाकालिक जलसे वह बहुत प्रभावित हुआ है। इसमें तक्षित प्रतिमाओं पर किरीट-मुकुट इस बात का परिचायक है कि नागदा वंशव सस्कृति का केन्द्र रहा है और कृष्ण के मस्तक की शोभा किरीट ही अभिवृद्ध करता रहा है, इसका प्रभाव जैन मूर्तियों पर भी पड़ना स्वाभाविक है।

सं० ११६२ वर्षे चैत्र वदि ४ रवौ देवश्रीपार्श्वनाथ श्रीसकलसघशाचार्यचन्द्रभार्या ... ॥

कृष्णवर्णीय शिला पर यह लेख भी अंकित है :—

सं० १३५६ वर्षे श्रावण वदि १३ णारेसा तेजल सुत ।

संघपति पासदेव सघसमस्त ... साहइत श्री-पासनाथ ।

दोनों लेखों से कोई विशेष ऐतिह्य प्रकट नहीं होता।

गर्भगृह में सुरक्षा की दृष्टि से ऊपर की ओर पक्का पलस्तर है। दो विद्याल आलों में जिनबिम्ब रहने की सम्भावना की जा सकती है। ऊपर की ओर सुरंग समान एक ऐसा स्थान बना है जिसके आगे शिला जड़ दी जाय तो गुप्त भण्डार का रूप ले सकता है, यह ८ फुट लम्बा है पुराने मन्दिरों में ऐसे गुप्त भण्डार विपत्ति से बचने के लिए बनवाये जाते थे।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि महापुरुष या जिन-प्रतिमाओं का दीवार से सलग्न स्थापित न किया जाना

चाहिए^१ यह स्थान इसका अपवाद है। गुहा-चैत्य के कारण ही ऐसा हुआ जान पड़ता है।

प्रस्तुत गुहा-चैत्य में स्थापित प्रतिमा दक्षिणाभिमुखी है शिल्पशास्त्र का नियम :—

प्रतिमा दक्षिणाभिमुखी है। जब कि शास्त्रीय नियम यह है कि गणेश, भैरव, चण्डी, नकुलीश, नवगृह और मातृकाओं की प्रतिमाएं ही दक्षिणाभिमुखी होनी चाहिए^२, जैन प्रतिमा भी इनका अपवाद^३ नहीं है। अनेक जैन मन्दिर इस प्रकार के पाये गये हैं।

मन्दिर का बाह्य भाग

इसकी संयोजना देवकुलपाठक-देलवाडा के पुरातन राजमार्ग पर दाणुचौतरे के समीप की समतल भूमि पर की गई है। एक ही भित्ति दोनों को अलग करती है। दुर्ग मद्दश स्थान से दो वृत्ताकार बुर्जों में से एक का चिह्न आज भी विद्यमान है। असम्भव नहीं यहाँ मान-स्तम्भ की स्थापना रही हो। मन्दिर का बाह्य भाग बहुत कुछ अंशों में मूर्ति विहीन बना दिया है। सौंदर्याभिव्यंजक ग्रामपट्टी के उपरान्त सर्वत्र देवीमूर्तिया स्थापित है। पत्थर की क्षरणाशीलता के कारण पण्डी उतर जाने से बहुत सी प्रतिमाओं के आयुध नष्ट हो गये हैं। प्रत्येक प्रतिमा का स्वतन्त्र परिचय देने की अपेक्षा विहगालोकन ही पर्याप्त होगा :—

प्रतिमाओं का संकेत प्रवेशद्वार में दाहिनी ओर से प्रारम्भ किया जाता है : -

- १ चतुर्भुज, आयुधक्रम कमल, कमल, माला, बीजपूरक,
 - २ " " कमल, गदा, वरद, बिजौरा
 - ३ " " सर्प, वरद, बीजपूरक ?
- इसका उदर चामुण्डावत् ।

१. भित्तिसंलग्गबिम्ब उत्तमपुरिम सव्वहा अमुह
— ठक्कुर फेरु वत्थुसार पयरग, पृष्ठ १२६।
२. बिध्नेशो भैरवश्चण्डी नकुलीशो ग्रहाम्न्था।
मातरो घनदश्चैव दक्षिणादिदमुखाः (१) ॥३६॥
३. प्रसादमण्डन, अध्याय २।

- ४ " " कमल, कमल, वरद, बिजौरा,
 - ५ " " पुस्तक, कमल, वरद, बिजौरा,
 - ६ " " गदा, गदा, वरद, बीजपूरक,
 - ७ " " कमल, पुस्तक, वरद, बीजपूरक,
 - ८ " " कम, वर, कमल, बिजौरा,
 - ९ " " कमल, वर, कमल, बिजौरा,
- १० सभी कुछ तथैव

प्रवेशद्वार के बायी ओर से प्रतिमाओं का संकेत :—

- १ ऊपर के दो करो में वृत्ताकार वस्तु, वरद, बिजौरा,
- २ कमल, वरद, कमल, बीजपूरक,
- ३ सर्प, वरद, सर्प बिजौरा, इसकी उदरस्थ नसे स्पष्ट दिखती हैं।
- ४ चक्र, वर, चक्र, बिजौरा,
- ५ कमल, वर, कमल, बिजौरा,
- ६ तथैव
- ७ "
- ८, ९, १० मिट्टी जम जाने से अस्पष्ट

इन मूर्तियों की पक्ति के ऊपर भी किंचित् विशाल प्रतिमाएँ हैं, इनमें से भी स्वल्प ही शेष रह सकी हैं :—

- १ स्थान रिक्त
- २ दाहिने ऊपर के हाथ में तू बी की वीणा, बाँये में ताड-पत्राकार पुस्तक, दाँये में दाहिने नीचे के हाथ में माला और बाँये में कमण्डलु, सरस्वती की यह सुन्दर प्रतिमा स्थान व्युत्त तो कर दी गई है,

- ३-४ विनुप्त
- ५ दक्षिणाभिमुख कीमा पर स्थापित प्रतिमा के दोनों ऊपर के हाथों में अर्द्धवृत्ताकार संकल धारें हैं, शेष में माला और कमण्डलु है, मकर

- ६ रिक्त
- ७ चक्र, खण्डित, चक्र, कमण्डलु,
- ८ कम, वर, कमल, बिजौरा,
- ९ रिक्त

- १० सर्प, वर, सर्प अस्पष्ट, चरण के समीप मृग,
प्रवेशद्वार के बाँये भाग की प्रतिमाएँ इस प्रकार हैं :—

१ से ५ स्थान रिक्त

६ पाश, अंकुश, माला, खण्डित,

७ कम, वर, कमल, कमण्डलु,

८ रिक्त

९ त्रिशूल, खण्डित, माला, खण्डित,

१० रिक्त

इन प्रतिमाओं के ऊपर कक्षासन के बाहरी अंगों में प्रक्षिप्त थी, अब नहीं हैं।

शिखर

भारतीय प्रासाद निर्माणकला में शिखर का विशिष्ट स्थान है। छज्जे के ऊपर इसका प्रारम्भ होता है। शृंग शिखर की विविध अभिव्यक्ति का माध्यम है। प्रत्युत कहना यह चाहिए कि शृंगों के आधार पर ही शिखर का ठाठ बनता है। प्रासादों के विविध नामकरण इन्हीं पर आधारित है। कैलाशपुरी और नागदा में मध्यकालिक शिखर अध्ययन की नव्य दिशा प्रस्तुत करते हैं। शिखर शिव-लिंग का रूप माना गया है। शिल्पशास्त्रीय विकासात्मक परम्परा के परिप्रेक्ष्य में शिखरों के कमबद्ध और तुलना-त्मक अध्ययन नहीं किया गया है। विवेच्य मन्दिर का शिखर कला की दृष्टि से बहुत सुन्दर और आकर्षक तो नहीं है तथापि परम्परा की अपेक्षा से नव्यस सूत्र तो देता ही है। त्रिदक् त्रिमूर्तियों का सपरिस्तर खनन है। तीन उक्तशृंगों में लघु तीन-तीन शृंग निमित्त है। ऊपर कोणों में छः छः हैं। प्रत्येक में पुष्पाकृतियाँ तक्षित हैं। दक्षिण में द्वार है।

प्रासाद पीठ पर लकुलीश मन्दिर का अनुकरण दृष्टिगोचर होता है। तमालपत्रिका आसंप्रति आदि उसीके अनुरूप है। छाद्य के अद्यो भाग में तीनों और प्रतिमाएं विद्यमान हैं, इनमें कतिपय तो तीर्थकरों की और शेष त्यागमय जीवन की ओर संकेत करती हैं। निम्नमूर्ति ये प्रतिमाएं सुरक्षित और अखण्ड हैं। इनमें कीर्ति प्रतिमाएं यहां आश्चर्य उत्पन्न करती हैं।

पद्मावती-प्रासाद

जैन संस्कृति त्याग प्रधान रही है। ऐहिकता को

उसमें अवकाश नहीं। आत्म-दर्शन ही उसका काम्य है। समाजमूलक अध्यात्मवाद उसकी मौलिक विशेषता है। इन सब बातों के बावजूद भी कालान्तर में सर्वथा वैदिक धर्म और परम्परा में अपने अमंथित न रख सकी। तान्त्रिक विधानों ने इसमें प्रवेश कर ही लिया। देव-देवियों के विशद् परिवार की कल्पना इसी की परिणति है। आचारदिनकर, निर्वाणकालिका आदि कृतियाँ इन पक्षियों के समर्थन में उपस्थित की जा सकती हैं। तीर्थ-करों के अधिष्ठाता और अधिष्ठातृओं की केवल कल्पना ही नहीं की, अपितु उनके परिस्तर में भी इन्हें समुचित स्थान मिला। बाद में एतद्विषयक शास्त्रों की स्व-तन्त्र-रचना भी आवश्यक मानी गई। सोलह विद्यादेवियाँ, यक्षिणियाँ तान्त्रिक प्रभाव का ही परिणाम हैं। यद्यपि इन्हें वहाँ समकित्ती मान कर अपनाया गया है। तात्पर्य कि जैन संस्कृति में अपने ढंग से तन्त्रवाद प्रविष्ट हो गया और समर्थ जैनाचार्यों ने भी इसका विरोध नहीं किया, परिणामतः शक्तिपूजा ने अपनी जड़ ऐसी जमाई कि आज भी उसका अस्तित्व सर्वत्र है। देवियों के स्वतन्त्र बिम्ब और प्रासाद भी बनने लगे, पद्मावती प्रासाद भी उसी परम्परा की एक सबल कड़ी है।

जैन शान्तिपूजा की स्मृति रूप पद्मावती का स्वतन्त्र प्रासाद साधना का केन्द्र था। अवगहपुगाण, नारदीय-पुगाण और रुद्रयामल में पद्मावती का उल्लेख आता है, पर सूचित पद्मावती इससे भिन्न है।

अभग-परम्परा प्रचलित अर्चनपद्धति और प्रतिमा-विधानानुसार इनकी सुन्दर प्रतिमाएं प्रभूत परिमाण में उपलब्ध हैं। दोनों सम्प्रदायों में वह समान भावेन पूज्या है। वाहन और आयुधों में किंचित् परिवर्तन अवश्य है, यह विषमता तो वैदिक शक्तिरूपों में भी परिलक्षित होती है।

सूचित मन्दिर के उत्तर में उमी क्षेत्रफल में अधि-ष्ठातृका प्रासाद निमित्त है। दशा आठ बहुत ही दयनीय हैं। उपत्यका में पतित मूर्तिका का सबसे अधिक प्रभाव इसी मन्दिर पर पड़ा है, यहां तक कि इसका गर्भगृह ऐसा दब गया है कि मानों समतल भूमि ही हो, यह मण्डप मेदर

और सूक्ष्मकोरणी का परिचायक है। शिखर के कोणों में प्रतिमाएँ हैं जो पद्यावती का सफल प्रतिनिधित्व करती हैं।

मानस्तम्भ

मन्दिर के अग्रभाग में विशाल स्तम्भ स्थापित करने की परम्परा रही है। इसे मानस्तम्भ की संज्ञा में अभिहित किया जाता है। स्मरणीय है कि भारतीय नलितकला के इतिहास में स्तम्भ अनुपेक्षणीय नहीं रहे। यजमण्डपों में व्यवहृत स्तम्भों का ही विकास शिल्पकृतियों में हुआ है। यों तो मुख्यतः शब्द में वितानाधार का ही बोध होता है, पर शिल्पशास्त्रज्ञों ने इसके अनेक प्रकार बनाकर उनकी वैज्ञानिकता पर विशद प्रकाश डाला है। उनकी उपयोगिता सर्वव्यापक रही है। मौर्यकाल में वास्तुकला में सम्बद्ध उपलब्ध स्तम्भों में प्रमाणित है कि उनका निर्माण धार्मिक परिवेश में हुआ था। गुप्तकाल में उस कला ने योग भी विकास किया, मानमार और बृहत्संहिता जैसे सुप्रसिद्ध ग्रन्थों में इनके भेद-प्रभेदों की चर्चा है। वीति-स्तम्भ, गरुडस्तम्भ, विजयस्तम्भ। स्मारक स्तम्भ और मानस्तम्भ आदि के रूप में स्तम्भों ने अपनी विकास यात्रा की है।

धर्मस्तम्भों में गरुडध्वज विशेष महत्त्व रखता है। विष्णु प्रामादों के सम्मुख यह खड़ा किया जाता था और इसके सर्वोच्च भाग में गरुड की प्रतिमा बैठाई जाती थी, ऐसे स्तम्भों का दलन गुप्त मुद्राओं में हुआ था, अब विष्णु मन्दिरों के सभा मण्डपों में गरुड की स्थापना की जाती है या सम्मुख स्वतन्त्र मण्डप बनाया जाता है। कैलाशपुरी में ऐसा स्वतन्त्र मण्डप कुम्भकर्ण ने बनवाया था।

जैन तीर्थंकरों की मनायात्रा के सर्वप्र भाग में “इन्द्रध्वज” की व्यवस्था रहती थी। सम्भव है इसी का अनुकरण दिगम्बर जैनो ने किया हो। इसमें सशोचन इतना ही किया है कि मानस्तम्भ का ऊपरी अंश में चतुर्मुख-मवंताभट्ट-जिनप्रतिमाएँ स्थापित रहती थीं, नागदा के महातीर्थ पाठ्वनाथ मन्दिर के अग्रे भी विशाल मानस्तम्भ का अस्तित्व था जैसा कि उसके दिग्बर

अवशेषों से सिद्ध है। इसका सर्वोच्च भाग तो आज भी पार्कालग जी के पुराने मण्डप की गोभावृद्धि कर रहा है।

प्राचीन उल्लेख

नागहृद्देव्वर पाठ्वनाथ महा तीर्थ का प्राचीनत्व तथोक्तलिखित लेखों में स्पष्ट है। परन्तु इसके साहित्यिक उल्लेख १३ वीं शती के पूर्व के नहीं मिलते। क्या इस काल में उपेक्षित रहा? क्या कहा जा सकता है? जैन साहित्य में आचार्य मदनकीर्ति ने सर्वप्रथम इसका उल्लेख अपनी चतुर्विंशिका में इस प्रकार किया है :—

खण्डेति द्विजनामकेहंरिरिति प्रोदगीयते वेषणं
बौद्धं बृद्धं इति प्रमोद विवशः शूलोतिमाहेस्वरः
कुष्टानिष्ट-बिनाशयोजनदशां यो लक्ष्यमूर्तिविभुः
स श्रीनागहृद्देव्वरो जिनपति विग्वाससां शासनम्

१५वीं शती के उदयकीर्ति ने भी अपनी निर्वाण-भक्ति में इस प्रकार उल्लेख किया है :—

नागहृद् परसु सयभुदेउ हउं बवउं जसु गुण
पत्थि छेव

परन्तु दिगम्बर जैन विद्वानों ने नागहृद् का मध्यप्रदेश का नागदा मान लिया था, जब उस प्रामाद-प्राप्ति की सूचना मैंने प० परमानन्द जी को दी तो वे प्रसन्न हुए और उपयुक्त उद्धरण लिख भेजे।

उसी प्रकार श्वेताम्बर जैन साहित्य में भी नागदा के पाठ्वनाथ तीर्थ का संकेत है, पर वह भी प्राचीन नहीं है, इस पर अल्पत्र विचार किया गया है।

स० १००६ के विध्यवन्ती विजोलिया के शिलोत्कीर्ण

। आचार्य मदनकीर्ति विद्वद्रूपेण ग्रन्थकार और विशाल-कीर्ति के शिष्य थे। स० १४०५ में राजेश्वरमूर्ति दाग प्रणीत प्रबन्धकोश में उनका विगत परिचय दिया हुआ है। इनका अनुमित समय वि० स० १२६३ ई। विशेष के लिए दृष्टव्य :—

—प० दरबारीलाल जी जैन, चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ ८०३,

लेख में नागहृदीय पार्श्वजिनेश्वर का उल्लेख^१ है।

अद्यतनोल्लेख

डा० भाण्डार करने नागदा के अवशेषों का वर्णन आर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ़ इंडिया १९०५-६ के वार्षिक वृत्तान्त में किया है। इसके आधार पर ब्रह्मचारी शीतल-प्रासाद जी ने उल्लेख किया है कि:—

“एकलिंग जी की पहाड़ी के नीचे एक मन्दिर जैनियों का पद्मावती के नाम से है। भीतर छोटे मन्दिर हैं। दाहिनी तरफ चौमुखी मूर्ति है शेष खाली है। लेख सं० १३५३ और १३६१ के हैं यहाँ पार्श्वनाथ की मूर्ति होनी चाहिए। यह दिगम्बर जैनों का है। मण्डप में एक मूर्ति श्वेताम्बर रखी है जो किन्हीं अन्यत्र स्थान से लाई गई है। इस पर राजा कुम्भकर्ण का खरतरगच्छ का लेख है। एक वेदी पर पाषाण है जिसके मध्य में एक ध्यानाकार जिन मूर्ति हैं। ऊपर अगल-बगल शेष तीर्थंकरों की मूर्तियाँ^२ हैं।”

उद्धरण का पद्मावती मन्दिर पास ही बना है। यहाँ तीन मन्दिरों का प्रश्न ही नहीं उठता, उपर्युक्त वर्णन पार्श्वनाथ मन्दिर पर चरितार्थ होता है, कारण कि इसके गर्भ-गृह में दोनों और के विशाल आलो में संभवतः उन दिनों प्रतिमाएं रही हों। जिस चौमुखी प्रतिमा का संकेत है वह तो मानस्तम्भ का ही उच्च भाग है। कुम्भकर्ण की लेखवाली प्रतिमा आज उदयपुर के राजकीय पुरातत्व संग्रहालय में

विद्यमान^३ है। आज तक दिगम्बर विद्वान इस मन्दिर के अस्तित्व स्थान के सम्बन्ध में संदिग्ध ही थे।

मुनि श्री हिमाशुविजय जी ने भी इस प्रासाद को देखा था, परन्तु वह साम्प्रदायिक अभिनिवेश वश इसके साथ न्याय न कर सके, आपने इसे श्वेताम्बर प्रासाद स्थापित करने का विफल प्रयास किया^४, इनके गुरु इतिहास प्रेमी मुनि विद्या^५ विजय जी ने मेवाड़ की यात्रा में इसका तो क्या अदबद् जी के अतिरिक्त किसी भी जैन मंदिर का उल्लेख ही नहीं किया, एक कलाप्रेमी और शोधक की दृष्टि से केवल यह मंदिर ओझल रहा, यह बात नहीं है आपने तो अदबद् जी के समीपवर्ती मोकल से भी पूर्व के दो कलापूर्ण मंदिरों का भी संकेत नहीं किया है। यह बड़े खेद की बात है कि शोधक भी साम्प्रदायिक क्षुद्रता का परित्याग नहीं कर पाते।

निर्माण काल

यद्यपि तीर्थ स्थापनकाल पर विस्तार से “आचार्य समुद्रसूरि और पार्श्वनाथ तीर्थ” शीर्षक में विचार किया गया है, यहाँ संक्षेप में प्रासंगिक रूप से ही संकेत करना अलम् होगा। यहाँ पर उत्कीर्णित लेखों से ऐसा कोई स्पष्ट संकेत उपलब्ध नहीं जो इस समस्या को समाधान का रूप दे सके। यद्यपि १६ वीं सती के प्रभावशाली आचार्य मुनि सुन्दरसूरि ने, अपनी गुर्वावली में उल्लेख किया है कि मौर्य सम्राट् सम्प्रति ने नागहृद में मंदिर बनवाया था, परन्तु इस कथन की पुष्टि में आज तक कोई अकाट्य प्रमाण उपलब्ध नहीं हो सका है, सच बात तो

१. लेख इस प्रकार अंकित है —

१ श्रीनागहृदपुरे राणा श्री कुम्भकर्ण राज्ये

२ श्री आदिनाथ विबस्य परिकरः कारितः

३ प्रतिष्ठितः श्री खरतरगच्छे श्रीमतिवर्द्धनसूरि

४ भिः । उत्कीर्णवान् सूत्रधार धरणाकेन । श्री ।।
धरणा सूत्रधार के लिए दृष्टव्य” कुम्भश्याम प्रासाद ।”

१. तदा नागहृदेयक्षगिरिस्तत्र पपात सः ॥७३॥

यदावतारमाकर्षीदत्र पार्श्वजिनेश्वरः ॥

× × × ×

तत्राहमपि यास्यामि यत्र पार्श्वविभूर्मम ।

वीरविनोद पृष्ठ ३८७

२. प्राचीन जैन स्मारक, पृष्ठ १४५, (मध्यभारत और राजपूताना)

२. आत्मानन्द जन्म शताब्दी ग्रंथ, गुजराती विभाग,
पृष्ठ १३१

यह है कि मौर्य काल में नागहूद का अस्तित्व ही नहीं था, इस पुण्यधरा ने नागहूद नाम कब से सार्थक किया ? नहीं कहा जा सकता । सं० ७०२ और सं० ७१८ की क्रमशः शील और अपराजित की प्रशस्तियों में नागहूद का संकेत नहीं है । इसका सर्व प्रथम उल्लेख सं० १०८२ के लेख में प्राप्त हुआ है जो सपहालय के क्रमांक ३५ के शिलापट्ट पर अंकित है, और नागदा से ही लाया गया था, पौराणिक आख्यान तो इसे सोमवंशीय जनमेजय तक ले जाते हैं, पर इसमें तथ्य प्रतीत नहीं होता, मेवाड़ में जनश्रुति है कि नागादित्य ने अपने नाम से नागदा बसाया था, रणछोड़ थट्ट प्रणीत “अमरकाव्य” में भी यही संकेत है । एतद्विषयक प्रमाण अन्वेषणीय है । असंभव नहीं यहाँ किसी समय नागवंशियों का शासन रहा हो या नागपूजा का विशेष प्रचलन, और उसी की स्मृति स्वरूप नागहूद नाम पड़ गया हो ।

ऐतिहासिक घटना प्रमाणों से सिद्ध है कि बापा रावल के पूर्व नागहूद का अस्तित्व था । गुहिलकाल में वर्षों तक पाटनगुर के रूप में गौरव अर्जित करता रहा । आठवीं शती में जैन संस्कृतिका यहाँ व्यापक प्रचार था, संभव है उसी समय गिरिकन्दा में गुहा-चैत्य परिस्थान किया जाकर कालान्तर में विशालप्रासाद के रूप में परिणत हो गया हो । प्राप्त उल्लेखों का संकेत ऊपर

३. मेरी मेवाड़ यात्रा पृष्ठ ६१,

१. यह लेख विद्वद्भक्त परमेश्वर जी सोलंकी ने वरदा, वर्ष ६, अंक १ में प्रकाशित है, यह लेख किसी सूर्यवंशी वैष्णव राजा का है, ६ पंक्ति में नागहूद का इस प्रकार उल्लेख है:—स्थाननागहूदाभिरुयमस्ति

२. एर्कालगान्तिके सोयं चक्रे नागहूदापुर ।

किया ही जा चुका है कि १३ वीं शती से पूर्व कोई सूचना जैन साहित्य नहीं देता, परवर्ती संकेत तो पर्याप्त है । नागहूद की स्थापना के समय यदि वह गुहिलकाल में हुई हो तो जैनो का प्रभुत्व था, क्योंकि चित्तौड़ में हरिभद्रसूरि का साधना केंद्र सं० १०२८ की लकुलीश प्रशस्ति से जैन सम्पर्क स्वतः सिद्ध है ।

प्रासाद निर्माणकाल के सम्बन्ध में भी प्रमाणाभाव में निर्दिष्ट नहीं कहा जा सकता । सं० ११६२ के लेख से इतना ही सिद्ध होता है कि इतः पूर्व या समकाल में मंदिर का अस्तित्व था, प्राचीन लेख में सम्प्रदाय सूचक कोई संकेत नहीं है तथापि प्रासादस्थ प्रतिमाएँ और शिखर के बिम्ब दिग्गम्बर मान्यता का ही समर्थन करते हैं, यहाँ के साक्ष्य इसे श्वेताम्बर मंदिर प्रमाणित करने में सर्वथा असमर्थ हैं । यह स्पष्ट संकेत इस लिए करना पड़ रहा है कि मुनि श्री मानने हिमालयविजय जी एवम् जैन तीर्थ सर्वत्र सग्रह के मपादक ने इसे स्पष्ट श्वेताम्बर प्रासाद बनवाने का असफल प्रयास किया है । यहाँ अदबद् जी के पास एक और पार्श्वनाथ का प्रासाद है जिसके स्तम्भ पर सं० १४२६ का एक लेख है ।

वास्तुकला के प्रकाश में गुहा-चैत्य ११-१२ वीं शती की रचना है, कारण कि इसकी शैली और मकरवक्त्र-पंक्ति, तमालपत्रिका, छाया और खल्वकृतियाँ, शिखर-श्रृंग आदि अन्य प्रयुक्त अलंकरण लकुलीश प्रासाद का अनुसरण करने हैं । कालान्तर में भक्तों द्वारा आन्तरिक भाग समय-समय पर असांख्यदायिक धार्मिक साधना का केंद्र बना रहा । पर पुन संस्कार की महति आवश्यकता है ।

१. भाग २, पृष्ठ ३३६-८,

बटोही सम्बोधन

मिथ्यामति रैन माहि ग्यानभान उद नाहि आतम अनादि पथी भूलो मोख घर है ।
नरभी सराय पाय भटकत बस्यो आय काम क्रोध आदि तहाँ तमकर को डर है ।
सोवेगो अचेत सोई खोवेगो घरमधन तहाँ गुरु पाहरू पुकारें दया कर है ।
गाफिल न हूँ आत ऐसी है अंधेरी राति जागरे बटोही यहा चोगन को डर है ॥१॥
नरभी सराय सार चारों गति चार द्वार आतमा पथिक तहाँ सोवन अघोरी है ।
तीनोंपन जाँय आव निकस वितीत भए अजौ परमाद मद निद्रा माहि धोरी है ।
तो भी उपगारी गुरु पाहरू पुकार करे हाँ हा रे निद्रालु नर कंभी नीद जोरी है ।
उठे क्यों न माँही दूर देश के बटोही अब जागि पंथ लागि भाई रही रैन थोरी है ॥२॥

देवगढ़ का शान्तिनाथ जिनालय

प्रो० भागचन्द्र जैन, भागेन्दु, एम० ए० शास्त्री

सामान्य परिचय

देवगढ़ उत्तरप्रदेश में भासी जिले की ललितपुर तहसील में वेतवा नदी के किनारे, २४° २२ अक्षांश और ७८° १५ देशांतर पर स्थित है। मध्य रेलवे के दिल्ली-बम्बई मार्ग के ललितपुर स्टेशन से यह दक्षिण-पश्चिम में ३३ किलोमीटर की एक पक्की सड़क से जुड़ा है। उसी रेलवे के जाखलौन स्टेशन से इसकी दूरी १३ किलोमीटर है।

प्राचीन देवगढ़ विन्ध्याचल के पश्चिमी छोर की एक शाखा पर गिरि दुर्ग के मध्य स्थित था। जबकि आज वह उसकी पश्चिमी उपत्यका में बसा है। वर्तमान में यहाँ ५४ घरों में ३६६ मनुष्य निवास करते हैं। एक विशाल जैन धर्मशाला और शामकीय विश्राम-गृह भी यहाँ है। ग्राम के उत्तर में प्रसिद्ध 'दयावतार-मन्दिर' तथा शासकीय संग्रहालय और पूर्व में पहाड़ी पर उसके दक्षिणी पश्चिमी कोने पर जैन स्मारक हैं। इस पहाड़ी की अधिरत्यका को घेरें हुए एक विशाल प्राचीर है, जिसके पश्चिम में कुज द्वार और पूर्व में हाथी दरवाजा देखे जा सकते हैं। इसके मध्य एक प्राचीर और है, जिसे 'दूसरा कोट' कहते हैं, इसी के मध्य वर्तमान जैन स्मारक है। 'दूसरे कोट' के मध्य में भी एक छोटा-सा प्राचीर था, जिसके अवशेष आज भी विद्यमान हैं। इस प्राचीर के भी मध्य एक प्राचीर सदृश दीवाल सन १९३० में स्वर्गीय मेठ पद्मचन्द्र जी बैनाडा आगरा निवासी की ओर से बनाई गई, जिसमें दोनों ओर खण्डित मूर्तियाँ जड़ी हुई हैं। विशाल प्राचीर के दक्षिण पश्चिम में वराह मन्दिर और दक्षिण में वेतवा नदी के किनारे नाहर घाटी और राजघाटी है।

नाम

देवगढ़, यह इस स्थान का प्राचीन नाम नहीं है।

इसका प्राचीन नाम 'लुअच्छगिरि' था। इस नाम का स्पष्ट उल्लेख विक्रम सं० ६१६ के गुर्जर प्रतिहार राजा भोज के शिलालेख में है। अतः १०वीं शताब्दी ईस्वी तक यह स्थान 'लुअच्छगिरि' नाम से प्रसिद्ध था। बारहवीं शती से इस स्थान का नाम कीर्ति गिरि प्रचलित हुआ। अतः यह कहा जा सकता है कि इस स्थान का नाम 'देवगढ़' १२वीं शताब्दी के अन्त या तेरहवीं के प्रारम्भ में किसी समय रखा गया।

'देव' शब्द 'देवता' का वाची है और 'गढ़' का अर्थ 'दुर्ग' होता है। मेरी अपनी राय में यहाँ दुर्ग के

1. देखिये—मन्दिर मर्यादा १२ के महामण्डप के सामने अवस्थित अधमण्डप के दक्षिण पूर्व के स्तम्भ पर उत्कीर्ण अभिलेख।
2. देखिये—देवगढ़ दुर्ग के दक्षिण पश्चिम में राजघाटी के किनारे चन्देलवंशी राजा कीर्तिवर्मा के मन्त्री वत्सराज द्वारा उत्कीर्ण अभिलेख।
3. (अ) अमरसिंह : अमरकोष, वाराणसी, १९५७ : काण्ड १, वर्ग १, पृष्ठ ७-६
(ब) धनंजय : नाममाला, अमरकीर्ति विरचित, भाष्योपेता, प० शम्भुनाथ त्रिपाठी सम्पादित, काशी, १९५० : श्लोक ५६, पृष्ठ ३०
(स) संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, चतुर्वेदी द्वारा प्रसाद शर्मा तथा तारिणीश भा सम्पादित, इलाहाबाद, १९५७ पृष्ठ ५३०
(ड) नालन्दा विशाल शब्द सागर, नवलजी सम्पादित, देहली, विक्रमाब्द २००७ : पृष्ठ ६१३
4. (अ) अमरसिंह अमरकोष, २-८-१७
(ब) धनंजय, नाममाला, श्लोक १२, पृष्ठ ६
(स) संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, पृष्ठ ५२३
(ड) नालन्दा विशाल शब्द सागर, पृष्ठ ३०५

अन्दर 'दैव' मूर्तियों की प्रचुरता होने के कारण कदाचित् इस स्थान का नाम देवगढ़ पड़ा।

देवगढ़ में सम्प्रति उपलब्ध पुरातत्व सामग्री इस तथ्य की पोषक है कि मौर्य युग से लेकर ईसा की १४वीं १५वीं शती तक मुख्य रूप से और १८वीं शती तक गौग रूप से राजनैतिक, धार्मिक, कलात्मक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक गतिविधियों का केन्द्र रहा। यद्यपि बड़ा के बहुसंख्यक स्मारक धराशायी हो गये हैं, और प्रकृति की गोद में समाविष्ट है, पुनरपि भारतीय पुरातत्वज्ञों एवं अन्य समाज-सेवियों के प्रयत्न से जो जीर्णोद्धार होकर सामने आई है, वह भी बहुत है। इस दिशा में मन् १८७४ में सर्वप्रथम अलकजेन्डर कनिंघम का ध्यान गया। इस सन्दर्भ में रायबहादुर दयाराम साहनी, विश्वम्भरदाम गार्गीय और नाथूराम सिधई की मेवाये भी उल्लेखनीय महत्व रखती है। देवगढ़ पुरातात्विक अध्ययन और जीर्णोद्धार के क्षेत्र में ललितपुर के श्री परमानन्द बग्या ने जो गहरी दिलचस्पी ली है, उन्होंने शासन और समाज के सहयोग से देवगढ़ की जो सेवा की है और कर रहे हैं, वह तब तक नहीं भुलाई जा सकती, जब तक देवगढ़ का अस्तित्व है। क्षेत्रीय प्रबन्ध समिति के वर्तमान मंत्री श्री शिखरचन्द्र सिधई भी क्षेत्र के बहुमुखी विकास के लिये सन्तु प्रयत्नशील हैं, माहू शान्तिप्रसाद जी ने भी जीर्णोद्धार में स्तुत्य सहयोग किया है।

देवगढ़ में सम्प्रति ४० मन्दिर (पुरातत्व विभाग द्वारा अकिन - १ जीर्णोद्धार आदि द्वारा अन्वेषित ६ नष्ट मन्दिर=४०) और १८ मानस्तम्भ या स्तम्भ विद्यमान हैं। इसके अतिरिक्त सहस्राधिक खण्डित अर्न्तर्गुह्य मूर्तियों को चिन कर एक प्राचीर सद्गुण दिवाल है, जो वहाँ के प्रमुख मंदिर मख्या १२ को घेरे हुए है। अनेक टीलो आदि पर मूर्तियों और भक्तों के अवशेष स्पष्ट देखे जा सकते हैं। दुर्ग के पूर्व की ओर हाथी-दरवाजे में भी कुछ जैन मूर्तियाँ जड़ी हुई हैं। नीमगं कोट के बाहर भी जैन सामग्री यदा कदा प्राप्त होती रहती है। पर्वत के नीचे जैन धर्मशाला में एक चैत्यालय है और यही माहू शान्तिप्रसाद जी की ओर से श्री विजयचन्द आर्वागमयार

की देखरेख में एक विद्यालय और महत्वपूर्ण महात्म्य का निर्माण हो रहा है।

यद्यपि देवगढ़ की जैन कला और पुरातत्व का विशेष अध्ययन में कर रहा हूँ, किन्तु मेरे इस निबन्ध में वहाँ के एक विदोष उल्लेखनीय मन्दिर का ही परिचय दिया जा रहा है।

मन्दिर मख्या १२

देवगढ़ दुर्ग के पूर्वी कोण पर जैन मन्दिर समूह के मध्य में अवस्थित इस विद्यालय, भव्य और गगनचुम्बी पश्चिमाभिमुख मन्दिर के आकार प्रकार में अनेक सम्भावनाये छिपी है। वर्तमान में यह पचायतन शैली का मन्धार-प्रसाद है। हम सर्वप्रथम अर्धमण्डप में प्रवेश करते हैं। उसमें मे ६ मीट्रियों द्वारा एक चौड़े चबूतरे पर आते हैं। तब छह-छह स्तम्भों की छह पक्तियों पर आधारित एक भव्य महामण्डप में प्रवेश करते हैं, जिसके बायें म० स० १३ और म० स० १४ की दक्षिणी दीवारें स्थित हैं। इन दीवारों और महामण्डप के बीच लगभग ३ फुट का जो अन्तर था उगमें महामण्डप के फर्श से १ फुट ६ इंच ऊँची और ४२ फुट लम्बी वेदी बना दी गई है और उस पर २० शिलापट स्थापित किये गए हैं जिनमें से दो पर पद्यासन और शेष पर कायोत्सर्गासन तीर्थंकर मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। महामण्डप में अन्तराल में पहुँचा जाता है और जिसके दायें बायें एक एक मढ़ियाँ विद्यमान हैं। बायें ओर की मढ़ियाँ में विर्जति-भुजी चक्रेश्वरी*
5. यह प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभनाथ की शासन देवी है —

दृष्टव्य—(अ) यतिवृषभ तिलोम पष्णात्ती, भाग १, ४६२७, डा० ए०एन० उपाध्ये और डा० हीरालाल जैन सम्पादिन, दोलापुर, १९६३। पृ० २६७

(ब) प० आशाधर, प्रतिष्ठाभारोद्धार, अध्याय ३ पृष्ठ १५६, बम्बई वि० म० १९७४। पृष्ठ ७०

(म) नेमिचन्द्र देव, प्रतिष्ठातिलक, परि० ७ पृष्ठ १। बम्बई, १९१६। पृ० ३६०-३४१।

(न) मुक्ल, डा० द्विजेन्द्रनाथ, भारतीय वास्तुशास्त्र, प्रतिमाविज्ञान, द्वा पटल पृष्ठ २७६

और दाये ओर की मढ़िया में किसी अन्य जैन यक्षी की प्रतिमाये थी, जिन्हे अब वहाँ से धर्मशाला में स्थानान्तरित कर दिया गया है।

अन्तराल की पार करके हम ४ फुट ३ इंच चौड़े प्रदक्षिणा-पथ में प्रवेश करते हैं, इसमें चारों ओर विशालाकार पद्मासन ६ और ४८ कायोत्सर्गासन ५४ तीर्थंकर प्रतिमाये अंकित है। इनमें से १५ अभिलिखित है। अन्तराल से चार सीढियों द्वारा उतर कर इस मंदिर में भव्य गर्भगृह में पहुँचा जाता है। इसमें एक विशालाकार कायोत्सर्गासन तीर्थंकर मूर्ति है, जो यहाँ की मौलिक प्रतिमा है। इसके अतिरिक्त प्रवेश द्वार से मटी हुई दाये बायें दो, और तीर्थंकर की विशालाकार मूर्ति के दोनों ओर एक एक अम्बिका^६ मूर्तियाँ विद्यमान है।

स्थापत्य कला के विकास की दृष्टि से यह सम्पूर्ण

प्रतिष्ठासरोद्धार के अनुसार इस देवी के १६ हाथ किन्तु प्रतिष्ठा तिलक पृ० ३४०-३४१ के अनुसार २० हाथ होते हैं। विभिन्न स्थानों में कलाकारों ने इस देवी के हाथों की संख्या और उनमें धारण की गई वस्तुओं में विविधता का निरूपण किया है। देवगढ़ के इस मन्दिर में इस देवी की २० भुजाये हैं और सभी में चक्र धारण किये हैं।

6. दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही इसे २१वें तीर्थंकर भगवान् नेमिनाथ की शासन देवी के रूप में स्वीकार करते हैं।

दृष्टव्य (अ) प्रतिष्ठा सरोद्धार, २। १७६, पत्र ७३।

(ब) प्रतिष्ठा तिलक, ७। २२, पृष्ठ ३४७।

(स) बप्प भट्ट सूरि, चतुर्विंशतिका, पृष्ठ १५०

(ड) भारतीय वास्तुशास्त्र, प्रतिमाविज्ञान, पृष्ठ २७४,

7. (अ) कनिष्क, ए : आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इंडिया, जिल्द १०, (कलकत्ता, १८८०) पृष्ठ १००-१०१,

(ब) फुहर्न, ए : मानुमेन्टल एन्टिक्विटीज एण्ड इन्सक्रिप्शन्स, इन दी नार्थ वेस्टर्न प्राविशेज एण्ड

मन्दिर तीन या चार बार में निर्मित हुआ प्रतीत होता है। इसका महामण्डप अपनी सादगी से स्पष्ट ही घोषित करता है कि उसका निर्माण गुप्तकाल से पूर्व, कदाचित् मौर्यकाल में हुआ था। इसके मध्यवर्ती चार स्तम्भों के बीच एक वेदी थी, जिसमें जडा हुआ एक 'जान शिला' नामक शिलालेख प्राप्त हुआ है।

इस अभिलेख की लिपि यद्यपि अनेक भारतीय लिपियों का मिश्रण है तथापि इसमें अशोक कालीन ब्राह्मी लिपि के लक्षण अधिक और स्पष्ट देखे जा सकते हैं। इस महामण्डप के मौर्यकालीन होने का तीमरा कारण यह है कि इतने विशालाकार महामण्डपो^७ का निर्माण उस काल में ही होता था^{१०} बाद में महामण्डपो का

अवध। अलाहाबाद, १८९१।

(स) साहनी, दयाराम, एनुअल प्रोग्रेस रिपोर्ट आफ दि मुप्रिन्टेन्डेन्ट हिन्दू एण्ड बुद्धिस्ट मानुमेन्ट, नार्दन सर्विस, (लाहौर, १९१८) पृ० ६

(ड) श्री परमानन्द जी वर्मा, जो देवगढ़ के जीर्णोद्धार में प्रारम्भ में ही दत्तचित्त है, ने भी इस तथ्य की पुष्टि की है। यह वेदी अभी कुछ समय पूर्व हटा दी गई है। यह वेदी मूलतः उस समय की होगी जब यह 'महामण्डप' मूल मन्दिर के रूप में निर्मित हुआ होगा।

8. साहनी, दयाराम, ए० प्रो० रि०, पृष्ठ १०।

9. (अ) देवगढ़ का यह महामण्डप ४२ फुट ६ इंच का आयताकार है।

(ब) मौर्ययुग से स्तम्भों पर मन्दिर निर्मित होने लगे थे, पर उड़ीसा के स्थापत्य में स्तम्भों का कोई महत्व नहीं रहा।

10. 'केवल स्तम्भों पर आधारित मन्दिर, इससे (खजुराहो से) बहुत पहले देवगढ़ में निर्मित होने लगे थे।

देखिये—अनेकान्त, दिल्ली, १९६६। वर्ष १९, किरण ३ में प्रकाशित प० गोपीलाल 'अमर' एम० ए० के 'खजुराहो का घण्टई मन्दिर' शीर्षक निबन्ध की पादटिप्पणी संख्या १८, पृ० २३।

आकार क्रमशः छोटा होता गया और खजुराहो तक आता आता लगभग १०' × १०' का रह गया अथवा लुप्त हो गया।

महामंडप के पश्चात् गर्भगृह अर्थात् मुख्य मन्दिर का निर्माण होना चाहिए। इसकी रेखाकृति, अधिष्ठान, प्रवेशद्वार, उस पर का अलंकरण, शिखर को गुम्बदनुभा आकृति, उसके साथ अगशिखरों और उरुशृंगी का अभाव आदि कुछ ऐसे तथ्य हैं, जो इसे गुप्तकाल या उसके किञ्चित् अनन्तर का मिट्ट करत हैं। यहीं के 'दशावतार मन्दिर' की अनुकृति पर यह या इसकी अनुकृति पर वह निमित्त हुआ हो, यह अधिक सम्भव है।

प्रदक्षिणापथ, निर्विवाद रूप से गर्भगृह के पश्चात् निमित्त हुआ है क्योंकि : १. गुप्त कालीन मन्दिरों में प्रदक्षिणा पथ प्रायः नहीं देखा जाता, २. इस मन्दिर की 'कानिष' को काट कर बाद में समाहित किये गये प्रदक्षिणापथ के 'उष्णीष' अपनी असमानता को इस समय भी नहीं छिपा सकते, ३. इसकी भित्तियों के बहिर्भाग में चिनी हुई जातियाँ और यक्षिणी प्रतिमाओं के अंकन सहित स्तम्भों की कला खजुराहो की कला (६वीं शती ई०) के समकालीन प्रतीत होती है। ४. यक्षिणी प्रतिमाओं के नीचे उत्कीर्ण उनके नामों के वर्णों की लिपि १०वीं शती या ११वीं शती की सम्भावित है। ५. प्रदक्षिणा-पथ का प्रवेश द्वार मुख्य मन्दिर के साथ ही उसके अर्धमण्डप के द्वार के रूप में निमित्त हुआ था, क्योंकि इसके और गर्भगृह के द्वार की कला और अलंकरण आदि में पूर्ण समानता स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है, जबकि प्रदक्षिणा-पथ के बाहर अंकित यक्षिणियों की मूर्तियों और प्रदक्षिणा-पथ के प्रवेश-द्वार में अंकित मूर्तियों तथा अन्य अलंकरण में किसी भी दृष्टि से समानता नहीं है।

प्रदक्षिणा पथ के साथ या उसके कुछ समय आस-पास ही अन्तराल और अर्धमण्डप का निर्माण हुआ होना चाहिये।

अर्ध मण्डप :—

इस मन्दिर का अर्ध मण्डप चार स्तम्भों पर आधा-

रित है। सामने के दो स्तम्भ एक समान हैं, जबकि पश्चाद्वर्ती दो स्तम्भ पूरी तरह से असमान हैं। मेरा विश्वास है कि मूल स्तम्भों के खण्डित हो जाने से इन्हें किसी अन्य स्मारक के अवशेषों में से लाकर समाविष्ट किया गया होगा। क्योंकि यदि उनमें अलंकरण आदि का सूक्ष्म अंकन न भी किया जा सकता, तो भी मोटाई आदि में समानता तो लाई ही जा सकती थी। उन दोनों की चोकिया भी साधारण पथरों से बना दी गई हैं, यद्यपि उनके शीर्ष मौलिक हैं।

सामने के स्तम्भों पर चौकियों के ऊपरी भाग के चारों ओर क्षेत्रपालों का अंकन है, और उनके ऊपर शिखराकृतियों से युक्त देवकुलिकाओं में तीन तीन ओर कायोत्सर्गसिन तीर्थंकरों और एक ओर एक एक यक्षिणी प्रतिमाओं का अंकन हुआ है। उनके ऊपर दोनों स्तम्भों पर प्रत्येक ओर एक एक कायोत्सर्ग तीर्थंकर दिखाये गए हैं, और उनके दोनों ओर दो मुन्दरियाँ उन्हें रिझाने का निष्फल प्रयत्न कर रही हैं। उनके भी दोनों ओर एक एक पुरुषाकृतियाँ और एक एक नारी आकृतियाँ दर्शित हैं। इसके पश्चात् प्रत्येक उन पर मकरमुखों का अलंकरण और उनके ऊपर विभिन्न देवी देवताओं का अंकन है। उसके भी ऊपर नृत्य मण्डली का अत्यन्त मनोरम अंकन हुआ है, जिसके ऊपर नयनाभिराम जानीदार कटाव है। इसके पश्चात् समग्र मण्डप का भार सम्हालने में दक्षिण कीर्तिमुख दिखाए गए हैं। तोरण पर भी मुख यक्ष के अनन्तर विविध वाद्ययन्त्रों से सज्जित एक लम्बी सगीत मण्डली का अरुण काफी दिलचस्प बन पड़ा है।

इस मण्डप के दक्षिण-पूर्वी स्तम्भ पर एक ऐतिहासिक अभिलेख उत्कीर्ण है, जिसके द्वारा देवगढ़ का प्राचीन नाम एवं राजा भोजदेव की राज्यसीमा व समय निर्धारित करने में बहुत बड़ी सहायता मिलती है। यह अभिलेख १० पक्तियों में १ फुट ढाई इंच ऊँचे और १ फुट ५ इंच चौड़े स्थान में उत्कीर्ण है। इसके एक अक्षर की लम्बाई लगभग १ इंच है।

अन्तराल का प्रवेशद्वार :—

अन्तराल का प्रवेश द्वार विशेष रूप से अलंकृत है।

इसके दोनों पक्षों पर गंगा और यमुना का अंकन अत्यन्त भव्यता से उसकी सहायक देवियों के साथ हुआ है। यह द्वार तथा गर्भगृह का प्रवेशद्वार एक ही समय की कृति माने जाने चाहिए। दोनों का अलंकरण और विषयवस्तु सौली आदि की दृष्टि से एक जैसा है।

प्रदक्षिणा पथ

प्रदक्षिणा-पथ की दीवाल के बाहर जालीदार लम्बे किन्तु मकरे गवाक्षों की सुन्दर संयोजना हुई है। प्रति दो स्तम्भों के मध्य एक शिखराकृति से युक्त देवकुलिका दर्शायी गई है, जिसके ऊपरी भाग में एक पद्मासन तीर्थंकर और उनके नीचे अपनी सहायक देवियों के साथ तीर्थंकर की यक्षिणी का अंकन हुआ है। प्रत्येक शासन-देवी का नाम उसके पादपीठ में उत्कीर्ण है। इस प्रकार प्रदक्षिणा-पथ में चारों ओर चौबीस तीर्थंकरों और उनकी शासन देवियों का जो अंकन यहाँ हुआ है, वह भारतीय पुरातत्व में कदाचित् एकमात्र है।¹¹ इसमें जैन प्रतिमा-शास्त्र की समृद्धि और परिपूर्णता का सप्रमाण बोध होता है।

गर्भगृह का प्रवेशद्वार

गर्भगृह का प्रवेशद्वार तत्कालीन स्थापत्य का प्रतिनिधित्व करता है। यह अत्यन्त भव्य और सूक्ष्मता से अलंकृत है। चौखट के नीचे के भाग के मध्य में वीति-मुख और मकरमुख की उभरी हुई सज्जा के दोनों ओर एक एक नृत्य मण्डली के पश्चात् स्नेह क्रीडा में मग्न सिंह और हाथी की भव्य आकृतियाँ दर्शित हैं, तथा बायी

11. इस द्वार के दोनों पक्षों का विवरण गर्भगृह के प्रवेश द्वार के दोनों पक्षों से मिलता जुलता है। अतः वही से ज्ञात कर ले।
12. रायबहादुर दयाराम साहनी इस मन्दिर में केवल २० यक्षिणी प्रतिमाएँ देख सके।

ए० प्रो० रि०, पृ० ६।

कदाचित् उन्होंने मढियों के पीछे इसी मन्दिर की दिवाल में जड़ी २-२ यक्षी प्रतिमाओं पर ध्यान नहीं दिया। यदि किया होता तो उन्हें २४ यक्षिणियों की मूर्तियाँ अवश्य मिलनी।

और बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ का यक्ष पार्श्व¹² और लक्ष्मी का अंकन है। तत्पश्चात् प्रत्येक द्वार पक्ष दो दो पंक्तियों में ऊपर की ओर बढ़ता है। बाहरी पंक्तियाँ चौखट के ऊपरी भाग के साथ ऊपरी भाग तक बढ़ती जाती हैं। उनमें सर्वप्रथम एक एक देवी का और तत्पश्चात् विभिन्न आकृतियों के शार्दूलों का अंकन है, जिनमें गजमुख शार्दूल की छटा दर्शनीय है। बायें ओर की भीतरी पंक्ति में अपनी तीन सहायक देवियों के साथ मकरवाहिनी गंगा दर्शित है, जिसके ऊपर नाग अंकित है। इसके ऊपर एक पुस्तकधारी साधु उत्कीर्ण है। इसके ऊपर पाँच पाँच देवकुलिकाओं की तीन पंक्तियाँ हैं। इनमें से मध्यवर्ती किञ्चित् आगे को निकली हुई है और वह चौड़ाई में पार्श्ववर्ती पंक्तियों से दृग्गती है। मध्य की प्रथम देवकुलिका में एक साधु अपनी पीछी और कमण्डलु लिये खड़े हैं और एक दाढ़ीधारी युवक विनम्रतापूर्वक उनके चरण स्पर्श कर रहा है तथा उसके निकट एक महिला अञ्जलि बाँधे हुए अपनी नम्रता अभिव्यक्त कर रही है। इसके ऊपर की तीन देवकुलिकाओं में तीन दम्पतियों को प्रेमासक्त मुद्रा में उत्कीर्ण दिखाया गया है। निकटवर्ती दोनों पंक्तियों की देवकुलिकाओं में विभिन्न मुद्राओं में विभिन्न वाद्ययन्त्रों के साथ खड़े हुए दश स्त्री-पुरुषों का नयनाभिराम अंकन है।

दायें ओर सर्वप्रथम अपनी सहायक देवियों के साथ कूर्मवाहिनी यमुना देवी का नितान्त नयनाभिराम अंकन हुआ है। उसके ऊपर नागी को अवस्थित दिखाया गया है। इसके बायी ओर साधु पीछी कमण्डलु तथा जान का साधन ग्रन्थ धारण किए हुए दिखाये गये हैं। इसके ऊपर (बायी ओर की भाँति) यहाँ भी पाँच पाँच देवकुलिकाओं की तीन पंक्तियाँ हैं। मध्यवर्ती पंक्ति में प्रेमासक्त दम्पतियों और निकटवर्ती पंक्तियों में पूर्ववत् विभिन्न मुद्राओं में विभिन्न वाद्ययन्त्र धारण किए हुए

13. पार्श्वों धनुर्वाण भण्डि-मुद्गरश्च फल वर।

सर्पकृपः श्यामवर्गः कर्तव्यः शान्तिमिच्छता॥

मुकुल, डा० द्विजेन्द्रनाथ, भारतीय वास्तुशास्त्र, प्रतिमाविज्ञान, आठवा पटल, पृ० २७४

स्त्री-पुरुषों का मनोरम अंकन हुआ है।

चौखट के ऊपर मध्य में बहुत ही सुन्दर कमलाकृति आसन पर द्वितीय तीर्थंकर भगवान् अजितनाथ का पद्मासन में और उनके दोनों ओर एक एक तीर्थंकर का कायोत्सर्गसन में अंकन है। उनमें भी दोनों ओर पाँच पाँच विद्याधर युगल उड़ते हुए दिखाये गये हैं और उनके ऊपर नवग्रहों का अंकन है। इसके ऊपर एक नवीन पक्षि प्रारम्भ होती है, जिसके मध्य में एक देवकुलिका में एक पद्मासन तीर्थंकर और उनके दोनों ओर चार-चार पद्मासन और छह-छह कायोत्सर्गसन तीर्थंकरों का अंकन है। इस पक्षि के ऊपर तथा मध्यवर्ती देवकुलिका के दोनों ओर तीर्थंकर की माता के मोलह मंगल स्वप्नों का सामिक चित्रण है, उनमें (बायें से दायें) एक हाथी, बैल, सिंह, लक्ष्मी, झूलती हुई दो मालाये पूर्ण चन्द्रमा, उदीयमान सूर्य, सरोवर में क्रीड़ा करता हथ्था मछलियों का युगल। देवकुलिका के दायें : दो स्वर्ण कलश, पद्म सरोवर, लहराता हुआ समुद्र रत्नजटिन मिहामन, स्वर्गीय विमान, धर्मोन्मत्त का भवन, रत्न समूह और प्रज्वलित अग्नि अंकित है।¹⁴

मंगल-स्वप्नों की मान्यता भारत में अत्यन्त प्राचीन है। छान्दोग्य उपनिषद् में उल्लेख है कि वह यदि स्त्री को देखे तो समस्त ले कि अभीष्ट कार्य सफल होगा। उन स्वप्नों के निमित्त से समस्त लें कि उन कार्यों में सफलता मिलगी।¹⁵ दिगम्बर जैन परम्परा के अनुसार भगवान् जिनेंद्र जब माता के गर्भ में आने लगते हैं, तब माता मोलह स्वप्नों को देखती हैं। अतः ये स्वप्न भगवान् जिनेंद्र के जन्म का अनुमान कराने में सूचना स्वरूप है।¹⁶ भगवान् महावीर से पहले स्वप्न-फल प्रदर्शित करने वाले

14 (अ) भगवज्जिनमेताचार्य, महापुराण आदि पुराणः, पं० पन्नालाल जैन सम्पादित, काशी, वि० सं० २००७। मर्ग १२, श्लोक १०१ से ११ तक।

(ब) जिनमेन, इरिवण पुराण, (बम्बई, १९००) मर्ग ८ श्लोक ५८ तथा ५९।

15 देखिये—छादोग्योपनिषद्, २, ८-८।

16 वीरनन्दी—चन्द्रप्रभ चरित, मर्ग १६, पृ० ५३।

विद्वानों को निमित्त पाठक कहा जाता था। प्राचीनक सम्प्रदाय में निमित्त-शास्त्र बहुत प्रचलित था। ईसा पूर्व प्रथम शती में कालकाचार्य ने इन्हीं से निमित्त-शास्त्र की पूर्ण विद्या प्राप्त की थी।¹⁷ इन सोलह स्वप्नों का दिगम्बर जैन परम्परा में बहुत अधिक महत्व है और विभिन्न ग्रन्थों में विस्तार से उनका फल बताया गया है।¹⁸ श्वेताम्बर जैन परम्परा में भी भगवान् जिनेंद्र के पूर्व माता को स्वप्न-दर्शन आवश्यक माना गया है, किन्तु उनके यहाँ इनकी संख्या चौदह स्वीकार की गई है।¹⁹ सोलह-स्वप्नों के दृश्य उत्कीर्ण करने की परम्परा बहुत प्रचलित रही है, इसे खजुराहो के घण्टई मन्दिर और आदिनाथ मन्दिर में आवृत्त के खरतर बमहि में भी देखा जा सकता है। यत्र तत्र अब भी ये दृश्य अंकित किये जाते हैं।

इस मन्दिर के गर्भगृह के प्रवेश द्वार पर उत्कीर्ण स्वप्नों की मोलह संख्या निर्विवाद रूप से सिद्ध करती है कि इस मन्दिर का मध्यस्थ दिगम्बर जैन परम्परा से रहा है। उपयुक्त मोलह स्वप्नों की बायीं ओर महाकाली नाम की नगरकटा आठवीं विद्यादेवी²⁰ का अंकन है, जिसका एक हाथ अभय मुद्रा में है, एक हाथ किंचित् खण्डित हो गया है और शेष दो में वज्र तथा घण्टी है।

17 शाह, डा० उमाकान्त प्रेमानन्द : स्टडीज इन जैन आर्ट, बनारस १९५५। पृ० १०५, टिप्पणी-१

18 (अ) जिनमेन, महापुराण आदि पुराण, मर्ग १२, पृ० १५५ और आगे।

(ब) वीरनन्दी : चन्द्रप्रभ चरित, १६-६३।

(म) मुनिमुक्ताकाव्य, ३, २८, २९।

(ड) रूपचन्द्र—पंच मंगल पाठ, जिनवाणी सग्रह। कलकत्ता, १९३७। पृ० ५२।

19 (अ) भद्रबाहू। कल्पसूत्र, डा० हर्षन याकोबी द्वारा सूत्र ३, पृष्ठ २१६। तथा सूत्र ३१-३६, पृष्ठ २२६ से २३८ तक।

(ब) शाह, डा० यू० पी० : स्टडीज इन जैन आर्ट, पृ० १०५।

20 शुक्ल, डा० द्विजेन्द्रनाथ : भारतीय वास्तुशास्त्र, पृ० २७१-२७४।

दाये बाईसवें तीर्थकर नेमिनाथ की यक्षिणी सिंह बाहिनी अम्बिका²¹ अंकित है, जिसके दायें हाथ की गोद में बालक है और बाये हाथ में आमगुच्छक है। उल्लेखनीय यह कि इस मूर्ति में उसका दूसरा पुत्र अनुपस्थित है। इस शासन देवी का मुकुट अपनी निजी विशेषता रखता है, जिसकी बनावट आधुनिक सेनापति की टोपी से बहुत कुछ मिलती जुलती है।

इसके ठीक नीचे वीणावादन में तन्मय सरस्वती की मनोहारी प्रतिमा अंकित है। इसके ऊपर के दायें हाथ में सूत्र से मजबूती के साथ लेपटी गई पुस्तक और बाये में घट विद्यमान है। इसके आभूषणों में पग में पायल, पाँव पोश, करधनी, हथफल, वधमा के चूरा, बाजूबन्द, मोहन माला, भोगला, ठुसी, कर्णफल और बेदी तथा वस्त्र अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ निर्दिष्ट हैं। इसकी केश राशि अत्यन्त घुँघराली और जूड़ा ऊपर को सम्हाल कर बाँधा गया है।

इसके मुकाबले (चीखट के दाये किनारे) चतुर्भुजा लक्ष्मी का भी बहुत सुन्दर अंकन हुआ है जिसके दाये ऊपर के हाथ में कमल है और नीचे का वरद मुद्रा में है, तथा बाया ऊपर का खण्डित है तथा नीचे के हाथ में कमल है।

इस प्रकार गर्भ का प्रवेश द्वार सूक्ष्मता और अव्यता से अलंकृत है और तत्कालीन स्थापत्य का प्रतिनिधित्व करता है।

गर्भ गृह

प्रवेश द्वार को वर्तमान में लकड़ी के किवाड़ों से बन्द किया जाता है चार सीढ़ियों से उतर कर २ फुट नीचे आना पड़ता है, प्रवेश करते ही दोनों ओर अम्बिका की ४।१ फुट ऊँची प्रतिमाएँ अंकित दृष्टव्य है। सामने ही १२' ४" ऊँची कायोत्सर्गामन भव्य तीर्थकर प्रतिमा के दर्शन होते ही हृदय भक्ति में भर उठता है। यह विशालाकार प्रतिमा काल के कराल थपेड़ों और आततायियों की काली करतूतों से बहुत कुछ खण्डित हो गई है। परन्तु

भक्तों ने उसकी यथा सम्भव जुड़ाई करा दी है। इसे १६वें तीर्थकर शान्तिनाथ की प्रतिमा मानकर इस मन्दिर का नाम ही शान्तिनाथ मन्दिर प्रचलित हो गया है। परन्तु शान्तिनाथ²² का चिन्ह हिरण या यक्ष यक्षिणी आदि कोई भी यहाँ दृष्टिगत नहीं होते। ऐसा प्रतीत होता है कि अद्धार, खजुराहो, सीरोन, चाँदपुर आदि निकटवर्ती तीर्थ स्थानों पर विद्यमान कायोत्सर्गामन विशालाकार शान्तिनाथ की प्रतिमाओं की समानता के कारण भक्तों ने इसे भी शान्तिनाथ प्रतिमा कहना प्रारम्भ कर दिया, जो कदाचित् सम्भव भी है। भक्तों ने इसके चिन्ह या यज्ञ आदि का अन्वेषण या तो किया ही नहीं, या वे इसमें असफल रहे, क्योंकि अभी कुछ वर्ष पूर्व तक इस प्रतिमा के सामने २ फुट ३ इंच के अन्तर से एक दीवाल खड़ी थी, जिसमें प्रवेश करने के लिये १ फुट ६ इंच चौड़ाई की एक खिड़की थी,²³ इसमें से प्रवेश करके एक अन्धकार-पूर्ण और बदबूदार सकरी कोठरी²⁴ में मूर्ति का चिन्ह खोज निकालने का साहस कदाचित् ही किसी को होता वर्तमान में इस दीवाल को हटा दिया गया है, और एक

22 (अ) फुहरर ने पता नहीं किस आघार पर इसे ऋषभनाथ की मूर्ति लिखा है। फुहरर, ए : मान्युमेन्टल ए० इ०। अलाहाबाद १८८१।

(ब) कनिधम इस विषय में पूर्णतः मौन धारण किये है, वे इसे मात्र विशालाकार दिगम्बर प्रतिमा कहते हैं। पृष्ठ १०८-आ० म० रि० जिल्द १०

(स) किन्तु साहनी ने इसे शान्तिनाथ की मूर्ति कहा है। देखिये—साहनी, दयाराम : ए० प्रो० रि० - पृष्ठ १०।

23 (अ) कनिधम, ए : आ० म० रि०, जिल्द १०, पृ० १००

(ब) फुहरर, ए : दि० मा० ए० हं०, । अलाहाबाद, १८६१।

24 (अ) कनिधम, ए : आ० म० रि०, जिल्द १०, पृ० १००

(ब) साहनी, दयाराम : ए० प्रो० रि०, पृ० १०।

(स) श्री परमानन्द जी बरया ने भी इस दीवाल, खिड़की तथा वहाँ के अन्धकार विषय तथ्यों की पृष्टि की है।

श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ पवली दिगम्बर जैन मंदिर, शिरपुर

(नेमचन्द धन्नुसा जैन)

विदमं के प्राचीन शिल्प के याद में जिसका उल्लेख होता ही है तथा जैन शिल्प-कला में जिसका नाम पहले आता है ऐसा पवली मन्दिर शिरपुर गाँव के बाहर पश्चिम दिशा की ओर है। इस मन्दिर के शिल्प-रचना-वास्तु के बाबत पिछले श्रंको में विस्तृत चर्चा की गई है। इस मन्दिर के इर्दगिर्द कुछ जमीन खोद कर मिट्टी बाजू कर दी, तो पता चला की जमीन पर ४-५ फुट मिट्टी चढ़ गई थी जिसमें मन्दिर का नीचे का भाग दब गया था। अब मन्दिर के तीनों बाजूओं के दरवाजे के सामने १०'×१०' के चबूतरे लगे हैं। और उसके सामने से सीढ़ियाँ भी लगी हैं। इस खुदाई में ता २०-२-६७ के दिन एक अति जीर्ण पाषाण का खड्गासन चतुर्मुख जिन बिम्ब, जिनबिम्बस्तम्भ तथा एक शिलालेख स्तम्भ मिला है। कुछ भग्नावशेष भी प्राप्त हुए हैं।

मन्दिर के बाहर गर्भगार के दोनों ओर २ से १॥ फीट लम्बी तथा ६ इंच चौड़ी और २॥ इंच से ३ इंच जाड़ी ईंटों की दिवाल मिली है। वह जमीन में पुरुष

भर तो निश्चित है तथा उसके एक भाग में चूने का प्लास्टर है। इन ईंटों का याने दिवाल का काल अदाजा गुप्त काल बताया जाता है। यह ईंट वजन में बहुत हल्की है।

इस मन्दिर के अन्दर गर्भगृह के सामने चूने के प्लास्टर की जगह पाषाण की फर्मी बिछाने के इरादे से खोदते समय ता० ६-३-६७ को ११ मूर्ति अक्षण्ड मिली। बहुतेक मूर्ति हरे पाषाण की है, एक लाल पाषाण की है, सब मूर्तियाँ आकर्षक हैं। प्रत्येक मूर्ति पर लेख है तथा कुछ पर के लेख घिस गये हैं। प्राप्त मूर्ति में एक मूर्ति तो सिर्फ दो इंच की है।

इन जिन बिम्बों का प्रगट होने की बात कई वर्तमान पत्रों में प्रकाशित हुई है तथा कुछ पेपरो में फोटो भी आये हैं। उन्हें पढ़ कर और देख कर मुझे शिरपुर जाने की इच्छा हुई। इसी समय पर डा० यशवंत खुशाब देशपाड़े, अध्यक्ष—शारदाश्रम यवतमाल (हल्ली मु० नागपुर) नाती की शादी में परतना डा० (अचलपुर)

गाँव द्वारा टूटी हुई कड़ी को सम्हाल कर उसका उद्देश्य पूरा कर दिया गया है। इस विशालाकार मूर्ति के दोनों ओर, प्रवेशद्वार के भीतर दोनों तथा चौखट के ऊपर दाये अम्बिका और चौखट के नीचे बायें पार्श्व यक्ष का अकन होने से यह सम्भावना अधिक है कि यह मूर्ति २२ वें तीर्थंकर नेमिनाथ की होनी चाहिये^{२२}।

लगभग ३ फुट ऊँचे ४० फुट ५ इंच लम्बे और ३५ फुट चौड़े अघिष्ठान वाले इस मन्दिर के प्रदक्षिणा पथ 25 मेरी इस मान्यता की पुष्टि शोधक विद्वान् श्री नीरज जैन के विचारों से भी होती है।

द्रष्टव्य—अनेकान्त, वर्ष १७ किरण ४ में प्रकाशित निबन्ध —देवताओं का गढ़ : देवगढ़ . पृ० १६८

की छत जमीन से १७ फुट ऊँची है और छत पर से पुरे शिखर की ऊँचाई लगभग ४५ फुट है। इस प्रकार इस मन्दिर के अत्यन्त भव्य अर्धमण्डप, अन्तराल, प्रदक्षिणा पथ और गर्भगृह से इसकी पचायतन शैली स्पष्ट है तथा स्थापत्य और वास्तु कला के क्रमिक विकास की दृष्टि से इसमें अनेक सम्भावनायें छिपी हुई हैं।

सहस्रों शीत, ग्रीष्म और वर्षा ऋतुएं बिता देने पर पर भी प्रकृति के आगमन में निर्भयता से अवस्थित देवगढ़ का यह मन्दिर वहाँ के सभी स्मारकों में सर्वाधिक समृद्ध और महत्वपूर्ण है। तथा अपने निर्माताओं की यशोगाथा अमर किए हुए है।

आये थे। उन्होंने मुझे टपाल दी और उनके साथ साथ मे ता० २६-३० मार्च को शिरपुर पहुँचा।

डा० यशवंतराव ने इस मन्दिर का सूक्ष्मता से निरीक्षण किया, तथा गाँव के भी अन्तरीक्ष पार्श्वनाथ मन्दिर को भेट दी। उनकी रिपोर्ट है की, यह पवली मन्दिर ६ वी या १० वी शताब्दी का है तथा स्पष्टतया और पूर्णतया यह मन्दिर दिगम्बरियों का ही है।

डा० यशवंतराव ने प्राप्त मूर्तियों के लेख तथा शिलालेख भी उतार लिये हैं। उसकी एक प्रति उन्होंने मुझे भी दी है। उनका सविस्तार ग्रहण तथा मूर्तिलेख संग्रह अनेकान्त में छपवाने की अनुमति उनसे ली है अतः वह आगे दे रहा हूँ। लेकिन पहले “यह मन्दिर भी श्वेताम्बरों का ही है और यह मन्दिर श्वेताम्बरों के मैनेजमेंट के अन्दर ही है।” आदि एक लेख वहाँ के श्वेताम्बर मैनेजर ने ता० २४-३-६७ के दैनिक मातृभूमि में प्रकाशित किया है, इसका सरल अर्थ है कि यह दिगम्बरी समाज और इतिहास के लिये लाल झडी है। श्वेताम्बर लोग किसी बहाने से यहाँ भी कब्जा करने की तैयारी में हैं। हाल ही अप्रैल के अन्तिम सप्ताह में (२६-४-६७) वृधवार के दिन उन लोगों ने दिगम्बरी धर्मशाला के ताले तोड़े तथा बोर्ड्स निकलवाये। उस समय जो भगड़ा हुआ। उस कारण ताले तथा बोर्ड्स स्थानीय पुलिस स्टेशन में जप्त होकर रखे गये हैं।

यद्यपि वहाँ की दिगम्बर जनता जाग्रत है, तथापि समाज के सारे लोग उनके पीछे तन, मन, धन से नहीं होंगे तब तक उनकी बाजू मजबूत नहीं हो सकती। इस मन्दिर का जीर्णोद्धार का कार्य चालू है। उसके लिये कम से कम १५ हजार रुपये की तथा मन्दिर जी के सामने के महाद्वार के आजुबाजू धर्मशाला के निर्माण हेतु २५ हजार रुपये की आवश्यकता है। इसकी पूर्ति अगर हमारे गणमान्य धनी तथा दानी लोग करेंगे तो आगे के झगडे तथा विपत्ती से यह स्थान बच सकता है। बाद में हम कोर्ट कचेरी में हजारों रुपये लगा देंगे या यह मन्दिर नष्ट होने पर लाखों रुपये लगायें तो भी ऐसा मन्दिर खड़ा नहीं हो सकता। अतः इसकी कीमन

समय पर यदि न आकी जाय तो इसको खतरा है यह मुनिश्चित है। और यह निर्विवाद है कि, आज तक इस मन्दिर पर कब्जा कभी श्वेताम्बरों का न था, और न है।

पिछले अंक में इस मन्दिर बाबत ऐतिहासिक तथा सशोधक लोगों के मत प्रकाशित किये हैं। अभी और कुछ दिगम्बर जैन समाज के लिये यहाँ दिये जाते हैं। इससे भी इस मन्दिर पर हमारा कब्जा कैसा है यह सिद्ध होता है :—

(१) एच० सी० जजमेंट पृष्ठ ३१२ (पी०पी०बी०) “श्वेताम्बर लोग इस पवली मन्दिर के कभी मालिक नहीं हो सकते, क्योंकि उन्होंने ही मुख्य मन्दिर के केस में मालकी हक्क की माग पीछे ली है।” आदि।

(२) कम्पार्वेशन रिपोर्ट, बाय ब्लैकस्टोन, आर्गि-स्टेन्ट आर्चियालाजीकल सर्वे ईस्टर्न मर्कल बालपुर ता० १७-४-१९१३—“शिरपुर का प्राचीन मन्दिर अन्तरीक्ष पार्श्वनाथ भगवान का है तथा वह दिगम्बर जैनो का है।” आदि।

(३) लीस्ट आफ प्रोटेक्टेड मानुमेंट एक्म्पेक्टेड बाय दी गवर्नमेंट आफ इण्डिया करेक्टेड अप्टु सप्टेम्बर १९२८—“यह शिरपुर गाँव के बाहर का अन्तरीक्ष पार्श्वनाथ का मन्दिर जैनो का है तथा पुरातत्त्व विभाग ने इसको संरक्षित करके ताबे में लिया है और ता० ८ मार्च १९२१ के करार के अनुसार दिगम्बरी लोग आर्डीनरी रिपेरी कर सकते हैं तथा स्पेशल रिपेरी सिर्फ गवर्नमेंट ही करेगी।” आदि।

(४) अकोला जिलाध्यक्ष का वासम के तहसीलदार को पत्र १३-३-६१—“शिरपुर गाँव के पश्चिम में जो दिगम्बर लोगों का प्राचीन मन्दिर है, वहाँ वे लोग सरकार के ताबे में देने के लिए तैयार हैं क्या ?” आदि।

(५) ऊपर के पत्रको दिगम्बर समाज के पंचों की तरफ से श्री यादवगाव जी श्रावगे का उत्तर ता० १-४-६१ “यह मन्दिर समस्त दिगम्बर जैन समाज का होने से मालकी में अमला नहीं छोड़ सकता तथा इस मन्दिर में अभी अनेको दिगम्बर मूर्तियाँ विराजमान हैं, जो कि समाज से नित्य पूजी जाती हैं। और अभी इस मन्दिर के

जीर्णोद्धार की आवश्यकता है, वह एक तो सरकार ने करना या हम को करने की परवाणगी देना ।”

(६) पुरातत्त्व विभाग—भोपाल से ता० २६-१२-६३ का पत्र—“आपकी विनती के अनुसार आपको पवली मन्दिर की दुरुस्ती करने की परवाणगी दी जाती है । सरकार की तरफ से अभी नहीं होगी ।” आदि ।

(७) पुरातत्त्व विभाग भोपाल से ता० ५-१२-६४ का पत्र—“सरकार की तरफ से शिरपुर के पवली मन्दिर की रिपेरी नहीं हो सकी, क्योंकि यह पवली मन्दिर सुरक्षित स्थलों के याद में से निकाल दिया है । आप मालिक ही है, अतः अब आप उचित मरम्मत कर सकते हैं ।” आदि ।

अब बताइये इस मन्दिर के मालिक कौन है और आज तक यह मन्दिर किमके मैनजमेन्ट के अन्दर है तथा किमके कब्जे में है ? इस मन्दिर बाबत और इतिहास-कारों के मत समाज के सामने रखना हैं :—

(८) आर्चियलार्जिकल सर्वे आफ इंडिया, मेडिक्ल टेपल आफ दी दक्खन बाय कोन्वेन्स १९३१ पेज ६७ —

“यह अंतरिक्ष पार्श्वनाथ पवली टेपल दिगम्बर जैनो का है ।” आदि ।

(९) इम्पीरियल गेनेटीयर (ग्रामफोर्ड) पार्ट ७, पेज ६७—बासम डिस्ट्रिक्ट—अतरिक्ष पार्श्वनाथ का प्राचीन मन्दिर इस जिले में सबसे आकर्षक कलाकृति का स्थान है । यह मन्दिर दिगम्बर जैनो का है ।” आदि ।

अब इस ही मन्दिर में हाल जो ११ मूर्ति तथा स्तम्भलेख मिला उनके ऊपर के उपलब्ध लेख देखो —

(१) नैमिनाथ प्रभु—७ इंच ऊँची “मवत १७०७ मार्गशीर्ष सुदि १३ शुक्ले श्री काष्ठसंघे माधुरगच्छ पुष्करगणे श्री लोहाचार्यान्वये भट्टारक श्री लक्ष्मीमनाम्नाये भट्टारक श्री गुणभद्रांपदशात् . . . जानीय ८६४ाकु-वश उपान्त यावायक गोत्रे स० क (ल्या) न तस्यात्मज. स० वामुदव तस्यात्मज. इदं दिग्बर प्रणमन्ति ।

(२) मिफ २ इंच ऊँची लेख नहीं, लौछन नहीं ।

(३) श्री पार्श्वनाथ—ऊँची ७ इंच—मम्बत् १७५४

वैशाख सुदि १३ शुक्लवार काष्ठासंघे प्रतिष्ठा ।

(४) श्री पार्श्वनाथ—ऊँची ८। इंच—शके १५६१ फालगुण सुदी द्वितीया मनगणे भ० सोमसेन उपदेशात् श्रीपुर (नगरे) प्रतिष्ठा ।

(५) श्री पार्श्वनाथ—६ इंच ऊँची—स्वस्ति श्री सवत १८११ माघ शु० १० श्री कुन्दकुन्दाम्नाये गुरु जानमेन उपदेशात् आदिनाथ तत्पुत्र पासोबा सइतवाल (पुत्र) कृपाल जन्म निमित्ते श्रीपुर नगरे अतरिक्ष पार्श्वनाथ पवली जी(जि)नालय जीर्णोद्धार कृत्य प्रतिष्ठितमिदं बिम्बम् ।

(६) १-७) श्री चन्द्रनाथ—३ इंच ऊँची, लेख नहीं ।

(८) श्री आदिनाथ—२। इंच ऊँची—लेख नहीं ।

टीप—यह सब प्रतिमा हरे पाषाण की है लेख न० ४ तथा ५ इतिहास के लिये विशेष महत्त्व रखते हैं ।

(९) श्री रत्नत्रय प्रभु—लाल पाषाण ८। इंच ऊँची लेख नहीं ।

(१०) श्री पार्श्वनाथ—कालसर पाषाण ९। इंच ऊँची । लेख नहीं ।

टीप—लेख ९ तथा १० यह दो मूर्ति शिल्प की दृष्टि से विशेष महत्त्व की है और प्राप्त मूर्तियों में सबसे प्राचीन है याने कम से कम एक हजार साल पहले की है । इन दो मूर्तियों का अलग फोटो दिया है । तथा ग्रुप फोटो भी दिया है ।

(११) चौबीसी पीतल की—१। फुट ऊँची सोने की पालिम है । इस पर लेख है । लेकिन यह प्रतिमा तिजोरी में होन में लेख बाचने को नहीं मिली ।

(१२) मन्दिर के बाहर जो २८-२-६७ का शील-स्तम्भ प्राप्त हुआ उसके ऊपर का लेख—श्री अतरीक्ष नम गुरु कुन्द कुन्द नमः मवत १८११ माघ सुद १० आदिनाथ पुत्र पासोबा सइतवाल पुत्र कृपाला जन्मे देऊव उद्धार केले ।

इस परमे इस क्षेत्र में जीवन भरने वाले कौन हैं इसका पता चलना है । इस स्थान को निर्माण करने वाले तथा कायम रखन वाले और संरक्षण सवर्धन का इतिहास बनाने वाले दिगम्बर जैन ही हैं । इसी बात का

समर्थन डा० यशवंत खुवाल देशपांडे जी ने अपने अभि-
प्राय में किया है। बाचकों के लिये मैं उसका अनुवाद
दे रहा हूँ :—

साप्ताहिक तरुण भारत, नागपुर ता० २३-४-६७
पृष्ठ ८ के आचार से अनुवादित—

लेखक—डा० य० खु० देशपांडे

शिरपुर यहाँ के श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ

मूर्ति, शिल्प और वास्तु इनके निरीक्षण का ग्रहवाल
ता० २४ मार्च, १९६४ के तरुण भारत के अंक में
'शिरपुर में प्राचीन मूर्ति प्राप्त हुई' इस शीर्षक के नीचे
का वृत्त बाचा तब भारतीय और तदगभूत विद्वानों के
प्राचीन मूर्ति शिल्प इनका अभ्यासक इस नाते मेरा लक्ष
वेधा बाद मैं ता० २४-३-६७ के दैनिक मातृभूमि के
अंक में शिरपुर के जैन संस्थान मैनेजर का खुलासा, इस
मथले के नीचे एक लेख प्रसिद्ध हुआ है, उस पर से वहाँ
दिगम्बर और श्वेताम्बरों के बीच भगडा रहते हुए
अब दिगम्बर लोगों ने प्राचीन मन्दिर की देवड़ी का
छोद काम चालु करके सब प्राचीन अवशेष नष्ट करने के
के कार्य में लगे हैं, आदि मजकूर प्रसिद्ध हुआ है। इस
पर से दिगम्बरी और श्वेताम्बरी लोगों में बड़ा संघर्ष है।
ऐसा मालूम पड़ने पर भी, इस संघर्ष का विचार न करते
हुए भी, प्रत्यक्ष वस्तुस्थिति कैसी है, और विद्वानों के प्राचीन
वस्तु, शिल्प और मूर्ति का अभ्यास पूर्वक निरीक्षण करने
के हेतु मेरे इस वृद्धपन में पराधीनता प्राप्त होने पर भी
प्रत्यक्ष शिरपुर जाने का मैंने ठहराया और ता० २९, ३०
मार्च को मेरे मित्र की सहायता से रात को शिरपुर आकर
दिगम्बरियों की धर्मशाला में भुकाभ किया।

ता० ३० को सबेरे प्रथम पौली मन्दिर की तरफ
गया। यह मन्दिर अत्यन्त जीर्ण शीर्ण हुआ है और इसके
तुरन्त दुरुस्ती की व्यवस्था न हुई तो नष्ट होने की और
विद्वानों के प्राचीन वास्तु, शिल्प तथा मूर्ति जो कि भारतीय
वेदभार्य संस्कृति का बहुमूल्य प्रतीक है नष्ट होने की
सम्भावना है। यह सामान्य आदमी को भी दिखता है।

मन्दिर के सभामण्डप द्वार का ताला था वह दिगम्बर

पुजारी ने लगाया था ऐसा मालूम पड़ा। मैं महा द्वार से
प्रवेश करके मन्दिर चौक में आया। वहाँ अनेक शताब्दी का
बंठा हुआ ४-५ फुट मिट्टी का घर निकालके मन्दिर बंधा
उस समय जो पातवी थी वह प्राप्त हुयी अब मन्दिर के
सामने के चबूतरे को ३-४ हाथ सीढ़ियाँ मूलस्वरूप में
दीख रही है। वहाँ विद्यमान दिगंबरी लोगों ने वह चालू
जीर्णोद्धार की जानकारी दी। और यह लेव्हलींग का
कार्य करते समय वहाँ प्राप्त हुये हुये चतुर्मुख बिंब,
प्रस्तर स्तंभ और उस परका शिलालेख भी बताया। मैंने
उस शिलालेख का वाचन करके टीपगो ली। यह सब लेख
दिगम्बरी होने का मालूम पड़ा। मन्दिर के इदंगिदं
दक्षिण, पश्चिम और उत्तर बाजू के लेव्हलींग का कार्य
तथा वहाँ मिले हुए प्राचीन वस्तु, जमीन में जो गुप्त
कालीन ईंटों की (ईंट दो फुट लम्बी) दिवाल के अवशेष
हैं उसका निरीक्षण करके उसका टीपगो लिया।

अब तक मन्दिर का पुजारी वहाँ आया, उसने मन्दिर
का द्वार खोला फिर हमने कुछ दिगम्बरी लोगों के साथ
मन्दिर में प्रवेश किया। मन्दिर के बाहर के स्थापत्य
तथा अन्दर के स्थापत्य और शिल्प दिवाल पर उत्कीर्ण
मूर्ति तथा तीर्थंकरों के चरित्र के कथा प्रसंग वहाँ दीख
पड़े। तथा गर्भागार और सभा मण्डप में प्रस्थापित मूर्ति
जिसकी पूजा अभी भी दिगम्बरी करते हैं, दीख पड़ी।
इस पर से मेरे मुताबिक किसी भी अभ्यासकों को निश्चय
होगा की यह मन्दिर तथा जिसने यह मन्दिर बनवाया
वह श्वेताम्बरी नहीं था तो दिगम्बरी पंथ का ही था।
यह स्पष्ट है। वहाँ के प्रतिष्ठित ऐसी मन्दिर में की
स्थापित दिगम्बरी मूर्ति, दिगम्बरी पुजारी यह देख कर
इन मूर्तियों की अब तक दिगम्बरों की तरफ से ही पूजा
होती है यह स्पष्ट है।

इसके बाद मन्दिर में जहाँ फर्सी नहीं थी वहाँ छोदने
से ११ दिगम्बर मूर्तियाँ मिली, उनका निरीक्षण किया
और जिन मूर्तियों पर लेख थे उनका वाचन करके उतारा
किया। यह सब दिगम्बरों के ही हैं ऐसा मालूम पड़ा।
इस पौली मन्दिर में एक भी श्वेताम्बरी मूर्ति दिखी नहीं।
निरीक्षण पूर्ण होने के बाद मैं अपने निवासस्थान में

आया, साथ में एक दो दिगम्बरी बन्धू भी थे। गाँव के मन्दिर में भी परिभ्रमण करते समय श्वेताम्बरी मैनेजर वा अन्य श्वेताम्बरी बन्धु मिले नहीं, उससे उनको मिल कर मन्दिर बाबत चर्चा करने का योग आया नहीं।

मन्दिर समीप जाते ही घावार के बाहर जैनों की धर्मशाला लगती है। मन्दिर के बाहर के प्रागन में प्रवेश करते ही सामने पूर्व दिशा में श्वेताम्बरियों ने अपने अलग पूजा के लिये भव्य मन्दिर बना कर जयपुर से खास संगमरमर पाषाण की विघ्नहर पार्वनाथ की श्वेताम्बरीय पद्धत की मूर्ति बना कर उसकी यहां प्रतिष्ठापना करने का ध्यान में आया। मूल मन्दिर के सामने (पडोस में) जो पुरानी धर्मशाला है उसमें सभी यात्रेकरू ठहरते हैं। ऐसा मालूम पड़ा। फिर मैंने मन्दिर के आगन में प्रवेश किया। वहाँ से मुख्य मन्दिर के तल घर में प्रवेश किया। वहाँ इतना मालूम हुआ कि, मुख्य मूर्ति का जो वाद है या उनके पूजा का जो समय निश्चित हुआ है उसे छोड़ कर बाकी मूर्ति तथा गुरु पीठ इनकी पूजा सिर्फ दिगम्बरी लोग ही कर सकते हैं। मुख्य मन्दिर के बाहर आने पर सामने ही श्वेताम्बरी पथ के व्यवस्थापकों की बैठक (अलग अलग) दिखती है।

इस तरह मेरे इन एक दिन के निरीक्षण का थोटक अहवाल है। और आधारभूत ग्रन्थों का तथा लेखों का अभ्यास करके एक विस्तृत अहवाल प्रसिद्ध करने का माणस है। मैं खुद वैदिक धर्मानुयायी हूँ। मेरा यह दृढ़ निश्चय है कि किसी भी धर्मियों ने और धर्मपथियों ने अपने अपने श्रद्धा के अनुसार धर्माचरण करना, उन पर अन्य धर्मियों ने वा पंथियों ने दूसरे के श्रद्धा को धक्का लगेगा ऐसा वर्तन नहीं करना। और ये पुरातन भारतीय धर्म व पंथ परस्पर में भाई-चारे से तथा प्रेम से एकत्र रहना। पर मत सहिष्णुता यह भारतीयों का प्रमुख गुण है। उससे ही भारत में अनेक धर्म और पंथों ने हजारों साल से एकीभाव से रह कर परचक्र का विरोध किया है। और यह ही सहिष्णुता परस्पर में प्रेम भाव बढ़ाने को कारणीभूत हुयी है।

अंत में यह स्पष्ट करना है कि, विदर्भ में मिलने वाली प्राचीन वास्तु, शिल्प और मूर्ति, दक्षिण द्रविड़ देश में तथा ओरिसा में कोपारक, पुरी व भुवनेश्वर आदि

अनेक स्थलों पर जो वस्तु-शिल्प तथा मूर्ति है, इनमें सादृश्य है। मैंने द्राविड़ ओरिसा प्रांत के प्रमुख पुराने वस्तु-शिल्प-मूर्ति का अभ्यासनीय निरीक्षण किया है। विदर्भ के प्राचीन वास्तु आदि का काल ८ से १० वीं शताब्दीका आता है।

विदर्भ के प्राचीन वास्तु शिल्प तथा मूर्ति इनको होना वैसा अभ्यास हुआ नहीं। यह सब भारतीय प्राचीन धन संरक्षण करने की जिम्मेदारी उन धर्मिय लोगों की तथा भारतीय सरकार की है। दूसरे की श्रद्धा को धक्का न देते हुये अपने धर्म का पालन करके दूसरे की श्रद्धा को धक्का न देते हुये अपने धर्म का पालन करके दूसरे धर्मियों पर आक्रमण न करके उनसे भाईचारे से रहना ही श्रेयस्कर है, ऐसा मेरा इन १-११ दिन के निरीक्षण का फल करके मैं नम्रता से जनता के सामने विचार के लिए रखता हूँ।

माने या न माने तो भी यह अहवाल महत्त्व का ही है। क्योंकि, डा० य० खु० देशपांडे साहब ७५ साल के उमर के हैं, याने वयोवृद्ध होने के साथ ज्ञानवृद्ध भी हैं। भारत स्वतन्त्र होने पर भारत की स्वतन्त्रता का इतिहास लिखने में उनका ही सहयोग था। वे इतिहास संशोधन के लिये तथा ऐतिहासिक अहवाल प्रसिद्ध करने के लिये देश में या विदेशों में जब जागतीक परिपद हुई तब उसमें यथा समय भाग लेते ही रहे हैं। महानुभावों के मराठी वाङ्मय पर उनका विशेष अधिकार है। उन्होंने उसका अच्छा सम्पादन भी किया है। हिन्दु हो या मुस्लिम सबके इतिहास की तरफ वे गौरव के साथ देखते हैं तथा उन सबका जतन करना वे खुद का कर्तव्य समझते हैं। अब भी इस ७९ साल की उमर में वे अभ्यासक ही कहलाते हैं। अतः उनके इस अदम्य उत्साह के लिये वे भारतीय जनता के धन्यवाद के पात्र तो हैं ही, लेकिन समस्त भारत के इतिहास की चलती निधि है। प्रभु उनको दीर्घायु तथा आरोग्य प्रदान करे ऐसी मेरी उनके प्रति आदराजली है।

उन्होंने जो हमको भाईचारे की शिक्षा दी उसका हम आदर करेंगे और निज पर कन्याण के लिये नैयार रहेंगे ऐसी उम्मीद रखना हूँ।

कैवल्य दिवस एक सुभाष

मुनि श्री नगराज जी

वैशाख शुक्ला दशमी का दिन आया और चला गया। आचार्यों, मुनियों व श्रावक-श्राविकाओं को यह अनुभव ही विशेषतः नहीं हुआ कि वह हमारा कोई ऐतिहासिक दिवस था और उसके प्रति हमारा कुछ कर्तव्य भी था। वैशाख शुक्ला 'पनरस' का दिन आया, अगले दिन समाचार-पत्रों में पढ़ा गया, प्रभु जगह वैशाली पूर्णिमा का समारोह मनाया गया, लोगों ने जाना, यह बौद्धों का ऐतिहासिक दिवस है इसी दिन बुद्ध का जन्म हुआ था। इसी दिन बुद्ध को सम्बोधिलाभ हुआ था और इसी दिन बुद्ध का परिनिर्वाण भी^१। बुद्ध के सम्बोधि-दिवस को जहाँ सर्व साधारण भी जानते हैं वहाँ महावीर के कैवल्य-दिवस को बहुत सारे जैन भी नहीं जानते। इसका कारण है, कैवल्य-दिवस के नाम से जैन धर्म-संघों में कोई आध्यात्मिक समारोह किये जाने की प्रथा नहीं है।

भगवान महावीर के जन्म, कैवल्य और परिनिर्वाण ये तीन उत्कृष्ट जीवन प्रसंग होते हैं। चैत्र शुक्ला त्रयोदशी जन्म-जयन्ती के रूप में मनाई जाने लगी है। कार्तिक प्रभातस्या भी परिनिर्वाण-दिवस के रूप में कुछ कुछ मनाई जाती है। वैशाख शुक्ला दशमी कैवल्य-दिवस के रूप में कही मनाई जाती हो, ऐसा नहीं सुना गया। जन्म और परिनिर्वाण-दिवस से भी अधिक महत्त्व कुछ अपेक्षाओं से कैवल्य-प्राप्ति का है। सभी जैन संघों में इस दिवस को आध्यात्मिक समारोह के रूप में मनाने का क्रम चालू हो, तो एक बहुत ही सात्त्विक परम्परा का श्री गणेश होगा। सार्वजनिक स्तर पर इसे मनाते रहने में जैन शासन की गौरव-वृद्धि का एक अभिनव सूत्रपात होगा।

१ बौद्धों की सर्वास्तिवादो परम्परा में बुद्ध का परिनिर्वाण कार्तिक पूर्णिमा को माना जाता है।

जैन एकता की दृष्टि से भी कैवल्य-दिवस का मनाया जाना बहुत उपयोगी होगा। सभी संघों में यह एक निर्विवाद तिथि है। सभी श्वेताम्बर सम्प्रदाय और सभी दिगम्बर सम्प्रदाय वैशाख शुक्ला दशमी को ही महावीर की कैवल्य तिथि को मानते हैं। दिगम्बर आम्नाय के अनुसार महावीर की प्रथम देशना श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को होती है। इस बीच में भगवान महावीर गणधरो के अभाव में निवृत्त रहते हैं।

श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार भगवान महावीर की प्रथम देशना कैवल्य-प्राप्ति के अनन्तर ही देव और देवांगनाओं के बीच हो जाती है। व्रत-लाभ की दृष्टि से वह वाणी फल-शून्य रहती है। दूसरी देशना में इन्द्रभूति आदि दीक्षित होते हैं और चतुर्विध तीर्थ की स्थापना होती है।

देशना-काल की इस विविधता से कैवल्य-दिवस प्रभावित नहीं होता। सभी जैन परम्पराओं में तदसम्बन्धी मान्यता ज्यों की त्यों रहती है। कैवल्य-दिवस की स्थापना के बाद जैन समाज के पास तीन पर्व ऐसे हो जाते हैं, जिन्हें वह निर्विवाद तथा एक दिन और एक साथ मना सकता है। वे होंगे-जन्म-दिवस, कैवल्य-दिवस और परिनिर्वाण दिवस।

सम्बत्सरी पर्व की एकता में अनेक वाधाएं दीवार बनकर खड़ी हैं। इस स्थिति में कैवल्य-दिवस की स्थापना बहुत कुछ पूरक हो सकेगी ऐसी आशा है। अपेक्षा है संघों एवं संस्थाओं के दायित्वशील लोग इस ओर ध्यान दे व अपने अपने परिप्रेक्ष में इस सात्त्विक परम्परा का श्री गणेश करें।

महावीर और बुद्ध के पारिपार्श्विक भिक्षु-भिक्षुणियां

(मुनि श्री नगराज जी)

किसी भी, महापुरुष की जीवन-कथा में कुछ पात्र अवश्य ऐसे होते हैं जो उस जीवन-कथा के साथ सदा के लिए अमर रहते हैं। महावीर और बुद्ध की जीवन-कथा में ऐसे पात्रों का योग और भी बहुलता से मिलता है। महावीर के साथ ग्यारह गणधरो के नाम अमर हैं। ये सब भिक्षु-संघों के नायक थे। इन्होंने ही द्वादशांगी का आकलन किया।

गौतम

गौतम उन सब में प्रथम थे और महावीर के साथ अनन्य रूप से संपृक्त थे। ये गूढ-से-गूढ और सहज से सहज प्रश्न महावीर से पूछते ही रहते थे। इनके प्रश्नों पर ही विशालतम आगम विवाह पण्यत्ति (भगवती सूत्र) गठित हुआ है। ये अपने लब्धि-बल से भी बहुत प्रसिद्ध रहे हैं।

गौतम का महावीर के प्रति असीम स्नेह था। महावीर के निर्वाण प्रसंग पर तो वह तट तोड़ कर ही बहने लगा। उन्होंने महावीर की निर्मोह वृत्ति पर उलाहनों का अम्बार खड़ा कर दिया, पर अन्त में सम्भले। उनकी वीतरागता को पहचाना और अपनी सरागता को। पर-भाव से स्वभाव में आए। अज्ञान का आवरण हटा। कैवल्य या स्वयं अर्हत् हो गये।

गौतम द्वारा प्रतिबुद्ध पन्द्रह सौ तापस भिक्षुओं को जब सहज ही कैवल्य प्राप्त हुआ, गौतम को अपने पर ग्लानि हुई। उनके उस अनुताप को मिटाने के लिए महावीर ने कहा था—“गौतम! तू बहुत समय से मेरे साथ स्नेह से संबद्ध है। तू बहुत समय से मेरी प्रशंसा करता आ रहा है। तेरा मेरे साथ चिरकाल से परिचय है। तूने चिरकाल से मेरी सेवा की है। मेरा अनुसरण किया है, कार्यों में प्रवर्तित हुआ है। पूर्ववर्ती देव-भव तथा मनुष्य-भव में भी तेरा मेरे साथ सम्बन्ध रहा है, और क्या, शत्रु के पक्षपात भी—इन शरीरों के नाश हो जाने

पर दोनों समान, एक प्रयोजन वाले तथा भेद-रहित (सिद्ध) होंगे।”¹

उक्त उद्गारों से स्पष्ट होता है, महावीर के साथ गौतम का कैसा अभिन्न सम्बन्ध था।

चन्दनबाला

चन्दनबाला महावीर के भिक्षुणी संघ में अग्रणी थी। पद से वह ‘प्रवर्तिनी’ कहलाती थी। वह राज-कन्या थी। उसका समग्र जीवन उतार-चढ़ाव के चलचित्रों में भरा पूरा था। दासी का जीवन भी उसने जिया। लोह-शृंखलाओं में भी वह आबद्ध रही, पर उसके जीवन का अन्तिम अध्याय एक महान् भिक्षुणी-संघ की सचालिका के गौरवपूर्ण पद पर बीता।

कल्पसूत्र² के अनुसार महावीर के भिक्षु-संघ में सातसौ भिक्षु, चउदह सौ भिक्षुणियों ने कैवल्य (सर्वज्ञत्व) पाया। तेरह सौ भिक्षु-भिक्षुणियों ने अवधि-ज्ञान प्राप्त किया। पाँच सौ भिक्षु मनःपर्यवज्ञानी हुए। तीन सौ चतुर्दश-पूर्व-घर हुए तथा इनके अतिरिक्त अनेकानेक भिक्षु-भिक्षुणियाँ लब्धिघर, तपस्वी, वाद-कुशल आदि हुए।

महावीर कभी-कभी भिक्षु-भिक्षुणियों की विशेषताओं

1. समग्रे भगवं महावीरे भगवं गोयमं आमत्तेत्ता एव वयासी—‘चिरसंसिद्धो ऽसि मे गोयमा । चिरसयुधो ऽसि मे गोयमा । चिरपरिचिन्तो ऽसी मे गोयमा । चिरजुसिन्धो ऽसि मे गोयमा । चिराणुगुप्तो ऽसि मे गोयमा । चिराणुवत्तीसि मे गोयमा । अणतर देवलोए अणंतरं !

माणुवसए भवे, किं परं ? मरणा कायस्स भेदा, इमो चुत्ता दो वि तुल्ला एगद्धा अविसेसमणाणात्ता अविस्सामो ।

—भगवती सूत्र, श० १४, उ० ७

2. सूत्र सं० १३८-४०, ४२, ४४ ।

का नामग्राह उल्लेख भी किया करते थे ।

त्रिपिटक साहित्य में बुद्ध के पारिपाश्विक भिक्षुओं का भी पर्याप्त विवरण मिल जाता है । सारिपुत्र, मौद्गल्यायन, आनन्द, उपालि, महाकाश्यप, आज्ञाकोण्डिन्य आदि भिक्षु बुद्ध के अग्रगण्य शिष्य थे । जैन परम्परा में गणधरो का एक गौरवपूर्ण पद है और उनका व्यवस्थित दायित्व होता है । बौद्ध परम्परा में गणधर जैसा कोई सुनिश्चित पद नहीं है, पर सारिपुत्र आदि का बौद्ध भिक्षु संघ में गणधरों जैसा ही गौरव व दायित्व था ।

सारिपुत्र

गौतम की तरह सारिपुत्र भी बुद्ध के अनन्य महचरो में थे । वे बहुत सूज-बूझ के धनी, विद्वान् और व्याख्याता थे । बुद्ध इन पर बहुत भरोसा रखते थे । एक प्रसंग-विशेष पर बुद्ध ने इनको कहा—“सारिपुत्र ! तुम जिस दिशा में जाते हो, उतना ही आलोक करते हो, जितना कि बुद्ध ।”¹ आगम-साहित्य में केशी-गौतम-चर्चा का बहुत ऊँचा स्थान है । केशीकुमार श्रमण पाँच सौ भिक्षुओं के नेता और पार्श्व-परम्परा के अनुयायी थे । गौतम भी पाँच सौ भिक्षुओं के परिवार से विहार करने थे । दोनों का मिलन हुआ । पार्श्व और महावीर के आचार-भेदों पर मान्विक चर्चाएं हुईं । गौतम की प्रत्युत्पन्न मेधा ने प्रभावित श्रमण केशीकुमार अपने भिक्षु-समुदाय के साथ महावीर की अनुशासना में प्रविष्ट हुए ।²

सारिपुत्र की सूज-बूझ का भी एक अनूठा उदाहरण त्रिपिटक साहित्य में मिलता है । बुद्ध का विरोधी शिष्य देवदत्त जब ५०० वज्जी भिक्षुओं को साथ लेकर भिक्षु-संघ से पृथक् हो जाता है तो मुख्यतः सारिपुत्र ही अपने बुद्धि-बौशल से उन पाँच सौ भिक्षुओं को देवदत्त के चंगुल से निकाल कर बुद्ध की धरणा में लाते हैं ।³

एक बार बुद्ध ने आनन्द से पूछा—“तुम्हें सारिपुत्र सुहाता है न ?” आनन्द ने कहा—“भन्ने ! मूर्ख, दुष्ट

और विक्षिप्त मनुष्य को छोड़ कर ऐसा कौन मनुष्य होगा, जिसे आयुष्मान् सारिपुत्र न सुहाते हों । आयुष्मान् सारिपुत्र महाज्ञानी हैं, महाप्राज्ञ हैं । उनकी प्रज्ञा अत्यन्त प्रसन्न, अत्यन्त तीव्र है ।”

सारिपुत्र के निधन पर बुद्ध कहते हैं—“आज धर्म-रूप कल्प वृक्ष की एक विशाल शाखा टूट गई है ।” बुद्ध सारिपुत्र को धर्म सेनापति भी कहा करते थे ।

मौद्गल्यायन

मौद्गल्यायन का नाम भी सारिपुत्र के साथ-साथ बुद्ध के प्रधान शिष्यों में आता है । ये तपस्वी और ऋद्धिमान् थे । जैन परम्परा में जैसे गौतम के लब्धि-बल के विषय में अनेक बातें प्रचलित हैं, उसी प्रकार मौद्गल्यायन के ऋद्धि-बल की अनेक घटनाएं बौद्ध परम्परा में प्रचलित हैं । गौतम का एक ही क्षीर-पात्र से पन्द्रह सौ तीन भिक्षुओं को मनोहृत्य खीर खिलाना और मौद्गल्यायन का ऊर्चाई पर बंधे चन्दन पात्र को आकाश में उडकर उतार लाना दोनों के तपोबल की उल्लेखनीय घटनाएं हैं ।

पाचसौ वज्जी भिक्षुओं को देवदत्त के नेतृत्व से मुक्त करने में सारिपुत्र के साथ मौद्गल्यायन का भी पूरा हाथ रहा है ।⁴

बुद्ध की प्रमुख उपामिका विशाखा ने सत्ताईस करोड़ स्वर्ण मुद्राओं की लागत से बुद्ध और उसके भिक्षु-संघ के लिए एक विहार बनाने का निश्चय किया । इस कार्य के लिए विशाखा ने बुद्ध से एक मार्ग-दर्शक भिक्षु की याचना की । बुद्ध ने कहा—“तुम जिस भिक्षु को चाहती हो, उसी का चीवर और पात्र उठालो ।” विशाखा ने यह सोचकर कि मौद्गल्यायन भिक्षु ऋद्धिमान् है, उनके ऋद्धि-बल से मेरा कार्य शीघ्र सम्पन्न होगा, उन्हें ही इस कार्य के लिए मांगा । बुद्ध ने पाँच सौ भिक्षुओं के परिवार से मौद्गल्यायन को वहाँ रखा । कहा जाता है, उनके ऋद्धि-बल से विशाखा के कर्मकर रात भर में साठ-साठ योजन से बड़े बड़े वृक्ष, पत्थर आदि उठा ले आने में समर्थ हो

1. अंगुत्तर निकाय, अट्ठकथा, १-४-१

2. उत्तरावगमन सूत्र, अ० २३

3. विनयपिटक, चुल्लवगम, संघ-भेदक-खण्डक ।

1. संयुक्तनिकाय, अनाथपिण्डिकवग्ग, सुसिप्रसुत्त ।

2. विनयपिटक, चुल्लवगम, संघ-भेदक-खण्डक ।

जाते थे ।^१

जैन परम्परा उक्त समारम्भ पूर्ण उपक्रम को भिक्षु के लिए आचरणीय नहीं मानती और न वह लब्धि-बल को प्रयुज्य ही मानती है, पर लब्धि-बल की क्षमता और प्रयोग की अनेक अद्भुत घटनाएं उसमें भी प्रचलित हैं । महावीर द्वारा संदीक्षित नन्दीसेन भिक्षु ने जो श्रेणिक राजा के पुत्र थे, अपने तपोबल से वेश्या के यहा स्वर्ण मुद्राओं की वृष्टि कर दिखाई ।^२

महावीर ने अंगुष्ठ-स्पर्श से जैसे समग्र मेरु को प्रकम्पित कर इन्द्र को प्रभावित किया; बौद्ध परम्परा में मौद्गल्यायन द्वारा वैजयन्त प्रासाद को अंगुष्ठ-स्पर्श से प्रकम्पित कर इन्द्र को प्रभावित कर देने की बात कही जाती है ।^३ कहा जाता है, एक बार बुद्ध, मौद्गल्यायन प्रभृति पूर्वाराम के ऊपरी भौम मे थे । प्रासाद के नीचे कुछ प्रमादी भिक्षु वार्ता, उपहास आदि कर रहे थे । उनका ध्यान खींचने के लिए मौद्गल्यायन ने अपने ऋद्धि बल से सारे प्रासाद को प्रकम्पित कर दिया । सविमन और रोमांचित उन प्रमादी भिक्षुओं को बुद्ध ने उद्बोधन दिया ।^४

औपपातिक सूत्र में महावीर के पारिपाश्विक भिक्षुओं के विषय में बताया गया है :—

“१. अनेक भिक्षु ऐसे थे, जो मन से भी किसी को अभिशप्त और अनुगृहीत कर सकते थे ।

२. अनेक भिक्षु ऐसे थे, जो वचन से ऐसा कर सकते थे ।

३. अनेक भिक्षु ऐसे थे, जो कायिक-प्रवर्तन से ऐसा कर सकते थे ।

४. अनेक भिक्षु श्लेष्मौषध लब्धि वाले थे । उनके श्लेष्म से ही सभी प्रकार के रोग मिटते थे ।

१. धम्मपद अट्ठकथा, ४-४४ ।

२. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रम् पर्व १०, सर्ग ६ ।

३. मज्झिमनिकाय, चूलतण्हासंख्य सुत्त ।

४. संयुत्तनिकाय, महावग्ग, ऋद्धिपाद संयुत्त, प्रासादकम्पनवग्ग, मोगालान सुत्त ।

५. अनेक भिक्षु जलौषध लब्धि के धारक थे ।

उनके शरीर के मूल से दूसरों के रोग मिटते थे ।

६. अनेक भिक्षु विप्रौषध लब्धि के धारक थे ।

उनके प्रस्रवण की बूंद भी रोग-नाशक होती थी ।

७. अनेक भिक्षु ग्रामौषध लब्धि के धारक थे ।

उनके हाथ के स्पर्श-मात्र से रोग मिट जाते थे ।

८. अनेक भिक्षु सर्वौषध लब्धि वाले थे । उनके केश, नख, रोम आदि सभी औषध रूप होते थे ।

९. अनेक भिक्षु पदानुसारी लब्धि के धारक थे; जो एक पद के श्रवण-मात्र से अनेकानेक पदों का स्मरण कर लेते थे ।

१०. अनेक भिक्षु संभन्निश्रोत लब्धि के धारक थे, जो किसी भी एक इन्द्रिय से पांचों इन्द्रियों के विषय ग्रहण कर सकते थे । उदाहरणार्थ—कान से सुन भी भी सकते थे, चक्षु भी सकते थे आदि ।

११. अनेक भिक्षु अक्षीणमहानम लब्धि के धारक थे, जो प्राप्त अन्न को जब तक स्वयं न खालेने थे; तब तक शतशः—सहस्रशः व्यक्तियों को खिला सकते थे ।

१२. अनेक भिक्षु विकुर्वण ऋद्धि के धारक थे । अपने नाना रूप बना सकते थे ।

१३. अनेक भिक्षु जंघाचारण लब्धि के धारक थे । वे जंघा पर हाथ लगाकर एक ही उड़ान में तेरहवें रुक्कवर द्वीप तक और मेरु पर्वत पर जा सकते थे ।

१४. अनेक भिक्षु विद्याचारण लब्धि के धारक थे । वे ईषत् उपप्लम्भ से दो उड़ान में आठवें नन्दीश्वर द्वीप तक और मेरुपर्वत पर जा सकते थे ।

१५. अनेक भिक्षु आकाशातिपाती लब्धि के धारक थे । वे आकाश में गमन कर सकते थे । आकाश से रजत आदि इष्ट अनिष्ट पदार्थों की वर्षा कर सकते थे ।^१

१. अप्पेगइया मण्णेण सावाणुग्गहसमत्था, वएणं सावाणुग्गहसमत्था, काएण सावाणुग्गहसमत्था, अप्पेगइया खेलोसहिपत्ता, एव जल्लोसहिपत्ता, विप्पोमहिपत्ता, आगमो-सहिपत्ता, सव्वोमहिपत्ता, ...पयाणुसारो, संभिन्न-सोआ, अक्खीणमहाणसिओ, विउव्वणिग्गहपत्ता, चारण, विज्जाहरा, आगासाइवाइयो । —उववाइय सुत्त १५

मौद्गल्यायन का निधन बहुत ही दयनीय प्रकार का बताया गया है। उनके ऋद्धि-बल से जल-भुन कर इतर तैषिकों ने उनको पशुमार से मारा। उनकी अस्थियाँ इतनी चूर चूर कर दी गई कि कोई खण्ड एक तन्दुल में बड़ा नहीं रहा। यह भी बताया गया है कि प्रतिकारक ऋद्धि-बल के होते हुए भी इन्होंने इसे भावी का परिणाम समझ कर स्वीकार किया।¹

आनन्द

कुछ द्रष्टियों से बुद्ध के सारिपुत्र और मौद्गल्यायन से भी अधिक अभिन्न शिष्य आनन्द थे। बुद्ध के साथ इनके सम्मग्न बहुत ही रोचक और प्रेरक हैं। इनके हाथों कुछ एक ऐसे ऐतिहासिक कार्य भी हुए हैं, जो बौद्ध परम्परा में मंदा के लिए अमर रहेंगे। बौद्ध परम्परा में भिक्षुणी संघ का श्रीगणेश नितान्त आनन्द की प्रेरणा से हुआ। बुद्ध नारी-दीक्षा के पक्ष में नहीं थे। उन्हें उसमें अनेक दोष दीखते थे। केवल आनन्द के आग्रह पर मह प्रजापति गौतमी को उन्होंने दीक्षा दी। दीक्षा देने के साथ-साथ यह भी उन्होंने कहा—“आनन्द! यह भिक्षु संघ यदि महत् वर्ष तक टिकने वाला था तो अब पाँचमौ वर्ष में अधिक नहीं टिकेगा। अर्थात् नारी-दीक्षा से मर-घम-मघ की यात्री ही उम्र घंघ रह गई है।”

प्रथम बौद्ध संगीति में त्रिपिटको का संकलन हुआ। पाँचमौ अर्हत्-भिक्षुओं में एक आनन्द ही ऐसे भिक्षु थे, जो सूत्र के अधिकारी ज्ञाता थे; अतः उन्हें ही प्रमाण मान कर सुत्तपिटक का संकलन हुआ। कुछ बातों की स्पष्टता यथा समय बुद्ध के पास न कर लेने के कारण उन्हें भिक्षु संघ के समक्ष प्रायश्चित्त भी करना पड़ा। आश्चर्य तो यह है कि भिक्षु-संघ ने उन्हें स्त्री-दीक्षा का प्रेरक बनने का भी प्रायश्चित्त कराया।

आनन्द बुद्ध के उपस्थाक (परिचारक) थे। उपस्थाक बनने का घटना-प्रसंग भी बहुत सरम है। बुद्ध ने अपनी आयु के ५६ वें वर्ष में एक दिन सभी भिक्षुओं को आमंत्रित कर कहा—“भिक्षुओ! मेरे लिए एक उ-

पस्थाक नियुक्त करो। उपस्थाक के अभाव में मेरी अवहेलना होनी है। मैं कहता हूँ, इस रास्ते चलना है, भिक्षु उस रास्ते जाते हैं। मेरा चीवर और पात्र भूमि पर यों ही रख देते हैं।” सारिपुत्र, मौद्गल्यायन आदि सभी को टाल कर बुद्ध ने आनन्द को उपस्थाक-पद पर नियुक्त किया।²

तब से आनन्द बुद्ध के अनन्य सहचारी रहे। समय समय पर गौतम की तरह उनसे प्रश्न पूछते रहते और समय-समय पर परामर्श भी देते रहते। जिस प्रकार महावीर से गौतम का सम्बन्ध पूर्व-भवों में भी रहा; उसी प्रकार जातक साहित्य में आनन्द के भी बुद्ध के साथ उत्पन्न होने की अनेक कथाएँ मिलती हैं। आगन्तुकों के लिए बुद्ध में भेट का माध्यम भी मुख्यतः वे ही बनते। बुद्ध के निर्वाण-प्रसंग पर गौतम की तरह आनन्द भी व्याकुल हुए। गौतम महावीर-निर्वाण के पश्चात् व्याकुल हुए। आनन्द निर्वाण में पूर्व ही एक ओर जाकर दीवाल की सूटी पकड़ कर रोने लगे, जब कि उन्हें बुद्ध के द्वारा उमी दिन निर्वाण होने की सूचना मिल चुकी थी। महावीर-निर्वाण के पश्चात् गौतम उमी रात को केवली हो गये। बुद्ध-निर्वाण के पश्चात् प्रथम बौद्ध संगीति में जाने में पूर्व आनन्द भी अर्हत् हा गए। गौतम की तरह इनको भी अर्हत् न होने की आत्म-ग्लानि हुई। दोनों ही घटना-प्रसंग बहुत सामीप्य रखते हैं।

महावीर के भी एक अनन्य उपासक आनन्द³ थे, पर ये ग्रही-उपासक थे और बौद्ध-परम्परा के आनन्द बुद्ध के भिक्षु उपासक थे। नाम-साम्य के अनिरिक्त दोनों में कोई तादात्म्य नहीं है। महावीर भिक्षु शिष्यों में भी एक आनन्द थे, जिन्हें बुलाकर गोशालक ने कहा था—मेरी तेजोलाब्धि के अभिघात में महावीर शीघ्र ही काल-वर्म को प्राप्त होंगे। जिसका उल्लेख गोशालक सलाप में आता है।

उपासि

उपासि प्रथम संगीत में विनय-सूत्र के सहायक थे।

1. अंगुत्तरनिकाय, अट्ठकथा १-४-१

2. उपासकदशाग सूत्र, अ० १

1. धम्मपद, अट्ठकथा, १-७

विनय-सूत्र उन्होंने बुद्ध की पारिपाश्विकता स ग्रहण किया था ये नापिन कुल में हुए थे। शाक्य राजा भट्टिग, आनन्द आदि अन्य पांच शाक्य कुमारों के साथ प्रव्रजित हुए थे।

महाकाश्यप

महाकाश्यप बुद्ध के कर्मठ शिष्य थे। इसका प्रव्रज्या ग्रहण से पूर्व का जीवन भी बहुत विलक्षण और प्रेरक रहा है। पिप्पली कुमार और भद्राकुमारी का अख्यान इन्हीं का जीवन व्रत है। वही पिप्पलीकुमार माणवक धर्म सघ में आकर आयुष्मान् महाकाश्यप बन जाता है। इसके सुकोमल और बहुमूल्य चीवर का स्पर्श कर बुद्ध ने प्रशंसा की। इन्होंने बुद्ध से वस्त्र-गृहण करने का आग्रह किया। बुद्ध ने कहा—‘मैं तुम्हारा यह वस्त्र ले लूँ, पर क्या तुम मेरे उम जीर्ण मोटे और मलिन वस्त्र को धारण कर सकोगे?’ महाकाश्यप ने वह स्वीकार किया और उसी समय बुद्ध के साथ उनका चीवर-परिवर्तन हुआ। बुद्ध के जीवन और बौद्ध परम्परा की यह एक ऐतिहासिक घटना मानी जाती है।

महाकाश्यप विद्वान् थे। ये बुद्ध सूक्तों के व्याख्याकार के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं। बुद्ध के निर्वाण-प्रसंग पर ये मुख्य निर्देशक रहे हैं। पांच सौ भिक्षुओं के परिवार में विहार करने, जिस दिन और जिस समय ये चिन्ता-मथल पहुँचते हैं, उसी दिन और उसी समय बुद्ध की अन्त्येष्टि होती है।¹

अजातशत्रु ने इन्हीं के मुभाव पर राजगृह में बुद्ध का धातु विधान (अस्थि गर्भ) बनवाया, जिसे कालान्तर से सम्राट अशोक ने खोला और बुद्ध की धातुओं को दूर-दूर तक पहुँचाया।²

ये महाकाश्यप ही प्रथम बौद्ध मगीति के नियामक रहे हैं।³

आजाकौण्डिन्य, अनिरुद्ध आदि और भी अनेक भिक्षु ऐसे रहे हैं, जो बुद्ध के पारिपाश्विक कहे जा सकते हैं।

1. दीघनिकाय, महापरिनिब्बान मुत्त।
2. दीघनिकाय, अट्ठकथा, महापरिनिब्बान मुत्त।
3. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, पञ्चशानिका खन्धक।

गौतमी

बौद्ध भिक्षुणियों में महाप्रजापति गौतमी का नाम उतना ही श्रुतिगम्य है, जितना जैन परम्परा में महासती चन्दनबाला का। दोनों के पूर्वजन्म जीवन-वृत्त में कोई समानता नहीं है, पर दोनों ही अपने-अपने धर्म-नायक की प्रथम शिष्या रही हैं अपने-अपने भिक्षुणी-मघ में अग्रणी भी।

गौतमी के जीवन की दो बातें विशेष उल्लेखनीय हैं। उसने नारी-जाति को भिक्षु-सघ में स्थान दिलवाया तथा भिक्षुणियों को भिक्षुओं के समान ही अधिकार देने की बात बुद्ध से कही। बुद्ध ने गौतमी को प्रव्रजित करते समय कुछ शर्तें उस पर डाल दी थी, जिनमें एक थी—‘चिर दीक्षिता भिक्षुणी के लिये भी सद्यः दीक्षित भिक्षु वन्दनीय होगा। गौतमी ने उसे स्वीकार किया, पर प्रव्रजित होने के पश्चात् बहुत शीघ्र ही उसने बुद्ध से प्रश्न कर लिया—‘भन्ते! चिर दीक्षिता भिक्षुणी ही नव-दीक्षित भिक्षु को नमस्कार करें, ऐसा क्यों? क्यों न नव दीक्षित भिक्षु ही चिर दीक्षिता भिक्षुणी को नमस्कार करें?’ बुद्ध ने कहा—‘गौतमी! इतर धर्म-मघों में भी ऐसा नहीं है। हमारा धर्म-मघ तो बहुत श्रेष्ठ है।’

आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व गौतमी द्वारा यह प्रश्न उठा लेना, नारी-जाति के आत्म-सम्मान का सूचक उनके दम उच्चार से पता चलता है, महापुरुष भी कुछ एक ही नवीन मूल्य स्थापित करते हैं; अधिकांशतः तो वे भी लौकिक व्यवहार या लौकिक ढंगों का अनुसरण करते हैं। अस्तु, गौतमी की यह बात भले ही आज पच्चीस सौ वर्ष बाद भी फलित न हुई हो, पर उसने बुद्ध के समक्ष अपना प्रश्न रखकर नारी-जाति के पक्ष में एक गौरवपूर्ण दनिहाय तो बना ही दिया है।

गौतमी के अनिरुद्ध खेमा, उदालवर्णा, पटाचारा, कुण्डल केशा भद्राकापिलायनी आदि अन्य अनेक भिक्षुणियाँ बौद्ध धर्म-मघ में सुप्रख्यात रही हैं। बुद्ध ने ‘एनदग वग मुत्त’ में अपने दक्षिणनिम भिक्षुओं तथा

1. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, भिक्षुणी खन्धक

बारह भिक्षुणियों को नाम-ग्राह अभिनन्दित किया है तथा पृथक्-पृथक् गुणों में पृथक्-पृथक् भिक्षु-भिक्षुणियों को अग्रगण्य बताया है। वे कहते हैं :-

१. भिक्षुओं। मेरे अनुरक्तज्ञ भिक्षुओं में आज्ञा-कौण्डिन्य^१ अग्रगण्य है।

२. ... महाप्राज्ञों में सारिपुत्र^२ ...।

३. ... ऋद्धिमानों में महामौद्गल्यायन^३ ...।

४. ... धृतवादियों (त्यागियों) में महाकाश्यप^४ ...।

५. ... दिव्यचक्षुओं में अनुरुद्ध^५ ...।

६. ... उच्चकुलीनों में भद्रिय कालिगोष्ठा-पुत्र^६ ...।

७. ... कोमल स्वर से उपदेष्टाओं में लकुण्टक महिय ...^७

८. ... सिंहनादियों में पिण्डोल भारद्वाज^८ ...।

९. ... धर्म-कथिकों में पूर्ण मैत्रायणी-पुत्र^९ ...।

१०. ... व्याख्याकारों में महाकाश्यायन^{१०} ...।

११. ... मनोगत-रूप-निर्माताओं व चित्त-विवर्त चतुरों में चुल्लपन्थक^{११} ...।

१२. ... संज्ञा-विवर्त-चतुरों में महापन्थक^{१२} ...।

१३. ... अरण्य-बिहारियों व दक्षिणियों में सुभूति^{१३} ...।

१. शाक्य, कपिलवस्तु के समीप द्रोण वस्तु ग्राम, ब्राह्मण

२. मगध, राजगृह से अविदूर उपतिष्य (नालक) ग्राम ब्राह्मण

३. मगध, राजगृह से अविदूर कोलितग्राम, ब्राह्मण

४. मगध, महातीर्थ ब्राह्मण ग्राम, ब्राह्मण

५. शाक्य, कपिलवस्तु, क्षत्रिय, बुद्ध के चाचा अष्ट-तौदन शाक्य के पुत्र

६. शाक्य, कपिलवस्तु, क्षत्रिय

७. कौशल, श्रावस्ती, धनी (महाभोग)

८. मगध, राजगृह, ब्राह्मण

९. शाक्य, कपिलवस्तु के समीप द्रोण-वस्तु ग्राम

१०. अवन्ती, उज्जयिनी, ब्राह्मण

११. मगध, राजगृह, श्रेष्ठि-कन्यापुत्र

१२. मगध, राजगृह, श्रेष्ठि-कन्यापुत्र

१३. कौशल, श्रावस्ती, वैश्य

१४. ... अरण्यकों (वन वासियों) में रेवतकदिर वनिये^१ ...।

१५. ... ध्यानियों में कंथा रेवत^२ ...।

१६. ... उद्यमशीलों में सोणकोडिवीस^३ ...।

१७. ... सुवक्ताओं में सोणकुटिकण^४ ...।

१८. ... लाभाधियों में सीवली^५ ...।

१९. ... श्रद्धाशीलों में वक्कलि^६ ...।

२०. ... संधीय-नियम-बद्धता में राहुल^७ ...।

२१. ... श्रद्धा से प्रव्रजितों में राष्ट्रपाल^८ ...।

२२. ... प्रथम शलाका ग्रहण करने वालों में कुण्डधान^९ ...।

२३. ... कवियों में वंगीस^{१०} ...।

२४. ... समन्तप्रासादिकों (सर्वतः लावण्य सम्पन्न) में उपसेन वगन्त पुत्र^{११} ...।

२५. शयनासन-प्रज्ञापकों में द्रव्य-मल्लपुत्र^{१२} ...।

२६. ... देवताओं के प्रियों में पिलिन्दिवात्स्य^{१३} ...।

२७. ... प्रखर बुद्धिमानों में बाहियदारुचीरिय^{१४} ...।

२८. ... विचित्र वक्ताओं में कुमार काश्यप^{१५} ...।

१. मगध, नालक ब्राह्मण-ग्राम, सारिपुत्र के अनुज

२. कौशल, श्रावस्ती, महाभोग

३. अग, चम्पा, श्रेष्ठी

४. अवन्ती, कुरुरप्पर, वैश्य

५. शाक्य, कुण्डिया, क्षत्रिय, कोलिय-दुहिता सुप्रवासा

का पुत्र

६. कौशल, श्रावस्ती, ब्राह्मण

७. शाक्य, कपिलवस्तु, क्षत्रिय, सिद्धार्थ-पुत्र

८. कुरु, युल्लकोण्ठि, वैश्य

९. कौशल, श्रावस्ती, ब्राह्मण

१०. कौशल श्रावस्ती, ब्राह्मण

११. मगध, नालक ब्राह्मण-ग्राम, ब्राह्मण, सारिपुत्र

के अनुज

१२. मल्ल, अनूपिया, क्षत्रिय

१३. कौशल, श्रावस्ती, ब्राह्मण

१४. बाहियराष्ट्र, कुलपुत्र

१५. मगध, राजगृह

३६. ...प्रतिसवित्प्राप्तो में महाकोष्ठित^१....
 ३७. बहुश्रुतो, गतिशीलो, स्थितिमानो व उप-
 स्थाको में आनन्द^२
 ३१. ... महापरिपद् वालो में उरुवेल काश्यप^३ .
 ३२. ... कुल-प्रमादको में काल-उदायो^४ ...
 ३३. ... निरोगो में वक्कुल^५ ...
 ३४. ... पूर्व जन्म का स्मरण करने वालो मे
 शोभित^६....
 ३५. विनयघरो में उपाति^७ ...
 ३६. ... भिक्षुणियो के उपदेष्टाओ मे नन्दक^८ .
 ३७. ... जितेन्द्रियो में नन्द^९....
 ३८. भिक्षुओ के उपदेष्टाओ मे महाकप्पिन^{१०}
 ३९. तेज-धातु-कुशला मे स्वागत^{११}....
 ४०. ... प्रतिभाशालियो मे राघ^{१२} ..
 ४१. रुक्ष चीवर-धारियो मे मोघराज^{१३}.....

भिक्षुणियों में

१. भिक्षुओ ! मेरी रक्तज्ञा भिक्षुणियों मे
 महाप्रजापति गौतमी अग्रगण्य है^{१४} ।
 २. ...महाप्रजाओ में सेमा^{१५}.....

१. कौशल, श्रावस्ती, ब्राह्मण
२. शाक्य, कपिलवस्तु, क्षत्रिय, अश्वतीदन पुत्र
३. काशी, वाराणसी, ब्राह्मण
४. शाक्य, कपिलवस्तु, अमात्यगेह
५. वत्स, कौशाम्बी, वैश्य
६. कौशल, श्रावस्ती, ब्राह्मण
७. शाक्य, कपिलवस्तु, नापित
८. कौशल, श्रावस्ती, कुलगेह
९. शाक्य, कपिलवस्तु, क्षत्रिय, महाप्रजापती-पुत्र
१०. सीमान्त, कुक्कुटवती, राजवंश
११. कौशल, श्रावस्ती, ब्राह्मण
१२. मगध, राजगृह, ब्राह्मण
१३. कौशल, श्रावस्ती, ब्राह्मण, बाबरी-विषय
१४. शाक्य, कपिलवस्तु, क्षत्रिय, शुद्धोदन की पत्नी
१५. मद्र, सागल, राजपुत्री, मगधराज बिम्बिसार की पत्नी

३. श्रद्धिशालिनियो मे उत्पलवर्णा^{१६}.....
 ४. ... विनयघराओ मे पटाचारा^{१७}
 ५. ... धर्मोपदेशकाओ मे धम्मदिन्ना^{१८}.....
 ६. ... ध्यायिकाओ में नन्दा^{१९}.....
 ७. उद्यमशीलाओ मे सोणा^{२०} ...
 ८. प्रखर प्रतिभाशालिनीओ मे भद्राकुण्डल-
 केशा^{२१}....
 ९. पूर्वजन्म का अनुस्मरण-कारिकाओ में
 भद्रा कार्पलायनी^{२२}
 १०. ... महाप्रमिजा-कारिकाओ में भद्रा कात्या-
 यनी^{२३}
 ११. रुक्ष चीवर-धारिकाओ में कृशा गौतमी^{२४}
 १२. श्रद्धा-युक्तो मे अगाल माना^{२५}.....

आगम साहित्य में 'एतद्ग वग' की तरह नाम-
 ग्राह कोई व्यवस्थित प्रकरण इस विषय का नहीं मिलता,
 पर कल्पसूत्र का केवरी आदि का संख्याबद्ध उल्लेख
 महावीर के भिक्षु-मघ की व्यापक सूचना हमें दे देता है ।
 औपपातिक सूत्र में निग्रन्थो के विविध तपो का और
 उनकी अन्य विविध विशेषताओ का सविस्तार वर्णन है ।
 तप के विषय में बताया गया है—“अनेक भिक्षु कनका-
 वली तप करते थे । अनेक भिक्षु एकावली तप, अनेक
 भिक्षु लघुमहनिष्क्रीडित तप, अनेक भिक्षु महासह-
 निष्क्रीडित तप, अनेक भिक्षु लघुमहनिष्क्रीडित तप, अनेक
 भिक्षु भद्र प्रतिमा, अनेक भिक्षु महाभद्र प्रतिमा, अनेक
 भिक्षु आर्यबिल वद्ध मान तप, अनेक भिक्षु मासिकी भिक्षु

१. कौशल, श्रावस्ती, श्रेष्ठ-कुल
२. कौशल, श्रावस्ती, श्रेष्ठ कुल
३. मगध, राजगृह, विचारव श्रेष्ठी की पत्नी
४. शाक्य, कपिलवस्तु, महाप्रजापती गौतमी की पुत्री
५. कौशल, श्रावस्ती, कुलगेह
६. कौशल, श्रावस्ती, कुलगेह
७. मद्र, सागल, ब्राह्मण, महाकाश्य की पत्नी
८. शाक्य, कपिलवस्तु, क्षत्रिय, राहुल-माता-देव
 दहवासी, सुप्रबुद्धशाक्य की पुत्री
९. कौशल, श्रावस्ती, वैश्य

प्रतिमा, अनेक भिक्षु द्विमासिका भिक्षु प्रतिमा से सप्त मासिकी भिक्षु प्रतिमा अनेक भिक्षु प्रथम-द्वितीय-तृतीय सप्त अहोरात्र प्रतिमा, अनेक भिक्षु एक अहोरात्र प्रतिमा, अनेक भिक्षु एक रात्रि प्रतिमा, अनेक भिक्षु सप्त सप्तमिका प्रतिमा, अनेक भिक्षु लघुमोन्द प्रतिमा, अनेक भिक्षु यव-मध्यचन्द्र प्रतिमा तथा अनेक भिक्षु वज्रमध्यचन्द्र प्रतिमा तप करते थे।”

अन्य विशेषताओं के सम्बन्ध से वहा बताया गया है—“वे भिक्षु ज्ञान-सम्पन्न, दर्शन-सम्पन्न, चारित्र सम्पन्न, लज्जा-सम्पन्न व लाघव-सम्पन्न थे। वे अज्ञस्वी, तेजस्वी, वर्चस्वी और यशस्वी थे, वे इन्द्रिय-जयी, निन्द्रा-जयी और परिषद्-जयी थे। वे जीवन की आशा और मृत्यु के भय से विमुक्त थे वे, प्रज्ञप्ति आदि विद्याओं व मंत्रों में प्रधान थे। वे श्रेष्ठ, ज्ञानी, ब्रह्मचर्य, सत्य व शौच में कुशल थे। वे चारु वर्ण थे। भौतिक आशा-बाँझा से वे ऊपर उठ चुके थे आत्मसुख रहित, श्रामण्य-पर्याय में माव-धान और बाह्य-आभ्यन्तरिक ग्रन्थियों के भेदन में कुशल थे। स्व-सिद्धान्त और पर-सिद्धान्त के ज्ञाता थे। परवादियों को परास्त करने में अग्रणी थे। द्वादशाङ्गी के ज्ञाता और मसस्त गणिपिटक के धारक थे। अक्षरों के समस्त सयोगों के व सभी भाषाओं के ज्ञाता थे। वे जिन(सर्वज्ञ) न होते हुए भी जिनके सदृश थे।”

प्रकीर्ण रूप से भी अनेकानेक भिक्षु-भिक्षुणियों के जीवन प्रसंग आगम-साहित्य में बिखरे पड़े हैं, जिनसे उनकी विशेषताओं का पर्याप्त व्योरा मिल जाता है।

काकन्दी के धन्य

काकन्दी के धन्य बत्तीस परिणीता तरुणियों और बत्तीस महलों को छोड़कर भिक्षु हुए थे। महावीर के साथ रहते उन्होंने इतना तप तपा कि उनका शरीर केवल अस्थि कंकाल-मात्र रह गया था। राजा बिम्बिसार के द्वारा पूछे जाने पर महावीर ने उनके विषय में कहा—“अभी यह धन्य भिक्षु अपने तप से, अपनी साधना से

चतुर्दश सहस्र भिक्षुओं में दुष्कर क्रिया करने वाला है।
मेघकुमार

बिम्बिसार के पुत्र मेघकुमार दीक्षा-पर्याय की प्रथम रात में संयम से विचलित हो गये। उन्हें लगा, कल तक जब मैं राजकुमार था, सभी भिक्षु मेरा आदर करते थे, स्नेह दिखलाते थे। आज मैं भिक्षु हो गया, मेरा वह आदर कहाँ? मुँह टाल कर भिक्षु इधर-उधर अपने कामों में दीड़े जाते हैं। सदा की तरह मेरे पास आकर कोई जमा नहीं हुए। शयन का स्थान मुझे अन्तिम मिला है। द्वार से निकलते और आते भिक्षु मेरी नींद उड़ाते हैं। मेरे साथ यह कैसा व्यवहार? प्रभात होते ही मैं भगवान् महावीर को उनकी दी हुई प्रव्रज्या वापिस करूँगा। प्रातःकाल ज्यों ही वे महावीर के सम्मुख आये, महावीर ने अपने ही ज्ञान-बल से कहा—“मेघकुमार! रात को तेरे मन में ये ये चिन्ताएँ उत्पन्न हुईं। तुमने पात्र-रजो-हरण आदि संभला कर जाने का निश्चय किया।” मेघकुमार ने कहा—“भगवन्! आप सत्य कहते हैं।” महावीर ने उन्हें समयारूढ करने के लिए नाना उपदेश दिये तथा उनके पूर्व भव का वृत्तान्त बताया मेघकुमार पुनः समयारूढ हो गया।

मेघकुमार भिक्षु ने जाति-स्मरण ज्ञान पाया। एकाद-शाङ्गी का अध्ययन किया। गुणरत्नसंवत्सर तप की आराधना की। भिक्षु की ‘द्वादश प्रतिमा’ आराधी। अन्त में महावीर से आज्ञा ग्रहण कर वैभार गिर पर आमरण अनशन कर उत्कृष्ट देव-गति को प्राप्त हुए।

बौद्ध परम्परा में सद्यः दीक्षित नन्द का भी मेघकुमार जैसा ही हाल रहा। वह अपनी नव विवाहिता पत्नी जनपद कल्याणी नन्दा के अन्तिम आम्रश्रण को याद कर दीक्षित होने के अनन्तर ही विचलित-सा हो गया। बुद्ध

1. इमेसिण भन्ते ! इदभूई पामोक्खणं चउदसण्हं समण साहसीणं कयरे अणगारे महादुक्कर कारणे चैव महाणिज्जरकारएचैव ? एवं खनु सेणिया ! इमीसि इदभूई पामोक्खवाण चउदसण्हं समण साहसीणं धन्ने अणगारे महा दुक्करकारणं चैव महानिज्जर कारणे चैव ।

—अगुत्तरोववाई दसाग, वर्ग ० ३, अ० १

1. उववाइय सुत्र, १५

2. उववाइय सुत्र १५-१६

ने यह सब जाना और उसे प्रतिबुद्ध करने के लिये र्वन पर ले गये। वहाँ एक बन्दरी का शव उसे दिखाया और पूछा—“क्या तुम्हारी पत्नी इससे अधिक सुन्दर है?” वह बोला—“अवश्य।” तब बुद्ध उसे त्रार्याम्त्रय स्वर्ग में ले गये। अप्सराओं-सहित इन्द्र ने उनका अभिवादन किया। बुद्ध ने अप्सराओं की ओर संकेत कर पूछा—“क्या जनपद कल्याणी नन्दा इससे भी सुन्दर है?” वह बोला—“नहीं, भन्ते!” बुद्ध ने कहा—“तब उसके लिए तू क्यों विक्षिप्त हो रहा है? भिक्षु धर्म का पालन कर। तुझे भी ऐसी अप्सराएं मिलेंगी।” नन्द पुनः श्रमण धर्म में आरुढ़ हुआ। उसका वह वैषयिक लक्ष्य तब मिटा, जब सारिपुत्र आदि अस्सी महा श्रावकों (भिक्षुओं) ने उस इस बात के लिए लज्जित किया। अन्त में भावना से भी विषय-मुक्त होकर वह अर्हन्त हुआ।

मेघकुमार और नन्द के विचलित होने के निमित्त सर्वथा भिन्न थे, पर घटना-क्रम दोनों का ही बहुत समान है। महावीर मेघकुमार को पूर्व भव का दुःख बताकर सुस्थिर करने हैं और बुद्ध नन्द के आगामी भव के मुख बताकर करते हैं।

शालिभद्र

राजगृह के शालिभद्र, जिनके वैभव को देखकर राजा बिम्बिसार भी विस्मित रह गये थे; भिक्षु जीवन में आकर उत्कट तपस्वी बने। मासिक, द्विमासिक और त्रैमासिक तप उनके निरन्तर चलता रहता। एक बार महावीर वृहत् भिक्षु-संघ के साथ राजगृह आये। शालिभद्र भी साथ थे। उस दिन उनके एक महीने की तपस्या का पारणा होना था। उन्होंने नतमस्तक हो, महावीर से भिक्षार्थ नगर में जाने की आज्ञा माँगी। महावीर ने कहा—“जोओ, अपनी माता के हाथ में पारणा पाओ।” शालिभद्र अपनी माता भद्रा के घर आए। भद्रा महावीर

और अपने पुत्र के दर्शन को नैयाग हो रही थी। उत्सुकता में उसने घर आए मुनि की ओर ध्यान ही नहीं दिया। कर्मकरो ने भी अपने स्वामी को पहचाना शालिभद्र बिना भिक्षा पाए ही लौट आए रास्ते में एक अहिर्न मिली। दही का मटका लिए जा रही थी। मुनि को देखकर उसके मन में स्नेह जगा। रोमांचित हो गई। स्तनो से दूध की धारा वह चली। उसने मुनि को दही लेने का आग्रह किया। मुनि दही लेकर महावीर के पास आये पारणा किया। महावीर से पूछा—“भगवन्! आपने कहा था, माता के हाथ में पारणा करो। वह क्यों नहीं हुआ?” महावीर ने कहा—“शालिभद्र! माता के हाथ से ही पारणा हुआ है। वह अहिर्न तुम्हारे पिछले जन्म की माता थी।”

महावीर की अनुज्ञा पा शालिभद्र ने उसी दिन वैभार गिरि पर्वत पर जा आमरण अनशन ढा दिया। भद्रा समवशरण से आई। महावीर के मुख में शालिभद्र का भिक्षाचारी में ले कर अनशन तक का सारा वृत्तान्त सुना। माता के हृदय पर जो बीत सकता है, वह बीता। तत्काल वह पर्वत पर आई। निर्मोही पुत्र ने पाख उठाकर भी उसकी ओर नहीं देखा। पुत्र की उम तपः क्लिष्ट काया को और मरणाभिमुख स्थिति को देख कर उसका हृदय हिल उठा। वह दहाड मार कर रोने लगी। राजा बिम्बिसार ने उस मान्दवना दी। उद्बोधन दिया। वह घर गई। शालिभद्र सर्वोच्च देवर्गति को प्राप्त हुए। उनके गृही-जीवन की विलास-प्रियता और भिक्षु-जीवन की कठोर साधना दोनों ही उत्कृष्ट थी।

स्कन्दक

स्कन्दक महावीर के परित्राजक भिक्षु थे। परित्राजक-साधना में भिक्षु-साधना में आना और उसमें उत्कृष्ट रूप में रम जाना उनकी उल्लेखनीय विशेषता थी। आगम बताते हैं स्कन्दक यत्नापूर्वक चलते, यत्नापूर्वक ठहरते, यत्नापूर्वक बैठते, यत्नापूर्वक सोते, यत्नापूर्वक खाने और यत्नापूर्वक बोलते। प्राण, भूत, जीव, मत्त्व के प्रति सयम रखते। वे कात्यायन गोत्रीय स्कन्दक ईर्या आदि पाँचों समितियों में सयत, मनः संयत, वचः संयत, काय-संयत,

1. सुत्तनिपात, अट्टकथा, पृ० २७२, धम्मपद, अट्टकथा, खण्ड १, ६६-१०५; जातक स० १८२, थेरगाथा १५७; Dictionary of Pali Proper Name, Vol. I, pp 10-11

वचः संयत, जितेन्द्रिय, आर्काक्ष-रहित, चपलता-रहित और संयमरत थे^१।

वे स्कन्दक भिक्षु स्थविरो के पास अध्ययन कर एकादश अंगों के ज्ञाता बने। उन्होंने भिक्षु की द्वादश प्रतिमा आराधी। भगवान् महावीर से आज्ञा लेकर गुणरत्नसंवत्सर तप तपा। इस उत्कृष्ट तप से उनका सुन्दर सुडौल और मनोहारी शरीर रूक्ष, शुष्क और कृश हो गया। चर्म-वेष्टित हड्डियाँ ही शरीर में रह गईं। जब वे चलते, उनकी हड्डियाँ शब्द करती; जैसे कोई सूखे पत्तों से भरी गाड़ी चल रही हो, कोयलो से भरी गाड़ी चल रही हो। वे अपने तप के तेज से दिप्त थे^२।

1. भगवती सूत्र, श० २, उ० १

2. तए णं से अणगारे तेण उरालेणं, विउलेणं

महागुभागेणं तवोकम्मेण मुक्के, लुक्खे, निम्ममे, घट्टि-चम्मावगद्धे, किडिकिडियाभूए, किमे, घमणि, संवए जाए यावि होत्था। जीवं-जीवेण गच्छइ, जीव जीवेण चिट्ठइ, भासं भासित्ता वि गिलाइ, भाम भासमाणे गिलाइ, भासं भासि-स्सामीनि गिलायति। से जहानामए कदूसगडिया इ वा, पत्तसगडिया इ वा, पत्त-तिल-भंड सगडिया इ वा, एरडकट्टसगडिया इ वा, इंगालसगडिया इ वा उण्हे दिण्णा मुक्का ममाणी समद् गच्छइ, ससद् चिट्ठइ, ऐवा मेव खदए वि अणगारे ससद् गच्छइ, ससद् चिट्ठइ, उवचिए तवेणं,

स्कन्दक तपस्वी को बोलने में ही नहीं, बोलने का मन करने मात्र से ही क्लान्ति होने लगी। अपने शरीर की इस क्षीणावस्था का विचार कर वे महावीर के पास आये उनसे आमरण अनशन की आज्ञा मागी। अनुज्ञा पा, परिचारक भिक्षुओं के साथ विपुलाचल पर्वत पर आये, यथाविधि अनशन ग्रहण किया। एक मास के अनशन से काल-धर्म को पा अच्युत्कल्प स्वर्ग में देव हुए। महावीर के पारिपाश्विकों में उनका भी उल्लेखनीय स्थान रहा है। पचमाग भगवती सूत्र में उनके जीवन और उनकी साधना पर सविस्तार प्रकाश डाला गया है।

महावीर की भिक्षुगियों में चन्दनवाला के अतिरिक्त श्रगावती, देवानन्दा, जयन्ती, सुदर्शना आदि अनेक नाम उल्लेखनीय हैं।

महावीर और बुद्ध के पारिपाश्विक भिक्ष-भिक्षुगियों की यह सक्षिप्त परिचय-गाथा है। विस्तार के लिए इस दिशा में बहुत अवकाश है। जो लिखा गया है, वह तो प्रस्तुत विषय की झलक मात्र के लिए ही यथेष्ट माना जा सकता है।

अवचिए मंसमोणिएणं, ह्यामणे विव भासारासिपडिच्छण्णे तवेणं, तेणं, तव तेयगिगीए अतीव अतीव उवमोभेमामो चिट्ठइ।

—भगवती सूत्र, श० २, उ० १

राजा श्रेणिक या बिम्बसार का आयुष्य काल

(पं० मिलापचन्द कटारिया)

जैन शास्त्रों में राजा श्रेणिक की आयु के विषय में कहीं कोई स्पष्ट निर्देश नहीं मिलता है कि उनकी कितनी आयु थी। तथापि उनके कथा प्रसंगों से उनकी आयु का पता लगाया जा सकता है। इस लेख में हम इसी पर चर्चा करते हैं :—

उत्तरपुराण के ७४ वे पर्व में राजा श्रेणिक का चरित्र निम्नप्रकार बताया है :—

“राजा कुणिक की श्रीमती राणी से श्रेणिक नाम का पुत्र हुआ। राजा के और भी बहुत से पुत्र थे। राजा ने एक दिन सोचा कि इन सब पुत्रों में राज्य का अधिकारी कौन पुत्र होगा ? निमित्तज्ञानी के बताये निमित्तों से राजा को निश्चय हुआ कि एक श्रेणिक पुत्र ही मेरे राज्य का उत्तराधिकारी बनेगा। तब राजा ने दायादों से श्रेणिक की रक्षा करने के लिये श्रेणिक पर बनावटी क्रोध करके

उसे नगर से निकाल दिया। वहाँ से निकल कर श्रेणिक दूर देश में जाने की इच्छा से चलता हुआ नन्दिग्राम में पहुँचा। किन्तु नन्दिग्राम के निवासियों ने राजाज्ञा के भय से राजकुमार श्रेणिक को कोई आश्रय नहीं दिया। इससे नाराज हो श्रेणिक आगे बढ़ा। रास्ते में उसे एक ब्राह्मण का साथ हुआ। उससे प्रेमपूर्वक अनेक बातें करता हुआ श्रेणिक उस ब्राह्मण के मकान पर जा पहुँचा। श्रेणिक की वाक्चानुरी, यौवन आदि गुणों पर मुग्ध होकर उस ब्राह्मण ने उसके साथ अपनी युवा-पुत्री का विवाह कर दिया। श्रेणिक अब यही रहने लगा। यही पर श्रेणिक के उस ब्राह्मण कन्या से एक अभयकुमार नाम का पुत्र हुआ। एक दिन श्रेणिक के पिता कुणिक को अपना राज्य छोड़ने की इच्छा हुई। कुणिक ने ब्राह्मण के ग्राम से श्रेणिक को बुला कर उसे अपना सब राज्य सभला दिया। अब श्रेणिक राज्य करने लगा। पीछे से अभय कुमार और उनकी माता भी राजा श्रेणिक से आ मिले।

(श्लोक ४१८ से ४३०)

उत्तरपुराण पर्व ७५ में लिखा है कि :—

मिथुदेश की वैशाली नगरी के राजा चेटक के १० पुत्र और ७ पुत्रियाँ थीं प्रियकारिणी मृगावती सुप्रभा, प्रभावती, चेलना, ज्येष्ठा चंदना ये उन पुत्रियों के नाम थे। ये सब—वय में उत्तरोत्तर छोटी छोटी थीं। इनमें सबसे बड़ी पुत्री प्रियकारिणी थी जो राजा सिद्धार्थ की व्याही गई थी जिससे—भगवान् महावीर का जन्म हुआ था। और सबसे छोटी पुत्री चंदना थी जो बालब्रह्मचारिणी ही रह कर महावीर स्वामी की सभा में आर्यिकाओं में प्रधान गणिनी हुई थी। तथा गंधार देश के महीपुर के राजा।

1 उत्तर पुराण पर्व ५७ श्लो० में 'सत्यको' पद है जिससे नाम 'सत्यक' प्रकट होता है किन्तु इसी के आधार पर बने पुष्पदत्त कृत अपभ्रंश महापुराण में इसी स्थल पर (भाग ३ पृ० २४३ में) 'सच्चइ' पद है जिससे नाम 'सत्यकि' प्रकट होता है इसके सिवा उत्तर पुराण ही में सर्ग ७६ श्लो० ४७४ में "सत्यकि-पुत्रक" पद देते हुए सत्यकि नाम सूचिन किया है अतः पर्व ७५ श्लो० १३ में सत्यको की जगह सत्यकि (सत्यकी शुद्ध पाठ होना चाहिए

सत्य को ने ज्येष्ठा पुत्री की याचना उसके पिता राजा चेटक से की थी। परन्तु चेटक ने उसे नहीं दी जिससे क्रुद्ध हो सत्यकि ने चेटक से संग्राम किया। संग्राम में सत्यकि हार गया। अतः लज्जित हो वह दमधर मुनि से दीक्षा ले मुनि हो गया। इसी तरह चेलना पुत्री को भी राजा श्रेणिक ने माँगी थी परन्तु उस समय श्रेणिक की उम्र ढल चुकी थी जिससे चेटक ने उसे देने से इकार कर दिया था। फिर अभयकुमार के प्रयत्न से छिपे तौर पर चेलना के साथ श्रेणिक का विवाह हुआ था उस प्रयत्न में ज्येष्ठा का विवाह सम्बन्ध भी श्रेणिक के साथ होने वाला था किन्तु चेलना की चालाकी से वैसा न हो सका। इसी एक कारण से विरक्त हो ज्येष्ठा ने अपनी मामी यशस्वती आर्यिका से दीक्षा ले ली थी और वह आर्यिका हो गई थी। (श्लोक ३ से ३४ तक)

उत्तरपुराण पर्व ७६ श्लोक ३१ आदि में लिखा है कि—श्रेणिक ने महावीर के समवशरण में जा वहाँ गौतमगणधर से पूछा कि—“अंतिम केवली कौन होगा?” इस पर गौतम ने कहा कि—वह यहाँ समवशरण में आया हुआ विष्णुमाली देव है जो आज से ७ दिन बाद जम्बू नाम का मेठ पुत्र होगा। जिस समय महावीर मोक्ष पधारेंगे उस समय मुझे केवलज्ञान होगा और मैं मुधर्म गणधर के साथ विचरता हुआ इसी विपुलाचल पर इससे छद्म भंग भी नहीं होता है।

हरिवंशपुराणत्रिलोय पण्यत्ती त्रिलोयसार, हरिवंश कथाकोश, विचारमार प्रकरण (श्वे०) सभी में ११वें रुद्र का नाम सच्चइ मुष (सत्यकि सुत) देते हुए इस राजा का नाम सत्यकि ही प्रकट किया है। इसी राजा का मुनि अवस्था में उत्पन्न पुत्र ११ वा रुद्र है। अतः हमने 'सत्यकि' ही नाम सब जगह दिया है। हरिवंश कथा कोष में सत्यकि के साथ कही कही सात्यकी नाम भी दिया है। ब० नेमिदत्त कृत आराधना कथाकोष में तो सात्यकी ही दिया है। प्राकृत के 'सच्चइ' पद का सात्यकि और सत्यकि दोनों बन जाता है। तथा 'कि' भी ह्रस्व और दीर्घ दोनों रूपों में हो जाती है।

आऊंगा। उम वक्त इस नगर का राजा चेलना का पुत्र^१ कुणिक परिवार के साथ मेरी वदना को आवेगा। तभी जम्बूकुमार भी मेरे पास आ दीक्षा लेने को उत्सुक होवेगा। उम वक्त उसके भाई बन्धु उसे यह कह कर रोक देंगे कि—छोटे ही वपों में हम लोग भी तुम्हारे ही साथ दीक्षा धारण करेंगे। बन्धु लोगों के इस कथन को वह टाल नहीं सकेगा और वह उस समय नगर में वापिस चला जावेगा। तदनंतर परिवार के लोग उसे मोह में फमाने के लिये चार सेठों की चार पुत्रियों के साथ उसका विवाह रच देंगे। इतने पर भी जम्बूकुमार भोगानुरागी न हो कर उल्टे दीक्षा लेने को उद्यमी होगा। यह देख उसके भाई बन्धु और कुणिक राजा (श्लोक १८३) उसका दीक्षोत्सव मनायेंगे। उस वक्त मुझे विपुलचल पर विराजमान जान कर वह जम्बू उत्सव के साथ मेरे पास आ मेरी भक्ति पूर्वक वदना कर सुधर्मगणधर के समीप समय धारण करेगा। मेरे केवलज्ञान के १२वें वर्ष जब मुझे निर्वाण प्राप्त होगा तब सुधर्माचार्य केवली और जम्बूस्वामी श्रुतकेवली होंगे। उसके बाद फिर १२वें वर्ष में जब सुधर्म केवली मोक्ष जायेगे तब जम्बूस्वामी को केवलज्ञान होगा। फिर वे जम्बू केवली अपने भव नाम के शिष्य के साथ ४० वर्ष तक विहार कर मोक्ष पधारेंगे।

उत्तर पुराण पर्व ७४ श्लोक ३३१ आदि में लिखा है कि :-

एक दिन उज्जयिनी के स्मशान में महावीर स्वामी प्रतिमायोग से विराजमान थे। उनको ध्यान से विचिन्तित करने के लिये रुद्र ने उन पर उपसर्ग किया। परन्तु वह भगवान को ध्यान से डिगाने में समर्थ न हो सका। तब रुद्र ने भगवान का "महतिमहावीर" नाम रखकर उनकी बड़ी स्तुति की और फिर—नृत्य किया

१. उत्तर पुराण के अनुसार श्रेणिक के पिता का नाम भी कुणिक है और पुत्र का नाम भी कुणिक है।

होने से 'महति महावीर' यह एक ही नाम सिद्ध होता है

२. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी में प्रकाशित उत्तर पुराण पृ० ४८५-६६ में महति और महावीर ऐसे २ नाम अनुवादक जी ने दिये हैं किन्तु मूल में एक वचनात पद

ऊपर हम लिख आये हैं कि—राजा चेटक की पुत्री ज्येष्ठा कुंवारी ही आशिका हो गई थी और राजा सत्यकि होने से 'महतिमहावीर' यह एक ही नाम सिद्ध होता है: देखो पर्व ७४ "समहतिमहावीराख्या कृत्वा विविधः। स्तुती" ॥४३६॥ इसी के आधार पर आशाधर ने भी त्रिषष्टि स्मृति शास्त्र में सर्ग २४ श्लो० ३४ में "महति-महावीर" यह एक नाम सूचित किया है। इसी तरह स्वकृत सहस्रनाम के श्लोक ९१ में भी 'महति महावीर' यह एक नाम देते हुए उसका अर्थ इस प्रकार किया है—मस्य मलस्य हतिर्हनन—महति-। महती महावीरः = महति महावीरः। (पापों के नाश करने में शूरवीर) पाक्षिकादि प्रतिक्रमण (क्रियाकलाप पृ० ७३) में महदि-महावीरेण बद्धमागेण महाकस्मवेण" पाठ आता है इसमें भी 'महति महावीर' यह एक नाम ही सूचित किया है। महदि प्राकृत का संस्कृत में महति और महानि दोनों रूप बनते हैं अतः कवि अशग ने अपने महावीर चरित में 'महातिमहावीर' यह एक नाम दिया है जिसका अर्थ होता है महान् से भी अत्यन्त महान् वीर। स्व० प० खूबचन्द जी सा० ने इसके हिन्दी अनुवाद में अतिवीर और और महावीर ऐसे दो नाम बनाये हैं जो मूल से विरुद्ध हैं मूल में तो एक वचनात प्रयोग किया है देखो—स महानि महादिरेष वीरः प्रमदादित्यभिधाव्यधत्तानस्य ॥१२६॥ पर्व १७। अतः अशग के अनुसार भी "महानिमहावीर" यह एक नाम ही सिद्ध होता है।

धनंजय नाम माला के श्लोक ११५ में लिखा है—सन्मति महति वीरो महावीरोऽन्यकाक्षयः ॥ यहा महानि: 'वीर' महावीर ऐसे अलग अलग नाम बनाये हैं यह कवि की प्रतिभा है अपरकीर्ति ने इसके भाष्य में 'महति:' नाम का अर्थ इस प्रकार किया है—महती—पूजा यस्य स महतिः। किन्तु उत्तरपुराण आदि में 'महति महावीर' यह एक नाम ही दिया है। दो नाम इसलिए भी नहीं हो सकते कि—उत्तर पुराण पर्व ७४ श्लोक २६५ में 'महावीर' यह नाम संप्रवेपी संगमदेव ने पहिले ही रख दिया था, देखो—स्तुत्वा भवान्महावीर इति नाम चकार म

जो ज्येष्ठा को चाहता था वह भी मुनि हो गया था। उत्तरपुराण में इनका इतना ही कथन किया है। किन्तु अन्य जैन कथा ग्रन्थों में इनका आगे का हाल भी लिखा मिलता है। हरिवंश कथाकोश की कथा न० ६७ में लिखा है कि—

एक बार ज्येष्ठा आदि कितनी ही आर्यिकाये आता-पन योग में स्थित उक्त सत्यकि मुनिकी वंदनार्थ गई थी^१। वहा से लौट कर पहाड़ पर से उतरते समय अकस्मात् जल वर्षा होने लगी जिससे आर्यिकाये तितरबितर हो गईं। उम वक्त ज्येष्ठा एक गुफा में प्रवेश कर अपने भीगे कपड़े उतार लर निचोड़ने लगी। उसी समय वे सत्यकि मुनि भी अपना आतापन योग समाप्त कर उसी गुफा में आ घुमे। वहाँ ज्येष्ठा को खुले अंग देख एकान पा मुनि के दिल में काम विकार हो उठा। दोनों का संयोग हुआ। ज्येष्ठा के गर्भ रहा। सत्यकि तो इस कुकृत्य का गुरु से प्रायश्चित्त ले पुनः मुनि हो गये। किंतु ज्येष्ठा सगर्भा थी उसने अपनी गुर्वाणी यशस्वती के पाम जा अपना सब हाल यथार्थ सुना दिया। गुर्वाणी ने उसे रानी चेलना के यहा पहुँचा दिया। चेलना ने शरण देकर ज्येष्ठा को गुप्त रूप से अपने पास रक्खा। वही उसके पुत्र पैदा हुआ। पुत्र जन्म के बाद ज्येष्ठा ने अपनी गुर्वाणी से प्रायश्चित्त लेकर पुन आर्यिका की दीक्षा ग्रहण करली।

ज्येष्ठा के जो पुत्र हुआ था उसका लालन पालन भी चेलना ने ही किया। वह पुत्र बड़ा उद्दंड निकला। एक दिन उसकी उद्दंडता से हैरान होकर चेलना के मुख से निकल पड़ा कि—“दुष्ट जार जात यहा से चला जा” यह यह मुन उसने अपनी उत्पत्ति चेलना से जाननी चाही। चेलना ने सब वृत्तान्त उस को यथावत् सुना दिया। सुन कर वह अपने पिता सत्यकी मुनि के पाम जा दीक्षा ले

१. ब्र० नेमिदत्तकृत आराधना कथा कोश में इस जगह आर्यिकाओं का भगवान महावीर की वंदनार्थ जाना लिखा है। वह ठीक नहीं है। क्योंकि इस वकन तक तो अभी महावीर ने दीक्षा ही नहीं ली है। तब उनकी वहीना की कहना असंगत है। जैसा कि हम आगे बतायेंगे।

मुनि हो गया। वह नवदीक्षित मुनि ग्यारह अंग दणपूर्वों का पाठी हो गया और रोहिणी आदि पाचमौ महाविद्याओं व सात मी धुद्र विद्याओं की भी उमे प्राप्ति हो गई। वह विद्या के प्रताप में सिंह का रूप बना कर उन लोगों को डगने लगा जो लोग सत्यकी मुनि की वंदनार्थ आते जाते थे। उसकी ऐसी चेष्टा जान कर सत्यकी मुनि ने उमे फटकारा और कहा कि तू तूत्री के निमित्त मे एक दिन भ्रष्ट होबेगा। गुरु वाक्य सुन कर सत्यकि पुत्र ने निश्चय किया कि मैं ऐसी जगह जाकर उप कर्म जहाँ स्त्री मात्र का दर्शन भी न हो सके तब मैं कैसे भ्रष्ट होऊँगा? ऐसा सोच कर वह कैलाश पर्वत पर जा पहुँचा और वहाँ आतापन योग में स्थित हो गया। वहाँ एक विद्याधर की आठ कन्याये स्नान करने को आईं। उनकी अनुपम सुन्दरता को देख कर वह उन पर मोहित हो गया। ज्यो ही वे कन्यायें अपने वस्त्राभूषण उतार बापिका के जल में स्नान करने को घुमी तब ही उस ने अपनी विद्या के द्वारा उनके वस्त्राभूषणों को मगा लिया। बापिका से निकल कर उन कन्याओं को जब तट पर अपने २ वस्त्राभूषण न ही मिले तो उन्होंने उन मुनि से पूछताछ की। मुनि ने उन से कहा तुम सब मेरी भार्या बनो तो तुम्हारे वस्त्रादि तुम्हें मिल सकते है। उत्तर में उन कन्याओं ने कहा कि यह बात तो हमारे माता पिता के आधीन है। वे अगर हमें आपको देना चाहें तो हमारी कोई इंकारी नहीं है। उसने कहा अच्छा तो तुम सब अपने माता पिता को पूछ लो यह कह उसने उनके वस्त्राभूषण दे दिये। उन कन्याओं ने घर पर जा यह बात अपने पिता देवदारु को कही। देवदारु ने एक वद्ध कंचुकी को भेज कर सत्य की पुत्र से कहलवाया कि—मेरा भाई विद्युज्जिह्व मुझे राज्य से निकाल आप राजा बन बैठ है। अगर आप उससे मेरा राज्य दिलासको तो मैं ये सब कन्याये आपको दे सकता हूँ। सत्यकि पुत्र ने ऐसा करना स्वीकार किया और अपनी विद्याओं के बल से उसके भाई विद्युज्जिह्व को मारकर देवदारु को राजा बना दिया। तब देवदारु ने भी अपनी आठों कन्याओं की शादी सत्यकि के साथ कर दी। किंतु वे सब कन्यायें रतिमं के समय उसके

शुक्र के तेज को न सह सकने के कारण एक एक करके मर गई। इसी तरह अन्य भी एक-एक विद्याधर कन्याएँ मरण को प्राप्त हुईं। आखिर में एक विद्याधर कन्या ऐसी निकली जो इस काम में उसका साथ दे सकी। उसके साथ उस ने नाना प्रकार के भोग भोगे। फिर इसी सत्यकी पुत्र (२१ वे रुद्र) ने आकर भगवान महावीर पर उपसर्ग किया था। यह कथा श्रुतसागर ने मोक्ष पाहुड गाथा ४६ की टीका में भी इसी तरह लिखी है। ब० नेमिदत्त ने भी आराधना कथा कोश में लिखी है।

इस प्रकार उत्तरपुराण की कथाओं के ये उद्धरण ऐसे हैं जिनसे हम राजा श्रेणिक की आयु का अंदाजा लगा सकते हैं। श्रेणिक को देश निकाला होने पर उसने जो देशांतर में एक ब्राह्मण कन्या से विवाह किया था और उससे अभयकुमार पुत्र हुआ था उस समय श्रेणिक की उम्र कम से कम १८ वर्ष की तो होगी ही। आगे चल कर इसी अभयकुमार के प्रयत्न से श्रेणिक का चेलना के साथ विवाह हुआ है ऐसा कथा में कहा है। तो चेलना के विवाह के वक्त अभयकुमार की आयु भी १८ वर्ष से तो क्या कम होगी? इसी प्रकार यहाँ तक यानी चेलना के विवाह के वक्त तक श्रेणिक की उम्र करीब ३६ वर्ष की सिद्ध होती है। उसीसे कथा में लिखा है कि श्रेणिक की आयु ढल जाने के कारण ही राजा चेटक अपनी पुत्री चेलना को श्रेणिक को देना नहीं चाहता था। अब आगे चलिये—चेलना की बहिन ज्येष्ठा को श्रेणिक की प्राप्ति न हुई तो वह दीक्षा ले आश्रयिका हो गई। इसी आश्रयिका के सत्यक मुनि के संयोग से सत्यकि पुत्र (रुद्र) उत्पन्न हुआ है। चेलना के विवाह के बाद

1. इस ११वे रुद्र का असली नाथ क्या था यह किसी ग्रन्थकार ने सूचित नहीं किया है किन्तु कवि अशाग ने महावीर चरित सर्ग १७ श्लोक १२५-१२६ में भव नाम दिया है। हरिवंश कथाकोश की कथा न० ६७ में तथा श्रीधर के अपभ्रंश वर्द्धमान चरित आदि में भी भव दिया है लेकिन यह नाम नहीं है रुद्र का पर्यायवाची शब्द है देखो धर्मजय नाममाला श्लोक ७० अथवा अमर-कोष।

सत्यकी पुत्र की उत्पत्ति होने तक कम से कम एक वर्ष का काल भी मान लिया जावे तो यहाँ तक श्रेणिक की उम्र ३७ वर्ष की होती है शास्त्रों में रुद्रों के ३ काल माने हैं—कुमारकाल संयमकाल और असंयमकाल। हरिवंश पुराण सर्ग ६० में लिखा है कि—

वर्षाणि सप्त कोमार्यो विंशति संयमेऽष्टभिः।

एकादशस्य रुद्रस्य चतुस्त्रिंशदसंयमे ॥५४५॥

अर्थ—११वे रुद्र का कुमारकाल ७ वर्ष, संयमकाल २८ वर्ष और असंयमकाल ३४ वर्ष का था।

यह विषय त्रिलोकप्रज्ञप्ति में भी आया है। उसके चौथे अधिकार की गाथा नं० १४६७ इस प्रकार है :—

सगवासं कोमारो संजमकालो हवेदि चोत्तीसं।

अडवीसं भंगकालो एयारसयस्स रुद्रस्स ॥१४६७॥

इसमें ११ वे रुद्र का संयमकाल ३४ वर्ष का और असंयमकाल २८ वर्ष का बताया है। यह गाथा अशुद्ध मालूम पड़ती है। इसलिये इसका कथन हरिवंशपुराण में नहीं मिलता है। इस गाथा में प्रयुक्त 'चोत्तीस' के स्थान में 'अडवीस' और 'अडवीस' के स्थान में 'चोत्तीस' पाठ होना चाहिये। जान पड़ता है किसी प्रतिलिपिकार ने प्रमाद से उजड़ पलट लिख दिया है।

अब प्रकृत विषय पर आइये—रुद्र ने महावीर पर उपसर्ग किया तो वह ऐसा काम संयमकाल में तो कर नहीं सकता है। रुद्र की संयमकाल की अवधि उसकी ३५ वर्ष की उम्र तक मानी गई है जैसा कि ऊपर लिखा गया है इन ३५ वर्षों को श्रेणिक की उम्र ३७ वर्ष की उम्र में जोड़ने पर यहाँ तक श्रेणिक की उम्र ७२ वर्ष की हो जाती है। फिर संयमकाल की समाप्ति के बाद सत्यकि पुत्र का फैलाश पर पहुँच कर वहाँ विद्याधर कन्याओं को व्याहने और एक-एक करके उन कन्याओं के मरने पर अंत में विशिष्ट विद्याधर कन्या के साथ रमण करने हुए भगवान महावीर तक पहुँच कर उन पर उपसर्ग करने में भी ज्यादा नहीं एक वर्ष भी गिन ले और और महावीर को उनकी उम्र के ४२ वे वर्ष में केवलज्ञान हुआ उसी वर्ष में ही यह उपसर्ग भी मान ले तो इसका यह अर्थ हुआ कि महावीर को जब केवलज्ञान पड़ा हुआ

तब राजा श्रेणिक की उमर लगभग ७३ वर्ष की थी। अर्थात् महावीर से श्रेणिक ३१ वर्ष बड़े थे। इस हिसाब से जब श्रेणिक ने चेलना से विवाह किया तब श्रेणिक ३६ वर्ष के थे और महावीर ५ वर्ष के थे। इतिहास में महावीर और गौतम बुद्ध को समकालीन माना जाता है। अतः उस वक्त गौतम बुद्ध भी बालक ही माने जायेंगे ऐसी हालत में उस वक्त हम श्रेणिक को बौद्धमती भी नहीं कह सकते हैं। बौद्ध धर्म के चलाने वाले खुद गौतम ही जब उस वक्त बालक थे तो उस समय बौद्धधर्म कहा से आयेगा? अगर हम इतिहास की गड़बड़ी से बुद्ध और महावीर की वय में १०-१५ वर्ष का अन्तर भी मान लें तब भी श्रेणिक के समय में बौद्ध मत का सद्भाव नहीं था। इसीलिये हरिषेण कथाकोश में श्रेणिक को भागवतमत (वैष्णवमत) का बताया है। वह ठीक जान पड़ता है। तथा महावीर का निर्वाण उनकी ७२ वर्ष की वय में हुआ माना जाता है अतः महावीर से ३१ वर्ष बड़े होने के कारण श्रेणिक की उम्र वीर निर्वाण के वक्त १०३ वर्ष की माननी होगी। उम्र का यह टोटल यहाँ कम से कम लगाया गया है, इससे अधिक भी संभव हो सकता है वीरनिर्वाण के वक्त श्रेणिक जीवित थे कि नहीं थे यह उत्तरपुराण से स्पष्ट नहीं होता है। किंतु हरिवंशपुराण में वीरनिर्वाण के उत्सव में श्रेणिक का शरीक होना लिखा है। और हरिषेण कथाकोश में बंधा न० ५५ में श्रेणिक का अंतकाल वीर निर्वाण से करीब ३॥॥ वर्ष बाद होना बताया है। यथा :—

ततो निर्वाणमापन्ने महावीरे जिनेश्वरे।

तिस्रस्समाश्चतुर्थस्य कालस्य परिकीर्तिताः ॥३०६॥

तथा मासाष्टक ज्ञेय षोडशापि दिनानि च।

एतावति गते काले नून दुःखमनामनि ॥३०७॥

पूर्वोक्तः श्रेणिको राजा सीमतं नरक ययौ ॥३०८॥

अर्थ—महावीर के निर्वाण के बाद चतुर्थकाल के ३ वर्ष ८ मास १६ दिन व्यतीत होने पर दुःखम नाम के पाँचवें काल में मनवाञ्छित महाभोगों को भोग कर राजा श्रेणिक मर कर प्रथम नरक के सीमत बिल में गया।

1. उत्तरपुराण में चतुर्थकाल की समाप्ति में ३

उक्त १०३ वर्ष में वीर निर्वाण के बाद ये ३॥॥ वर्ष जोड़ने पर श्रेणिक की कुल आयु १०७ वर्ष करीब की बनती है।

अब हम श्रेणिक की आयु के साथ जम्बूकुमार का संबंध बताते हैं—ऊपर उत्तरपुराण की कथा में लिखा है कि—गौतम केवली जब प्रथम बार विपुलाचल पर आये थे उस समय राजगृह का राजा कुणिक था। यानी राजा श्रेणिक उस समय नहीं थे—वे मर चुके थे। अर्थात् वीर निर्वाण से ३॥॥ वर्ष बाद जब श्रेणिक न रहे तब तक प्रथम बार गौतम केवली विपुलाचल आये थे। उस समय बाँधवों के अनुरोध से जम्बूस्वामी दीक्षा लेते २ रुक गये। पुन जब दुबारा गौतम केवली विपुलाचल पर आये तब उनके सान्निध्य में मुघर्माचार्य के पास से जम्बू स्वामी ने दीक्षा ग्रहण की। इस दीक्षा को अगर हम अदाजन वीर निर्वाण से यों कहिये गौतम के केवली होने से ६ वर्ष के बाद होना मान ले और दीक्षा के वक्त जम्बू कुमार की २० वर्ष की उम्र मान लें तो कहना होगा कि वीरनिर्वाण के वक्त जम्बूकुमार १४ वर्ष के थे और जम्बू की १७॥॥ वर्ष की उम्र के लगभग तक श्रेणिक जीवित रहे थे। इसलिये जम्बू का श्रेणिक की राज सभा में आना जाना व श्रेणिक द्वारा सम्मान पाना तो संगत हो सकता है। परन्तु कुछ जैन कथा ग्रन्थों में लिखा है कि—“जम्बूकुमार की मदद से राजा श्रेणिक ने एक विद्याधर कन्या को विवाही थी” यह बात नहीं बन सकती है। क्योंकि उस समय राजा श्रेणिक बहुत ही वृद्ध हो चुके थे। जब जम्बू ११ वर्ष के थे तब श्रेणिक एक सौ वर्ष के थे। इसी तरह कुछ कथा ग्रन्थों में जम्बू के दीक्षोत्सव में श्रेणिक की उपस्थिति बनाना भी गलत है। उत्तर पुराण के अनुसार दुबारा गौतम केवली विपुलाचल पर आये थे तब जम्बू ने दीक्षा ली थी किन्तु प्रथम बार जब गौतम केवली विपुलाचल पर आये थे उस वक्त वर्ष ८॥ मास शेष रहने पर वीरनिर्वाण होना लिखा है। यहाँ ३ वर्ष ८ मास १६ दिन इसलिये लिखा है कि १६ वे दिन पंचम काल का प्रारंभ होता है और उसी दिन में श्रेणिक की मृत्यु हुई है।

श्रेणिक मौजूद न थे उस वक्त भी कुणिक ही का राज्य था ऐसा उत्तर पुराण में लिखा है तब जम्बू के दीक्षोत्सव में श्रेणिक को उपस्थित बनाना अयुक्त है। जम्बू की दीक्षा के वक्त श्रेणिक की विद्यमानता का उल्लेख हरिवंश पुराण और हरिवंश कथा कोश में भी नहीं है।

इस निबन्ध में ३ कथा ग्रन्थों का उपयोग किया गया

है—उत्तर पुराण, हरिवंश तुराण और हरिवंश कथा कोश का। तीनों ही ग्रन्थ प्राचीन हैं। उत्तरपुराण का रचना काल वि० सं० ६१० के करीब। हरिवंश पुराण का वि० सं० ८४० और हरिवंश कथा कोश का वि० सं० ६८८ है।

पंडित भगवतीदास कृत वैद्यविनोद

(डा० विद्याधर जोहरापुरकर, मण्डला)

१ जैन साहित्य में वैद्यक ग्रन्थ—

प्राचीन जैन आचार्यों ने लोकहित की प्रेरणा से कई लौकिक विषयों पर भी ग्रन्थ लिखे हैं। वैद्यक भी इन्हीं विषयों में से एक है। यद्यपि अब तक पूज्यपाद नामांकित वैद्यमार और उग्रादित्य विरचित कल्याणकारक ये दो ही जैन वैद्यक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं तथापि अन्य कई अप्रकाशित अवस्था में हैं। उग्रादित्य के कथन से मालूम होता है कि वैद्यक के अनेक अंगों पर जैन आचार्यों ने ग्रन्थ लिखे थे। उन्होंने पूज्यपाद प्रकटित शालाक्य, पात्रस्वामि प्रोक्त शान्त्यतन्त्र और मिद्धसेन कृत विषोद्विग्रहशमन विधि का नामोल्लेख किया है। इन्हीं अनुपलब्ध या अप्रकाशित ग्रन्थों में से एक का परिचय करना इस लेख का उद्देश्य है।

२ प्रस्तुत ग्रन्थ वैद्य विनोद—

यह ग्रन्थ पुरानी हिन्दी में लिखा गया है। इसमें ६२४ पद्य हैं। मुख्य रूप से दोहा और चौपाई छन्दों में ये पद्य हैं। कहीं-कहीं अड़िल्ल, पद्धडिया और सोरठा छन्दों का भी प्रयोग है। ग्रन्थ के पहले उद्देश्य में ५२ पद्य हैं तथा इसमें मंगलाचरण के बाद वैद्य के गुण-अवगुण नाडी के लक्षण, वात, पित्त, कफ, दोषों के लक्षण और साध्य-असाध्य रोगों के लक्षण बतलाये हैं। दूसरे उद्देश्य में १२० पद्य हैं। इसमें भिन्न-भिन्न प्रकार के ज्वर, मन्तिपात, संग्रहणी, पाण्डुरोग, अतिसार आदि रोगों के लिए सुदर्शनचूर्ण, चिन्नामणि रस, कनकमुन्दरी वटी,

अठारहमूल काढ़ा, गंगाधर चूर्ण आदि औषधियों के प्रयोग का वर्णन है। तीसरे उद्देश्य में ७६ पद्य हैं तथा अर्श, शूल, कुर्मि, क्षय आदि रोगों के उपचार बतलाये गये हैं। चौथे उद्देश्य में ७७ पद्य हैं तथा इसमें श्वास, कास, मदाग्नि, अजीर्ण, विपुची, मर्दी, हिचकी आदि रोगों के उपचारों का वर्णन है। इसके बाद ग्रन्थ के अन्त तक स्त्री-पुरुषों के विशिष्ट रोगों की चिकित्सा बतलाई है। इस प्रकरण का काफी बड़ा हिस्सा पुत्र प्राप्ति के उपायों से घिरा हुआ है।

३ ग्रन्थ रचना का समय और स्थान—

लेखक की अन्तिम प्रशस्ति के अनुसार इस ग्रन्थ की रचना शाहजहाँ के काल में संवत् १७०४, चैत्र शुक्ल १४ गुरुवार को अकबराबाद में पूर्ण हुई थी। यथा—

सत्रहमई खंडोत्तरइ सुकल चतुर्दसि चैतु।

गुरुदिन भनी पूरनु करिउ सुलिता पुरि सह जयतु ॥

६१६

लिखिउ अकबराबादि शिरु शाहजहाँ के राज।

साह निमइ मयइ सरिसु देस कोम गज बाजि ॥

६२०

४ ग्रन्थकर्ता पंडित भगवतीदास—

अन्तिम प्रशस्ति में लेखक ने अपने पिता का नाम कृष्णदास तथा नगर का नाम बूडिया बताया है, यथा—

कृष्णदाम तनुरुह गुणी नयरी बूडियइ वामु।

सुहिदु जु जोगीदास कउ कवि सु भगवतीदासु ॥६२१

ग्रन्थ के मंगलाचरण में भट्टारक महेन्द्रसेन को नमस्कार है। ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति की प्रशस्तियों से मालूम होता है कि महेन्द्रसेन काष्ठासघ - माथुरगच्छ के भट्टारक थे, उनके गुरु का नाम सकलचन्द्र और प्रगुरु का नाम गुणचन्द्र था। ग्रन्थ में लेखक ने जोगीदास और नैनमुख इन दो लेखकों का एकाधिक बार आधार के रूप में उल्लेख किया है। महाज्वराकुशवटी के वर्णन में उन्होंने वैद्यमहांसव नामक ग्रन्थ का भी उल्लेख किया है।

५ लेखक की ग्रन्थ रचनाएं—

अनेकान्त में पं० परमानन्दजी शास्त्री ने भगवतीदास के बारे में समय-समय पर चार लेख लिखे हैं, जिनमें उनकी कई रचनाओं के नाम मालूम होते हैं। ये लेख वर्ष ५ पृ० १३, वर्ष ७ पृ० ५४, वर्ष ११ पृ० २५ तथा वर्ष १४ पृ० २२७ पर छपे हैं। इनमें ज्ञान होने वाली रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं—

मुक्ति शिरोमणि चून्डी गीत (म० १६८०) सीता सतु (मं० १६८४), लघु सीता सतु (सं० १६८७) भृगाक लेखाचरित्र (सं० १७००) 'ठंडागाराम, आदित्य व्रतरास, दशलक्षणगाम, खिचड़ीराम, साधुसमाधिराम, जोगीराम, मनकरहाराम, रोहिणीव्रतरास, चतुरवनजारा, द्वादश अनुप्रेक्षा, सुगंधदशमी कथा, आदित्यवार कथा, अतथसी कथा, वीरजिनिद गीत, राजमती नेमीश्वर डमाल, सजानी डमाल, आदिनाथ स्तुति और शान्ति-

नाथ स्तुति। इनके अतिरिक्त हमारी जिस पोथी में वैद्यविनोद लिखा है उसी में लेखक की एक रचना ज्योतिषसार भी अंकित है। अन्तिम प्रशस्ति के अनुसार इसका रचनाकाल स० १६६४ तथा स्थान हिसार का वर्धमान मन्दिर था। उदयचन्द्र मुनि के उपदेश से इस ग्रन्थ की रचना हुई थी। इसमें द्वादशमासफल काण्ड, अर्धकाण्ड तथा ग्रहफलादि विचारकाण्ड ये तीन भाग हैं। हिन्दी, अपभ्रंश और संस्कृत तीनों भाषाओं के पद्य इसमें प्रयुक्त हुए हैं। इसकी रचना की प्रेरणा बिहारी दास साधना ने दी थी। आधार के रूप में गंगमुनि और भडुली के नाम आए हैं। इसी पोथी में द्वात्रिंशद्वेदकेवली तथा नवाककेवली ये शकुन ग्रन्थ भी हैं। पहले को गीतम स्वामी कृत और दूसरे को गंगाचार्यकृत कहा है तथा उनके अनुवाद भगवतीदासकृत हैं ऐसा प्रशस्तियों से प्रतीत होता है। दल के अतिरिक्त कार्कापड विचार यह शकुनदर्शक रचना भी भगवती दास के नाम से इसी पोथी में लिखी है।

यहाँ पर भी नोट करना जरूरी है कि ब्रह्मविलास के कर्ता भैया भगवतीदास आसवाल थे। वे वैद्यविनोद के कर्ता से भिन्न और उत्तरवर्ती हैं। उनकी रचनाओं का समय स० १७३१ से ५५ तक अर्थात् वैद्यविनोद कर्ता से कोई आधी शताब्दी बाद का है।

भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा १९६६ का पुरस्कार घोषित

श्री ताराशंकर बन्धोपाध्याय की कृति गणदेवता पर
(श्री लक्ष्मीचन्द जैन, भारतीय ज्ञानपीठ)

दिल्ली, ११ मई, १९६७

भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रदत्त एक लख रुपये के वार्षिक साहित्यिक पुरस्कार की प्रवर परिषद् ने दिनांक ११ मई, १९६७ को यहाँ हुई अपनी बैठक में सन् १९६६ का पुरस्कार सुप्रसिद्ध उपन्यासकार श्री ताराशंकर बनर्जी के पक्ष में घोषित करने का निर्णय किया है।

यह द्वितीय पुरस्कार है, प्रथम पुरस्कार मलयालम के महाकवि जी शंकर कुरुप को भेंट किया गया था जिसका समर्पण समारोहगत १६ नवम्बर १९६६ को विज्ञान भवन, नई दिल्ली में सम्पन्न हुआ था।

यह पुरस्कार भारतीय भाषाओं में से सर्वश्रेष्ठ सर्जनात्मक साहित्यिक कृति पर दिया जाता है। सन्

१९६५ में प्रथम पुरस्कार जो महाकवि कुरुप के नाम घोषित हुआ था, वह उनकी इसी कोटि की काव्य रचना “ओटककुषल बांसुरी” पर दिया गया। प्रथम पुरस्कार के लिए पुस्तकों की प्रकाशन अवधि थी १९२० से १९५८ तक। अब दूसरे पुरस्कार के लिए श्री ताराशंकर की कृति को सन् १९२५ से १९५९ तक की अवधि में प्रकाशित ग्रंथों में से चुना गया है।

पुरस्कार प्रदायिनी संस्था भारतीय ज्ञानपीठ की स्थापना सन् १९४४ में श्री शान्तिप्रसाद जैन ने की थी। ज्ञानपीठ प्रकाशनों की संख्या अब ५०० से ऊपर हो चुकी है। इनमें संस्कृत, प्राकृत, पाली, अर्घमागधी, तामिल एवं कन्नड की प्राचीन पाण्डुलिपियों को वैज्ञानिक पद्धति से सम्पादित कर प्रकाश में लाये गए शोध-ग्रन्थ तथा सुप्रसिद्ध एवं नवीन लेखकों के मूल हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं से अनूदित साहित्यिक ग्रन्थ सम्मिलित हैं।

वार्षिक साहित्यिक पुरस्कार की प्रवर परिषद के अध्यक्ष हैं डाक्टर सम्पूर्णानन्द। परिषद के अन्य सदस्य हैं—काका साहब कालेलकर, डा० आर० आर० दिवाकर, डा० हरेकृष्ण महताब, डा० नीहार रंजन रे, डा० गोपाल रेड्डी, डा० कर्णसिंह, डा० बी राघवन, श्रीमती रमा जैन तथा श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन। ये अन्तिम दो ज्ञानपीठ का प्रतिनिधित्व करते हैं। श्रीमती रमा जैन ज्ञानपीठ की अध्यक्षा हैं तथा श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन इसके मंत्री हैं।

प्रवर परिषद की इस बैठक ने पुरस्कार का उच्च निर्णय सर्वसम्मति से किया।

गणदेवता तथा इसके लेखक श्री ताराशंकर बनर्जी

गणदेवता बंगाल के उस ग्राम्य जीवन एवं समाज का प्रतिबिम्ब है जो स्वतन्त्रता संग्राम के प्रारम्भिक वर्षों में विद्यमान था। इस उपन्यास में प्राचीन ग्राम्य व्यवस्था के विघटन तथा नये पैदा हुए लालची धनिक वर्ग के उभरने की प्रक्रिया का यथातथ्य चित्रण है। परिपाई में चित्रित हैं—छोटे-छोटे ग्राह्य भगडे तथा शोषण की मनोवृत्ति जिनके बीच झुकेला जूझता हुआ

एक निर्धन ग्रह्यापक जिसकी मानवीय सदाशयता में आस्था अन्त तक अडिग रहती है। उसे विश्वास है कि मानवता अपनी पूरी-पूरी आब के साथ एक बार फिर से सिर ऊंचा करके चलने लगेगी।

यद्यपि उपन्यास में संक्रमणकालीन बंगाल के ग्राम्य-जीवन का ही चित्रण है। परन्तु प्रतीकरूप में यह पूरे समकालीन भारतीय ग्रामों का प्रतिनिधित्व करता है। उपन्यासकार ने अपने पात्रों को हाड़-मांस के सजीव चरित्रों के रूप में प्रस्तुत किया है जो व्यक्तिगत गुणों के साथ-साथ समूहगत प्रतिनिधित्व भी होकर सामने आते हैं।

उपन्यासकार श्री ताराशंकरजी का जन्म २५ जुलाई १८०८ को लाबपुर, जिला बीरभूम, पश्चिम बंगाल के एक जमींदार परिवार में हुआ था। यह स्व० श्री हरिदास बनर्जी के ज्येष्ठ पुत्र हैं। ताराबाबू केवल आठ वर्ष के ही थे जब इनके पिता का देहान्त हो गया। इनका पालन पोषण अपनी माता श्रीमती प्रभावती देवी के संरक्षण में ही हुआ, जो अभी तक जीवित हैं।

अपने गाँव के अंग्रेजी हाई स्कूल से ही ताराबाबू ने मैट्रिक परीक्षा पास की। स्कूल जीवन के अन्तिम वर्षों में इनका संपर्क क्रान्तिकारियों से हो चुका था। मैट्रिक करने के बाद आपने कलकत्ता के सेण्ट जेवियर्स कालेज में प्रवेश किया। यहां आकर क्रान्तिकारियों से सम्पर्क और बढ़ा तथा फलस्वरूप इन्हें कालिज की पढाई छोड़ कर अपने गाँव में नजरबन्द होना पड़ा।

गाँव में यों तो इनका काम अपनी छोटीसी जमींदारी की देखभाल करना था, मगर इनका मन लेखन कार्य में ही रमता था। अतः इन्होंने इसी क्षेत्र का चयन कर लिया, और कविताएँ तथा नाटक लिखने लगे।

सन् १९२८ में तारा बाबू ने कहानियाँ लिखनी शुरू की। आपकी पहली कहानी ‘कल्लोल’ नामक पत्रिका में प्रकाशित हुई थी।

फिर राष्ट्रीय आन्दोलन ने इन्हें सीधा और आप स्थानीय कांग्रेस के रूप में जेल चले गये। जेल जाने

के पहले वे एक छोटासा उपन्यास 'चेताली धरनी' (चैन का तूफान) भी लिख चुके थे, जो इन्होंने बाद में नेताजी सुभाषचन्द्र बोस को समर्पित किया। नेताजी से इनका परिचय नया-नया ही हुआ था।

जेल में रहते हुए आपने जेल जीवन पर ही एक अन्य उपन्यास लिखा।

तारा बाबू इस समय तक सौ से अधिक पुस्तकें लिख चुके हैं, जिनमें चालीस उपन्यास हैं बाकी मुख्यतया कथा संग्रह और नाटक हैं। सफल उपन्यासकार तथा कहानीकार होने के साथ-साथ आप अच्छे नाटककार भी हैं। इनके दो नाटकों का तो कलकत्ता के रंगमंच पर बराबर प्रदर्शन होता रहता है। आपकी मुख्य कृतियों के नाम हैं :—

(क) कथा-साहित्य

१. धात्री देवता, २. कालिन्दी, ३. दावी, ४. गगन-देवता, ५. पंचग्राम, ६. हाँसुली बकिंग उपकथा, ७. नागिनी कन्यार काहिनी, ८. विचारक, ९. आरोग्य निकेतन, १०. सप्तपदी, ११. पंच पाथाली, १२. राधा, १३. कन्ना, १४. मंजरी आपेरा।

(ख) नाटक .

१. द्विपुरुष, २. कालिन्दी।

'हाँसुली बकिंग उपकथा' नामक उपन्यास पर तारा बाबू को १९४७ में 'शरत्चन्द्र स्मृति पुरस्कार' सर्वप्रथम भेंट किया गया था।

१९५५ में आपके 'आरोग्य निकेतन' को 'स्वीन्द

पुरस्कार' मिला।

१९५६ में उसी उपन्यास पर साहित्य अकादेमी पुरस्कार प्राप्त हुआ।

सन् १९५६ में भारत सरकार के दो प्रतिनिधियों में से एक के रूप में तारा बाबू को चीन भेजा गया, किन्तु रास्ते में ही बीमार पड़ जाने के कारण आपको रंगून में स्वदेश लौट आना पड़ा। फिर अगले ही वर्ष चीन सरकार के निमन्त्रण पर आप वहाँ गये और एक महीने तक चीन का दौरा लगाया।

विशिष्ट साहित्यिक उपलब्धियों के कारण आपको सन् १९५६ में कलकत्ता विश्वविद्यालय की ओर से 'जगत तारिणी' पदक प्राप्त हुआ।

एशियाई लेखक सम्मेलन (१९५८) की तैयारी-समिति की बैठक में भाग लेने के लिए आप मास्को भी गये थे, तथा फिर उसी वर्ष ताशकन्द में हुए अफ़ेशियाई सम्मेलन में भारतीय शिष्ट-गण्टल के नेता बनाकर भेजे गये।

सन् १९५१ से १९६० तक आप पश्चिम बंगाल विधान सभा के मनोनीत सदस्य रहे। फिर १९६० से १९६६ तक राज्य सभा के मनोनीत सदस्य। १९५८ में अखिल भारतीय लेखक सम्मेलन के मद्रास प्रारंभिक सभापतित्व किया।

इन दिनों आप एक वृद्ध उपास्य पर काम कर रहे हैं। जिसकी प्रकृति है—१९६६ से १९५३ तक बंगाल की जमींदारी प्रथा।

साहित्य-समीक्षा

(१) जन निबन्ध रत्नावली- लेखक पं० मिलाप चन्द्र जी कटारिया और रतनलाल कटारिया, कंकड़ी। प्रकाशक, श्री वीर शामन मध, कलकत्ता। पृष्ठ संख्या ४३८, मूल्य ५) रुपये।

प्रस्तुत पुस्तक में विविध विषयों के ५० निबन्ध दिये

हुए हैं जो खोजपूर्ण हैं। बाबू छोटेला जी कलकत्ता का विचार ऐसे अनेक खोजपूर्ण साहित्यिक निबन्धों के प्रकाशन करने का था, किन्तु उनकी यह भावना पूर्ण न हो सकी। यह निबन्ध संग्रह राजस्थान के प्रसिद्ध साहित्य सेवी, निर्भीक वक्ता, मासिक समालोचक और गुणी

जनानुरागी विद्वान् पं० चैनसुखदास जी को समर्पण किया गया है।

पिता और पुत्र दोनों ही लेखको ने बड़े परिश्रम से शुद्धाम्नाय में आने वाली भ्रान्तियों का उद्भावन करते हुए वस्तुस्थिति को सरल भाषा में रखने का प्रयत्न किया है। आशा है दोनों विद्वान् भविष्य में और भी महत्वपूर्ण निबन्ध लिखकर जैन साहित्य का गौरव बढ़ावेंगे।

वीर शामन सघ का यह प्रकाशन सुन्दर हुआ है। इसके लिए लेखक और प्रकाशक दोनों ही बधाई के पात्र हैं। मजिन्द प्रिन्ट का ५) मूल्य अधिक नहीं है। समाज और विद्वानों को चाहिए कि वे खरीद कर पढ़ें।

(२) जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (प्रथम भाग)-- लेखक पं० बेचरदास दोषी, और डा० मोहन लाल मेहता। प्रकाशक, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, जैनाश्रम हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी। पृष्ठ संख्या ३६०, पक्की जिल्द, छपाई-मफाई उत्तम, मूल्य : १५) रुपये।

इस ग्रंथ में श्वेताम्बर जैन साहित्य का इतिहास दिया गया है, जो एक संगठित योजना का परिणाम है। इसके प्रथम भाग में अग साहित्य का परिचय कराया गया है। इस ग्रंथ की प्रस्तावना पं० दलमुख मालवगिया ने लिखी है, जिसमें इतिहास का विवरण देते हुए अग-उपागों के सम्बन्ध में विचार किया गया है, और उनकी एक तालिका भी दी है। परन्तु प्रस्तावना में अग-सूत्रों की भाषा और उसके इतिहास के सम्बन्ध में कोई प्राचीन पुष्ट प्रमाण नहीं दिये गए। अग साहित्य के इतिहास के इस ग्रंथ में उनकी भाषा के सम्बन्ध में किसी प्राकृत भाषा के विशिष्ट अध्ययी विद्वान से विचार कराना आवश्यक था।

अग ग्रंथों का २७० पृष्ठों में परिचय दिया गया है जिसमें दो विशेषताएं दृष्टिगत होती हैं। एक तो उसमें श्वेताम्बर दिगम्बर के स्थान पर सचेल अचेल पंथ का उल्लेख किया गया है। दूसरे मत-भेदों को

नजरन्दाज करते हुए ग्रन्थगत विषय का परिचय कराया गया है, किन्तु उसमें बहुत कुछ सावधानी बर्ती गई है। फिर भी इतना दिखाने का अवश्य प्रयत्न किया है कि अचेल परम्परा को भी ये आगम मान्य रहे हैं या उनके आधार पर उन्होंने (दिगम्बरों ने) ग्रंथ रचे है।

पृष्ठ ३६ पर लिखा है कि अचेल परम्परा के आचार्य धरमेन, यतिवृषभ, कुन्दकुन्द, भट्ट अकलंक आदि ने इन पुस्तकारूढ आगमों अथवा इनमें पूर्वके उपलब्ध आगमों के आश्रय को ध्यान में रखते हुए नवीन साहित्य का सृजन किया है। आचार्य कुन्द कुन्द रचित साहित्य में आचार पाहुड, मुत्तापाहुड, समवाय पाहुड आदि अनेक पाहुडान्त ग्रंथों का समावेश किया जाता है। इन पाहुडों के नाम मुने ने आचार्यांग, स्थानांग, समवायांग आदि की स्मृति हो जाती है।

इस विषय में इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि महावीर का दामन जब अन्तिम श्रुतवेवर्ती भद्रबाहु के समय दुर्भिक्षादि कारणों ने दो भागों में विभक्त हुआ तब गंगाधर इन्द्रभूति रचित द्वाःशागमूत्र दोनों ही परम्पराओं के साधुओं में कण्ठस्थ रहे। अतः उनके नामों में समानता रहना स्वाभाविक है। किन्तु उनके समान नाममात्र की उपलब्धि पर से यह नतीजा नहीं निकाला जा सकता कि वर्तमान में जो श्वेताम्बरीय आगम साहित्य उपलब्ध है उस पर से दिगम्बर साहित्य रचा गया है। अगों के नाम एक होने पर भी उनके विषय, विवेचन और परिभाषादि में भेद पाया जाता है। अन्वेषण करने पर उनमें कुछ ऐसी विशेषताएं भी प्राप्त हो सकती हैं जिनके कारण वे एक नहीं हो सकने। अतः दिगम्बर साहित्य श्वेताम्बर साहित्य के आधार पर रचा गया है यह कोई निराधार कल्पना है।

यदि ऐसा होता तो उसके आधार का स्पष्ट उल्लेख मिलता। पर कुन्दकुन्दादि जिन आचार्यों के नामों का उल्लेख किया गया है, उनका कोई भी ग्रन्थ श्वेताम्बरीय आगम साहित्य के आधारपर नहीं रचा गया। जैसा कि श्वेताम्बरीय ग्रन्थों में दिगम्बर ग्रन्थों का अनुकरण देखा जाता है। कुन्दकुन्दाचार्य का जो साहित्य पाया जाता

है, उस पर श्वेताम्बरीय आगम का कोई प्रभाव नहीं है। और न समयसारादि ग्रन्थों की मान्य चर्चा भी आगमों में मिलती है। आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों में स्थान पाहुड और समवाय पाहुड आदि ग्रन्थों का कोई उल्लेख नहीं किया। पाहुडों के वे नाम कल्पित जान पड़ते हैं।

इतिहास के पृष्ठ ११४ और १३६ के कथनों की सगति अहिमा धर्म के साथ सगत नहीं बैठती, क्योंकि उसमें मांस भक्षण की स्पष्ट अनुमति है। कोई भी अहिंसक व्रती श्रावक मांस का नाम मुनकर भोजन छोड़ देता है। साथ में मद्य, मत्स्य और मधु का सेवन भी व्रती गृहस्थजनों में वर्जित है। फिर साधु के तो उसकी सम्भावना ही कैसे हो सकती है? वह तो पक्षपात के साथ आरम्भ परिग्रह का भी लोचनी है। महाव्रता है।

अष्टाध्या भोजन का कथन करते हुए पृ० ११६ में लिखा है कि—“कहीं पर अतिथि के लिए मांस अथवा मछली पकाई जाती हो अथवा तेल में पूरे तले जाते हो तो भिक्षु लालचवश लेने न जाय। किसी रुग्ण भिक्षु के लिए उसकी आवश्यकता होने पर वैसा करने में कोई हर्ज नहीं। मूलसूत्र में एक जगह यह भी बताया गया है कि भिक्षु को अस्थि बहुत अर्थात् जिसमें हड्डी की बहुलता हो वैसा मांस व कंटक बहुल अर्थात् जिसमें कांटों की बहुलता हो, वैसी मछली नहीं लेनी चाहिए। यदि कोई गृहस्थ यह कहे कि आपको ऐसा मांस व मछली चाहिए? तो भिक्षु कहे कि यदि तुम मुझे यह देना चाहते हो तो केवल पुद्गल भाग दो और हड्डिया व काटे न आवें, इसका ध्यान रखो। ऐसा कहते हुए भी गृहस्थ यदि हड्डीवाला मांस व कांटों वाली मछली दे तो उसे लेकर एकान्त में जाकर किसी निर्दोष स्थान पर बैठकर मांस व मछली खाकर बची हुई हड्डियों व कांटों को निर्जीव स्थान पर डाल दे।”

इस कथन में भी मांस भक्षण का स्पष्ट उल्लेख है। जैन आचार तो अहिंसक और संयम प्रधान एवं निवृत्ति-परक है। उसमें इस प्रकार के कथनों की सगति उपयुक्त नहीं है। यदि उस काल के जैन साधुओं में मांस भक्षण की प्रवृत्ति होती तो दिगम्बर साहित्य में उसका उल्लेख

जल्द होता, पर ऐसा नहीं है; और न उसका खण्डन ही है। श्वेताम्बरीय अग साहित्य पर बौद्ध साहित्य का प्रभाव है। कहा नहीं जा सकता कि ऐसी असगत एवं धर्म विरुद्ध बाने अग-सूत्रों में कैसे प्रविष्ट हो गईं। ये सब कथन आचार शिथिलता के द्योतक हैं। ऐसी स्थिति में वर्तमान आगम दिगम्बरों को मान्य रहे, लिखना ममुचित नहीं है।

अग साहित्य में अनेक कथाओं का उल्लेख मिलता है, जिनका मक्षिप्त परिचय प्रस्तुत ग्रन्थ में दिया है, भाषा सरल और मुहावरदार है।

(२) जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग २। लेखक, डा० जगदीशचन्द्र और मोहनलाल मेहता। प्रकाशक : पार्वनाथ विद्याश्रम जोध सस्थान, जैनाश्रम टिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी-५। पृष्ठ ४६०, मूल्य १५)

प्रस्तुत भाग अग बाह्य आगम से सम्बद्ध है। इसमें उपागों का परिचय दिया गया है। उपागों को तीन भागों में बांटा गया है। उपाग, भूलसूत्र और छेदसूत्र। इन सबका परिचय उपागों की अच्छी जानकारी प्रदान करता है। अग सूत्रों के परिचय से उपागों की कथन-शैली और वस्तु-तत्त्व का विवेचन विस्तृत और सरल है। उपागों में प्रज्ञापना, उत्तराध्ययन आवश्यक, दशवैकालिक, पिण्डनियुक्ति, बृहत्कल्प, अनुयोगद्वार और नक्षि-सूत्र आदि हैं, जिनमें वस्तु तत्त्व का विस्तृत व्याख्यान मिलता है। जिससे जिज्ञासु पाठक अपने विचारों को विशद् बनाने में समर्थ हो सकते हैं। इस भाग में उपागों का परिचय मक्षिप्त और सरल रीति में दिया गया है। साथ में कुछ पौराणिक आख्यानों का भी उल्लेख किया है और उसे बोधगम्य बनाने में डा० मेहता ने अच्छा श्रम किया है। उपागों के प्रकाशित मन्त्रों का भी फुटनोट में परिचय कराया गया है। इस तरह जैन-साहित्य के इतिहास का यह द्वितीय भाग भी अपनी विशिष्टता को लिए हुए है। इसके लेखक विद्वान् और प्रकाशक मन्था मभी धर्मवाद के पात्र हैं।

(४) जैन आचार — लेखक, डा० मोहनलाल मेहता, प्रकाशक पार्वनाथ विद्याश्रम जोध सस्थान,

जैनाश्रम हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी-५। पृ० २४४, मूल्य ५) रुपया।

प्रस्तुत पुस्तक का विषय जैन आचार है। जो छद्म अध्ययों या प्रकरणों में विभाजित है। जैनाचार की भूमिका जैन दृष्टि में चरित्र विकास, जैन आचार ग्रन्थ, आचाराचार, श्रमणधर्म और श्रमणसंघ।

लेखक महोदय ने इन प्रकरणों में जैनाचार को स्पष्ट करने के लिए दिगम्बर-श्वेताम्बर ग्रन्थों के अति-रिक्त बौद्ध और वैदिक ग्रन्थों का भी उपयोग किया है। और आचार सम्बन्धी मान्यताओं को स्पष्ट करने हेतु विषय का स्पष्टीकरण किया है। डा० साहब के विचार मूल में सही हैं। भाषा सरल और सूत्रावरोध है। डा० सा० ने दिगम्बर-श्वेताम्बर आचार ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन किया है। उसके विकास के दो रूपों का कथन करने हेतु उसे इस रूप में रखने का प्रयत्न किया है, जिसमें उसमें किसी विरोध की सम्भावना ही न रहे। आशा है डा० सा० जैन धर्म के जिन मिद्धान्तों पर तुलनात्मक अध्ययन करना शेष है, उन पर भी तुलनात्मक दृष्टि में निरन्तर प्रकाश डालने का यत्न करेंगे।

प्रस्तुत पुस्तक पार्श्वनाथ विद्याश्रम के प्राण ला० हरजमराज जैन अध्ययन को भेट की गई है। इसके लिये लेखक और प्रकाशक दोनों ही धन्यवाद के पात्र हैं।

५ पोलिटिकल ट्रिस्ट्री आफ नार्वन इन्डिया फ़ोम जैन सोसैज —लेखक डा० गुलाबचन्द चौधरी

प्रकाशक मोहनलाल जैनधर्म प्रकाशक समिति अमृतसर। बडा साईज, मूल्य २४) रुपया।

प्रस्तुत ग्रन्थ एक खोजपूर्ण शोध प्रबन्ध है जिसमें ईसा की ७ वी शताब्दी से १३ वी शताब्दी तक के इति वृत्तों पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। ग्रन्थ का फारवर्ड (भूमिका) प्रसिद्ध विद्वान स्व० डा० वामुदेव शरण जी अग्रवाल ने लिखा है। और इस पर लेखक को बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी से पी० एच० डी० की डिग्री भी मिली है।

डा० गुलाबचन्द चौधरी अच्छे विद्वान हैं उन्होंने अपने इस शोध प्रबन्ध में ७ वी से १३ वी शताब्दी के मध्यवर्ती समय में होने वाले विविध राजवंशों, राजाओं, मन्थता और उग समय के जाने वाले साहित्य में उल्लिखित जैन इति- वृत्तों एवं कला पर प्रामाणिक प्रकाश डालने का यत्न किया है। साथ ही ग्रन्थों, ग्रन्थ प्रशस्तियों, शिलालेखों, नामपत्रों, मन्तिलेखों आदि पर से जो इतिवृत्त संकलित किया उसे यथा स्थान नियोजित किया है और फुटनोट में उनके उद्धरण भी दे दिये हैं। इसमें ग्रन्थ महत्वपूर्ण हो गया है और अन्वेषक विद्वानों और छात्रों के लिए उपयोगी बन गया है। इसके लिए डा० गुलाबचन्द चौधरी और उक्त संस्था के मन्त्रालक गण सभी धन्यवाद के पात्र हैं।

—परमानन्द जैन शास्त्री

अनेकान्त के ग्राहक बनें

‘अनेकान्त’ पूर्ण ख्यातिप्राप्त शोध-पत्र है। अनेक विद्वानों और समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों का अभिमत है कि वह निरन्तर प्रकाशित होता रहे। ऐसा तभी हो सकता है जब उसमें घाटा न हो और इसके लिए ग्राहक संख्या का बढ़ाना अनिवार्य है। हम विद्वानों, प्रोफेसर्स, विद्याधियों, सेठियों, शिक्षा-संस्थाओं, संस्कृत विद्यालयों, कालेजों और जैनश्रुत की प्रभावना में श्रद्धा रखने वालों से निवेदन करते हैं ‘अनेकान्त’ के ग्राहक स्वयं बनें और दूसरों को बनावें। और इस तरह जैन संस्कृति के प्रचार एवं प्रसार में सहयोग प्रदान करें।

वीर-सेवामन्दिर में वीर शासन-जयन्ती

का

उत्सव सानन्द सम्पन्न

ता० २२ को प्रातःकाल ८ बजे वीरसेवामन्दिर भवन २१ दरियागज में गत वर्षों की भांति इस वर्ष भी वीर शासन जयन्ती का उत्सव रा० ८० लाला दयाचन्द जी और बाबू यशपाल जी जैन सम्पादक जीवन साहित्य की ग्रन्थक्षता में सानन्द सम्पन्न हुआ। वीरशामन की महत्ता पर विद्वानों के भाषण हुए और जैन बालाश्रम के छात्रों के दो उद्देशिक पद हुए। तथा महिलाश्रम की छात्राओं का एक सुन्दर भजन हुआ। भाषणकर्ता विद्वानों में परमानन्द शास्त्री, प० जयन्तीप्रसाद जी, ला० प्रेमचन्द जी जैनावाच, प० मथुरादाम जी, बा० विमलप्रसाद जी पहाड़ीधीरज और बाबू यशपाल जी के महत्त्वपूर्ण भाषण हुए। बा० विमलप्रसाद जी ने अपने भाषण में कहा कि जब तक हमारी दृष्टि नहीं बदलेगी तब तक हम धर्म के वास्तविक रहस्य को नहीं पा सकेंगे। बाह्य क्रियाकाण्डों में मलग्न रहकर हम धर्म के स्वरूप तक नहीं पहुँच सकते। अतः दृष्टि का बदलना अत्यन्त आवश्यक है। बा० यशपाल जी ने अपने ग्रन्थक्षीय भाषण में भगवान महावीर के अर्पाग्रह पर प्रकाश डालते हुए महात्मा टालस्टाय की ६ गत जमीन नामक कहानी का भार बतलाया और कहा कि महावीर का यह गिद्वान किनना महत्वपूर्ण है उसका जीवन में अमल करना पर आत्मा वास्तविक शान्ति का पात्र बन सकता है। इस तरह सभी भाषण रोचक हुए। अन्त में बा० प्रेमचन्द जी ने ममागत मज्जनो का आभार व्यक्त किया, और वीरशामन की जयछानि पूर्वक उत्सव समाप्त हुआ।

प्रेमचन्द जैन

स० मंत्री वीरसेवामन्दिर



अंतरिक्ष पार्श्वनाथ पवली दि० जैन मन्दिर शिरपुर के गर्भगृह के सामने का चूने का प्लास्टर लोढ़ने समय ता० ६-३-६७ को जो ११ अखंडित दि० मूर्तियाँ मिली उनका निम्न ऊपर दिया गया है।



साहू शान्तिप्रसाद जी जैन
संस्थापक—भारतीय ज्ञानपीठ काशी



बीमलती रमा जैन
अध्यक्षा—भारतीय ज्ञानपीठ काशी



तारा शंकर बघोपाध्याय
मन्त्रसेवता कृति के रचयिता

प्रकाशक—ब्रह्मचन्द्र जैन, बीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली से मुद्रित ।

अनेकान्त



दिगम्बर जैन पार्श्वनाथ मन्दिर नागदा (उदयपुर)

परिचय—वेल्हो, अनेकान्त जून १९६७

समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का मुखपत्र

विषय-सूची

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
१.	सुपाश्व-जिन-स्तुति.—ममन्तभद्राचार्य	६७
२.	अग्रवालों का जैन मस्कृति में योगदान— परमानन्द शास्त्री	६८
३.	आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र पर एक प्राचीन दिगम्बर टीका —श्री जुगलकिशोर मुस्तार	१०७
४.	सागर धर्माग्न पर इतर श्रावकाचार्य का प्रभाव—पं० बालचन्द्र मिश्रान्त-शास्त्री	११६
५.	बादामी के चालुक्यनरेश और जैन धर्म— प्रो० दुर्गाप्रसाद दीक्षित एम. ए.	१२६
६.	जैन तक में हेन्वतुमान—डा० प्रद्युम्न कुमार	१३०
७.	मह न मन्त भट्टारक विजय कीर्ति— डा० कस्तूर चन्द कासलीवाल	१३७
८.	महाकवि समय मुन्दर और उनका दानशील तप भावना सवाद—मयनारायण स्वामी एम. ए.	४६
९.	माहित्य-समीक्षा—परमानन्द शास्त्री	१४३



अनेकान्त के ग्राहक बनें

‘अनेकान्त’ पुराना ख्यातिप्राप्त शोध-पत्र है। अनेक विद्वानों और समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों का अभिमत है कि वह निरन्तर प्रकाशित होता रहे। ऐसा तभी हो सकता है जब उसमें घाटा न हो और इसके लिए ग्राहक संख्या का बढ़ाना अनिवार्य है। हम विद्वानों, प्रोफेसरो, विद्याथियों, सेठियों, शिक्षा-संस्थाओं, संस्कृत विद्यालयों, कालेजों और जैनश्रुत की प्रभावना में अढ़ा रखने वालों से निवेदन करते हैं कि वे ‘अनेकान्त’ के ग्राहक स्वयं बनें और दूसरों को बनावें। और इस तरह जैन संस्कृति के प्रचार एवं प्रसार में सहयोग प्रदान करें।

व्यवस्थापक ‘अनेकान्त’



सम्पादक-मण्डल
डा० आ० ने० उपाध्ये
डा० प्रेमसागर जैन
श्री यशपाल जैन



जिनवाणी के भक्तों से

वीरसेवामन्दिर का पुस्तकालय अनुसन्धान में सम्बन्ध रखता है। अनेक शोधक विद्वान अपनी थीसिस के लिए उपयुक्त मॅटर यहां से संगृहीत करके ले जाते हैं। सचालक गण चाहते हैं कि वीरसेवामन्दिर की लायब्रेरी को और भी उपयोगी बनाया जाय तथा मुद्रित और अमुद्रित शास्त्रों का अच्छा संग्रह किया जाय। अतः जिनवाणी के प्रेमियों से हमारा नम्र निवेदन है कि वे वीरसेवामन्दिर लायब्रेरी को उच्छकोटि के महत्वपूर्ण प्रकाशित एवं हस्त-लिखित ग्रन्थ भेंट भेज कर तथा भिजवा कर अनुगृहीत करें। यह समस्या पुरानत्व और अनुसन्धानके लिए प्रसिद्ध है।

व्यवस्थापक

वीरसेवा मन्दिर, २१ दरियागंज दिल्ली



अनेकान्त के ग्राहकों से

अनेकान्त के जिन प्रेमी ग्राहकों का वार्षिक मूल्य प्राप्त नहीं हुआ है। उन्हें चाहिए कि वे २५ वर्ष का वार्षिक शुल्क छह रुपया मनीप्रॉर्डर में भिजवा दें। अन्यथा अगला अंक वी० पी० से भेजा जावेगा, जिसमें ८५ पैसा वी० पी० खर्च का देना होगा। आशा ही नहीं किन्तु विश्वास है कि प्रेमी पाठक वार्षिक मूल्य भेज कर अनुगृहीत करेंगे।

व्यवस्थापक ‘अनेकान्त’

वीरसेवामन्दिर २१, दरियागंज, दिल्ली



अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैसे

अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्पादक मण्डल उत्तरदायी नहीं हैं।

व्यवस्थापक अनेकान्त

ओम् नमः

अनेकान्त

परमात्मस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।

सकलमयबिलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकात्मम् ॥

वर्ष २०

किरण ३

}

वीर-सेवा-मन्दिर, २१ बरियागंज, दिल्ली-६

वीर निर्वाण संवत् २४६३, वि० सं० २०२४

{ अगस्त

{ सन् १९६७

सुपाश्व-जिन-स्तुतिः

(मुरजः)

स्तुवाने कोपने खैव समानो यन्न पावकः ।

भवानेकोऽपि नेतेव त्वमाश्वेयः सुपाश्वकः॥२६॥

—समन्तभद्राचार्य

अर्थ—हे भगवन् ! सुपाश्वन्ताय ! आप, स्तुति करने वाले और निन्दा करने वाले—दोनों के विषय में समान हैं—राग द्वेष से रहित हैं । सबको पवित्र करने वाले हैं—सबको हित का उपदेश देकर कर्म बन्धन से छुटाने वाले हैं । अतः आप एक असहाय (दूसरे पक्ष में प्रधान) होने पर भी नेता की तरह सबके द्वारा आश्रयणीय हैं—सेवनीय हैं ।

भाषार्थ—जिस तरह एक ही नेता अनेक आदमियों को मार्ग प्रदर्शित कर इष्ट स्थान पर पहुँचा देता है उसी तरह आप भी अनेक जीवों को मोक्षमार्ग बतलाकर इष्ट स्थान पर पहुँचा देते हैं । और स्वयं भी पहुँचे हैं । अतः आप सब की श्रद्धा और भक्ति के भाजन हैं ।

—:०:—

अग्रवालों का जैन संस्कृति में योगदान

(गत वर्ष १६ कि० ५ से आगे)

परमानन्द जैन शास्त्री

अग्रवाल जैन समाज के अनेक व्यक्तियों ने राष्ट्रीय क्षेत्र में जो अपनी सेवाये प्रदान की है। उनमें से कुछ व्यक्तियों के नाम उल्लेखनीय है। बाबू श्यामलाल जी एडवोकेट रोहतक ने कांग्रेस में बड़ा भारी कार्य किया है। उन्होंने अनेक बार जेल यात्रा की और अपने भापरणों द्वारा जनता में कांग्रेस के प्रति दृढ़ आस्था उत्पन्न की। उनका भाषण अच्छा और प्रभावक होता था। बाबू मुमनिप्रसाद जी वकील मुजफ्फर नगर, बाबू रतनलाल जी वकील बिजनौर ये दोनों वकील भूतपूर्व एम. एल. हैं, जो अपने कर्तव्य पालन में सदा सावधान रहते हैं। और सामाजिक कार्यों में सहयोग देते रहते हैं। बाबू अजित-प्रसाद जैन वकील सहारनपुर जो खाद्यमन्त्री भी रहे हैं। अयोध्याप्रसाद गोयलीय और लाला तनसुखराय आदि। स्वराज्य मिलने के बाद भी अनेक व्यक्ति राष्ट्रसेवा में अपने बहुमूल्य जीवन लगाते रहे हैं।

खतौली जि० मुजफ्फरनगर के सेठ माडेलाल ने खतौली के दस्सों की धार्मिक श्रद्धा को कायम रखने के लिये अपना सर्वस्व होम दिया, तब कही उनका स्थितिकरण हो सका। वे विपदा के समय भी अपने धर्म का सतुलन बराबर रख सके यही उनकी महानता है।

इस समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों में अनेक व्यक्ति ऐसे हुए हैं जिन्होंने धर्म और संस्कृति के संरक्षणार्थ अपने कर्तव्य का निष्ठा के साथ पालन किया है और कर रहे हैं। साहु खानदान में साहु सलेखचन्द जी, साहु जुगमन्दिर दाम जी, साहु श्रेयान्सप्रसाद जी और श्रावक शिरोमणि साहु शान्तिप्रसाद जी आदि के नाम खास तौर से उल्लेखनीय हैं। साहु श्रेयान्सप्रसाद जी का धार्मिक, सामाजिक आदि सभी कार्यों में सहयोग रहता है। राजनैतिक कार्यों में भी योग रहा है। वर्तमान में साहु शान्तिप्रसाद जी इस

समाज के सम्माननीय व्यक्ति हैं; उनमें धार्मिकता विनय शीलता और उदारता आदि गुण विद्यमान हैं। उनके द्वारा की जाने वाले तीर्थ रक्षा और प्राचीन मन्दिरों का जीर्णोद्धार कार्य, जैन प्राकृत विद्यापीठ, ये सब कार्य उनकी महत्ता और औदार्य के सूचक हैं। भारतीय ज्ञानपीठ उनकी महत्वपूर्ण प्रकाशन संस्था है आपकी धर्मपत्नी श्रीमती रमारानी भी धार्मिक, साहित्यिक कार्यों में भाग लेती रहती हैं। और भारतीय ज्ञानपीठ की अध्यक्षा हैं। समाज को आप दोनों से बहुत आशाएँ हैं। आपके सुपुत्र अशोककुमार और अलोकप्रकाश भी धार्मिक कार्यों में योग देते रहते हैं। इस तरह आप का समूचा परिवार धार्मिक भावना से ओत-प्रोत है। आप का जैन समाज की प्रायः सभी समस्याओं में आर्थिक योगदान देना, सन्तों की सेवा में समुपस्थित रहना और सामाजिक तथा धार्मिक कार्यों में तत्परता दिखलाना, सराहनीय है। जहाँ आप उद्योगपति हैं वहाँ योग्यविचारक तथा धार्मिक निष्ठावान हैं। परोपकारी और विनयशील हैं। वीरसेवामन्दिर पर आपका विशेष अनुग्रह है। साहु श्रेयान्सप्रसाद जी की तरह साहु शीतलप्रसाद जी भी धार्मिक तथा सामाजिक कार्यों में अभिरुचि लेते रहते हैं। और अपनी उदारवृत्ति द्वारा उनमें सहयोग प्रदान कर उनकी प्रगति का प्रयत्न करते रहते हैं।

कलकत्ता के सेठ रामजीवन सरावगी और उनका परिवार तथा पुत्रादि अपने पिता के अनुकूल धार्मिक भावना का उद्भावन कर रहा है। उनके पुत्रों में सबसे अधिक लगन बाबू छोटेलाल जी में थी। पुरातत्त्व और जैन साहित्य के प्रचार में उनका सराहनीय सहयोग रहा है। वे केवल धार्मिक संस्थाओं में स्वयं दान देते और दिलाते ही नहीं थे; किन्तु उनकी प्रगति में सब तरह का

सहयोग भी प्रदान करते थे। वीरसेवामन्दिर तो उनकी प्रवृत्तियों का जीता जागता उदाहरण है। पुरातत्त्व के सम्बन्ध में उनके कई महत्व के लेख प्रकाशित हुए हैं, और अभी बहुत सी सामग्री उनकी अपूर्ण पड़ी है। खण्ड गिरि उदयगिरि के सम्बन्ध में उन्होंने जो प्रयत्न किया वह भी सराहनीय है। वे अतिथि सत्कार के बड़े प्रेमी थे। उनके लघुभ्राता बाबू नन्दलाल जी सरावगी भी अपनी उदार प्रवृत्ति द्वारा सामाजिक क्षेत्र में सेवा-कार्य बड़ी लगन से करते हैं। पूज्यवर्णी गणेशप्रसाद जी के स्मारक तय्यार कराने में आपने जो सहयोग दिया वह प्रशंसनीय है। वीरसेवामन्दिर में तो आपका सराहनीय सहयोग रहा है और वर्तमान में है। दोनों ही भाई पूज्यवर्णीजी के अत्यन्त भक्त हैं, वर्णी जी महापुरुष थे, उनका सभी पर सम भाव रहता था। अन्वेष्टन करने पर अग्रवाल समाज के अनेक व्यक्तियों का ऐसा परिचय भी उपलब्ध होगा जिन्होंने देश, धर्म और समाज के उत्थान में अपना सर्वस्व अर्पण किया है।

कतिपय अग्रवाल जैन कवि और विद्वान

जैन संस्कृति के प्रसार और प्रचार में केवल श्रावको ने ही योगदान नहीं दिया किन्तु समय-समय पर अनेक अग्रवाल जैन कवियों और विद्वानों ने अपनी रचनाओं द्वारा लोक कल्याण की भावनाओं को प्रोत्तेजन दिया है। इतना ही नहीं किन्तु तात्कालिक रीति-रिवाजों के साथ अपनी धार्मिक भावनाओं को वृद्धिगत किया है। अग्रवाल जैनों में अनेक कवि हुए होंगे किन्तु यहाँ उनमें से कुछ विद्वानों और कवियों का ही संक्षिप्त परिचय दिया जाता है :—

प्रथम कवि श्रीधर हरियाना देश के निवासी थे और अग्रवाल कुल में उत्पन्न हुए थे, वे हरियाना से यमुना नदी को पार कर दिल्ली आये थे। कवि ने पार्श्वनाथ चरित की आदि प्रशस्ति में दिल्ली का अच्छा वर्णन दिया है। वहाँ के तात्कालिक शासक तोमरवंशी राजा अनंगपाल (तृतीय) का भी उल्लेख किया है जिसका राज्य संवत् ११८६ में दिल्ली में मौजूद था। कवि के पिता का नाम 'बुधगोल्ह' और माता का नाम 'बील्हा देवी' था। कवि ने अपनी गुरु परम्परा और जीवनादि घटना का कोई

उल्लेख नहीं किया। कवि की अष्टावधि तीन रचनाओं का उल्लेख मिलता है, जिनमें दो उपलब्ध हैं तथा उनकी भाषा अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी है। तीसरी रचना की भाषा भी अपभ्रंश ही जान पड़ती है। और तीसरी रचना 'चन्द्रप्रभचरित' का पार्श्वनाथ चरित की आद्य प्रशस्ति में उल्लेख है। कवि ने पार्श्वनाथ चरित्र की रचना संवत् ११८६ में योगिनीपुर (दिल्ली में) अनंगपाल (तृतीय) के राज्य में मगसिर वदो अष्टमी के दिन की है। इस ग्रन्थ की सं० १५७७ की लिखी प्रति आमेर शास्त्र का भण्डार में उपलब्ध है।

कवि की दूसरी रचना 'वड्ढमाण चरित' है। ग्रन्थ की १० संधियों में जैनियों के अतिम तीर्थंकर वर्धमान का जीवन-परिचय अंकित है। कवि ने इस कृति को 'वेदाउ' नगर के जायसवर्णी दिनकर, शाह नरवर के पुत्र नेमचन्द की अनुमति से वि० सं० ११६० के ज्येष्ठ मास के प्रथम पक्ष की पंचमी गुरुवार के दिन समाप्त की है। ग्रंथ की प्रति व्यावर भवन में उपलब्ध है।

द्वितीय कवि सुधारू है जिनकी जाति अग्रवाल थी। पिता का नाम महाराज और माता का नाम 'मुधनु' था। जो गुणवती थी। कवि एरच्छ नगर के निवासी थे। इनकी बनाई हुई एक मात्र कृति 'प्रद्युम्न चरित्र' है जिसमें यादववंशी श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न का जीवनचरित अंकित किया गया है। यह हिन्दी भाषा का एक सुन्दर चरित

१. स णवासिएयारहसएहि,

परिवाडिए बरिसहं पग्गिएहि।

कसणट्टमीहि आगहणमासि,

रविवार समाणिउ मिसिर भासि ॥

—पासणाह चरित प्रशस्ति

२. णिवविक्कमाइक्क हो कालए,

णिक्कुक्कव वर तूर खालए।

एयारह मएहि परिविगयहि,

संवक्कसर सय णवहि ममेयहि ॥

जेट्ट पढम पक्खइ पंचमि दिणे

गुरुवारे गयणं गणि ठिइयणे ॥

—वर्धमान चरित प्रशस्ति

काव्य है। परन्तु लेखकों की कृपासे उसमें अत्यधिक पाठ-भेद उपलब्ध होते हैं उनसे ऐसा लगता है कि संभवतः कवि ने ही उसे संक्षिप्त किया हो, कुछ भी हुआ हो, पर उसके सम्बन्ध में अभी ग्रन्थ प्राचीन प्रतियों का ग्रन्थेक्षण करना आवश्यक है, जिससे परिस्थिति का ठीक पता चल सके। कवि ने इस काव्य को सं० १४११ में बनाया है। कथानक अतिरंजित है, फिर भी कवि ने उसे संक्षेप में रखने का यत्न किया है।

जब गणधर से द्वारिका के १२ वर्ष में विनाश होने, कृष्ण और हलधर के बचने और जरतकुमार के हाथ से कृष्ण की मृत्यु का समाचार ज्ञात कर कुंवर प्रद्युम्न ने जिन दीक्षा लेने का विचार किया तब श्रीकृष्ण ने मना किया। और कहा कि तुम द्वारिका का राज्य करो। तब कुमार ने जो उत्तर दिया वह बड़ा सुन्दर है :—

चिन्तायुक्त भयो परदुबन, दीक्षा लें कीर्णों तपचरन् ।
विलस वदन बोलें नारायन्, हमको साथ पुत्त परदुबन ।
कवन बुद्धि उपजो तुहि भाज, तू लेहि द्वारिका भुंज राज ।
तू राजधुरंधर जंठो पुत्त, तो विद्याबल ग्रहिबहु तत्त ।
तेरो पौरव जानें सब कवन,

जिन तपु लेहि सो पुत्त परदुबन ।

× × ×
नारायन् के वचन सुनेहि, तापे कंठपु उत्तर देहि ।
काको राज भोग धरदार, सुपनंतर है यह संसार ।
काको बालक पौरव घनों, काको बाप कुदुंब ग्रहितनों ।

इस तरह ग्रन्थ के अनेक कथन सुन्दर और सरस हैं। भाषा में अपभ्रंश और देशी भाषा के शब्दों की बहुलता है। ग्रन्थ का मनन करने से हिन्दी के विकास का मौलिक रूप सामने आ जाता है।

तीसरे कवि हरिचन्द हैं। जो अग्रवाल कुल में उत्पन्न हुए थे। कवि के पिता का नाम 'जंडू' और माता का नाम 'वील्हा' देवा था। यह कहां के निवासी थे और इनकी गुरु परम्परा क्या है? यह कृति पर से कुछ ज्ञात नहीं होता। कवि की एक मात्र कृति 'ग्रणथमियकहा' है, जो अपभ्रंश भाषा में रची गई है। उक्त कथा में १६ कडवक दिये हुए हैं जिनमें रात्रि भोजन से होने वाली हानियों

को दिखलाते हुए उसका त्याग करने की प्रेरणा की गई है और बतलाया है कि—जिस तरह ग्रन्था मनुष्य भ्रास की शुद्धि-अशुद्धि सुन्दरतादि का अवलोकन नहीं कर सकता। उसी प्रकार सूर्य के अस्त हो जाने पर रात्रि में भोजन करने वाले लोगों से कीड़ी, पतंगा, भौंगुर, चिउंटी, डांस, मच्छर आदि सूक्ष्म और स्थूल जीवों की रक्षा नहीं हो सकती। बिजली का प्रकाश भी उन्हें रोकने में समर्थ नहीं हो सकता। रात्रि में भोजन करने से भोजन में उन विषैले जन्तुओं के पेट में चले जाने से अनेक तरह के रोग हो जाते हैं। उनसे शारीरिक स्वास्थ्य को बड़ी हानि पहुँचती है। अतः शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से तथा बंधक और धार्मिक दृष्टि से रात्रि भोजन का परिहार करना श्रेयस्कर है। कवि का समय १५वीं शताब्दी जान पड़ता है।

चौथे कवि वीरु है, जो अग्रवाल कुल में उत्पन्न हुए थे। और शाह तोतू के पुत्र थे। तथा भट्टारक हेमचन्द्र के शिष्य थे। कवि ने 'धर्मचक्र पूजा' सं० १५८६ में रोहतक २

१. जिहि दिट्टि नय सरइ अंधु जेम,
नहि गास-सुद्धि भणु होय केम ।
किमि-कीड-पयंगइ भिगुराइ,
पिप्पीलइ डंसइ मच्छिराइ ।
खजूरइ कण्ण सलाइयाइ,
अवरइ जीवइ जे बहु सयाइ ।
अन्नाणी गिसि भुंजंतएण,
पसुसरिसु धरिउ अण्णाणु तेण ।

यत्ता—जं बालि विदीणउ करि उज्जोवउ
अहिउजीउ संभवइ परा ।
भमराइ पयंगइ बहुविह भंगइ
मडिय दीसइ जित्यु धरा ॥

—जैन ग्रन्थ प्रशस्ति सं० भा० २ पृ० ११५।

२. रहितासपुर रोहतक का नाम है। यह हरियाना प्रदेश में है, और यहां अग्रवाल जाति के सम्पन्न लोग निवास करते हैं। १६वीं शताब्दी में अनेक विद्वानों द्वारा ग्रन्थ रचना की गई है।

नगर के पार्श्वनाथ मन्दिर में बनाकर समाप्त की थी१। कवि की दूसरी रचना 'बृहत्सिद्ध चक्रपूजा' है। जिसे ग्रन्थ कर्ता ने वि० सं० १५८४ में दिल्ली के बादशाह बाबर के राज्यकाल में रोहतक के उक्त पार्श्वनाथ मन्दिर में काष्ठा-संघ माथुरान्वय पुष्करगण के भट्टारक यशोसेन की शिष्या आर्यिका राजश्री के भाई नारायणसिंह पद्मावती पुरवाल के पुत्र जिनदास की आज्ञा से बनाई थी२। कवि की दोनों रचनाएँ संस्कृत भाषा में हैं और वे सब पूजा के विषय में लिखी गई हैं। कवि की अन्य रचनाओं के सम्बन्ध में अन्वेषण करना चाहिए। नन्दीश्वर पूजा और ऋषि मंडलयत्र पूजा ये दो ग्रंथ भी इनके बताये जाते हैं; परन्तु उनके बिना देखे यह कह सकना कठिन है कि वे इन्हीं वीर की कृति हैं या अन्य किसी वीर नाम के विद्वान की।

पाँचवें कवि पं० मेधावी है। जो सोलहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध भट्टारकीय विद्वान थे। आपका वंश अग्रवाल था, पिता का नाम साहु 'उद्धरण' और माता का नाम 'भीषुही' था३। कवि आप्त आगम के अद्वैती और जिन चरणों के भ्रमर थे। इनके गुरु भ० जिनचन्द्र थे जो दिल्ली में भ० शुभचन्द्र के पट्ट पर संवत् १५०७ की ज्येष्ठ कृष्ण पंचमी के दिन प्रतिष्ठित हुए थे। आपकी जाति बघेरवाल और पट्टकाल ६४ वर्ष बताया जाता है। किन्तु आपके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियाँ सं० १५०२ की उपलब्ध होती है।

१. चन्द्रबाणाष्टषष्ठाकैः (१५८६) वर्तमानेषु सवंतः।

श्रीविक्रमनृपान्तूनं नयविक्रमशालिनः॥८

पौषे मासे सिते पक्षे षष्ठीद्विदिननामकैः (के)।

रहितासपुरे रम्ये पार्श्वनाथस्य मन्दिरे॥९

—धर्मचक्र पूजा

२. वेदाष्टबाण शशि-सवस्तर विक्रमनृपाद्ग्रहमाने।

रहितासनाम्नि नगरे बब्बर मुगलाधिराज-सद्राज्ये॥

श्रीपार्श्वचैत्यगेहे काष्ठासंघे च माथुरान्वयके।

पुष्करगणे बभूव.....॥

—बृहत्सिद्धचक्रपूजा।

३. स्वप्रोतानूकजातोद्धरणतनुरुहो भीषुहीमातृसूतः।

मोहाक्ष्यः पंडितो वै जिनमतनयतः श्रीहिसारे पुरेऽस्मिन्॥

—धर्म संग्रह आ०।

अतएव पट्टावली का उक्त समय (सं० १५०७) संकित हो जाता है। भ० जिनचन्द्र उस काल के प्रभाविक विद्वान थे। आपके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियाँ भारत के प्रत्येक प्रान्त के मन्दिरों में पाई जाती हैं। आपके अनेक शिष्य थे उनमें पं० मेधावी प्रमुख थे। ये हिसार के निवासी थे और कुछ समय नागौर भी रहे थे। उन्होंने नागौर में ही सं० १५४१ में फिरोजखान के राज्य काल में 'मेधावी संग्रह' श्रावकाचार' पूरा किया था४। आपके द्वारा अनेक ग्रन्थ दातु प्रशस्तियाँ लिखी गई हैं जो सं० १५१६ से १५४२ तक की लिखी हुई उपलब्ध होती हैं। भ० जिनचन्द्र के शिष्य पुस्तक गच्छीय श्रुतमुनि और दो अन्य मुनियों से मेधावी ने अष्टसहस्री का अध्ययन किया था। जिनचन्द्र के शिष्य रत्नकीर्ति, रत्नकीर्ति के शिष्य विमलकीर्ति थे। जो श्रुतमुनि के द्वारा दीक्षित थे। मेधावीकृत दातु प्रशस्तियों में अनेक ऐतिहासिक उल्लेख और तात्कालिक श्रावकों की धार्मिक परिणति का परिचय मिलता है। मेधावी प्रतिष्ठाचार्य भी थे। परन्तु इनके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्ति अभी अबलोकन में नहीं आई है।

छठवें कवि हैं, छीहल जो अग्रवाल कुलभूषण नाहिग-वंश के विद्वान थे। आप के पिता का नाम नाथू या नाथू-राम था५। आपकी रचनाओं में पंच सहेली गीत, पन्थी-गीत, पंचेन्द्रियवेलि और बावनी आदि हैं। पंचसहेलीगीत एक शृंगार परक रचना है जो सं० १५७५ में फाल्गुन

४. सपादलक्षे विषयेऽतिसुदरे

श्रिया पुरं नागपुरं समस्ति तत्।

पेरोजखानो नृपतिः प्रपाति

यन्यायेन शौर्येण रिपून्निहन्ति च॥१८*

×

×

×

मेधाविना निवसन्नुहं बुधः,

पूर्वां व्यधां ग्रंथमिमं तु कार्तिके।

चंद्राब्धिबार्णकमितेऽत्र वत्सरे,

कृष्णे त्रयोदश्यहनि त्वभक्तितः॥

—धर्मसंग्रह आ०

५ नातिग वंस सि नाथु सुतनु, अग्रवाल कुल प्रगट रवि।

बावनी बसुधा बिस्तरी, कवि कंकण छीहल कवि॥

—बावनी

सुदि १५ के दिन रची गई थी रचना में पंचसहेलियों के चिरह का वर्णन है। वर्णन सहज और स्वभाविक है।

पन्थीगीत—सासारिक दुख का एक पौराणिक उदाहरण है। इसे रूपक काव्य कहा जा सकता है। यह पौराणिक दृष्टान्त महाभारत और जैन ग्रन्थों में पाया जाता है। वहाँ इसे संसार वृक्ष के नाम से उल्लेखित किया गया है :—

एक पथिक चलते चलते रास्ता भूल गया और सिंही के वन में पहुँच गया। वहाँ रास्ता भूल जाने में वह जंगल में इधर उधर भटकने लगा। उसी समय उसे सामने एक मदोन्मत्त हाथी आता हुआ दिखाई दिया, उसका रूप रौद्र था और वह क्रोधवश अपने गुण्डादण्ड को हिलाता हुआ आ रहा था। पथिक उसे देख भयभीत होकर भागने लगा। और हाथी उसके पीछे पीछे चला, वहाँ घासफूस से ढका हुआ एक ग्रन्था कुम्भा था पन्थी को वह न दिखा, और वह उसमें गिर गया, उसने वृक्ष की एक टहनੀ पकड़ ली और उसके सड़ारे लटकता हुआ दुख भोगने लगा। उस कुए के किनारे पर हाथी खड़ा था, उसमें चारों दिशाओं में चार सर्प और बीच में एक अजगर मुहवाए पड़ा था। उस कुए के पास एक वटवृक्ष था, उसमें मधु-मक्खियों का एक छत्ता लगा हुआ था। हाथी ने उसे हिला दिया, जिससे अगणित मधु मक्खियाँ उड़ने लगीं। और मधु की एक एक विन्दु उस पथिक के मुख में पड़ने लगी। इसमें कृप संसार है, पंथी जीव है, सर्प गति है, अजगर निगोद है, हाथी अज्ञान है और मधु विन्दु विषय-मुख है। कवि कहता है कि यह संसार का व्यवहार है। अतः हे गवार ! तू चेत, जो मोह निद्रा में मोते है वे अधिक असावधान है। इन्द्रियरस में मग्न हो परमब्रह्म को भुला दिया है, इस कारण तेरा नर जन्म व्यर्थ है। कवि छीहल कहते हैं कि हे आत्मन् अब तू जिनेन्द्र प्रतिपादित धर्म का अवलम्बन कर कर्म बन्धन से छूट सकता है—जैसा कि उक्त गीत के निम्न पद्य से प्रकट है:—

“संसार को यहु विचहारी चित चेतहरे गंधारी,
मोहनिद्रा में जे जन मृता ते प्राणी प्रति बे गुता।
प्राणी बे गुता बहुत ते जिन परम ब्रह्म बिसारियो,
अम भूलि इन्द्रिय तनो रस, नर जन्म बृथा गंवाइयो।

बहु काल नामा बुख बीरघ सह्या छीहल कहे करिधर्म,
जिन भाषित जगत्तिस्यो त्यों मुक्ति पव लह्यो ॥”

पंचेन्द्रिय वेलि ४ पद्यों की एक लघु रचना है, जिसमें आत्मसम्बोधन का उपदेश निहित है। अपने आराध्यदेव को घट में स्थापित करने के लिये हृदय की पवित्रता आवश्यक है, यदि घट अपवित्र है तो जप, तप, तीर्थयात्रादि सब व्यर्थ है, अतः घट की आन्तरिक शुद्धि को लक्ष्य में रख कर भव-समुद्र से तिरा जा सकता है।

चौथी कृति बावनी है, जो छीहल बावनी के नाम से प्रसिद्ध है यह रचना स० १५८४ की कार्तिक शुक्ला अष्टमी गुरुवार के दिन रची गई है। इसकी पद्य संख्या ५३ है। कवि ने इसमें पाँचों इन्द्रियों के विषय गग से होनेवाले परिणाम का सुन्दर चित्रण करते हुए इन्द्रिय विषयों से अपना मरक्षण करने की प्रेरणा की है। कवि की भाषा पर ब्रज और राजस्थानी का प्रभाव अंकित है उसका आदि और अन्त भाग इस प्रकार है:—

ओंकार आकार रहित अविगत अपरम्पार।

अलख अजोनी सृष्टि कर्ता विश्वम्भर।

घट—घट अंतर वसइ तामु चोन्हइ नहि कोई।

जल-बल-सुरग-पयालि जिहां देखहु तिहं सोई।

जोगान्द्र सिद्ध मुनिवर, जिनके प्रबल महातप सिद्धउ।

‘छीहल’ कहइ तसु पुरुष को किनही अन्त न लखइ ॥१

× × ×

नाब श्रवण धाबन्त तजइ मृग प्राण ततक्षण,

इन्द्रिय परस गयब वारिज, अलि मरइ विचक्षण।

लोयणनु बुध पतंग पड़इ पावक पेखन्तउ।

रसना स्वाद विलगि, मीन बज्जइ देखन्तउ,

मृग मीन-भंवर-कुजर-पतंग ए सम विणसइ इक्करसि

छीहल कहइ रे सोइया इन्द्रिय रखउ अपवसि ॥२

मृगवन मज्झि अरन्तउ, रिउ पारधी पिक्ख तिहि।

जब पाछिउ पुनि चलयो बधिक रोपियउ थंभ तिहि।

बिसि बाहिणी सुखान सिह जिय सन्मुख धायउ।

१- अउरासी अगल सइजु पनरह संवच्छर।

सुकुल पक्ख अष्टमी कातिग गुरुवासर—बावनी

हृदय उपनी बुद्धि नाम श्री गुरु को लीन्हों।

सारद तराइ पसाइ कवित सम्पूर्ण कीन्हों ॥”बावनी

बाम अंग पर जलिय तासु भय जाण न पायउ ।
छोहल गमण चहुविंसि नहीं बित बिन्ता बिन्तउ हरिण
हा हा बंसकटु पर्यो तो विण अवर न को सरण ॥३

अन्तभागः—

चउरासी अगल सह जु पनरह संवच्छर ।
सुकुल पक्ष अष्टमी कातिग गुरु वासर ॥
हृदय उपनी बुद्धि नाम श्री गुरु को लोन्हो ।
सारइ तणइ पसाइ कवित सम्पूरण कोन्हो ।
नातिगवंश सि नाथमुतनु अग्रवाल कुल प्रगट रबि ।
बावनी वसुधा विस्तरी कवि कंकण छोहल कवि ।

पांचवी कृति उदर गीत है, जो सम्बोधक उपदेशक रचना है। कवि की अन्य कृतियों का अन्वेषण होना चाहिये। सातवे कवि नन्दलाल है, जो आगरा के पात गोसना नामक ग्राम के निवासी थे। इनकी जाति अग्रवाल और गोत्र गोयल था। पिता का नाम भैरों या भैरोदास और माता का नाम चंदा देवी था। कवि की दो कृतियां मेरे अवलोकन में आई हैं। दोनों ही रचनाएं सुन्दर हैं। पहली रचना सुदर्शन चरित है, जिसमें ५१० पद्यों में सेठ सुदर्शन के चरित का चित्रण किया गया है। कथानक पर नयनन्दी के 'सुदर्शन चरित', का प्रभाव स्पष्ट है। भाषा और भाव दोनों का चयन सुन्दर हुआ है। ग्रन्थ यद्यपि चौपाई छन्द में लिखा गया है; चरित्र रोचक और शिक्षा प्रद है। कवि ने इस ग्रन्थ की रचना स० १६६२ माघ शुक्ला पंचमी २ गुरुवार के दिन जहांगीर बादशाह के राज्य में समाप्त की है। ग्रन्थ की यह प्रति नयामन्दिर धर्मपुरा दिल्ली के शास्त्र भंडार में उपलब्ध है।

डा० प्रेमसागर जी ने हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि के पृ० १५८ पर नन्द कवि के परिचय में, नन्द कवि

१. अग्रवार है वंश गोसना धानकी,

गोहल गीत प्रसिद्ध चिन्हु ता ठाव को ।

माता चंदा नाम पिता भैरों भन्धों,

नन्द कही मनमोद सुगुन गनुना गन्धी ॥

२. संबत सौरहसे उपरान्त, त्रैमठि जानहु वरस महत ॥५०८
माघ मास उरारै पाख, गुरु वासर दिन पंचमी ।

बंध चौपहो आप, नन्द कही मति सारिणी ॥५०९

—सुदर्शन चरित्र

श्रीर श्रवणदास के पुत्र नन्दलाल को एक मानकर उनके साथ पांडे हेमराज की पुत्री जैनी का विवाह हो गया लिखा है। जब कि दोनों नन्दलाल भिन्न भिन्न व्यक्ति हैं। दोनों के समय, स्थान और माता पिता के नामों में भी भिन्नता है। ऐसी स्थिति में उनका एकत्व सदोष और निराधार है। आशा है पाठकगण इस भूल का परिमार्जन करने का प्रयत्न करेंगे।

दूसरी रचना 'यशोधर चरित्र' है जिसमें राजा यशोधर का चरित अंकित है। कथानक पौराणिक होते हुए भी कवि ने उसमें नवीनता लाने का प्रयत्न किया है। भाषा में प्रमाद और गतिशीलता है। कवि ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में जहांगीर द्वारा होने वाले गोवध निषेध की घटना का उल्लेख किया है—'गोवध भेट्यो आन दिवाय । कीरति रही देश में छाय ।' जहांगीर के राज्यकाल में जैनियों के द्वारा सम्पन्न होने वाली प्रतिष्ठा का भी उल्लेख किया है—

होय प्रतिष्ठा जिनवर तनी, दीसहि धर्मवंत बहुधनी ।

एक करावहि जिनवर धाम, लागे जहां असंखिन धाम ॥१४

कवि ने इस ग्रन्थ की रचना सवत् १६७० में श्रावण शुक्ला सप्तमी सोमवार के दिन समाप्त की थी, जैसा कि उसके निम्न पद से प्रकट है—

संबत सौरह से अश्विक, सतरि सावन मास ।

सुकल सोम दिन सप्तमी, कही कथा मृदुभास ॥

कवि की दोनों ही रचनाएं अभी अप्रकाशित हैं जिन्हें प्रकाश में लाना चाहिए।

आठवे कवि वशीदास है, जो फातिहाबाद के निवासी और अग्रवाल कुल में उत्पन्न हुए थे। श्रीर मूलसंघ के भट्टारक विशालकीर्ति के शिष्य थे। कवि की बनाई हुई एक मात्र कृति रोहिणी विधि कथा है जिसे कवि ने सवत १६९५ जेठ वदी दोयज को बनाकर समाप्त की थी, जैसा कि ग्रन्थ की आदि प्रस्ताविका के निम्न पद्यों से स्पष्ट है—

सौरहसी पन्चानड हुई, ज्येष्ठ कृष्णा की बुतिया भई ।

फातिहाबाद नगर मुखमान, अग्रवाल शिव जाति प्रधान ।

नववें कवि भगवतीदास हैं, जो बूढ़िया १ जिला अम्बाला के निवासी थे। भगवती दास का कुल भगवाल और गोत्र 'वंसल' था। इनके पिता का नाम किसनदास था। इन्होंने चतुर्थवय में मुनिव्रत धारण कर लिया था २। भगवतीदास बूढ़िया से देहली आ गये थे और दिल्ली के काष्ठा संघी भट्टारक मुनि महेन्द्रसेन के शिष्य हो गये, ये, जो भट्टारक सकलचन्द्र के प्रशिष्य थे ३। भगवतीदास ने हिन्दी साहित्य की अपूर्व सेवा की है आपकी समस्त उपलब्ध रचनाएँ सं० १६५१ से सं० १७०४ तक की उपलब्ध होती हैं। इससे आप दीर्घजीवी जान पड़ते हैं। उनकी आयु ७५-८० वर्ष से कम नहीं जान पड़ती, आप की प्रायः सभी रचनाएँ पद्यों में रची गई हैं जिनकी संख्या ६० से ऊपर है। उन रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं—

१. अगलपुर जिन वन्दना (१६५१) एक ऐतिहासिक रचना है जिसमें उक्त संवत् में आगरा के ४८ जिन मन्दिरों आदि का वर्णन दिया है, रचनाकाल सं० १६५१ है जैसा कि उसके निम्न पद्य से प्रकट है—

“संवत् सोलह सड़जु इक्यावन, रविबिनु मास कुमारी हो।
जिन बंदन करि फिरि धरि आए, विजयबसमि उजयारी हो॥”

दूसरी रचना दिल्ली की 'बोहाराजावली' है, जो ऐतिहासिक पद्यबद्ध रचना है और जिसका रचनाकाल (१६८७) है* और वह 'सिहरदि' नगर में रची गई है।

१. बूढ़िया पहले एक छोटी-सी रियासत थी, जो धन धान्यादि से खूब समृद्ध नगरी थी। जगाधरी के बस जाने से बूढ़िया की अधिकांश आवादी वहाँ से चली आई, मात्र कल वहाँ खंडहर अधिक दिखाई देते हैं जो उसके गत वैभव के सूचक हैं।

२. किसनदास षण्ठ तनुज भगोती,
सुरिये गहिउ वत मुनि जु भगोती।
नगर बूढ़िये बस भगोती, जन्मभूमि है प्रासि भगोती।
भगवाल कुल वंसल गोती, पंडित पद जन निरख भगोती।
—बृहत् सीतासतु

३. सकलचन्द्र तिस पट्टमनि, भवसागर तार।
तासु पट्ट पुनि जानिये, रिसिमुनि माहिदसेन।
भट्टारक भुवि प्रकट असु, जिनि जितियौ रणि मनु॥
—अनेकार्थ नाममाला

प्रस्तुत राजावली शाहजहां के राज्यकाल तक की है। तीसरी रचना चून्डी है जिसे कवि ने सं० १६८० में बनाकर समाप्त किया था। चौथी रचना लघुसीतासतु १ और पांचवीं रचना अनेकार्थ नाममाला २ जो सं० १६८७ में रची गई है। कवि ने अनेकार्थ नाममाला और अन्य कई रचनाएँ 'सिहरदि' नगर में रची हैं जो इलाहाबाद के पास गंगा नदी के तट पर बसा हुआ था। वहाँ जैन मन्दिर और भगवाल जैनों के अनेक घर थे। कवि ने वहाँ रह कर अनेक रचना रची हैं, जिनमें उक्त नगर का उल्लेख है। छठी रचना ज्योतिष सार है जिसे कवि ने शाहजहां के राज्यकाल में हिसार के वर्तमान मन्दिर में सं० १६९४ में रचा था ३। सातवीं रचना मृगांक लेखाचरित है जिसे कवि ने संवत् १७०१ में बना कर समाप्त किया था ४। यह अपभ्रंश भाषा की रचना है, इससे हिन्दी के विकास

* सोलह सड़ सतसोह सुसवति जानिए,
जेठनि जलसिय मासि बुधउ मन आनिए।
भगरवाल जिन भवनि पुरि सिहरदि भली,
अरुहा कवि सुभगोतीदास भनी राजावली ॥६६॥

—दिल्ली राजावली

१. संवतु सुनहु सुजान, सोलह सड़ जु सतासियइ।
चैति सुकल तिथि दान, भरणी ससि दिन सो भयो॥
—सीतासतु

२. सोलह सयह सतासियइ, साठि तीज तम पाखि।
गुरु दिनि श्रवण नक्षत्र भनि, प्रीति जोगु पुनि भाखि।
साहिजहां के राजमहि, 'सिहरदि' नगर मभार।
अर्थ अनेक जु नाम की, माला भनिय विचारि ॥६७॥
—अनेकार्थ नाममाला

३. वर्ष षोडश शत च नवति मिते श्री विक्रमादित्यके,
पंचम्यां दिवसे विशुद्ध तरके मास्यादिबने निर्मले।
पक्षे स्वाति नक्षत्र योग सहिते वारे बुधे संस्थिते,
राजत्साहि सहाबदीन भुवने साहिजहां कथ्यते॥
—ज्योतिषसार प्रशस्ति

४. सगबह संवदतीह तहा विष्कमराय महप्पए।
अगहणसिय पंचमि सोमदिणे पुण्ण ठियउ अविषप्पए॥
—मृगांकलेखा चरित

का महत्व स्थापित होता है। आठवीं रचना 'बंधनिनोद' है जिसे कवि ने सं० १७०४ में सुनतानपुर (आगरा) में बनाया था। अन्य शेष रचनाओं में संवत् नहीं दिया है। अतएव वे सब रचनाएँ इन्हीं के मध्य में रची गई हैं। उनके नाम और पद्य संख्या निम्न प्रकार हैं :—

६. टडाणारास, १०. आदित्यव्रतरास, ११. पखवाडा रास, १२. दशलक्षण रास, १३. खिचडी रास, १४. ममा-धिरास, १५. जोगीरास, १६. मनकरहारास, १७. रोहिणी-व्रतरास, १८. चतुरवनजारा रास, १९. द्वादश अनुप्रेक्षा, सुगंध दशमी कथा, २१. आदित्यवार कथा, २२. अनथमी कथा, २३. चूनडी (मुक्तिरमणी) २४. राजमती नेमी-नाथ स्तवन, २५. सजानी डमाल, २६. आदित्यनाथ स्तवन, २७. शान्तिनाथ स्तवन, २८. बावनी छपई ७ पद्य, २९. मनहरणगीत मे ६ प०, ३०. मनमङ्गलुगीत २ १३ प०, ३१. दहाडालगीत १२ प० ३२. दहाडाल गीत (द्वितीय) १५ पद्य, ३३. ललारे गीत १२ प०, ३४. दहागीत ११ प०, ३५. भमरा गीत १८ प०, ३६. लघुमन्धि, ३७. खिचडी रासु २६ प०, ३८. बडावीर जनिदगीत २२ प०, ३९. हालिमडे का गीत १७ प०, ४०. सांवाला गीत १२ प०, ४१. राइसाडालगीत १७ प०, ४२. चैतडमाल ३ रागु सालिग १७ प० ४३. डमाल राग गाडी १७ प०, मोतीहट कई देहु रइ रंग भीने, मारुलाल रंग भीने हो। ४४. तुम छाडि चले जिन लाहो, गीत १० प०, ४५. मन-सूवा गीत १८ पद्य, कर्मचेतना हिडोला गीत १६ प०,

१. सत्रह सइ हचिडोतरइ. सुकल चतुर्दशि चंतु।

गुरु दिन भनी पूरनु करिउ, सुलितापुर सहजयतु ॥

२. इद्र धनुष सम सोहनी विषय सुखन की आशा रे।

सुख चाहइ ते बावरे अंति जु होहि निरासा रे ॥५

अंत—अरे धर्म ध्यान मनुलाइए तउ पावमि मिब बासोरे,

मोतीहट जोगिनपुरे भनत भगोती दासोरे।

३. अंत—ललना मोतीहट जोगिनपुरे भनत भगोतीदास।

जिनजी जे नर गावही ते खंडति अघ-पासु।

ललना नेमिनवल मेरइ मनिबसे ॥१७॥

४. आदि—भव वन भमत दुखित भए मन सूवारे।

इ द्रिय सुख जु अघीन समझ मन सूवारे।

श्री जिनशासन वनु भला मनसूवारे।

४७. बारहमासा चरित्रगडेका १२ प०, ४८. विवाहगीत बारहमास १२ प०, ४९. रुतिनवेली का बारहमास ५ १४ प०, ५०. गीत ११ प०, गढ़ दिल्ली में बनाया। ५१. वैरागीलाल बारहमासा १६ प० (मोती बाजार दिल्ली में बनाया), ५२. चौमासा गीत ५ प०, मधुकर गीत १४ प० दिल्ली मोती बाजार में बनाया। ५३. दिवाली डाल गीत ११ प० दिल्ली मोती बाजार में बनाया, ५४. रागमारू पद १-१३ प०, ५५. पश्चिमी भाषा का बणजारा गीत १४ प०, ५६. डमाल ३५ प०, ५७. राज-मती नेमीसुर गीत १८ प०, ५८. मुक्ताबलिरासु २८ प०, ५९. राजमती नेमीद्वर डमाल ८६ प०, कपिलथल में बनाया, ६०. वनजारा गीत ३५ पद्य।

इनके अतिरिक्त कवि की अन्य अनेक रचनाएँ अभी अन्वेषणीय हैं। इन रचनाओं में से कतिपय रचनाएँ सुन्दर हैं; और प्रकाशन की वाट जोर रही हैं। खेद है कि दि० जैन समाज का ध्यान साहित्य प्रकाशन की ओर नगण्य सा है।

दसवे कवि पांडे रूपचन्द हैं। इनकी जाति अप्रचाल और गोत्र 'गर्ग' था। इनका जन्म कुरुदेश के 'सलेमपुर' नाम के स्थान पर हुआ था। इनके पितामह का नाम मामट और पिता का नाम भगवानदास था। भगवानदास की दूसरी पत्नी से रूपचन्द का जन्म हुआ था। इनके चार भाई और भी थे, हरिराज, भूपति, अभयरज और कीर्ति-चन्द्र। रूपचन्द ने बनारस में शिक्षा पाई थी, विद्वान और कवि थे और अध्यात्म के प्रेमी थे। इनकी कृतियाँ परमार्थी दोहा शतक, मंगल गीत प्रबन्ध, नेमिनाथ राम, खटोलना गीत और अध्यात्मपद आपका दोहा शतक और अध्यात्मिक गीत दोनों ही सांसारिक विषयों से विराग उत्पन्न करनेवाले

तइ तजिय मतिहीन समझ मनसूवा रे ॥१॥

× × ×

अंत—दास भगवती इउं भनइ मनसूवा रे।

जो गावहि नरनारि समुझि जिनवाणी,

मनघरइ मनसूवा रे।

ते उत्तरहि अब पार समझ मनसूवा रे ॥१८॥

५. अंत—जे नर नारी जिण गुण गावहि,

पावहि अमर बिलासो।

गढ़ दिल्ली मोतीहट जिणहरि भनत भगोतीदासो ॥१४

श्रीर अघ्यात्मरस से सराबोर है पढ़ते ही हृदय में विषयों के प्रति ग्लानि और स्वरूपको पहिचाननेकी दृष्टि आ जाती है, उनका हृदय पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता, किन्तु मोहवश वह अल्पकालिक होता है। पाठकों की जानकारी के लिए यहां तीन-चार दोहे दिये जाते हैं :—
परकी सगति तुम गए, छोई अपनी जाति ।
आपा पर न पिछानहू, रहे प्रभावनि माति ॥४२

बिना तत्त्व परचं लगत, अपरभाव अभिराम ।
ताम और रस रचित हैं, अमृत न चाख्यो जाम ॥८८
चेतन के परचं बिना, जप तप सब अकयत्थ ।
कन बिन तुष ज्यों फटकते, कछु न भावं हत्थ ॥८५
चेतन सौं परचं नहीं, कहा भये व्रतधारि ।
सालि बिहूने खेत की, बृथा बनावति बारि ८६

मगल गीत प्रबन्ध और नेमिनाथ रास दोनों ही सुन्दर रचनाएँ हैं । जो पाठकों को अपनी ओर आकर्षित करती हैं । समवसरण पाठ संस्कृत की रचना को सं० १६६२ में बना कर समाप्त किया था । वह आगरे में आये थे और तिहुना साहु के देहरे (मन्दिर) में टहरे थे । तब बनारसी दास और उनके साथियों ने गोमट सार ग्रंथ बचवाया था, रूपचन्दजी ने कर्म सिद्धान्त का वर्णन कर एकांत दृष्टि को दूर किया था, इससे बनारसीदास और उनके साथी जैनधर्म में दृढ़ हुए थे । आप अघ्यात्म रस के रसिया थे । आपके अघ्यात्मिक पदों में विषय-विवक्ति और अघ्यात्मरस का अनुभव मिलता है, पद बड़े ही सरल एवं आत्म-सम्बोधक हैं । परमार्थी दोहा शलक में सुन्दर दोहों द्वारा विषय सेवन से होने वाले कटुक फलों का दिग्दर्शन कराते हुए उन्हें निस्सार बत-

१. श्रीरसवत्पारेऽस्मिन्नरपतिनुतयद्विक्रमादित्य राज्ये-

ऽतीतिदुर्गनंदमद्रांशुकत परिमिते (१६७२) कृष्णपक्षेवमासे ।

देशाचार्य प्रचारे शुभनवमितिथी सिद्धयोगे प्रसिद्धे ।

पौनर्वस्वितुष्टये (?) समवसुतिमहं प्राप्तमाप्ता समाप्ति ॥

२. अनायास इस ही समय नगर आगरे थान ।

रूपचन्द पंडित गुनी, आयो आगम जान ॥

—अर्थ कथानक, ६३० प.

तिहुनासाहु देहरा किया, तथा आइ तिन डेरा लिया ।

सब अघ्यात्मी कियो विचार, ग्रंथ वचायो गोमटसार ॥

साहु तिहुना अग्रवाल और गर्ग गोत्रीय थे । इन्होंने सं० १६१६ में आषाढ़ सुदि एकम के दिन आत्मानु-शासन की सटीक प्रति लिखवाई थी ।

लाया है । वे आत्म-सम्बोधकी भावना से परिपूर्ण हैं । खटोलना गीत भी आघ्यात्मिकता से ओत-प्रोत है । यह रचना अने० वर्ष १० कि० ३ में प्रकाशित हो चुकी है ।

ग्यारहवें कवि जगजीवन हैं—जो आगरे के निवासी और संघवी अभयराज तथा मोहनदे के पुत्र थे । यह विद्वान कवि और अघ्यात्म शैली के वरिष्ठ प्रेरक थे । इनकी जाति अग्रवाल और गोत्र गर्ग था । संघवी अभयराज उस समय सबसे अधिक सुखी और सम्पन्न थे । उनके अनेक पत्नियां थीं; जिनमें सबसे छोटी मोहनदे से जग-जीवन का जन्म हुआ था । संघवी अभयराज ने आगरे में एक जिनमन्दिर बनवाया था । जगजीवन जाफरखां के दीवान थे, और जाफरखा बादशाह शाहजहा का पाँच हजार उमराव था । उस समय की अघ्यात्म शैली में हेमराज, रामचन्द्र, मथुरादास, भवालदास, भगवतीदास और प० हीरानन्द आदि थे । “सर्मे जोग पाइ जगजीवन विख्यात भयो, ज्ञानिन की मण्डली में जिस को विकास है ।” प० हीरानन्द की जगजीवन की प्रेरणा से समव-सरण विधान सं० १७०१ में बनाया था । और उन्हीं जगजीवन की प्रेरणा से सं० १७११ में पचास्तिकाय का पद्यानुवाद रचा था । (क्रमशः)

देखो जैन ग्रंथ सूची अ० ४ पृ० १०२

३. अब सुनि नगरराज आगरे, सकल सोभ अनुपम सागर ।

साहजहां भूपति है जहां, राज करै नयसारण तहां ॥७५

ताकी जाफर खां उमराव, पंचहजारी प्रगट कराउ ।

ताकी अग्रवाल दीवान, गरगोत सब विधि परधान ॥७६

मघही अभयराज जानिए, सुखी अधिक सबकरि मानिए ।

बनितागण नाना परकार, तिनमें लघु मोहनदे सार ॥८०

ताकी पूत पूत सिरमौर, जगजीवन जीवन की ठौर ॥

सुंदररूप सुभग अभिराम, परम पुनीत धर्म धन-धाम ॥८१

—समवसरण विधान

४. अभयराज संघपति संघही को बनिउदेहरो नीको हो,

साहिमती बाई उत्तिम सती सयानी भोरी हो ।

गिरधर पंडित गुनगन मंडित बंधु नरायन जोरी हो ।

बन्धु नरायनु गिरधर पांडे, बहुत विनो करि राखे ॥

—अर्गलपुर जिनवन्दना जैन सं० शोषा० ५

५. एक अधिक सत्रह सौ सर्मे,

सावन सुदि सातमि बुधि रमै ।

ता दिन सब संपूरन भया,

समवसरन कहवत परिनया ॥६२—समवसरण विधान

जुगलकिशोर मुस्तार 'पुगबोर'

श्रीमदमितगति-निःसगयोगिराज-विरचित योगसार-प्राभून की हस्तलिखित मूल प्रतियो तथा उस पर लिखी गई किसी संस्कृत टीका की खोज करने-कराते समय मुझे हाल में देव योग मे एक ग्रन्थप्रति उपलब्ध हुई है जिसके ऊपर बाद की किसी दूसरी कलम मे लिखा गया है:—

“अयं योगप्रकाशः ग्रन्थः अस्म्य टीका इन्द्रनंदिनामा भट्टारकेन कृता”

ग्रन्थप्रति के अन्त मे ग्रन्थ को 'योगसार' और टीका को 'योगसार टीका' भी लिखा है; परन्तु देखने पर मालूम हुआ कि यह अपने अभीष्ट योगसारप्राभूत की टीका नहीं है बल्कि आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र पर लिखी गई एक टीका है, जिसमे योगशास्त्र को योगशास्त्र नाम से ही नहीं किन्तु 'योगप्रकाश' और 'योगसार' नाम से भी उल्लेखित किया है। यह टीका प्रति कारंज (अकोला) के एक शास्त्र भंडार से ब्रह्मचारी माणिकचन्द्र जी चवरे द्वारा उपलब्ध हुई है, जिसके लिए मैं उनका आभारी हूँ। इस प्रति की पत्र संख्या ७७, पत्रों की लम्बाई १८ और चौड़ाई ४।। इन्ची है, पत्र के प्रत्येक पृष्ठ पर पंक्ति संख्या प्रायः ११-कहीं कहीं १२ तथा दो तीन पत्रों पर १३-१३ भी है, प्रति पंक्ति अक्षर संख्या प्रायः ५५ से ६० तक, कागज पुराना देसी और लिखाई, जो पढ़ी मात्राओं के प्रयोग को भी लिए हुए है, अच्छे सुन्दर अक्षरों में प्रायः शुद्ध है—कहीं कहीं कुछ अशुद्धियाँ भी पाई जाती है। कागज आदि की स्थिति को देखते हुए यह प्रति प्रायः ४०० वर्ष पुरानी लिखी जान पड़ती है।

इस टीका को देखकर मेरे हृदय में यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि क्या यह टीका पहले से उपलब्ध एव लोक-परिचय में आई हुई है अथवा नहीं ही उपलब्ध हुई है। दिगम्बर शास्त्र भण्डारों को मैंने बहुत देखा है, बहुतों की सूचियाँ भी देखने मे आई हैं परन्तु इससे पहले कहीं से

भी इस टीका का कोई परिचय मुझे प्राप्त नहीं हुआ और इसलिए मैंने पं० दलसुख जी मालवणिया (अहमदाबाद) और पं० सुबोधचन्द्र जी (जैन साहित्य विकास मंडल, बम्बई) जैसे कुछ श्रेयताम्बर विद्वानों से यह जानना चाहा कि क्या हेमचन्द्राचार्य के योगशास्त्र पर उनके स्वोपज्ञ विवरण के बाद की बनी हुई कोई संस्कृत टीका श्वे० शास्त्र भण्डारों मे उपलब्ध है? उत्तर में यही मालूम पड़ा कि ऐसी कोई टीका उपलब्ध नहीं है? पं० सुबोधचन्द्र जी ने तो दिगम्बर टीका की उपलब्धि को जानकर अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए यह भी लिखा कि “योगसार शास्त्र पर दिगम्बरीय टीका होने का (हाल) मैं सर्वप्रथम सुन रहा हूँ, यह आनन्द दायक समाचार है।” ऐसी स्थिति मे इस नवोपलब्ध टीका का सर्व साधारण को परिचय देने के लिए मुझे अन्तःकरण से प्रेरणा मिली और मैंने टीका का तुलनादि के रूप में कुछ विशेष अध्ययन प्रारम्भ किया। इस अध्ययन के लिये पं० दरबारीलाल जी जैन कोटिया न्यायाचार्य ने योगशास्त्र की स्वोपज्ञ विवरण-सहित मुद्रित प्रति मुझे स्यादाद विद्यालय काशी के अकलक सरस्वती भवन से भेज दी, जिसके लिये मैं उनका आभारी हूँ। परन्तु योगशास्त्र की यह मुद्रित प्रति मोटे कागज पर होने पर भी इतनी जीर्ण तथा कड़कव्वल जान पड़ी कि पत्रों को इधर उधर पलटने पर उनके टूट जाने का भय उपस्थित हो गया और इसलिए उस पर काम करना काँटन जान पड़ा। श्री पं० सुबोधचन्द्र जी को जब किसी दूसरी मूल ग्रन्थ प्रति की भिजवाने के लिए लिखा गया तब उन्होंने भी स्वोपज्ञ-विवरण-प्रति की जीर्णता को स्वीकार किया और लिखा कि हमारा मंडल इसको फिर से छपवाना चाहता है। साथ ही एक दूसरी मुद्रित प्रति की सूचना की जो योगशास्त्र मूल के साथ उसके स्वोपज्ञ विवरण में पाये जाने वाले 'अन्तर' श्लोकों को भी भिन्न

और अध्यात्मरस से सराबोर है पढ़ते ही हृदय में विषयों के प्रति रलानि और स्वरूपको पहिचाननेकी दृष्टि आ जाती है, उनका हृदय पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता, किन्तु मोहवश वह अल्पकालिक होता है। पाठकों की जानकारी के लिए यहां तीन-चार दोहे दिये जाते हैं—
परकी सगति तुम गए, छोई अपनी जाति।

आपा पर न पिछानहू, रहे प्रभावनि माति ॥४२

बिना तत्त्व परचं लगत, अपरभाव अनिराम।

ताम और रस रुचित हैं, अमृत न चाख्यो जाम ॥५८

चेतन के परचं बिना, जप तप सब अकयत्थ।

कन बिन तुष ज्यों फटकते, कछु न आवें हृत्थ ॥५५

चेतन सौ परचं नहीं, कहा भये व्रतधारि।

सालि विहने खेत की, बूथा बनावति बारि ॥६६

मगल गीत प्रबन्ध और नेमिनाथ रास दोनों ही सुन्दर रचनाएँ हैं। जो पाठको को अपनी और आकर्षित करती है। समवसरण पाठ संस्कृत की रचना को सं० १६६२ में बना कर समाप्त किया था। वह आगरे में आये थे और तिहुना साहु के देहरे (मन्दिर) में टहरे थे। तब बनारसी दास और उनके साथियों ने गोम्मट सार ग्रंथ बचवाया था, रूपचन्दजी ने कर्म सिद्धान्त का वर्णन कर एकांत दृष्टि को दूर किया था, इसमें बनारसीदास और उनके साथी जैनधर्म में दृढ़ हुए थे। आप अध्यात्म रस के रसिया थे। आपके अध्यात्मिक पदों में विषय-विरक्ति और अध्यात्मरस का अनुभव मिलता है, पद बड़े ही सरल एवं आत्म-सम्बोधक हैं। परमार्थी दोहा शतक में सुन्दर दोहों द्वारा विषय सेवन से होने वाले कटुक फलों का दिग्दर्शन कराते हुए उन्हें निस्सार बत-

१. श्रीमत्संज्ञापरस्मिन्नरपतिनुतयद्विक्रमादित्य राज्ये-

ऽतीतेद्वगनंदभद्राशुक्त परिमिते (१६७२) कृष्णपक्षेष्मासे।

देवाचार्य प्रचारे शुभनवमितिथी सिद्धयोगे प्रसिद्धे।

पौनर्वस्वितुषारथे (?) समवस्तिमहं प्राप्तमाप्ता समाप्ति ॥

२. अनायास इस ही समय नगर आगरे थान।

रूपचन्द पंडित गुनी, आयो आगम जान ॥

—अर्थ कथानक, ६३० प.

तिहुनासाहु देहरा किया, तथा आई तिन डेरा लिया।

सब अध्यात्मी कियौ विचार, ग्रंथ बचायो गोम्मटसार ॥

साहु तिहुना अग्रवाल और गर्ग गोत्रीय थे। इन्होंने

सं० १६१६ में आषाढ़ सुदि एकम के दिन आत्मानु-

शासन की सटीक प्रति लिखवाई थी।

लाया है। वे आत्म-सम्बोधकी भावना से परिपूर्ण हैं। खटोलना गीत भी आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत है। यह रचना अने० वर्ष १० कि० ३ में प्रकाशित हा चुकी है।

ग्यारहवें कवि जगजीवन हैं—जो आगरा के निवासी और संघवी अभयराज तथा मोहनदे के पुत्र थे। यह विद्वान कवि और अध्यात्म शैली के वरिष्ठ प्रेरक थे। इनकी जाति अग्रवाल और गोत्र गर्ग था। संघवी अभयराज उस समय सबसे अधिक सुखी और सम्पन्न थे। उनके अनेक पत्निया थी; जिनमें सबसे छोटी मोहनदे से जग-जीवन का जन्म हुआ था। संघवी अभयराज ने आगरा में एक जिनमन्दिर बनवाया था। जगजीवन जाफरखा के दीवान थे, और जाफरखा बादशाह शाहजहा का पाँच हजारी उमराव था। उस समय की अध्यात्म शैली में हेमराज, रामचन्द्र, मथुरादास, भवालादास, भगवतीदास और प० हीरानन्द आदि थे। “समं जोग पाइ जगजीवन विख्यात भयो, ज्ञानिन की मण्डली में जिस की विकास है।” प० हीरानन्द की जगजीवन की प्रेरणा से समव-सरण विधान सं० १७०१ में बनाया था। और उन्हीं जगजीवन की प्रेरणा से सं० १७११ में पंचास्तिकाय का पद्यानुवाद रचा था। (क्रमशः)

देखो जैन ग्रंथ सूची अ० ४ पृ० १०२

३. अब सुनि नगरराज आगरा, सकल सोभ अनुपम सागरा।

साहजहा भूपति है जहा, राज करै नयमारग तहां ॥७५

ताको जाफर खां उमराव, पंचहजारी प्रगट कराउ।

ताको अग्रवाल दीवान, गरगोत सब विधि परधान ॥७६

मघही अभयराज जानिए, सुखी अधिक सबकरि मानिए।

वनितागण नाना प्रकार, तिनमें लघु मोहनदे सार ॥८०

ताकी पूत पूत सिरमौर, जगजीवन जीवन की ठौर ॥

सुंदररूप सुभग अभिराम, परम पुनीत धरम धन-धाम ॥८१

—समवसरण विधान

४. अभयराज संघपति संघही को वनिउदेहरो नीको हो,

साहिमती वाई उत्तिम सती सयानी भोरी हो।

गिरधर पंडित गुनगन मंडित बंधु नरायन जोरी हो।

बन्धु नरायनु गिरधरि पाडे, बहुत विनो करि राखे ॥

—अगलपुर जिनवन्दना जैन सं० शोधा० ५

५. एक अधिक सत्रह सौ समै,

सावन सुदि सातमि बुधि रमै।

ता दिन सब संपूरन भया,

समवसरन कहवत पणिना ॥६२—समवसरण विधान

आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र पर एक प्राचीन दि० टीका

जुगलकिशोर मुस्तार 'युगवीर'

श्रीमदमिनगति-निःसगयोगिराज-विरचित योगसार-प्राभृत की हस्तलिखित मूल प्रतियो तथा उस पर लिखी गई किसी संस्कृत टीका की खोज करने-कराते समय मुझे हाल में दैव योग में एक ग्रन्थप्रति उपलब्ध हुई है जिसके ऊपर बाद की किसी दूसरी कलम में लिखा गया है:—

“अथ योगप्रकाशः ग्रन्थः अस्य टीका इन्द्रदिनामा भट्टारकेन कृता”

ग्रन्थप्रति के अन्त में ग्रन्थ को 'योगसार' और टीका को 'योगसार टीका' भी लिखा है, परन्तु देखने पर मालूम हुआ कि यह अपने अभीष्ट योगसारप्राभृत की टीका नहीं है बल्कि आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र पर लिखी गई एक टीका है, जिसमें योगशास्त्र को योगशास्त्र नाम से ही नहीं किन्तु 'योगप्रकाश' और 'योगसार' नाम से भी उल्लेखित किया है। यह टीका प्रति कारंजा (अकोला) के एक शास्त्र भंडार में ब्रह्मचारी माणिकचन्द्र जी चवरे द्वारा उपलब्ध हुई है, जिसके लिए मैं उनका आभारी हूँ। इस प्रति की पत्र संख्या ७७, पत्रों की लम्बाई ११। और चौड़ाई ४।।। इंची है, पत्र के प्रत्येक पृष्ठ पर पंक्ति संख्या प्रायः ११-कहीं कहीं १२ तथा दो तीन पत्रों पर १३-१३ भी है, प्रति पंक्ति अक्षर संख्या प्रायः ५५ से ६० तक, कागज पुराना देशी और लिखाई, जो पढ़ी मात्राओं के प्रयोग को भी लिए हुए है, अच्छे सुन्दर अक्षरों में प्रायः शुद्ध है—कहीं कहीं कुछ अशुद्धियाँ भी पाई जाती हैं। कागज आदि की स्थिति को देखते हुए यह प्रति प्रायः ४०० वर्ष पुरानी लिखी जान पड़ती है।

इस टीका को देखकर मेरे हृदय में यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि क्या यह टीका पहले से उपलब्ध एवं लोक-परिचय में आई हुई है अथवा नहीं ही उपलब्ध हुई है। दिगम्बर शास्त्र भण्डारों को मैंने बहुत देखा है, बहुतों की सूचियाँ भी देखने में आई हैं परन्तु इससे पहले कहीं से

भी इस टीका का कोई परिचय मुझे प्राप्त नहीं हुआ और इसलिए मैंने प० दलमुख जी मालवणिया (अहमदाबाद) और प० सुबोधचन्द्र जी (जैन साहित्य विकास मंडल, बम्बई) जैसे कुछ श्वेताम्बर विद्वानों से यह जानना चाहा कि क्या हेमचन्द्राचार्य के योगशास्त्र पर उनके स्वोपज्ञ विवरण के बाद की बनी हुई कोई संस्कृत टीका श्वे० शास्त्र भण्डारों में उपलब्ध है? उत्तर में यही मालूम पड़ा कि ऐसी कोई टीका उपलब्ध नहीं है? प० सुबोधचन्द्र जी ने तो दिगम्बर टीका की उपलब्धि को जानकर अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए यह भी लिखा कि “योगसार शास्त्र पर दिगम्बरीय टीका होने का (हाल) मैं सर्वप्रथम सुन रहा हूँ, यह आनन्द दायक समाचार है।” ऐसी स्थिति में इस नवोपलब्ध टीका का सर्व साधारण को परिचय देने के लिए मुझे अन्तःकरण से प्रेरणा मिली और मैं टीका का तुलनादि के रूप में कुछ विशेष अध्ययन प्रारम्भ किया। इस अध्ययन के लिये प० दरबारीलाल जी जैन कोठिया न्यायाचार्य ने योगशास्त्र की स्वोपज्ञ विवरण-सहित मुद्रित प्रति मुझे स्यादाद विद्यालय काशी के प्रकलंक सगस्वती भवन से भेज दी, जिसके लिये मैं उनका आभारी हूँ। परन्तु योगशास्त्र की यह मुद्रित प्रति मोटे कागज पर होने पर भी इतनी जीर्ण तथा कड़कव्वल जान पड़ी कि पत्रों को इधर उधर पलटने पर उनके टूट जाने का भय उपस्थित हो गया और इसलिए उस पर काम करना कठिन जान पड़ा। श्री प० सुबोधचन्द्र जी को जब किसी दूसरी मूल ग्रन्थ प्रति की भिजवाने के लिए लिखा गया तब उन्होंने भी स्वोपज्ञ-विवरण-प्रति की जीर्णता की स्वीकार किया और लिखा कि हमारा मंडल इसको फिर से छपवाना चाहता है। साथ ही एक दूसरी मुद्रित प्रति की सूचना की जो योगशास्त्र मूल के साथ उसके स्वोपज्ञ विवरण में पाये जाने वाले 'प्रान्तर' श्लोकों को भी भिन्न

टाइप-द्वारा साथ में लिये हुए है, और कुछ दिन बाद उसे भिजवा दिया, जिसके लिए मैं उनका भी आभारी हूँ।

इस टीका के तुलनात्मक अध्ययन और उस पर से परिचयात्मक नोट्स तथा मूल के पाठान्तर लेने आदि पर जो परिश्रम किया गया है उसके फल स्वरूप ही आज यह परिचायक लेख लिखा जाकर पाठकों की सेवा में उपस्थित किया जाता है, जिससे ग्रन्थकार में पड़ी हुई यह टीका प्रकाश में आए और अपने लाभों से जगत को लाभान्वित करने में समर्थ हो सके। साथ ही हम अपने उपकारी टीकाकार को कुछ जान पहचान सके, जिन्होंने उपकार-बुद्धि से टीका के निर्माण में कब कितना परिश्रम किया था और उसके द्वारा मूल योगशास्त्र को कहाँ तक उजाला था।

प्रस्तुत टीका के निर्माता भट्टारक इन्द्रनन्दी है, जो उन भट्टारक श्री अमरकीर्ति के शिष्य थे जिन्होंने टीका के आदि में चतुर्धागमवेदी, मुमुक्षुनाथ, ईशिन, अनेकवादिब्रज-सेवितचरण और लोके परिलब्धपूजन जैसे विशेषणों के साथ उल्लेखित किया गया है। टीका की आदि में मंगलाचरणादि को लिए हुए जो तीन पद्य हैं वे इस प्रकार हैं—

प्रणम्य वीरं त्रिजटप्रबन्धं विभावनेकान्तपयोधिचन्द्रम् ।
 देवेशमहान्तमः स्वरांशुं समस्तभाषामयमुध्वनीशम् ॥१॥
 लसत्तुर्धागमवेदिनं परं मुमुक्षुनाथाऽमरकीर्तिमोशनम् ।
 अनेकवादिब्रजसेवितक्रमं विनम्य लोके परिलब्धपूजनम् ॥२॥
 जिना (निजा)त्मनो ज्ञानविदे प्रशिष्टां
 विद्वद्विशिष्टस्य सुयोगिनां च ।

योगप्रकाशस्य करोमि टीकां सूरिन्द्रनन्दीहितनन्दनीं च ॥३॥

इनमें से प्रथम पद्य वीर भगवान की और दूसरा अपने गुरु अमरकीर्ति स्वामी की स्तुति में है। तीसरा पद्य टीका के निर्माण की प्रतिज्ञा को लिये हुए है, जिसमें मूल ग्रन्थ को यहाँ 'योगप्रकाश' नाम में उल्लेखित किया है, जिसका कारण उसमें योग-विषय के द्वादश प्रकाशों का होना जान पड़ता है। ग्रन्थसंधियों में 'योगशास्त्र' और 'योगसार' नाम से भी उल्लेखित किया है। मूल ग्रन्थकार के लिये यहाँ 'विद्वद्विशिष्ट' विशेषण का प्रयोग किया गया है और टीका को अपने तथा अन्य योगियों के लिये 'ज्ञानविदे प्रशिष्टा' लिखा है और साथ ही अपने

(इन्द्रनन्दी मूरि के) 'ईहित की नन्दिनी' भी बतलाया है। टीका के अन्त में जो प्रशस्ति पद्य दिया है उसमें टीका का नाम 'योगिरमा' सूचित किया है और उसे 'योगसारी' विशेषण भी दिया है। साथ ही जिसके विशेष बोध के निमित्त यह टीका रची गई है उसका नाम 'चन्द्रमती' दिया है और उसे जैनागम, शब्दशास्त्र, भरत (नाट्य) और छन्दशास्त्रादि की विज्ञा तथा 'चारुविनया' बतलाया है—'चारुविनया' विशेषण से वह उनकी अच्छी विनय-शीला शिष्या भी हो सकती है। प्रशस्ति का वह पद्य, जिसमें टीका के निर्माण का समय भी दिया हुआ है, इस प्रकार है—

खाण्डेशे शरदीति मासि च शुक्लौ शुक्लद्वितीयातिथौ
 टीका योगिरमेन्द्रनन्दिमूनिपः श्री योगसारी कृता ।
 श्रीजैनागमशब्दशास्त्र-भरत-छन्दोभिमुख्यादिक-
 वेत्त्री चन्द्रमतीति चारुविनया तस्या विबोधयं शुभा ॥

इसमें टीका का जो निर्माण काल 'खाण्डेश' आदि पदों के द्वारा दिया है उससे वह शक-संवत् ११८० की ज्येष्ठ शुक्ला द्वितीया के दिन बनकर समाप्त हुई जान पड़ती है। 'खाण्डेश' पद ११८० का और 'शरदि' पद सवत्सर का वाचक है। यह ११८० विक्रम संवत् तो हो नहीं सकता, क्योंकि उस वक्त तक तो मूल योगशास्त्र का निर्माण भी नहीं हुआ था, तब यह शक संवत् ही होना चाहिए। दूसरे 'खाण्डेश' पद में जिस 'ईश' शब्द का प्रयोग है वह 'ईश्वर' का वाचक है और शक काल-गणना में 'ईश्वर' नामका ११वाँ सवत्सर है, उसीसे उसकी ११ सख्या का ग्रहण किया जाता है। तदनुसार यहाँ ११८० शक संवत् ही ठहरता है। जो विक्रम संवत् १२१५ के बराबर है और इसलिए टीका को निमित्त हुए आज ७०८ वर्षों से ऊपर का समय हो चुका है। आचार्य हेमचन्द्र का निधन वि० संवत् १२२६ में हुआ है, उनके निधन से यह टीका कोई ८६ वर्ष बाद की बनी हुई है।

योगशास्त्र मुख्यतः दो विभागों में विभक्त है, जिनमें से प्रथम विभाग में आदि के चार प्रकाश हैं और द्वितीय विभाग शेष पाँच से बारह तक आठ प्रकाशों को लिये हुए है। आ० हेमचन्द्र का स्वोपज्ञ विवरण प्रायः प्रथम विभाग

के ऊपर है, द्वितीय विभाग के ऊपर जो कुछ है उसे प्रायः नाम मात्र का विवरण कहना चाहिए—जगह जगह स्पष्टः, स्पष्टौ, स्पष्टाः आदि लिखकर उसकी स्थान पूति की गई है। शायद इसी से योगशास्त्र की प० हीरालाल श्रावक कृत जो गुजराती टीका (भावांतर) सन् १८६६ में प्रकाशित हुई थी उसकी प्रस्तावना में शा० भाण जी पाथा ने यह साफ लिख दिया है कि—

तेसां बारा प्रकाशो छे; तेमाता पहेला चार प्रकाशोनुं तेमणे विवरण कयुं छे, अने बाकीना आठ प्रकाशो-नुं कयुं नथी।

इसमें ग्रन्थ के १२ प्रकाशों में से प्रथम चार प्रकाशों का ग्रन्थकार ने विवरण किया है बाकी आठ प्रकाशों का विवरण नहीं किया, ऐसी स्पष्ट सूचना की गई है। यदि यह ठीक है तब आठ प्रकाशों पर जो कहीं कहीं कुछ विवरण पाया जाता है वह किमका किया हुआ है? यह एक नया प्रश्न पैदा होता है।

प्रथम विभाग के तीन प्रकाशों पर जो विवरण है उसमें अनेक लम्बी लम्बी कथाएँ, कथानक तथा चरित्र दिये हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—

१-महावीर चरित, २-सनत्कुमार चरित, ३-भरत-चक्रिकथा, ४-आदिनाथचरित, ५-मरुदेवी दृष्टान्त, ६-दृढ प्रहारि कथा, ७-चिलानिपुत्र कथा, ८-सुभूम-ब्रह्म-दत्त कथा, ९-कालसौकरिकपुत्रकथा, १०-कालिकार्य वसुगज कथा, ११-१४ कौशिक-गोहिनेय-रावण-मुवर्शन की कथाएँ १५-१८ सगर कुचिकर्ण-तिलक-नन्द के कथानक, १९-अभयकुमार कथा, २०-चन्द्रावतम कथा, २१-चुलिनी-पितृ कथा, २२-२४ मगमक-स्थूलभद्र-कामदेव की कथाएँ और आनन्द श्रावक की कथा।

इन सब कथा कथानकों के चित्रण में, जिनमें से अधिकांश का योग विषय के साथ कोई सम्बन्ध भी नहीं है और न योगशास्त्र में जिनको प्रस्तुत ढंग से उदाहरण करके रखना उपयुक्त तथा आवश्यक मालूम होता है, जिस समय और शक्ति का व्यय हुआ है वे दोनों यथेष्ट मात्रा में प्रयोजित नहीं रहे और इसलिए कुछ परस्थितियों के वश द्वितीय विभाग के आठो प्रकाशों को प्रायः बिना विवरण के ही समाप्त कर देना पड़ा, ऐसा जान पड़ता है। अस्तु,

द्वितीय विभाग के आठो प्रकाशों पर ही मुख्यतः प्रस्तुत टीका लिखी गई है, जिसमें मालूम होता है कि जिन श्लोकों को 'स्पष्ट' कहकर छोड़ दिया गया है उनमें विवरण के योग्य कितना तत्त्व भरा हुआ है। द्वितीय विभाग के आठो प्रकाश टीका में क्रमशः द्वितीय अधिकार से प्रारम्भ होते हैं, योगशास्त्र-विवरण और टीका में परस्पर पद्यों का कुछ अन्तर भी राया जाता है—कुछ पद्य एक दूसरे में कमती-बढ़ती उपलब्ध होते हैं—अनेकानेक पाठ भेद भी पाये जाते हैं, जिनका कुछ परिचय प्रागे चलकर दिया जायगा। यहाँ सबसे पहले टीका के प्रथम अधिकारगत मूल पद्यों पर विचार किया जाना आवश्यक है। इस अधिकार में मूल योगशास्त्र के ५-८ पद्यों का उल्लेख है, जिनमें से पहला पद्य टीका-सहित इस प्रकार है—

परमात्मा जिन सर्वदेहं व्याप्य निरञ्जनः।

सर्वत्र सर्वगः शुद्धः बुद्धो वसति नित्यशः॥१॥

टीका—अथादौ मगलार्थं प्रथम इम पदे कथ्यते यदुक्तं, आदौ मध्ये वसाने च मगल भाषितं बुद्धं। तज्जिनेन्द्रगुणस्त्वोत्र तद्विघ्नप्रशान्तये॥१॥

अत्र नमस्कारार्थं जिनेन्द्रस्तुतिविधीयते। जिन सर्वत्र वसति। इति म चराचर त्रैलोक्ये वसति। किं कृत्वा? सर्वदेह व्याप्य सर्वत्र च तद्देह सकलशरीर चाभिगम्य वसति। किं विशिष्ट? परमात्मा परमश्चात्मा परमात्मा प्रकृष्टा-त्मेति। कथं वसति? नित्यश सर्वदेव। पुनः कार्यभूत। सर्वगः सर्वं गच्छति जानात्येव सर्वं। ज्ञानं कृत्वा सर्वं व्रजति इति वा। शुद्धः निमलः। कमलकवचजितः। बुद्धः बुध्यते स्म बुद्ध त्रेकान्य वेदीति। पुनः कथंभूत? निरञ्जनः निगंतमजन यस्मात् निरञ्जनः कलिमलरहितः॥इति॥१॥

इससे प्रकट है कि यह पद्य, जिनेन्द्र-गुणस्तुति को लिये हुए मूल ग्रन्थ के मगल-चरण रूप में उल्लिखित हुआ है। इसका बाद "अथोत्पत्तिमाह" इस प्रस्तावना वाक्य के साथ दूसरा पद्य टीका-सहित इस प्रकार है

आदौ तस्योत्पत्तिश्चात्र कथ्यते सा र्वावस्तरा।

पञ्चास्तस्य मया मध्यं लक्षणं परमात्मनः॥२॥

टीका—आदौ प्रथम तस्य परमनिरञ्जनस्य मया चिदानन्दरूपस्य परमात्मन उपपत्तिरुद्धव कथ्यते उच्यते

सा उत्पत्तिः सविस्तरा कथ्यते । पश्चात्तस्य परमात्मनो मया सम्यक् सम्यक्तया नासारिकत्वापेक्षया कथयित्वा निरंजनेनोच्यते कथ्यते ॥२॥

इम पद्य मे मगलाचरण-गत परमात्मा की शरीर से उत्पत्ति को विस्तार के साथ कथन करने की प्रतिज्ञा की गई है और उसके बाद परमात्मा का सम्यक् लक्षण बतलाने की बात कही गई है । तदन्तर “अथोत्पत्तिं दर्शयन् गर्भ-स्थानस्वरूपमाह” इस प्रतिज्ञावाक्य के साथ मूल का तीसरा पद्य दिया है, जो टीका-सहित निम्न प्रकार है:—

स्त्रियो नाभेरधोऽधश्च द्वे शिरे नालवत्ततः ।

कोशवद्योनिरास्य मंजरीवास्ति पेशिका ॥३॥

टीका—स्त्रियो नार्याः नाभेरध द्वे शिरे स्त शिरा द्वय-मस्ति पद्यकोशवत् पद्यनाल इव । ततस्तस्मादधः कोशव-द्योनिरस्ति । पद्यकोश इव योनिगर्भोत्पत्त्याशयः वर्तते । ततोऽधश्च आस्य चूतवृक्षस्य मंजरीव पेशिका माम-यन्निरस्ति इति ॥३॥

इसमें गर्भोत्पत्ति स्थान की शिराओं तथा आकारादिक का उल्लेख करते हुए उत्पत्तिक्रम के कथन को प्रारम्भ किया गया है और फिर “तस्मात् किं जायते” इत्यादि प्रस्तावनावाक्यों के साथ मूल के अगले चतुर्थादि पद्यों को देकर उनकी टीका दी गई है, जिन सबमें शरीर से पर-मात्मा की उत्पत्ति का कथन है । अन्त में उममहारात्मक ५८वाँ पद्य दिया है, जो इस प्रकार है:—

शरीरमित्थं कथितं समासतः योगस्य समाधनहेतवे च यत् । तद्वृत्त्युत्पत्तिं पवनस्य वश्यतां विधाय सद्योगिवरा स्वसिद्धये ।

इस पद्य पर टीका नहीं । इसका आशय इतना ही जान पड़ता है कि जो शरीर योग के समाधन का हेतु है उसे संक्षेप में इस प्रकार बतलाया गया है, इस प्रकार के शरीर को लेकर पवन को स्वाधीन करने का विधान कर सद् योगिवर अपनी सिद्धि के लिये प्रवृत्त होते हैं ।

इस पद्य के अनन्तर अधिकार को समाप्त करते हुए जो सन्धिवाक्य दिया है वह इस प्रकार है:—

“भट्टारक श्री इन्द्रनन्दिबिरचितायां योगशास्त्र-टीकायां गर्भोत्पत्त्यादिनामादिमोधिकारः ॥१॥”

इसमें अधिकार का नाम ‘गर्भोत्पत्त्यादि’ दिया है, जो परमात्मा की गर्भ से उत्पत्ति आदि का सूचक है और

उसे योगशास्त्र-टीका का आदिम अधिकार बतलाया है ।

इस अधिकार के पूरे ५८ पद्य योगशास्त्र के उक्त स्वोपज्ञ विवरण में नहीं पाए जाते; तब यह प्रश्न पैदा होता है कि ये पद्य टीका में कहाँ से आए? जो टीकाकार योगशास्त्र की टीका लिखने की प्रतिज्ञा करे और उस प्रतिज्ञा के अनन्तर ही एक पूरा प्रकरण किसी दूसरे ग्रन्थ में उठाकर रखे तथा सन्धि-वाक्य में भी उसे योगशास्त्र का अंश सूचित करे, यह बात कुछ जी को लगती मालूम नहीं होती—खासकर ऐसी हालत में जब कि टीकाकार मूलकार के प्रति बहुमान का भाव रखता है । टीकाकार ने हेमचन्द्राचार्य को एक जगह (पृ० ३) ‘विद्वद्विशिष्ट’ (विद्वानों में श्रेष्ठ) लिखा है और दूसरी जगह द्वितीय अधिकार में पञ्चम प्रकाश के ‘पृथ्वीबीजसंपूर्ण’ इत्यादि ४३वें (५८वें) पद्य की टीका में—‘हेमचन्द्राचार्य के पृथ्वीबीज’ का समर्थन करते हुए, उन्हें ‘परमयोगीश्वर’ बतलाया है, जैसा कि टीका के निम्न अंश से प्रकट है:—

“पृथ्वीबीजं क्षंकारं तेन बीजेन संपूर्णं सम्यक् पूर्णोक्तं । केवनाचार्या लंकारं वदन्तीति । षडायत्ताभभोरामार्गता आराधकेन लाभावि क्षात्यामक्षरमूर्त्या विलसन्ति इति वचनात् तेन हेतुना परमयोगीश्वरेण हेमचन्द्राचार्येण क्षं कारं बीज इष्टं ।”

ऐसी स्थिति में बहुत संभव है कि योगशास्त्र की जो पहली प्रति लिखकर तैयार हुई हो उसके प्रथम प्रकाश में उक्त प्रकरण हो, उस प्रति पर से होने वाली कुछ प्रतियाँ बाहर चली गई हों और उन्हीं में से कोई प्रति टीकाकार को प्राप्त हुई हो । बाद को विवरण लिखने आदि के समय हेमचन्द्राचार्य ने स्वेच्छा से अथवा किसी की प्रेरणा पाकर उक्त प्रकरण को योगशास्त्र जैसे ग्रन्थ के लिए अनुपयुक्त समझते हुए निकाल दिया हो । कुछ भी हो, यह विषय विद्वानों के लिए अनुसंधान के योग्य है और इसकी अच्छी खोज होनी चाहिए, जिससे वस्तुस्थिति का ठीक पता चल सके ।

इस प्रकरण के प्रारम्भिक २-३ पद्यों को अन्तिम पद्य सहित प० सुबोधचन्द्र जी के पास बम्बई भेजकर मैंने यह मालूम करना चाहा था कि क्या हेमचन्द्राचार्य के किसी ग्रन्थ में ये पद्य पाये जाते हैं । उत्तर में उन्होंने लिखा था

कि 'गर्भोत्पत्त्यादिविषयक उल्लिखित श्लोक कही नहीं मिले परन्तु आगम में जो पाठ है उसे लिखकर साथ में भेजा है यदि इस पाठ की आवश्यकता हो तो लिखे। तो पूरा लिखकर भिजवाऊंगा। आगम का जो पाठ उन्होंने लिखकर भेजा वह दो गाथाओं के रूप में टीका सहित इस प्रकार है—

अथाहाराधिकारे किञ्चिद् गर्भादिस्वरूपमाह—

इत्थोए नाभिहिट्टा सिरादुर्ग पुष्पनालियागार ।

तस्स य हिट्टा जोणी, अहोमुहा सठिया कोसा ॥६॥

हे आयुष्मन् ! हे गौतम ! स्त्रिया नार्या नाभेरधोभागे पुष्पनालिकाकारं सुमनोवृत्तसदृश शिराद्विक धमनि-युग्म वर्तते, च पुनस्तस्य शिराद्विकस्याधो योनि स्मरकूपिका संस्थिताऽस्ति । किभूता ? अधोमुखा । पुन किभूता ? (कोस ति) कोशा खड्गपियानकाकारेत्यर्थः ॥६॥

तस्स य हिट्टा चूयस्स मंजरी तारिसाउ मंसस्स ।

ते रिउकाले फुडिया सोणियलवया विमोयन्ति ॥ ७॥

(तस्स य) तस्याश्च योनेरधोऽधोभागे चूतस्याम्रस्य यादृश्यो मञ्जर्यो वल्लर्यो भवन्ति तादृश्यो मासस्य पल्लस्य मञ्जर्यो भवन्ति, ता मञ्जर्यो मासान्ते स्त्रीणा यदजस्र-मस्रं दिनत्रयं स्रवति तदृतुकालं स्त्रीधर्मप्रस्ताव तस्मिन् स्फुटिता प्रफुल्ला मत्यः शोणितलवकान् रुधिरबिन्दून् विमुञ्चन्ति स्रवन्ति ।

'सप्ताहं कललं विन्द्यान् ततः सप्ताहमर्बुदम् ।

अर्बुदाञ्जायते पेसी पेसीतोऽपि घनं भवेत् ॥१॥

उक्त दोनों गाथाएँ (६-१०) कौन से आगम ग्रन्थ की हैं, यह कुछ मालूम नहीं हो सका; परन्तु वे जिस श्वे० आगम ग्रन्थ की भी हैं उसके आहाराधिकार से सम्बन्ध रखती हैं और उनमें जिम विषय का उल्लेख है वह योग-शास्त्र की टीका के प्रथम अधिकार में दिये हुए उक्त पद्य न० ३ के विषय में बिल्कुल मिलता जुलता है और इस-लिए मैंने आगम के उस मारे कथन को टीका सहित उद्धृत करके भेज देने को लिख दिया था, परन्तु पं० मुवाधचन्द जी अपनी कुछ परिस्थितियों के वश अभी तक उसे भेज नहीं पाए, इससे आगे का तुलना कार्य नहीं हो सका। हो सकता है उक्त आगम की गाथाओं के विषय को लेकर आचार्य हेमचन्द्र द्वारा 'गर्भोत्पत्त्यादि' नाम के उस प्रकरण

को मकलित किया गया हो जो योगशास्त्र की टीका में प्रथम अधिकार रूप से पाया जाता है, यह भी अनुसन्धान तथा खोज का विषय है ।

अब मैं द्वितीय विभाग के ग्रंथों प्रकाशों को लेता हूँ, जो टीका में क्रमशः द्वितीयादि अधिकारों के अन्तर्गत हैं और मोटे रूप से यह दिखलाना चाहता हूँ कि उनमें परस्पर पद्यों की क्या कुछ कमी-बेशी पाई जाती है ।

(१) टीका के तृतीय अधिकार में योगशास्त्र के छठे प्रकाश के छह पद्य हैं, जबकि विवरण में उसकी सख्या आठ दी है । निम्न दो पद्य टीका में गृहीत नहीं हैं—

जित्वापि पवनं नानाकरणं स्लेशकारणं ।

नाडाप्रचारमायत्त विषायापि वपुर्गन्तम् ॥२॥

पूरणे कम्भने चंच रेचने च परिश्रमः ।

चित्तसंस्लेशकरणा मुक्तेः प्रत्यूहकारणम् ॥३॥

हो सकता है कि ये दोनों पद्य विवरण के समय ग्रन्थ में नये प्रवृष्ट किये गए हों अथवा अपने अपने पूर्ववर्ती पद्य के साथ 'ग्रान्तर' श्लोक के रूप में हो और इन पर गलती से नम्बर पड़ गये हों । इन पर तथा इनके पूर्ववर्ती पद्यों पर भी कोई विवरण नहीं है । चौथे पद्य को देखते हुए विवरण में यह प्रस्तावना-वाक्य दिया है—“प्राणायामस्ततः कैश्चिदाश्रितो ध्यान-मिदृशे इति यदुक्तं तत् श्लोक-द्वयेन प्रतिक्षिपति ।” और इसके बाद चौथा पद्य निम्न प्रकार से किया है—

तन्नाप्नोति मनः स्वास्थ्यं प्राणायामैः कथयितम् ।

प्राणायाममने पीडा तस्यां स्याच्चित्तविप्लवः ॥ ॥

इस पद्य के स्थान पर जो पद्य टीका में पाया जाता है उसका रूप इस प्रकार है—

प्राणायामस्ततो[तः] कैश्चिदाश्रितो मोक्षमिदृशे ।

तन्नाप्नोति मनः स्वास्थ्यं प्राणायामैः कथयितम् ॥ ॥

(२) टीका के चौथे अधिकार में योगशास्त्र का मा-तर्वा प्रकाश पूरे २८ पद्यों को लिए हुए है । विवरण में उन पद्यों का प्रायः कोई अर्थ नहीं दिया, जब कि टीका में अच्छा अर्थ यत्र-यत्रादि के साथ दिया हुआ है ।

(३) टीका के ५वें अधिकार में योगशास्त्र का आठवाँ प्रकाश है, जिसके विवरण में पद्य सख्या ८१ दी है, जो ८० जान पड़ती है; क्योंकि निम्न 'उक्त च' श्लोक पर भी

गलती में नम्बर ७६ पड़ गया है; जब कि वह नहीं पड़ना चाहिए था—

वीतरागो भवेद्योगो यत्किञ्चदपि चिन्तयेत् ।

तदेव ध्यानमाप्नोति मतोऽयम् ग्रन्थविस्तरा ॥७॥

टीका में इस प्रकाश के पद्यों की संख्या ८६ दी है, इस वृद्धि के साथ दोनों में परस्पर कुछ पद्यों की ग्युनाधिकता भी पाई जाती है, जैसे कि विवरण के निम्न तीन पद्य टीका में नहीं हैं—

तदेव च क्रमात्सुधर्मं ध्यायेद् बालाग्रसन्निभम्, (२६)

प्रक्यावमानसहनक्षयादलक्ष्य दधतः स्थिरम् (७)

एव च मन्त्रविद्यानां वर्णेषु च पदेषु च (८०)

इसमें टीका में अन्य १२ पद्यों की वृद्धि समझनी चाहिए, जिन्हें तुलना करके मालूम करने की जरूरत है। कुछ महत्त्व के पाठभेद भी हैं जैसे पापभक्षिणी विद्या के मन्त्र में 'क्षू' के आगे तथा 'क्षी' के पूर्व 'क्षे' अक्षर की वृद्धि है और 'ज्ञानवद्भिः समाप्नातं वज्रस्वाम्यादिभिः स्फुटम्' वाक्य में प्रयुक्त 'वज्रस्वाम्यादिभिः' पद के स्थान पर 'वज्रस्वाहादिभिः' पद टीका में दिया है और उसका अर्थ भी 'वज्रस्वाहादिभिः येषां तैः [ते] तैः स्फुटं प्रकटकज्ञानवद्भिः समाप्नातः समाराध्यः' ऐसा दिया है। इस अधिकार में यत्र भी दिये हैं, जो विवरण में नहीं हैं और कुछ मन्त्र भी अधिक दिये हैं। पूरी तरह तुलना करने की जरूरत है, जिसके लिए अवकाश नहीं मिल सका।

(४) टीका के छठे अधिकार में नवमा प्रकाश है, जिसके १५ पद्य हैं; जब कि विवरण में पद्य संख्या १६ दी है, जिसका कारण निम्न 'उक्त च' पद्य पर १४वाँ नम्बर पड़ जाना है—

येन येन हि भावेन युज्यते यन्त्रवाहकः ।

तेन तन्मयतां याति विश्वरूपो मणिर्यथा ॥१४॥

विवरणों में मूल पद्यों का कोई अर्थ नहीं; जबकि टीका में वह पाया जाता है :

(५) टीका के सातवें अधिकार में योगशास्त्र का १०वाँ प्रकाश है। विवरण में इस प्रकाश के २४ मूल पद्य दिये हैं, जब कि टीका में उनकी संख्या ६१ दी है। विवरण में नवमादि पद्यों के अनन्तर जिन्हें 'ग्रन्तर श्लोक' लिखा है वे टीका में प्रायः मूल पद्यों के रूप में पाये जाते हैं।

(६) टीका के आठवें अधिकार में योगशास्त्र का ११वाँ प्रकाश है, जिसकी पद्य संख्या ६० है, विवरण में यह ६१ दी है। कुछ पद्यों में 'यदाह' आदि श्लोकों की दृष्टि से कुछ अन्तर भी है; जैसे 'धत्ते न खलु स्वास्थ्यं' नाम के तीसरे पद्य के नीचे 'स्पष्टम्' पद के बाद जो 'यदाह' कहकर 'छिन्ने भिन्ने हते बन्धे' आदि दो पद्य दिये हैं उन्हें टीका में मूलरूप से ग्रहण किया है।

(७) टीका के ९वें अधिकार में योगशास्त्र का १२वाँ प्रकाश है, जिसकी पद्य संख्या विवरण में ५५ दी है, टीका में वह ४७ हो रही है, जिसका कारण कुछ पद्यों पर दो-वारा पूर्व के नम्बर पड़ जाना है। विवरण का निम्न पद्य टीका में नहीं पाया जाता जो 'गुरुमेव स्तोति' वाक्य के साथ दिया है—

यद्वत्सहस्रकिरणः प्रकाशको निचिततिमिरमग्नस्य ।

य(त)द्वद्गुरुश्च भवेदज्ञानध्वान्त-पतितस्य ॥१६॥

हो सकता है कि यह पद्य विवरण के समय बढ़ाया गया हो अथवा टीका में छूट गया हो।

(८) शेष रहा टीका का दसरा अधिकार, यह योगशास्त्र के पाँचवें प्रकाश को आत्मसात् किए हुए है, जो पद्य संख्या की दृष्टि से ग्रन्थ का सबसे बड़ा प्रकाश है। विवरण में इसके पद्यों की संख्या २७३ दी है जब कि टीका में वह ३२४ के लगभग पाई जाती है। दोनों में मूल पद्यों का जो परस्पर अन्तर पाया जाता है उसका स्थूल रूप से संक्षिप्त सार इस प्रकार है—

टीका में निम्न पद्य को पंचम प्रकाश का प्रथम पद्य निर्दिष्ट किया है—

अथात्मसिद्धिमानेतुं मनो वशे विधीयते ।

तन्मनः पवनाधीनमभ्यस्तां मारुतं ततः ॥१॥

इसमें आत्मसिद्धि के लिये मन को वश में करने आदि की जो बात कही गई है उसका सम्बन्ध प्रथम अधिकार के अन्तिम (५८वें) पद्य में प्रयुक्त 'पवनस्य वश्यतां विधाय सद्योगिवराः स्वसिद्धये' वाक्य के साथ जुड़ता है। यह पद्य जिसके प्रारम्भ में 'अथ' शब्द मंगल का भी वाचक है। विवरण में नहीं है। विवरण में इस प्रकाश का पहला पद्य है—

प्राणायामस्ततः कश्चिदाश्रितो ध्यानसिद्धये ।

शक्नो नेतरथा कर्तुं मनःपवननिर्जयः ॥१॥

इस पद्य को देते हुए, विवरण में प्राणायाम को दूसरों द्वारा योग के आठ अंगों में निर्दिष्ट किया है ऐसा दिखलाकर लिखा है:—

“न च प्राणायामो भूतिसाधने ध्याने उपयोगी, असौमनस्यकारित्वात् तथापि कारोग्य कालज्ञानादौ स उपयोगीत्यस्माभिरपीहोपदेश्यते ।”

अर्थात्-यद्यपि प्राणायाम मुक्ति के साधन रूप ध्यान में असौमनस्यकारी होने से उपयोगी नहीं है तथापि शरीर के आरोग्य और कालज्ञानादि में उपयोगी है, इसलिए वह हमारे द्वारा यहाँ प्रदर्शित किया जाता है ।

यह पद्य टीका में दूसरे नम्बर पर है और इसके बाद टीका में निम्न दो पद्य ‘युग्म’ रूप में और दिये हैं, जो विवरण में नहीं है—

क्षाराम्लाहारवर्जं क्षीरभोजनमेव च ।

मिष्टाहार मिताहारं कृत्वा ब्रह्म च स (द्)व्रतम् ॥३॥

क्रोधादिचतुष्कस्य जय त्यक्तपरिग्रहम् ।

सुखासमं स्थितो योगी प्राणायामं करोति च ॥४॥युग्मं ।

इनकी टीका के अनन्तर ‘किमर्थं करोत्याश्रयाह’ इस वाक्य के साथ पाचवाँ पद्य (टीका सहित) निम्न प्रकार दिया है:—

प्राणायाम विना ध्यान न सिद्ध्यति कदाचन ।

मनःपवनमाजुतं न शक्यते नरैरपि ॥५॥

ये तीनों पद्य विवरण में नहीं हैं । विवरण में जो ‘मनो यत्र महत्तत्र’ आदि तीन पद्य नं० २ से ४ दिये हैं वे टीका में नं० ६ में ८ तक हैं—६ नंबर दो पद्यों पर पड़ जाने में आदि से नं० ७ तक है । उनके बाद टीका में ‘स त्रिधा कथं कार्य इत्याशयं दर्शयितुमाहायंया’ इस वाक्य के साथ निम्न पद्य आर्या छन्द में दिया है, जो तीन प्रकार का प्राणायाम कैसे किया जाय । इसे अक्षर-मह्या से निर्दिष्ट करता है:—

स्वरैः पूर्णं वायुः प्रथममीडया कुंभकमिति ।

चतुःषष्ठ्या, रेचयास्तदनु रवाने पिण्डा ॥८॥

इसकी टीका के अनन्तर ‘एव सामान्यः प्राणायामोऽतो विशेषप्राणायाममाह’ इस वाक्य के साथ ‘सामान्ये-

नाऽनिले जित्वा, न ज्ञात्वा च विशेषं हि, प्राणायामेन युक्तेन, हिक्का इवासश्च काशश्च, यथा सिंहो गजो व्याघ्रः, युक्तं युक्तं चिबेद्यायुं, नामके छह पद्य अपनी अपनी टीका के साथ दिये हैं । इनके बाद विवरण के ५ से ७ नम्बर वाले तीन पद्य हैं जिनके नम्बर टीका में १५ से १७ दिये हैं, एक नम्बर की कमी चली जाती है । विवरण के समाकृत्य यदापानात्’ नामक पद्य नं० ७ के अनन्तर टीका में जो एक अतिरिक्त पद्य नं० १८ पर दिया है वह इस प्रकार है:—

अपानेन च लिंगेन बहिर्यति तु मासतम् ।

पूरित्वोदरमाह्वय मुषतस्तेनापि रेचकः ॥१८॥

इसके बाद टीका में १९ से ७९ नम्बर तक प्रायः वे सब पद्य हैं जो विवरण में नं० ८ से ६४ तक पाये जाते हैं । विवरणस्थित १२वें पद्य के बाद टीका में २४वाँ जो अतिरिक्त पद्य दिया है उसका रूप है—

“अहो नास्तीदृशं लोके प्राणायामाच्च केवलात् ।

प्राणवायुर्जयेत्कृत्स्नान् रोगान् बेहसंभवान् ॥”

तदन्तर युद्धादि प्रश्नों को लेकर टीका में पद्य नं० ८० से १२५ तक जो ४६ पद्य टीका सहित दिये हैं वे विवरण में ६४वें पद्य के अनन्तर नहीं पाये जाते । विवरण में ‘वामा शस्तोदये पक्षे’ (६५) से लेकर ‘रोहिणी शशिभूतक्षम’ (१३६) तक जो पद्य हैं वे टीका में प्रायः १२६ से १९२ नम्बर तक पाये जाते हैं—कहीं कहीं कुछ अन्तर भी है । नम्बर १९२ के बाद टीका में दो पद्य मूलरूप में निम्न प्रकार दिये हैं, जो विवरण में ‘लौकिका अप्याहुः’ इस वाक्य के साथ उद्धृत हैं—

अरुन्धती ध्रुव चंद्र विष्णोस्त्रीणि पदानि च ।

सीणायुको न पश्यन्ति चतुर्थं मातृमण्डलम् ॥१८३॥

अरुन्धती भवेज्जिह्वा ध्रुव माताप्रमुच्यते ।

तारा विष्णुपद प्रोक्षत भ्रुवो स्यात्मातृमण्डलम् ॥१८४॥

इनकी टीका न देकर ‘एतद्द्वयं युग्मं’ लिख दिया है ।

विवरण में ‘स्वप्ने स्व भक्ष्यमाणं’ (१३७) से लेकर ‘पृच्छायाः समय लग्ना’—(२०२) तक जो मूल पद्य हैं वे टीका में प्रायः पद्य नं० १९५ से २७३ के अन्तर्गत हैं । कहीं कहीं कुछ पद्य छूटे हैं; जैसे ‘वृक्षाद्ये कुत्रचित्पश्येत्’ (१३९) अष्टोत्तरसहस्रस्य जायात् (१७५) अनातुरकृते

ह्येतत् (१८२) ये पद्य टीका में नहीं है। टीका में विवरण के 'अथवा शकुना द्विष्टात्' नामक पद्य न० १७७ से पहले 'यदुक्तं' रूप में ६ पद्य दिये हैं, पश्चात् 'अथ यत्रमाह' वाक्य के साथ बहुत से पद्य यंत्र-मन्त्रादि के साथ दिये हैं, तदनन्तर उक्त पद्य न० १७७ को लिया है। इसी तरह विवरण में स्थित 'लग्नस्थश्चेच्छशीसौरि'—(२०३) से 'एवमाध्यात्मिक काल' (२२४) नाम के पद्य भी टीका में ग्रहीत नहीं है। इसके बाद 'को ज्येष्ठसि द्वयोपुंढे' (२२५) से लेकर 'क्रमेणैवं परतुरः प्रवेशाभ्यासशक्तितः' (२७३) तक के पद्य टीका में पद्य न० २७४ से ३२४ के अन्तर्गत हैं—कुछ पद्य नहीं भी हैं; जैसे 'अग्रे वाम-विभागे' (२५३), 'लाभाज्जलाभी मुख दुःख' (२५४) नाम के पद्य टीका में नहीं है।

इस तरह पंचम प्रकाश के विवरण और टीका दोनों में परस्पर योगशास्त्र के मूलपद्यों की कमी-वैशि आदि के रूप में कितना ही अन्तर पाया जाता है। यह सब अन्तर कब कैसे तथा किसके द्वारा घटित हुआ, एक अनुसंधान का विषय है, जिसका पता उन अति प्राचीन प्रतिधियों तथा उनपर से होनेवाली दूसरी प्रतियों से चलाया जा सकता है जो स्वोपज्ञवृत्ति रूप विवरण के लिखे जाने से पूर्व प्रचार में आई हों। विवरण मूल ग्रन्थ के साथ साथ नहीं लिखा गया, बल्कि बाद को (कितने वर्ष बाद यह

मालुम नहीं) चौलुक्क्यनृपति (कुमारपाल) की प्रार्थना से प्रेरित होकर लिखा गया है, यह बात स्वोपज्ञवृत्ति (विवरण) के निम्न पद्य से जानी जाती है—

श्री चौलुक्क्यक्षितिपतिकृतप्रार्थनाप्रेरितोऽहं,
तत्त्वज्ञानामृतजलनिधेर्योगशास्त्रस्य वृत्तिम् ।
स्वोपज्ञस्य व्यरक्ष्येमिमां तावदेषा च नन्दाद्,
यावज्जनप्रवचनवती भूभुवःस्वस्त्रयीयम् ॥

द्वितीय अधिकार की समाप्ति पर जो निम्न सन्धि-वाक्य टीका में दिया है उसमें स्पष्ट घोषणा की गई है कि यह अधिकार योगशास्त्र की टीका में उसके पाँचवें प्रकाश की अमरकीर्ति भट्टारक के शिष्य इन्द्रनन्दि भट्टारक विरचित टीका के रूप में है—

इति योगशास्त्रेऽस्य पंचम प्रकाशस्य श्रीमदमरकीर्ति-
भट्टारकाणां शिष्य श्री भट्टारकइन्द्रनन्दिबिरचितायां
योगशास्त्रस्य टीकायां द्वितीयोधिकारः ॥

पद्यों के उक्त अन्तर के प्रतिरिक्त आठों प्रकाशों में विवरण गत तथा टीकागत मूल श्लोको में परस्पर पाठान्तर भी बहुत पाये जाते हैं, जिनमें कुछ साधारण और कुछ विशेष महत्त्व के हैं, उन सब की सूची बनाना समय-साध्य है और इसलिये उसको यहाँ छोड़ा जाता है; फिर भी नमूने के तौर पर कुछ पाठान्तर यहाँ पंचम प्रकाश के और दिखलाये जाने हैं—

विवरणगत पाठ पद्य नं० सहित

- २१ प्राणापानसमोदानध्यानेष्वेषु वायुषु ।
ये पं वं रौ लौ बीजानिध्यातध्यानि यथाक्रमम् ॥
२८ पाष्णौ गुल्फे च जघयां
६८ उदेति पवनः पूर्व शशिन्येष त्र्यह ततः
८६ अथेदानीं प्रवक्ष्यामि
११८ आध्यात्मविपर्यासः, संभवेद्
व्याधितोपितन्निश्चायाय, कालस्य लक्षणम्
१२७ षडादिषोडशदिनान्यान्तराण्यपि शोषयेत्
१८१ अभ्यपूर्णहृदोगावो

टीकागत पाठ पद्य नंबर सहित

- ३६ प्राणापान.....
ऐं ह्रीं बं रौ लां बीजानि ध्यातध्यानि यथाक्रमम्
४३ पाष्णौ गुल्फे जघयोश्चा
१२६ उदेति पक्षे दिनारम्भे यत्नेन शशिनस्तथा
१४५ अधुना प्रवक्ष्यामि.
१७३ आध्यात्मिकविपर्यासः, संभवेद्
व्याहितोपि, तत्त्वैश्वर्याय, कालस्य निर्णयम्
१८३ षडादिषोडशान्तानामग्निघोष शृणोति न ।
२५२ अशुभघूर्णदृशो गावो

अब मैं ऐसे मूढ पद्यों की टीका के कुछ नमूने और दिखला देना चाहता हूँ जिनपर विवरण नहीं है जिन्हें विवरण में 'स्पष्ट' कहकर छोड़ दिया है अथवा नाम मात्र का साधारण विवरण है —

उपतापमसंप्राप्तः शीतवातातपादिभिः ।

पिपासुरमरीकारि योगामृत-रसायनम् ॥ ३-१॥

टीका—शीतवातातपादिभिः, शीतश्च वानश्च आत-पश्च शीतवातातपा ते आदौ येना ते शीतवातातपादयः आदिशब्दान् दशमशत-न्वारोगादयस्तत्पताय कष्ट असजाप्लावेदिता पिपासु पोतुमस्तु पोनाभिलाषी अमरा इत्यादि अमरं करोतीत्यमराकारि । एवविध योगामृत रसायन योग एवामृतं योगामृत तदेव रसायन योगामृत-रसायन अनन्तकालजीवितकर योगामृत-सायन पोतुमुत्सक इति भावः ॥३॥

रागादिभिरनाक्रान्त क्रोधादिभिरदूषितम् ।

आत्मरामं मनः कुर्वन्निर्लेपः सर्ववस्तुषु ॥७-४॥

विरत (क्तः) कामभोगेभ्य स्वशरीरेऽपि निःस्पृहः ।

सवेदहृदनिमग्नः (सवेदहृदनिमग्नः) सर्वत्र समता श्रयन् ॥

७-५

टीका—योगी समता स्वर्ण-नृण-भिन्न-रत्न-दृष्टस्व-परादिष्वेकभावः समता श्रयेदाभजेत् । कथंभूतं सन् रागा-दिभी राग-द्वेष-मत्सरादिभिरनाक्रान्तो नाक्रान्तो न व्याप्त इति । किंविशिष्टं सर्वकर्ममुनिर्लेपः सर्वव्यापारादिषु कर्मषु व्यतिरिक्तः । कथंभूतः ? कामभोगेभ्यः विरक्तो विरक्तं सन् स्वशरीरेऽपि निःस्पृहः । अपि तु आत्मदेहेऽपि स्पृहावर्जितः । सवेदहृदनिमग्नः वेदै सह-सवेद तच्चहृत् तस्मिन्नेव निमग्नः सवेदहृदनिमग्न वेदा पंचेदादय वेद-व्याप्तहृदयेऽनिमग्नः । क्रोधादिभिः क्रोध-मान-माया-लोभा आदिशब्दात् प्रमादा अपि ग्राह्यास्तैरदूषितं तेषां दोष-रहितमिति । एवंभूतं मनश्चित्तं । पुनः कथंभूतः ? आत्मा-राम आत्मन्यारमतीत्यात्माराम स्वरूपचिन्तनपरं कुर्वन् सर्वत्र समभावमवनीयादिति भावः ॥४,५॥

पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम् ।

जातुषां ध्येयमाप्नातं ध्यानस्थालम्बनं धृष्यः ॥ ॥

(विवरण) पिण्ड शरीरं तत्र तिष्ठतीति पिण्डस्थं ध्येयम् ।

टीका—पिण्डे शरीरे पार्थवप्रभृतिकधारण करो-तीति । शरीरे यो (यद्) ध्यायेत् तत्पिण्डस्थमिति ध्यान ।

नमस्कारादि ओमित्य (त्येका) क्षरा मंत्र ग्रहमिति द्वय-क्षरो मंत्र इत्यादि पञ्चविंशदक्षरो नमस्कारादीनां स्मृति करोतीति पदस्थ । प्रतिमादिकावयवध्यान करोतीति रूपस्थं । रूपातीतं निरजनमिति ।

पाथिवी स्याद्वाग्नेयी मास्तु वाहणी तथा ।

तत्र (स्थ) भूः पंचामी चेति पिण्डस्थे पञ्चधारणाः । ६॥

टीका—पृथिव्या भवा धारणा पाथिवी । अथानन्तर-माग्नेयी अग्नी भवाग्नेयी । वायोर्भवा वायवी वरुणे भवा वाहणी । तत्त्वभूः तत्त्वे भवतीति तत्त्वभूरिति कथंभूता सप्त-धातुरहित निष्कलंक निर्मल चन्द्रबिम्बसदृश उज्ज्वलकाति सर्वजगद्गमात्मानं स्मरेदिति । बहुलतेजः पुञ्जश्च दलित-तमोभ्रं विहामनाः देवदानव गणधरगंधर्वसिद्धचारण-मृनिप्रभृतिभिः मेघितनुराग अनेकातिशयं शोभायमान विदलितकर्म महिम्ना निधान ।

आत्मानं शरीरे पुण्याकारमात्मानं स्मरेदित्येषा तत्त्वभूः पंचमी धारणा ज्ञेया ॥६॥

टीका के इन नमूनों से विज्ञ पाठक टीका की प्रकृति-स्थिति उसके महत्व एवं उपयोग को भली प्रकार अनुभव में ला सकते हैं । इस प्रकार योगशास्त्र द्वितीय विभाग के आठों प्रकाशों के सैकड़ों पद्यों की टीका को यह 'योगिरमा' टीका अपने में आबिभूत किये हुए है । और इसलिए इसकी उपयोगिता कुछ कम मालूम नहीं होती । यह प्राचीन टीका शीघ्र प्रकाश में आने के योग्य है । इससे योगशास्त्र के पाठान्तरो का भी कितना ही पता चलेगा और उससे अनुसंधान का विषय प्रगट बनेगा ।

इस टीका की कोई दूसरी प्रति अभी तक नहीं मिली । हाल में जैनसिद्धान्तभवन आरा, ऐल्लिक पन्नालाल सरस्वती भवन व्यावर और महावीर भवन जयपुर आदि को खाम तौर से लिखकर तलाश कराई गई : परन्तु सब जगह से उत्तर नकारात्मक ही प्राप्त हुआ । दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों के शास्त्र भण्डारों में इसकी और प्रयत्न पूर्वक खोज होनी चाहिए । मुनि श्री पुण्य-विजय जी को श्वेताम्बर शास्त्र भण्डारों का बहुत पता है, उन्हें कृपया प्रकट करना चाहिए कि क्या उनके परिचय के किसी भण्डार में यह टीका उपलब्ध है । जो सज्जन अपने अनुसंधान के फल स्वरूप इस टीका की किसी दूसरी प्रति का परिचय देगे वे आभार के पात्र होंगे । ★

सागारधर्माभूत पर इतर श्रावकाचारों का प्रभाव

बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री

ग्रन्थ-परिचय

पण्डितप्रवर श्री आशाधर विरचित सागारधर्माभूत श्रावकाचार सम्बन्धी एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसकी रचना उनके समय में वर्तमान ममस्त श्रावकाचार सम्बन्धी साहित्य के परिणीतपूर्वक की गई है। प्रस्तुत ग्रन्थ पं. आशाधर विरचित 'धर्माभूत' ग्रन्थ का उत्तरार्ध है। इसके ऊपर स्वयं उन्हीं के द्वारा रची गई एक भव्य-कुमुदचन्द्रिका नाम की उपयोगी टीका भी है, जो मा. ग्रन्थमाला द्वारा मूलग्रन्थ के साथ प्रकाशित हो चुकी है। इसके अतिरिक्त ज्ञानदीपिका नामकी एक पत्रिका भी उनके द्वारा रची गई है।

प्रस्तुत ग्रन्थ ८ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय भूमिका स्वरूप है। उसमें प्रथमतः गृहस्थों की अवस्था का चित्रण करके सम्यक्त्व व मिथ्यात्व के प्रभाव को प्रगट करते हुए सम्यग्दृष्टियों के विरल होने से भद्र—मिथ्या धर्म में स्थित होकर भी समीचीन धर्म से द्वेष न करने वाले—पुरुषों को भी उपदेश के योग्य बतलाया है। निर्मल सम्यक्त्व; निरतिचार अणुव्रत, गुणव्रत व शिक्षा-

१. यथा—आ. कुन्दकुन्द का चारित्रप्राभूत, उमास्वामी का तत्त्वार्थसूत्र (अ० ७), स्वामी समन्तभद्र का रत्नकरण्डक, आ. जिनसेन का महापुराण (पर्व ४०), हरिभद्र सूरि की श्रावकप्रज्ञप्ति, हेमचन्द्र सूरि का योगशास्त्र, सोमदेव सूरि का उपासकाध्ययन, आ. अमितगति का अमितगति-श्रावकाचार, अमृतचन्द्र सूरि का पुरुषार्थसिद्ध्युपाय और वसुनन्दी का वसुनन्दि-श्रावकाचार आदि।

२. इसका उल्लेख उन्होंने भव्य-कुमुदचन्द्रिका टीका को प्रारम्भ करते हुए निम्न श्लोक में किया है—
समर्थनादि यन्नात्र ब्रूवे व्यासभयात् कथञ्चित् ।
तज्ज्ञानदीपिकाख्यैतत्पञ्जिकायां विलोक्यताम् ॥

वन तथा मरण समय में सत्लेखना; इसे पं० आशाधर ने परिपूर्ण सागारधर्म बतलाया है (१-१२)। उन्होंने श्रावक के पाक्षिक, नैष्ठिक और माधक ये तीन भेद निर्दिष्ट किये हैं और तदनुसार ही उन्होंने यहाँ आगे श्रावकाचार का वर्णन भी किया है।

द्वितीय अध्याय में पाक्षिक श्रावक के आचार की प्ररूपणा करते हुए सर्वप्रथम श्रावकधर्म के आधारभूत ८ मूलगुणों का निर्देश किया है। तत्पश्चात् वर्णभेद को लक्ष्य में रखकर यथायोग्य पूजाविधान, दानविधिव उसका फल, यतिपरम्परा के स्थिर रखने की प्रेरणा, विशेष व्रतविधि और कीर्ति-अर्जन; इत्यादि विषयों का विवेचन किया गया है। पाक्षिक श्रावक देशचारित्र को पक्ष—प्रतिज्ञा का विषय—बना कर यथासम्भव उसके परिपालन का प्रयत्न करता है।

तृतीय अध्याय में नैष्ठिक—उक्त देशव्रत का निष्ठा पूर्वक परिपालन करने वाले—श्रावक के भेदभूत दार्शनिक आदि व्याहृत श्रावकों में से प्रथम दार्शनिक की वृत्तव्य-विधिका विचार किया गया है। उसमें व्याधोचित आजीविका, अभक्ष्य भक्षण का त्याग, सात व्यसनों की विरति और पत्नी को धर्माधिष्ठित करना; इत्यादि की चर्चा की गई है। उक्त दार्शनिक श्रावक के लक्षण में

३. इन मूलगुणों का निर्देश करते हुए पं० आशाधर ने सोमदेव सूरि का अनुसरण कर स्वमत से मद्य, मांस, मधु और पाच उदुम्बर फलों के त्यागरूप आठ मूलगुणों को अपनाया है। साथ ही स्वामी समन्त-भद्र सम्मत पाच अणुव्रतों के साथ मद्य-मांस-मधु के त्याग को और जिनसेन स्वामी के मतानुसार उक्त पाच उदुम्बर फलों के परित्याग के साथ मद्य, मांस और छूतक्रीडा के परित्याग को आठ मूलगुण कहा गया है। (देखिये श्लोक, २, २-३ व १८)

उपयुक्त 'परमेष्ठिपदैकधी' विशेषण का स्पष्टीकरण करते हुए स्वोपज्ञ टीका में कहा गया है कि दर्शनिक श्रावक आपत्ति में घिर कर भी उससे छुटकारा पाने के विचार से शामनदेवतादि की कभी भी आराधना नहीं करता है १।

चतुर्थ अध्याय में व्रतिक (द्वितीय) श्रावक की प्ररूपणा को प्रारम्भ करते हुए उसके लक्षण-में कहा गया है कि जो मन्वण्ड सम्यग्दर्शन के साथ निर्मल आठ मूलगुणों और बारह उत्तरगुणों का परिपालन करता है उसे व्रतिक श्रावक कहा जाता है। यहा अहिंसाणुव्रत के वर्णन में उसके अतिचारों का निर्देश करते हुए हिंसा-अहिंसा का विस्तार-पूर्वक विचार किया गया है (४, १५-३८)। तत्पश्चात् सत्याणुव्रत, अर्थाणुव्रत, स्वदारसन्तोष और परिग्रह-परिमाणुव्रत की प्ररूपणा की गई है।

पाचवें अध्याय में ७ शीलों—३ गुणव्रत और ४ जिलाव्रतो—का वर्णन किया गया है। यहा भोगोपभोगपरिमाणुव्रत के प्रसंग में मद्य, मांस व मधु तथा त्रसघात, बहुघात एवं प्रमाद के विषयभूत पदार्थों के परित्याग के साथ ही अति जड़बुद्धि जनों के आश्रय से १५ खरकर्मों के भी परित्याग का उपदेश दिया गया है।

छठे अध्याय में उपर्युक्त व्रतिक श्रावक की दिनचर्या के वर्णन में प्रथमतः प्रातः कालीन अनुष्ठेय विधि का विवेचन करते हुए शय्या को त्याग कर श्रावक को क्या करना चाहिये, जिनमन्दिर में किस प्रकार जाना चाहिये तथा वहा क्या करना चाहिये और क्या न करना चाहिये, इत्यादि की चर्चा की गई है। तत्पश्चात् अर्धाजिन की विधि, हानि-लाभ में समभाव का विधान, भोजनविधि और आगमरहस्य की जानकारी आदि का कथन करते हुए सान्ध्य कृत्य का वर्णन किया गया है। अन्त में निद्रा के नष्ट होने पर क्या विचार करना चाहिये, इसका निरूपण करते हुए अध्याय को समाप्त किया गया है।

इस प्रकार तीसरे अध्याय में दर्शन प्रतिमा तथा चौथे पाचवें और छठे इन तीन अध्यायों में व्रतप्रतिमा का वर्णन

१. आपदाकुलितोऽपि दर्शनिकस्तन्निवृत्त्यर्थं शासनदेवतादीन् कदाचिदपि न भजते। पाक्षिकस्तु भजत्यपीत्येवमर्थमेकग्रहणम्। (सा. घ. स्वो. टीका ३-७)

करके आगे के सातवें अध्याय में सामायिक आदि शेष नौ प्रतिमाओं की प्ररूपणा की गई है।

अन्तिम आठवें अध्याय में श्रावक के तीसरे भेद रूप साधक का वर्णन करते हुए अन्त में अनुष्ठेय सत्त्वैश्वर्या का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। यह प्रस्तुत ग्रन्थ का मक्षिप्त विषयपरिचय है।

१ तत्त्वार्थसूत्र व उसकी टीकायें

तत्त्वार्थसूत्र के सातवें अध्याय में शुभाश्व की प्ररूपणा करते हुए संक्षेप में श्रावकाचार की प्ररूपणा की गई है। उसके और उस पर रची गई सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवातिक एवं श्लोकवातिक आदि टीकाओं के भी रहते हुए उक्त सागारधर्मासूत की रचना में उनका विशेषर आश्रय नहीं लिया गया है। उसकी रचना रत्नकरण्डक, उपासकाध्ययन, योगशास्त्र और वसुनन्दि-श्रावकाचार से अधिक प्रभावित दिखती है। यथा—

२. रत्नकरण्डक और सागारधर्मासूत

आचार्य समन्तभद्रविरचित रत्नकरण्डक में मक्षिप्त होने पर भी श्रावकाचार की सर्वाङ्गपूर्ण प्ररूपणा की गई है। यद्यपि इसमें प्रमुखता से श्रावकाचार का वर्णन देखा जाना है, पर ग्रन्थरचना का उद्देश धर्म की देगना रही है ३। धर्म में अभिप्राय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और

२. यत्र क्वचित् तत्त्वार्थसूत्र का भी उपयोग किया गया है। यथा—तत्त्वार्थसूत्रके ७वें अध्याय में 'विधि-द्रव्य-दान-पात्रविशेषान् तद्विशेषः' यह सूत्र (३६) उपलब्ध होता है। इसका प्रभाव सा. घ. के निम्न श्लोक पर पूर्णतया देखा जाता है—

धर्ममतिथिमविभाग. पात्रविशेषाय विधिविशेषेण।

द्रव्यविशेषवितरण दानविशेषस्य फलविशेषाय ॥५-४१

इसके अतिरिक्त सा. घ. में उसके नाम का उल्लेख भी स्वयं पं० आशाधर ने किया है। यथा—
गतेनेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतामनलक्षणमतिचार-
द्वय तत्त्वार्थशास्त्रोपदिष्टमपि सगृहीत भवति।

सा० घ० स्वो० टीका ४-५८

३. ग्रन्थ के प्रारम्भ में सूचना भी वैसी की गई है—
देशायामि समीचीनं धर्मं कर्मनिबहणम्।

ससारदुःखत. सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥ २. क. २

सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय का रहा है १। इसीलिए इसका रत्नकरण्डक—रत्नो की पेटी—यह सार्थक नाम भी प्रसिद्ध हुआ है २। उक्त धर्म की प्ररूपणा करते हुए वहा यथाक्रम ने प्रथमतः ४१ श्लोकों में सम्यग्दर्शन का वर्णन किया गया है। पश्चात् ४२-४६ श्लोकों में सम्यग्ज्ञान के स्वरूप का दिग्दर्शन कराते हुए उसके विषयभूत प्रथमानु-योग आदि चार अनुयोगों का कथन किया गया है। तदनन्तर ४७-१२१ श्लोकों में सम्यक्चारित्र का विवेचन करते हुए उसके सकल और विकल इन दो भेदों का निर्देश करके उनमें सकलचारित्र के निर्देशपूर्वक विकलचारित्रभूत श्राव-काचार का कुछ विस्तार से निरूपण किया गया है। तत्पश्चात् १२२-३५ श्लोकों में सल्लेखना का विचार करके आगे १३६-४७ श्लोकों में श्रावकपदों के— ११ प्रतिमात्रों के—स्वरूप मात्र का निर्देश किया गया है। अन्त में (१४६) उपसंहार करते हुए उद्देश के अनुसार यह कहा गया है कि पाप—रत्नत्रय स्वरूप धर्म के प्रति-पक्षभूत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये—जीव के शत्रु है ३, क्योंकि वे भवपद्धति स्वरूप है—ससार परिभ्रमण के कारण है ४, और रत्नत्रयस्वरूप धर्म उस जीव का बन्धु—हितैषी मित्र है; ऐसा निश्चय करके यदि मुमुक्षु भव्य जीव समय को—परमागम अथवा आत्मा को—जान लेता है तो वह निश्चित ही श्रेष्ठ ज्ञाता हो जाता है।

पण्डितप्रवर आशाधर ने अपने सागारधर्मागत की रचना में इस रत्नकरण्डक का पर्याप्त उपयोग किया है। उन्होंने अपनी भव्य-कुमुदचन्द्रिका नामकी स्वोपज्ञ टीका

- १ सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि धर्म धर्मेश्वरा विदुः ।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धति ॥ र. क. ३
२. येन स्वयं बीतकलङ्कविद्या-दृष्टि-क्रियारत्नकरण्डभावम् ।
नीतस्तमायाति पतीच्छयेव सर्वार्थसिद्धिस्त्रिपु विष्टपेपु ॥
र. क. १४६
- ३ पापमरातिर्धर्मो बन्धुर्जीवस्य चेति निश्चिन्वन् ।
समर्थं यदि जानीते श्रेयोज्ञाता ध्रुव भवति ॥
र. क. १४८ ।
४. देखिये टिप्पण नं १ ।

में जहा तहा कहीं स्वामी समन्तभद्र ५, कही केवल स्वामी ६, और कही रत्नकरण्डक ७ नाम का भी निर्देश स्वयं किया है। इसके अतिरिक्त यत्र क्वचित् बिना किसी प्रकार के नामोल्लेख के भी रत्नकरण्डक के मत का निर्देश किया गया है ८। आ० समन्तभद्र की विषयवर्णनपद्धति को उन्होंने कही तो अपना लिया है और कही मतान्तर के रूप में उसका उल्लेख कर दिया है। यथा—

१. आ. समन्तभद्र ने विकलचारित्र की प्ररूपणा करते हुए प्रथमतः पांच अणुव्रतों के स्वरूप का निर्देश किया है। तत्पश्चात् आठ मूलगुणों का उल्लेख उन्होंने इस प्रकार किया है—

मद्य-मांस-मधुत्यागं सहाणुव्रतपञ्चकम् ।

अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥६६॥

अर्थात् मद्य, मांस और मधु के परित्यागपूर्वक पांच अणुव्रतों का पालन करना; ये आठ मूलगुण हैं जो श्रम-णोत्तम—गणधरादि—के द्वारा निर्दिष्ट हैं।

समन्तभद्र को अभीष्ट इन आठ मूलगुणों का निर्देश

५. [क] स्वामिसमन्तभद्रमते पुन सूतिः स्मरेत् (२-३) ।
[ख] एतेन यदुक्तं स्वामिसमन्तभद्रदेवैः 'दर्शनिकस्व-त्त्वपथगृह्य' इति दर्शनप्रतिमालक्षणं तदपि सगृहीतम् ।
(३-२५)

६. [क] स्वाम्युक्ताष्टमूलगुणपक्षे... (२-३) ।
[ख] यत्तु "सम्यग्दर्शनशुद्ध..." इति स्वामिमतेन दर्शनिको भवेत्... (४-५२) ।

[ग] स्वामिमतेन त्वमे—अनिवाहनातिसग्रह... ॥
(४-६४)

[घ] अत्राह स्वामी यथा—विषय-विषयोऽनुपेक्षा... ।
(५-२०)

[ङ] स्वामी पुनर्भोगोपभोगपरिमाणशीलातिचारान-न्यथा पठित्वा... (७-११) ।

[च] यदाह स्वामी "अन्नं पानं खाद्यं..." (७-१५)

७. अन्यत्र पुना रत्नकरण्डकादिशास्त्रे रात्रिभक्तशब्दो निरुच्यते... (७-१५) ।

८. ततो न 'श्रावकपदानि देवैरेकादश देशितानि (र. क. १३६)' इत्यनेन विरोधः (३-८) ।

सा. घ. में किया गया है १ ।

२. रत्नकरण्डक में मत्याणुव्रत के स्वरूप को दिखलाने हुए यह कहा गया है कि स्थूल भूठ का त्यागी—मत्याणुव्रती—ऐसे सत्य वचन को भी न स्वयं बोलना है और न दूसरे को बुलवाता है जो विपत्ति का कारण हो २ । इसको स्पष्ट करते हुए उसकी टीका में प्रभाचन्द्राचार्य ने कहा है कि जो सत्य भी वचन हमारे को आपत्तिजनक हो उसे भी मत्याणुव्रती नहीं बोलता है ३ ।

इस कथन को प० आशाधर ने सोमदेव मूरि के अनुसार कुछ और विकसित करते हुए 'सत्यमपि स्वान्यापदे त्यजन्' कहकर यह सूचना की है कि जो सत्य भी वचन स्व व परको विपत्तिकर हो उसका भी परित्याग उसे करना चाहिए ५ । विशेषता यह रही है कि रत्नकरण्डक में जहाँ 'विपदे' इनका मात्र सामान्य से कहा गया है और जिसे उस पर टीका करते हुए प्रभाचन्द्राचार्य ने मात्र परको विपत्तिकर माना है, वहाँ प० आशाधर ने उसे पर के साथ स्व (निज) को भी विपत्तिजनक स्वीकार किया है ।

३. रत्नकरण्डक में ब्रह्मचर्याणुव्रत के स्वरूप को

१. स्वामिममन्तभद्रमते पुनः सूरिः स्मरेत् । किं तत् ? स्थूलवधादि स्थूलहिंसानुतस्तेय-मैथुन-ग्रन्थपञ्चकम् । नव ? फलस्थाने पञ्चोदुम्बरफलप्रसंगे तन्निवृत्ती वा । मद्य-मांस-मधुविरतित्रय पञ्चाणुव्रतानि चाष्टी मूलगुणान् स्मरेदित्यर्थः । (सा. घ. स्वी. टीका २-३)
२. स्थूलमलीक न वदति न परान् वादयति सत्यमपि विपदे । यत्तद् वदन्ति मन्तः स्थूलमृषावादवैरमणम् ॥५५॥
३. न केवलमलीकम्, किन्तु सत्यमपि चोरोऽयमित्यादिरूप न स्वयं वदति न परान् वादयति । किंविशिष्टम् ? यदुक्तं मत्स्यं परस्य विपदेऽपकाराय भवति ।

प्रभा० टीका ३-६

४. तत् सत्यमपि नो वाच्यं यत् स्यात् परविपत्तये । जायन्ते येन वा स्वस्य व्यापदश्च दुरास्पदाः ॥
उपासका० ३७७
५. कन्या-गो-क्ष्मालीक-कूटसाक्ष्य-न्यामापलापवत् । स्यात् सत्याणुव्रती सत्यमपि स्वान्यापदे न्यजन् ॥

सा० घ० ४-३६

दिखलाने हुए जो अभिप्राय व्यक्त किया गया है लगभग वही अभिप्राय प० आशाधर ने भी अपने सा. घ. में वैसे ही कुछ शब्दों द्वारा व्यक्त किया है ६ । रत्नकरण्डक में जैसे परस्त्री का परित्याग 'पापभीतेः' अर्थात् केवल पाप के भय से ही कराया गया है, न कि राजदण्डादि के भय से, वैसे ही सा. घ. में भी उगका परित्याग 'अहं सो भीत्या' अर्थात् पाप के ही भय से कराया गया है, राजदण्डादि के भय नहीं कराया गया । विशेषता यह रही है कि 'परदारान्' पद के द्वारा जहाँ आ. समन्तभद्र की स्वस्त्री में भिन्न अन्य सभी स्त्रियाँ अभिप्रेत हैं वहाँ सा. घ. में 'अन्यस्त्री' में अन्य में सम्बद्ध पत्नी व पुत्री आदि मात्र विवक्षित दिखती है, अन्यथा वहाँ उसके साथ 'प्रकट-स्त्री' के ग्रहण की कुछ आवश्यकता नहीं रहती ८ । दूसरी विशेषता यह है कि रत्नकरण्डक में उक्त व्रत का उल्लेख परदारनिवृत्ति और स्वदारसन्तोष इन दो नामों से किया गया है, परन्तु सा. घ. में मात्र स्वदारसन्तोषी के नाम से ही उसका उल्लेख किया गया है ।

४. रत्नकरण्डक (६३) में निर्गतचार पाच अणुव्रतों के पालन का फल स्वर्गलोक की प्राप्ति बतलाया गया है । इसी प्रकार उनके परिपालन का फल सा. घ. (४-६६) में भी स्वर्गीय श्री का उपभोग ही निदिष्ट किया गया है ।

६. न तु परदारान् गच्छति न परान् गमयति चे पाप-भीतेयन् । सा परदारानिवृत्तिः स्वदारसन्तोषनामापि ॥

२० क० ५६

गोऽस्ति स्वदारसन्तोषी योज्यस्त्री-प्रकटस्त्रियो ।

न गच्छन्त्यहं सो भीत्या नान्यैर्गमयति त्रिधा ॥

सा० घ० ४-५२

७. यत् परदारान् परिगृहीतान् अपरिगृहीताश्च ।

प्रभा० टीका ३-१३

८. अन्यस्त्री परदारः परिगृहीता अपरिगृहीताश्च । तत्र परिगृहीताः सस्वामिकाः अपरिगृहीता स्वर्गिणी प्रोपितभर्तृका कुलाङ्गना वा अनाथाः । कन्या तु भाविभर्तृकत्वात् पित्रादिपरतन्त्रत्वाद्वा सनाथेभ्यः स्त्रीतो न विशिष्यते । प्रकटस्त्री वेद्या ।

सा० घ० स्वी० टीका ४-५२

५. रत्नकरण्डक में कहा गया है कि दिग्ब्रत धारक श्रावक के अणुव्रत महाव्रत रूपता को प्राप्त हो जाते हैं। कारण यह कि दिग्ब्रत में स्वीकृत मर्यादा के बाहिर गमनागमन का अभाव हो जाने से उसके स्थूल पापों के समान सूक्ष्म पापों की भी निवृत्ति हो जाती है। इसके अतिरिक्त उसके द्रव्य प्रत्याख्यानावरण—संयमघातक—कषायों का मन्दोदय हो जाने से भावरूप चारित्र्यमोह के परिणाम भी अतिशय मन्दता को प्राप्त हो जाते हैं, अतः उनका रहना न रहने के बराबर है।

यही बात सा. ध. में भी लगभग वैसे ही शब्दों में कही गई है। उभय ग्रन्थगत वे श्लोक निम्न प्रकार हैं—
 अवधेर्बहिरणुपापप्रतिविरतेर्दिग्ब्रतानि धारयताम् ।
 पञ्चमहाव्रतपरिणतिमणुव्रतानि प्रपद्यन्ते ॥
 प्रत्याख्याततनुत्वाः सन्वतराश्चरणमोहपरिणामा ।
 सत्त्वेन दुरवधारा महाव्रताय प्रकल्प्यन्ते ॥

—र. क. ७०-७१।

दिग्विरत्या बहिः सीम्नः सर्वपापनिवर्तनात् ।
 तप्तायोगोलकत्पोऽपि जायते यतिवद् गृही ॥
 दिग्ब्रतोद्विक्तवृत्तान्कषायोदयमात्यतः ।
 महाव्रतायतेऽध्यमोहे गेहिन्यणुव्रतम् ॥

—सा. ध. ५, ३-४।

६. रत्नकरण्डक में भोगोपभोगपरिमाणव्रत के प्रणय में भोगोपभोग वस्तुओं का प्रमाण कर लेने के अनिवार्य मधु, माम, मद्य, अल्पफल व बहुविधान रूप आद्रक (अदरक) आदि तथा अनिष्ट और अनुपमेव्य पदार्थों के परित्याग की प्रेरणा की गई है। (८२, ८४-८६)

ठीक उसी प्रकार से सागारधर्मावृत में भी उक्त भोगोपभोग वस्तुओं का प्रमाण कर लेने (५-१३) के साथ माम के समान त्रसघातजनक, मधु के समान बहुविघातजनक, मद्य के समान प्रमादोत्पादक, अनिष्ट और अनुपमेव्य पदार्थों के भी परित्याग की प्रेरणा की गई है (५-१५)।

इसके अतिरिक्त उक्त भोगोपभोग वस्तुओं के परिमाण का विधान जिस प्रकार रत्नकरण्डक (८७) में

१ उभय ग्रन्थगत इन श्लोकों का टीका भाग भी दृष्टव्य है।

नियम—परिमित काल—और यम—यावज्जीवन—के रूप में किया गया है उसी प्रकार सा. ध. (५-१४) में भी उनके प्रमाण का विधान किया गया है।

७. सामायिक के प्रकरण में उसके काल को लक्ष्य में रखकर रत्नकरण्डक में कहा गया है (९८) कि जब तक केशों का बन्धन, मुट्ठी का बन्धन, वस्त्र का बन्धन (गांठ) और पर्यंक आसन का बन्धन शिथिलता को प्राप्त नहीं होता है तब तक सामायिक बैठकर या खड़े रहकर करना चाहिये।

रत्नकरण्डक के उक्त कथन का अनुसरण कर सा. ध. में भी कहा गया है कि आत्मध्यानी केशबन्धन आदि के छूटने तक २ साधु के समान जो समस्त हिंसादि पापों का परित्याग करता है, इसका नाम सामायिक है (५-२८)।

८. इसी प्रकरण में सामायिक के समय श्रावक को क्या विचार करना चाहिए, इसकी सूचना रत्नकरण्डक में इस प्रकार की गई है—

अशरणमशुभमनित्यं दुःख मनात्मानमावसामि भवम् ।

मोक्षस्तद्विपरीतात्मेति ध्यायन्तु सामयिके ॥१०४॥

इसका मिलान सा. ध. के निम्न श्लोक (५-३०) के साथ कीजिये—

२. कियत्कालम् ? केशबन्धादिमोक्षं यावत्—केशबन्ध आदियेँपा मुष्टिवन्ध-वस्त्रग्रन्थ्यादीना गृहीतनियमकालावच्छेदहेतुना ते केशबन्धादयः, तेषां मोक्षो मोचन तमवधीकृत्य स्थितम्येत्यर्थः। सामायिकं हि चिकीर्षुर्यावदयः केशबन्धो वस्त्रग्रन्थ्यादिव्या मया न मोच्यते तावत् साम्यान् प्रचक्षिष्यामीति प्रतिज्ञा करोति। (सा. ध. स्को टीका ५-२८)

यद्यपि इस टीका में 'मया न मोच्यते' कहकर यह अभिप्राय प्रगट किया गया है कि जब तक मैं उपर्युक्त केशबन्धन आदि को नहीं छोड़ देता हूँ तब तक मैं सामायिक से विचलित नहीं होऊँगा, ऐसी प्रतिज्ञा सामायिकव्रती करता है, पर आ. समन्तभद्र का अभिप्राय भी ऐसा ही रहा हो, यह सम्भावना बहुत कम की जा सकती है। उक्त कथन से तो यही अभिप्रेत दिखता है कि बालों आदि में लगाई गई शिथिलतापूर्ण गांठ आदि जब तक नहीं छूट जाती है तब तक सामायिक में स्थित रहूँगा।

मोक्ष आत्मा सुख नित्यः शुभः शरणमन्यथा ।

भवोऽस्मिन् वसतो मेऽन्यत् किं स्यादित्यापि स्मरेत् ॥

६. अष्टमी और चतुर्दशी को—चागे पर्वदिनों में—चारों प्रकार के आहार का परित्याग करना, इसका नाम प्रोषधोपवास है। प्रोषधोपवास का यह लक्षण रत्नकरण्डक (१०६) और सागारधर्मित (५-३४) दोनों ग्रन्थों में प्रायः समान ही देखा जाता है। पर सा. ध. में उसके उत्तम—चार भुक्तिक्रियाओं का परित्याग, मध्यम—जल को न छोड़कर शेष चार प्रकारके आहार का परित्याग—और जघन्य—आचाम्ल व निर्विकृति आदि को रखकर शेष आहार का त्याग, इस प्रकार प्रोषधोपवासव्रती की शक्ति के अनुसार तीन भेद कर दिये गये हैं। इस प्रकार की विशेषता समन्तभद्र को अभोष्ट नहीं रही दिखती।

इसके अतिरिक्त समन्तभद्र ने उपवास के दिन विशेष रूप से जो पांच पापों व अलंकरण (भृंगार) आदि का परित्याग कराया है उसके ऊपर ग्रन्थ के विस्तृत होने पर भी पं० आशाधर ने बल नहीं दिया।

१०. रत्नकरण्डक में सल्लेखना का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है—

उपसर्गं दुग्धैर्जरसि हजयां च निःप्रतीकारे ।

धर्मयि तनुविमोचनमाहु सल्लेखनामार्थाः ॥१२२॥

इसी को लक्ष्य में रखकर सा. ध. में भी लगभग इसी प्रकार से उसका स्वरूप कहा गया है—

१. चतुर्भुक्त्युज्ज्वलं चतुर्गुण भुक्तीना भोज्यानामशन-स्वाद्य-खाद्य-नेयद्रव्याणां भुक्तिक्रियाणां च त्यागः । एका हि भुक्तिक्रिया धारणकदिने, द्वे उपवामदिने, चतुर्थी च पारणकदिने प्रत्याख्यायते । (सा. ध. स्वी. टीका ५-३४)

२. तत्राचाम्लम् अमंसकृतसौवीरमिधौदनभोजनम् । निर्विकृतिः—विक्रियेने जिह्वा-मनसो येनेति विकृतिगौरसेधुरस-फलरस-धान्यरसभेदाच्चतुर्धा । तत्र गौरसः क्षीर-घृतादि, इक्षुरसः खण्ड-गुडादि, फलरसो द्राक्षादिनिष्यन्दः, धान्य-रसस्तैल-मण्डादि । अथवा यद्येन सह भुज्यमानं स्वदते तत्तत्र विकृतिरित्युच्यते । विकृतेतिहान्तं भोजनं निर्विकृतिः । (सा. ध. स्वी. टीका ५-३५)

३. र. क. १०७ .

धर्मयि व्याधि-दुग्धैर्जरसो निष्प्रतिक्रिये ।

त्यक्तुं वपुः स्वपाकेन तत्कृत्यतो वाशनं त्यजेत् ॥८-२०

११. आगे इसी प्रकरण में सल्लेखनाविधि का वर्णन करने हुए रत्नकरण्डक में कहा गया है कि सल्लेखना के समय शोक व भय आदि को छोड़कर आत्मबल के साथ उन्साह को प्राप्त होता हुआ आगमवाक्यों के आश्रय से मन को प्रसन्न करे और तब आहार—कवलाहार—का परित्याग करके स्निग्ध पान—पीने योग्य दूध आदि—को वृद्धिगत करे। फिर क्रम से उस दूध आदि को भी छोड़कर खरपान—शुद्ध गरम जल—को रखे और अन्त में उसे भी छोड़कर उपवास को स्वीकार करता हुआ पंच-नमस्कार मंत्र में दत्तचित्त होकर शरीर को छोड़ दे।

रत्नकरण्डकोक्त इसी त्यागक्रम को प्रायः सा. ध. में भी अपनाया गया है। विशेष इतना है कि रत्नकरण्डक में जहाँ केवल सात श्लोकों में (१२२-२८) ही उक्त सल्लेखना का वर्णन किया गया है वहाँ सा. ध. में ४. र. क. १२६-२८

५. सा. ध.—आहारादि का त्यागक्रम ८, ५५-५६ व ६३-६४; पंचनमस्कार मंत्र के स्मरण के साथ शरीरत्याग ८-११० .

उक्त दोनों ग्रन्थों की टीकाओं में जो मूल ग्रन्थगत कुछ पदों का स्पष्टीकरण किया गया है उसमें भी समानता देखी जाती है। यथा—

र. क. टीका—आहारं कवलाहाररूपम् । स्निग्ध दुग्धादिरूपं पानं विबन्धयेन् परिपूर्णं दापयेत् । खरपानं कजिकादि शुद्धपानीयरूपं वा । (परि. ५, श्लोक ६)

सा. ध. स्वी. टीका—किं तत् ? अशनं कवलाहारम् । स्निग्धपानं दुग्धादि (८-५५) । किं तत् ? खरपानं प्रथमं शुद्धकाजिकादिरूपं पश्चाच्च शुद्धपानीयरूपम् (८-५६) । यह विशेष स्मरणीय है कि पं० आशाधर ने रत्नकरण्डक के टीकाकार प्रभावन्द का बड़े आदर के साथ स्मरण किया है। यथा—यथाहस्तत्रभगवन्त श्रीमत्प्रभेन्दुदेवपादा रत्नकरण्डकटीकाया चतुरावर्तत्रितय इत्यादिसूत्रे (अन. ध. ८-६३) । 'सूत्रे' कहने से यह भी ज्ञात हो जाना है कि पं० आशाधर प्रस्तुत रत्नकरण्डक को मूलग्रन्थ जैसा ही समझते थे।

पूरे एक अध्याय (८वें) के द्वारा उसका विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। यहां सल्लेखना में अधिष्ठित श्रावक को उसमें दृढ़ करने के लिए विविध प्रकार से उपदेश द्वारा उत्साहित किया गया है।

१२. रत्नकरण्डक में दर्शनिक श्रावक का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है—

सम्यग्दर्शनशुद्धः ससार-शरीर-भोगनिर्विण्णः ।

पञ्चगुरुरचरणशरणो दर्शनिकरतत्त्वपथगृह्यः १ ॥१३७॥

इसमें उपयुक्त सभी विशेषण प्रायः सा. घ. में निदिष्ट दर्शनिक श्रावक के लक्षण में (३, ७-८) उपलब्ध होते हैं। यथा—पाक्षिकाचारसंस्कारदृढीकृतविशुद्धदृक्, भवाङ्ग-भोग-निर्विण्ण., परमेष्ठिपदैकधीः ।

१३. आचार्य समन्तभद्र ने 'स्वगुणः पूर्वगुणः सह सतिष्ठन्ते क्रमविवृद्धाः' २ कहकर यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि आगे की प्रतिमामें का परिपालन यदि पूर्व प्रतिमामें की पूर्णता के साथ होता है तो उनकी प्रतिष्ठा समझना चाहिए—अन्यथा उनकी स्थिति सम्भव नहीं है।

इस आशय को पं० आशाधर ने सा. घ. में भी श्लोक ३-५ के द्वारा व्यक्त कर दिया है।

रत्नकरण्डक से विशेषता

उपर्युक्त जो थोड़े-से उदाहरण दिये गये हैं उनसे निश्चित है कि पं० आशाधर ने आ. समन्तभद्र विरचित प्रस्तुत रत्नकरण्डक को एक महत्वपूर्ण श्रावकाचार ग्रन्थ माना है और तद्गत बहुत-से विधि-विधानों को अपने सागारधर्माभूत में यथोचित स्थान दिया है। पर वे तद्गत सब विधानों से सहमत नहीं हो सके। इसका कारण देश-काल की परिस्थिति ही समझना चाहिये। इसीसे उन्होंने कहीं तो रत्नकरण्डक से कुछ भिन्न मत प्रगट किया है और कहीं तद्गत विधान को कुछ विकसित किया है। जैसे—

१. रत्नकरण्डकोक्त सम्यग्दर्शन के लक्षण में 'त्रिमूढा-पोढ' एक विशेषण दिया गया है (श्लोक ४)। तदनुसार सम्यग्दर्शन में आप्त, आगम और पदार्थों का श्रद्धान तीन

१. तत्त्वपथगृह्यः—तत्त्वानां अतानां पंथा मार्गा. मद्यादि-निवृत्तिलक्षणा अष्टमूलगुणाः ते गृह्याः पक्षा यस्य ।

(प्रभा. टीका ५-१६)

२. र. क. १३६

मूढताओं से रहित होना चाहिए। इन मूढताओं में एक देवमूढता भी है। उसका स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि राग-द्वेष से मलिनता को प्राप्त हुए देवों की अभीष्ट फल की प्राप्ति की अभिलाषा से जो आराधना की जाती है, यह देवमूढता है ३। तात्पर्य यह कि सम्यग्दृष्टि प्राणी ऐसे देवों की उपासना—पूजा-भक्ति आदि—किसी भी अवस्था में नहीं करता।

इस बात को पं० आशाधर भी स्वीकार करते हैं। उन्होंने अपने अनगारधर्माभूत में कहा भी है कि मुनि की तो बात ही क्या है, किन्तु श्रावक को भी समय से हीन माता-पिता, गुरु, राजा व मंत्री आदि, वेपथारी साधु, कुदेव—रुद्र आदि तथा शासनदेवता आदि—और वैंसा श्रावक भी; इनमें से किसी की भी वन्दना नहीं करना चाहिये ४।

पर इस कथन में श्रावक से अभिप्राय उनका नैष्ठिक-प्रतिमाधारी—श्रावक का रहा है, पाक्षिक श्रावक का नहीं—पाक्षिक श्रावक वैंसा कर सकता है ५। किन्तु आ. समन्तभद्र तो असप्तसम्यग्दृष्टि के लिए भी उसका सर्वथा निषेध करते हैं ६।

३. वरोपलिप्सयाशावान् राग-द्वेषमलीमसा ।

देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते ॥र. क. २३ ।

यद्यपि इसकी टीका में आ. प्रभावचन्द्र ने यह स्पष्टीकरण किया है कि यदि सम्यग्दृष्टि शासनदेवता के नाते उनकी पूजा-भक्ति आदि करता है तो इससे उसके सम्यग्दर्शन की विराधना नहीं होती—उसकी विराधना तो स्वार्थवश वैंसा करने पर ही होती है; पर आ. समन्तभद्र का भी वैंसा अभिप्राय रहा है, कहा नहीं जा सकता; क्योंकि, उन्होंने सर्वथा ही उसका निषेध किया है।

४. श्रावकेणापि पितरौ गुरु राजाप्यसंयता ।

कुलिङ्गिनः कुदेवाश्च न वन्द्याः सोऽपि सयतैः ।

(अन. घ. ८-५२)

५. आपदाकुलितोऽपि दर्शनिकस्तन्निवृत्त्यर्थं शासनदेवता-दीन् कदाचिदपि न भजते, पाक्षिकस्तु भजत्यपीत्येव-मर्थमेकग्रहणम् । (सा. घ. स्वो. टीका ३-७)

६. भयाशा-स्नेह-लोभाच्च कुदेवागम-लिङ्गिनाम् ।

प्रणाम विनय चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः ॥र. क. ३०.

२. आ. समन्तभद्र को जहाँ मद्य, मांस और मधु के परित्याग के साथ पांच अणुव्रत; ये आशक के आठ मूल-गुण अभिप्रेत है वहाँ पं० आशाधर मद्य, मांस व मधु के त्याग के साथ पांच उदुम्बर फलों के परित्याग रूप आठ मूलगुणों को स्वीकार करते हैं।

३. आ. समन्तभद्र सत्याणुव्रत में ऐसे सत्य वचन को भी हेय ही मानते हैं जो विपत्तिजनक—पर के लिये पीडाप्रद—हो। परन्तु पं० आशाधर ऐसे सत्य वचन को हेय मानते हैं जो स्व-पर के लिये कष्टप्रद हो२।

४. आ. समन्तभद्र को ब्रह्मचर्याणुव्रत के परदारनिवृत्ति और स्वदारसन्तोष ये दोनों ही नाम अभीष्ट है। उनका अभिप्राय है कि ब्रह्मचर्याणुव्रती अपनी पत्नी को छोड़ शेष सभी स्त्रियों का परित्यागी होना चाहिए। परन्तु पं० आशाधर उक्त ब्रह्मचर्याणुव्रत को दो भेदों में विभक्त करते हैं—स्वदारसन्तोष और परदारवर्जन। इनमें प्रथम का परिपालक देशसंयम में अभ्यस्त नैष्ठिक आशक और द्वितीय का परिपालक उस देशसंयम के अभ्यास में संलग्न व्यक्ति होता है३।

५. भोगोपभोगपरिमाणव्रत के जो पांच अतिचार आ. समन्तभद्र को अभीष्ट है, पं० आशाधर तत्त्वार्थसूत्र का अनुसरण कर उनसे भिन्न ही उन अतिचारों का उल्लेख करते हैं४।

६. आ. समन्तभद्र नियत समय तक पाचो पापो के पूर्णतया त्याग को सामायिक बतलाते हैं। पर पं० आशाधर लगभग इसी प्रकार के लक्षण का निर्देश करके५ भी उम सामायिक की सिद्धि के लिए तदाकार जिनप्रतिमा के विषय में अभिवेक, पूजा, स्तुति और जप के

प्रयोग का तथा अतदाकार जिनप्रतिमा के विषय में अभिवेक के बिना शेष तीन के प्रयोग का उप-देश करते हैं६। पं० आशाधर के इस कथन का आधार सोमदेव सूरिका उपासकाध्ययन रहा है, जहाँ आप्त सेवा के उपदेश को समय कहकर उसमें नियुक्त कर्म को—स्नान व पूजनादि रूप विविध क्रियाकाण्डों को—सामायिक कहा गया है७ और इसी से उन सब की वहाँ विस्तार-पूर्वक उस सामायिक के प्रकरण में प्ररूपणा भी की गई है८।

७. आ. समन्तभद्र के समान प्रोषधोपवास के लक्षण का निर्देश करके९ भी पं० आशाधर ने पात्र की शक्ति को लक्ष्य में रखकर उसे उत्तम, मध्यम और जघन्य इस प्रकार तीन भेदों में विभक्त कर दिया है१०। किन्तु आ. समन्तभद्र को उक्त प्रोषधोपवास में चारों प्रकार के ही आहार का सर्वथा त्याग अभीष्ट रहा प्रतीत होता है।

८ आ. समन्तभद्र ने वैद्यावृत्य के प्रसंग में जिनेन्द्रदेव की परिचर्या—पूजा—का सामान्य से निर्देश किया है११। उसका कुछ विकसित रूप महापुराण११, उपासकाध्ययन१३

६. स्तवनार्चा-स्तुति-जपान् साम्यार्थ प्रतिमापिते।

युञ्ज्याद्ययाम्नायमाद्यादृतं संकल्पितेऽर्हति ॥५-३१

७. आप्तसेवोपदेशः स्यात् समयः समयाधिनाम्।

नियुक्तं तत्र यत् कर्म तत् सामायिकमूचिरे ॥४६०

(पं० आशाधर ने उक्त श्लोक (५-३१) की स्वी. टीका में इस उपासकाध्ययन के नाम का निर्देश स्वयं भी कर दिया है। यथा—कथम् ? यथाभ्यायम् उपासकाध्ययनाद्यागमानतिक्रमेण)

८. देखिये पृ. २१२-८७।

९. र. क. १०६; सा. ध. ५-३४।

१०. सा. ध. ५-३५ (देखिये पीछे पृ० १२१)

११. र. क. ११६-२०,

१२. पर्व ३८, श्लोक २६-३२ (इस प्रकरण में सागार-धर्मावृत के ये श्लोक महापुराण के निम्न श्लोकों के आश्रय से रचे गये हैं—सा. २-२५-म. ३८, २७-२८, सा. २६—म. ३२; सा. ध. २७—म. ३०; सा. २८—म. ३१; सा. २६—म. ३३)

१३. उपासका. पृ. २३३-८७।

१. र. क. ६६, सा. ध. २, २-३।

२. र. क. ५५; सा. ध. ४-३६।

३. र. क. ५६; सा. ध. ४-५२. (द्विविधं हि तद् व्यतं स्वदारसन्तोषः परदारवर्जनं चेति। एतच्च अन्य-स्त्री-प्रकटस्त्रियाविति स्त्रीद्वयसेवाप्रतिषेधोपदेशा-ल्लभ्यते। तत्राद्यमभ्यस्तदेशसंयमस्य नैष्ठिकस्येव्यते, द्वितीयं तु तदभ्यासोन्मुखस्य—स्वी. टीका।)

४. र. क. ६०; सा. ध. ५-२०।

५. र. क. ६७; सा. ध. ५-२८।

और वसुनन्दिश्रावकाचारः आदि के आधार से सागार-धर्माभूत में उपलब्ध होता है २ ।

६. आ. समन्तभद्र ने सामान्य से श्रावक के दर्शनिक आदि ग्यारह भेदों का ही निर्देश किया है ३ । परन्तु पं० आशाधर ने प्रथमतः उसके पाक्षिक, नैष्ठिक और माधक इन तीन भेदों का उल्लेख किया है ४ और तत्पश्चात् उनके द्वारा उक्त दर्शनिक आदि ग्यारह भेद उनमें से नैष्ठिक श्रावक के निर्दिष्ट किये गये हैं ५ । सम्भवतः पाक्षिक आदि उक्त तीन भेद समन्तभद्र के समय तक नहीं रहे हैं ।

१०. रत्नकरण्डक में छठे श्रावक का उल्लेख रात्रि-भुक्तिविरत के नाम से करके उसके स्वरूप में कहा गया है कि जो रात्रि में अन्न, पान, खाद्य और लेह्य चारों प्रकार के भोजन को नहीं करता है वह रात्रिभुक्तिविरत कहलाता है ६ । पर सागारधर्माभूत में उसका रात्रिभुक्तव्रत के नाम से उल्लेख करके यह कहा गया है कि जो निष्ठा-पूर्वक पूर्व पांच प्रतिमाओं का परिपालन करता हुआ मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना से दिन में स्त्री का उपभोग नहीं करता है वह रात्रिभुक्तव्रत श्रावक होता है ७ ।

आ. कुन्दकुन्द विरचित चारित्र्याभूत में सश्लेष में सागार संयमचरण—देशचारित्र—का वर्णन किया गया है । वहाँ देशचारित्र से सम्बन्धित निम्न गाथा उपलब्ध होती है—

१. वसु० आ० ३८०-४५८ ।

२. सा० घ० २, २३-२४ ।

३. र० क० १३६ ।

४. सा० घ० १-२० ।

५. सा० घ० ३-१ ।

६. र० क० १४२ ।

७. सा० घ० ७-१२ । (आगे श्लोक ७-१५ में रत्नकर-ण्डक के उक्त अभिमत की भी सूचना इस प्रकार कर दी है—निरुच्यतेऽन्यत्र रात्री चतुराहारवर्जनात् ।)

८. समवायाग सूत्र में ग्यारह प्रतिमाओं के नाम इस प्रकार निर्दिष्ट किये गये हैं—

एककारस उवासगपडिमाओ प० (पण्णाओ)

दमण वय मामाहय पोसह सच्चि रायभत्ते य ।

बभारंभ परिग्गह अणमण उट्ठि देसविरदो य ॥

यहाँ छठी प्रतिमा का उल्लेख रायभत्त—रात्रिभत्त—के नाम से हुआ है । भुक्ति और भुक्त दोनों शब्द पर्याय-वाची हैं, उनका अर्थ जैसा भोजन होता है वैसे ही सेवन भी होता है । प्रकृत में रात्रिभुक्तव्रत से रात्रि में स्त्री-सेवन का व्रत रखना—दिन में उसका परित्याग करना, यह अभिप्राय निकालना कुछ क्लिष्ट कल्पना के आश्रित है । इसमें स्त्री का अध्याहार करना पड़ता है । पर उससे रात्रि में भोजन का व्रत रखने रूप अर्थ का बोध सरलता में हो जाता है ।

ग्यारहवीं प्रतिमा के धारक श्रावक के विषय में रत्नकरण्डक में इतना मात्र कहा गया है कि जो गृहवास को छोड़कर मुनि-आश्रम में चला जाता है और वहाँ गुरु के समीप में व्रतों को ग्रहण करके तपश्चरण करता हुआ भिक्षावृत्ति से भोजन करता है तथा वस्त्रखण्ड—लघोटी मात्र—को धारण करता है वह उत्कृष्ट श्रावक होता है १० । उधर सा. घ. में कहा गया है कि जो पूर्व व्रतों के आश्रय से मोह को मन्द करता हुआ उट्ठिष्ट भोजन को छोड़ देता है वह अन्तिम उत्कृष्ट श्रावक होता है ११ । आगे चलकर उसके दो भेदों का निर्देश करके उनमें यह भेद बतलाया गया है कि प्रथम उत्कृष्ट श्रावक तो बालों को

त० (त जहा) —इंमणसावए १ कयव्वयकमे २ सामाहयकडे ३ पोसहोववासनिए ४ दिया बभयारी रत्ति परिमाणकडे ५ दिग्गावि राओ वि बभयारी अमिण्णई विवडभोई भोलिकडे ६ सच्चित्तपरिण्णाए ७ आरभपरिण्णाए ८ पेसपरिण्णाए ९ उट्ठिभत्त-परिण्णाए १० समणभूए ११ आवि भवइ समणा-उमो । समवा० ११ पृ० १८-१९ ।

६. कस्मान् ? रात्री निशि स्त्रीसेवाया वर्तनात् रात्री भक्त स्त्रीभजन व्रतयति रात्रिभक्तव्रत. इति तच्छ-ब्दस्य वक्तुपादनात् । (सा. घ. स्त्री. टीका ७-१५)

१०. र० क० १४७ । (सा० घ० का ७-४७वा श्लोक इससे पूर्णतया प्रभावित है) ।

११. सा० घ० ७-३७ ।

कैची अथवा उस्तरे से बनवा लेता है पर द्वितीय उत्कृष्ट श्रावक उन बालों का लोच ही करता है, प्रथम मर्कट लंगोट के साथ उत्तरीय वस्त्र को भी धारण करता है पर द्वितीय मात्र दो लंगोटों को ही धारण करता है, प्रथम जहा स्नानादि का समाजर्जन किसी कोमल वस्त्र आदि से करना है वहा द्वितीय उनका समाजर्जन मुनिवत् पिच्छी से करता है, तथा प्रथम यदि पात्र में भोजन करता है तो द्वितीय गृहस्थ के द्वारा दिये गये भोजन को हाथ में लेकर शोधनपूर्वक खाता है। इसके अतिरिक्त दूसरे का नाम 'आर्य' होता है। (प्रथम का नाम वया होता है, इसका उल्लेख नहीं किया गया)।

प्रथम उत्कृष्ट श्रावक के भी वहा दो भेद सूचित किये गये हैं—एक तो वह जो पात्रों को लेकर पूति के योग्य भोजन को कितने ही घरों से लाता हुआ एक स्थान में, जहा प्रासुक जल उपलब्ध होता है, बैठकर हाथ में अथवा वर्तन में खाता है। बीच में यदि कोई भोजन के लिये प्रार्थना करता है तो उसके पूर्व में भिक्षाप्राप्त भोजन को खाकर तत्पश्चात् आवश्यकतानुसार वहा भोजन कर लेता है। दूसरा वह जिसका नियम एक ही गृह सम्बन्धी भिक्षा का होता है।

यहा प्रथम उत्कृष्ट के विषय में जो यह कहा गया है कि चार पर्वों में चारों प्रकार के आहार के परिन्यास स्वरूप उपवास उसे करना ही चाहिये, उससे प्रतीत

१. सा० घ० ७, ३८-३९ व ४८-४९।

२. एतेन प्रथमोत्कृष्टो द्वेधा स्यादनेकभिक्षानियमः एक-भिक्षानियमश्चेत्युक्तं प्रतिपत्तव्यम्।

सा. घ. स्तो. टीका ७-४६।

३. सा. घ. ७, ४०-४३।

४. सा. घ. ७-४६।

५. कुयदिह चतुष्पर्वामुपवासं चतुर्विधम् सा. घ. १-३९।

होता है कि यदि अधस्तन पदों में—दमवी-नीवी आदि नीचे की प्रतिमाओं में—कुछ शिथिलता रहती है तो वह उन प्रतिमाओं की पूर्णता में बाधक नहीं हो सकती है।

३. उपासकाध्ययन और सागारधर्मावृत्त

मोमदेव मूरि विरचित यशस्तिलकचम्पू एक सुप्रसिद्ध काव्यग्रन्थ है। वह आठ आशवासों में विभक्त है। उनमें से प्रथम ५ आशवासों में यशोधर राजा का जीवनवृत्त वर्णित है और अन्तिम ३ (६-८) आशवासों में श्रावकाचार चर्चित है। ये तीनों आशवास उपासकाध्ययन के नाम से प्रसिद्ध हैं। उपासक यह श्रावक का सार्थक नाम है, क्योंकि, वह जिनदेवादि की उपासना—आराधना—किया करता है। श्रावक भी उसे इसलिये कहा जाता है कि वह मुनि जनो से धर्मविधि को श्रवण किया करता है।

(क्रमशः)

६ यह श्री प० कलाशचन्द्र जी शास्त्री के द्वारा सम्पादित होकर भारतीय ज्ञानपीठ के द्वारा पृथक् से भी प्रकाशित हो चुका है। उसका विशेष परिचय वहा देखा जा सकता है।

आ० प्रभाचन्द्र विरचित रत्नकरण्डक की टीका में प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में जो समाप्ति सूचक वाक्य (समन्तभद्रस्वामिविरचितोपासकाध्ययनटीकायां) उपलब्ध होता है उसमें ऐसा प्रतीत होता है कि रत्नकरण्डक का नाम भी उपासकाध्ययन रहा है।

७ सप्तदशगण्ड पडियह जइजणा मुणै य।

सामायारि परमं जो खलु तं सावगं विन्ति ॥

(आ० प्रज्ञप्ति २)

शृणोति गुवादिभ्यो धर्ममिति श्रावकः। (सा० घ० स्तो० टीका १-१५)। शृणोति तत्त्व गुरुभ्य इति श्रावकः (सा. घ. ५-५५)।

बादामी के चालुक्य नरेश और जैनधर्म

श्री दुर्गाप्रसाद दीक्षित एम० ए०

सातवाहन साम्राज्य के ध्वंसावशेष पर दक्षिण में अनेकों राजवंशों का उदय और अस्त हुआ। प्रायः सभी राजवंश अपने प्रतिद्वन्दियों को हराकर एक साम्राज्य निर्माण की कामना रखते थे। जिस समय उत्तर भारत गुप्त साम्राज्य के स्वर्ण युग से गुजर रहा था उसी समय विदर्भ तथा उसके आसपास के प्रदेशों पर वाकाटकों का राज्य था। परन्तु दक्षिण भारत में छोटी २ राजशक्तियाँ आपस में लड़ रही थीं। तभी दक्षिण में एक नवीन राजवंश का उदय हुआ जिसने करीब २५० वर्ष तक दक्षिण की इन विश्रंखलित शक्तियों को एक सूत्र में बांधने का प्रयत्न किया। उनकी यह सफलता, उस समय उन्नति की चरम सीमा पर थी, जब उत्तर भारत में सम्राट् हर्षवर्धन का शासन था। यह शक्ति सम्पन्न राज्य बादामी के चालुक्य नरेशों का था।

इस अटल सत्य से मुख मोड़ा नहीं जा सकता है, कि इस राजवंश के शासन काल में दक्षिण में जो सांस्कृतिक विकास हुआ उसकी तुलना किसी भी राजवंश के शासन युग के सांस्कृतिक विकास से की जा सकती है। दक्षिण के कलात्मक वैभवों की आधार शिला इस युग में ही रखी गयी थी। अजन्ता, एलोरा, और एलीफंटा की गुफाओं में प्रदर्शित भारतीय कला का बहुत बड़ा भाग इसी युग की देन है। संस्कृत और कन्नड़ भाषाओं का जो मुखरित स्वरूप हमें पश्चिमी चालुक्यों के अभिलेखों में मिलता है, वह निसन्देहान्तर रूप से इस तथ्य की घोषणा करता है कि इस राजवंश ने, न केवल इन भाषाओं के विद्वानों को आश्रय ही दिया बल्कि प्रगति के लिए समुचित वातावरण प्रदान किया था। इन परिस्थितियों में रविकीर्ति का यह स्वाभिमान नितान्त स्वाभाविक ही है कि वह कवि कुल गुरु शिरोमणि कालिदास तथा भारवि से अपनी तुलना १ मिराशी; वा० वि०, वाकाटक नृपति और उनका काल

करे।

धर्म के भी क्षेत्र में यह राजवंश किसी से पीछे नहीं था। चालुक्यों की छत्र छाया में सभी धर्मों को समान रूप से पल्लवित, पुष्पित तथा फलित होने का अवसर मिला। बादामी चालुक्य नरेशों के अनेक अभिलेखों में अनेकों मन्दिरों, शिवालयों, तथा गुफा गृहों के निर्माण का उल्लेख है। जिसके लिए उन्होंने अनेकों दान दिये थे। यह प्रायः सत्य ही है कि उनका व्यक्तिगत धर्म शैव ग्रन्थवा वैष्णव था, परन्तु उन्होंने स्वधर्म को किसी पर लादा नहीं था। अनेकों राज परिवार के सदस्यों द्वारा जिनालयों, जैन सस्थानों और अन्य धार्मिक सम्प्रदायों को दान देना, तथा जैन विश्वासु और श्रद्धालुओं का उच्च राजकीय पद पर होना, उनकी धर्म निरपेक्षता का जीता जागता और जलता हुआ नमूना है।

शायद ही भारत का ऐसा कोई क्षेत्र हो जहाँ जैन धर्म के परिश्रमी प्रचारक न पहुँचे हो। आधुनिक महाराष्ट्र, मैसूर, आन्ध्र प्रदेश तथा गुजरात के जिन अंशों पर छोटी सातवीं शताब्दी में बादामी के चालुक्य नरेशों का आधिपत्य था, वहाँ आज भी इतनी शताब्दियों के बावजूद जैनधर्म बड़ी श्रद्धा और आदर की दृष्टि से देखा जाता है। यह तथ्य ही इस तर्क की उद्घोषणा करता है कि चालुक्यों की छत्र छाया में जैन प्रसारकों को अनुकूल वातावरण और संरक्षण प्राप्त हुआ था। उस युग के कलात्मक निर्माण में जैन भिक्षुओं का पथप्रति अश है।

२ ऐहोल प्रशस्ति एपिग्रेफिया इण्डिका जिल्द ६, पृ० ७.

“येनायोजि नवेश्मस्थिरमर्थं विधौ विवेकिना जिनवेशयम्।

स विजयतां रविकीर्ति × कविताश्रित कालिदास

भारवि कीर्ति: ॥३७॥”

३ ऐहोल प्रशस्ति का लेखक रविकीर्ति, एवं चालुक्यों के शासन पत्रों के लेखक, जो महासन्धि विग्रहीक भी थे, जैनधर्मावलम्बी प्रतीत होते हैं।

संस्कृति और शिक्षा के तत्कालीन कुछ केन्द्र यद्यपि आज छोटे नगर हैं पर उनके अवशेष, मन्दिरों तथा जिनालयों में बची हुई कलाकृतियाँ तथा वास्तु के नमूने उनकी भव्यता, गौरव, प्रसिद्धि तथा उच्चता के प्रतीक हैं।

बादामी के चालुक्य नरेशों के इतिहास जानने के प्रमुख साधन, उनके अभिलेख, तत्कालीन कलाकृतियाँ तथा ह्वेनसांग के विवरण हैं। इस वंश के लगभग एक दर्जन अभिलेखों का उद्देश्य जैनधर्म से सम्बन्धित है। कालक्रमानुसार प्रथम चालुक्य वंशीय जैन अभिलेख अल्तेम में प्राप्त हुआ था। इस अभिलेख को अधिकतर विद्वानों ने जाली माना है। लेकिन प्रायः सभी विद्वान इस विचार से सहमत हैं कि जाली अभिलेखों के सभी सन्दर्भ जाली ही हों, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। इस अभिलेख में चालुक्य सम्राट् सत्याश्रय (पुलिकेशिन् प्रथम) का उल्लेख है। तदुपरान्त कुट्टिण्ड विषय के शासक रुद्रनीक सेन्द्रक वंशीय सामियार राजा का वर्णन है। सामियार ने अलक्तक नगर में एक जैन मन्दिर बनवाया था, तथा इसी मन्दिर के लाभार्थ उसने सम्राट् सत्याश्रय को आज्ञा से शक ४११ में कुछ गाँवों का दान दिया था। इस ताम्रपत्र की श्रुतिपूर्ण तिथि तथा अन्य अनेक आधारों पर फ्लीट तथा अन्य विद्वानों ने इसे जाली माना है। कीर्तिवर्मन प्रथम एवं उसके अनुज मङ्गलेश के राज्यकाल का हमें कोई भी जैन अभिलेख नहीं मिलता है। लेकिन इससे यह अनुमान निकालना असंगत ही होगा कि उपर्युक्त सम्राटों के समय में जैन सम्प्रदाय और धर्म के प्रचार में राज्य की तरफ से कोई रुकावट थी।

पुलिकेशिन् द्वितीय के शासन काल के दो अभिलेखों का सम्बन्ध जैनधर्म से है। प्रथम अभिलेख एहोल प्रशस्ति का लेखक रविकीर्ति एक जिन उपासक था। इस प्रशस्ति में पुलिकेशिन् द्वितीय की विजयों तथा अन्य कार्य

४ पुलिकेरि, आडूर, परलूर तथा अण्णिगेरि आदि।

५ इण्डियन एण्टिक्वेरी, जिल्द ७, पृ० २०६

६ इ० ए०, जिल्द ७, पृ० २०६-२१४

७ इ० ए०, जिल्द ७, पृ० २०६-२१४ एवं जिल्द ३०, पृ० २१८, न० ३५

८ एहोल प्रशस्ति, ए० इ०, जिल्द ६, पृ० ७

कलापो का बड़ा ही सुन्दर एवम् साहित्यिक वर्णन है। इसमें रविकीर्ति के द्वारा एक जिनेन्द्र भवन के निर्माण का उल्लेख है। यद्यपि अभिलेख में यह नहीं बताया गया है कि जिनालय का निर्माण कहाँ हुआ था, परन्तु अभिलेख का एहोल में उपलब्ध होना यह सूचित करता है कि इसका निर्माण कहीं एहोल नगर में ही हुआ था। प्रशस्ति में ऐसा प्रतीत होता है कि रविकीर्ति पुलिकेशिन् द्वितीय का कोई अधिकारी था। उसके द्वारा पुलिकेशिन् द्वितीय के शासन काल का बड़ा ही सूक्ष्म विवरण इस विचार का समर्थन करता है। दूसरा अभिलेख लक्ष्मेश्वर (धारवाड़ जिला) में प्राप्त हुआ है। इस अभिलेख की सत्यता पर कुछ विद्वानों ने शंका व्यक्त की है। लक्ष्मेश्वर अभिलेख में सेन्द्रक राजा दुर्गशक्ति द्वारा, पुलिगेरे नगर में एक क्षेत्र दान देने का उल्लेख है। इस दान का उद्देश्य शंख जिनेन्द्र के चैत्य में पूजा की शाश्वत व्यवस्था थी। सेन्द्रक राजा चालुक्यों के सामन्त थे।

चालुक्य विक्रमादित्य प्रथम के शासनकाल के एक अभिलेख में १२ राजा के द्वारा कुरुत्कुण्टे ग्राम के दान का उल्लेख है। दान ग्रहणकर्ता रवि शर्मा बमरि सध का था। सम्भवतः इस बमरि सध का सम्बन्ध जैनो में है। इसकी श्रुति पूर्ण तिथि तथा अन्य अनेक आधारों पर विद्वानों ने इसे जाली माना है। चालुक्य विनयादित्य के शासनकाल के केवल एक अभिलेख का सम्बन्ध जैनधर्म से है। इसमें विनयादित्य द्वारा शक ६०८ में मूलसध परम्परा की देवगण शाखा के किसी जैन आचार्य को दान देने का उल्लेख है। फ्लीट महोदय ने लक्ष्मेश्वर से उपलब्ध इस अभिलेख को भी जाली करार दिया है। परन्तु

६ इ० ए० जिल्द ७, पृ० १०६

१० इ० ए० जिल्द ३०, पृ० २१८, न० ३७

११ इण्डियन एण्टिक्वेरी जिल्द ७, पृ० ११६ और आगे।

१२ इण्डियन एण्टिक्वेरी जिल्द ७, पृ० २१६

१३ इण्डियन एण्टिक्वेरी जिल्द ७, पृ० २१६ तथा जिल्द ३०

पृ० २१७ न० ३०

१४ इण्डियन एण्टिक्वेरी जिल्द ७, पृ० ११२ और आगे।

१५ इण्डियन एण्टिक्वेरी जिल्द ७, पृ० ११२ तथा आगे और जिल्द ३०, पृ० २१८, न० ३८

यह विचार सर्वमान्य नहीं है। विभिन्न कसौटियों पर यह लेख खरा उतरता है।

चालुक्य नरेश विजयादित्य के शासन काल के तीन अभिलेखों का सम्बन्ध जैन सम्प्रदाय से है। शिवगाँव (धारवाड़ जिला) से उपलब्ध ताम्रपत्र में शक ६२० में, अनूप (अनूप) सामन्त चित्र वाहन के अनुरोध पर विजयादित्य द्वारा जैन विहार को दान देने का विवरण है १६। इस जैन विहार का निर्माण विजयादित्य की बहिन कुकुम देवी द्वारा पुलिगेरे नगर में किया गया था। कुकुम देवी द्वारा जैन सस्थान का निर्माण चालुक्य नरेशों द्वारा जैनों को श्रद्धा की दृष्टि से देखने का अकाट्य प्रमाण है। इसी राज्यकाल के दो अभिलेख लक्ष्मेश्वर में मिले हैं। प्रथम की तिथि शक ६४५ तथा द्वितीय की तिथि ६५१ शक है १७। शक ६४५ का लक्ष्मेश्वर अभिलेख नष्टप्राय है और उसके विवरणों के विषय में निमन्दे-हात्मक रूप से कुछ भी कहना कठिन है। शक ६५१ वाले अभिलेख में विजयादित्य द्वारा पुलिकर नगर के दक्षिण में स्थित कदम्ब नामक ग्राम को उदयदेव पण्डित उपारूप निर्वाद्य पण्डित को दान दिये जाने का विवरण है। परम्परा की देवगण शाखा से सम्बन्धित थे। दान पुलिकर नगर के शाय जितेन्द्र के मन्दिर के लाभार्थ दिया गया था। उदय देव पण्डित को सम्राट् विजयादित्य के पिता का पुरोहित बताया गया है १८। अतएव यह स्पष्ट हो है, कि विजयादित्य को भी जैनों में आस्था और श्रद्धा थी। उसके शासन काल में उन्हें पूर्ण सम्मान एवम् सुर-क्षण प्राप्त था।

चित्रमादित्य द्वितीय के शासन काल का शक ६५६ का लक्ष्मेश्वर अभिलेख १९, उसके शासन काल में जैनों की स्थिति पर प्रकाश डालता है। इसमें चित्रमादित्य द्वितीय द्वारा पुलिकर नगर में शाय तीर्थ वसति नामक मन्दिर को मुशोभित करके, श्वेत जिनालय के जीर्णोद्धार के उपरान्त नगर के उत्तर में भूमिदान देने का विवरण

१६ ए० इ०, जिल्द ३२, पृ० ३१७ और आगे

१७ इण्डियन एण्टिक्वेरी जिल्द ७, पृ० ११२

१८ इण्डियन एण्टिक्वेरी जिल्द ७, पृ० ११२

१९ इण्डियन एण्टिक्वेरी जिल्द ७, पृ० १०६

है। दानग्रहणकर्ता श्री विजय देव पण्डित मूलसंघ परम्परा की देवगण शाखा से सम्बन्धित थे। वह जयदेव पण्डित के शिष्य रामदेवाचार्य के शिष्य थे। दान एक व्यापारी के अनुरोध पर, जिन पूजा के विकासार्थ दिया गया था २०।

कीर्तिवर्मन द्वितीय के शासन काल के तीन अभिलेखों में जैनों का उल्लेख है। इनमें से दो अभिलेख तो आड़ूर जिला धारवाड़ से मिले हैं २१, तथा एक अण्णिगेरि में मिला है २२। आड़ूर से प्राप्त दोनों अभिलेख तिथि विहीन हैं। प्रथम आड़ूर अभिलेख का प्रारम्भ वर्धमान की प्रार्थना के साथ होता है। किसी राजा या सामन्त द्वारा २५ निवर्तन भूमिदान का उल्लेख है। दान धर्मगामुण्ड द्वारा निर्मित जिनालय और भिक्षु गृह को दिया गया था। आड़ूर से प्राप्त दूसरे अभिलेख में कीर्तिवर्मन द्वितीय और उसके सामन्त माधववर्त्ति अरस का उल्लेख है। इसमें माधववर्त्ति अरस के द्वारा जिनेन्द्र मन्दिर के पूजार्थ तथा अन्य धार्मिक क्रियाओं के लिये परलूर के चेडिय (चैत्य) को भूमिदान देने का विवरण है जैन गुरु व प्रभावन्द का भी दोनों आड़ूर अभिलेखों में उल्लेख है। अण्णिगेरि (जिला धारवाड़) से प्राप्त अभिलेख में जेवुकगेरि के प्रमुख कलियम्म द्वारा चेडिय (जैन मन्दिर) के उल्लेख है। लेख के सम्पादक श्री यन. लक्ष्मी नारायण राव के अनुसार कलियम्म कीर्तिवर्मन द्वितीय के आधीन कोई अधिकारी था २३।

उपरोक्त संक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट है कि प्रायः सभी चालुक्य नरेशों ने इस धर्म के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त की है। चालुक्य नरेश विजयादित्य के पुरोहित का जैन होना, राजवंश में जैनों के प्रभाव और आदर का स्पष्ट प्रमाण देता है। प्रायः सभी अभिलेखों में जैन मन्दिरों के निर्माण या जीर्णोद्धार का उल्लेख है जो यह बताता है कि उस युग में इस प्रदेश में जिन पूजा पर्याप्त उन्नतिशील अवस्था में थी। आधे से अधिक जैनों से सम्बन्धित

२० इण्डियन एण्टिक्वेरी जिल्द ७, पृ० ११६ और आगे

२१ इण्डियन एण्टिक्वेरी, जिल्द ११, पृ० ६६, कर्नाटक

अभिलेख (पंचमुखी द्वारा सम्पादित) जिल्द १ पृ० ४

२२ एपिग्रेफिया इण्डिका, जिल्द २१, पृ० २०६

२३ एपिग्रेफिया इण्डिका जिल्द २१, पृ० २०६ और आगे

चालुक्य अभिलेख लक्ष्मेश्वर में मिले हैं। यह इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि आधुनिक लक्ष्मेश्वर प्राचीन काल में, जैनधर्म के प्रसार और प्रचलन का एक प्रमुख केन्द्र था। अधिकतर चालुक्य—जैन अभिलेख आधुनिक धारवाड जिले में मिले हैं। फलतः यह स्पष्ट ही है कि आधुनिक धारवाड जिला और उसके आसपास के क्षेत्र में, उस युग में इस धर्म ने पर्याप्त प्रभाव और प्रसिद्धि अर्जित की थी।

विडम्बना का विषय है, कि आधे से अधिक और लक्ष्मेश्वर से प्राप्त सभी जैन-अभिलेखों को पनीट जैम विद्वान ने जाली करार दिया है^{२४}। लेकिन बाद में उपलब्ध साध्यों ने पलीट के इस मत को, सभी अभिलेखों के प्रति तो नहीं, परन्तु कुछ के प्रति अमगत सिद्ध कर दिया है। कुछ भी हो, ऐसे अभिलेख जिनकी मूल्यता पर शंका नहीं की जा सकती है^{२५}, यद्यपि थोड़े हैं, परन्तु अपने में वह उम सामग्री को संजोये हुए हैं, जो चालुक्य नरेशों के इस धर्म के प्रति दृष्टिकोणों को स्पष्ट करते हैं। एहोल प्रशस्ति, आडूर अभिलेख, अण्णिगेरि अभिलेख

^{२४} इण्डियन एण्टिक्वेरी, जिल्द ३०, पृ० २१७-२१८

^{२५} एहोल प्रशस्ति, आडूर अभिलेख, अण्णिगेरि अभिलेख एवम शिगगांव ताअपत्र।

तथा शिगगांव में उपलब्ध ताअपत्र, इस तथ्य की उद्घोषणा करते हैं कि चालुक्य नरेशों के राज्य काल में जैन धर्म को फूलने, फलने और फैलने का पूर्ण अवसर और वातावरण मिला था। राज्य की ओर से उन्हें संरक्षण, सहायता और निर्बाध स्व सिद्धान्तों, आदर्शों तथा नियमों को पालन करने की स्वतंत्रता थी। संरक्षण का तात्पर्य यह नहीं है कि इस धर्म को राजकीय संरक्षण प्राप्त था। राजवंश के अनेकों सदस्यों का विभिन्न मतावलम्बियों को आश्रय तथा सहायता देना, चालुक्यों की धर्म निरपेक्षता को प्रमाणित करता है।

अन्त में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि चालुक्य नरेशों के शासन काल में दक्षिण-पश्चिम भारत में जैन धर्म का पर्याप्त प्रसार हुआ। स्वयम् चालुक्य सम्राटों तथा उनके परिवार के सदस्यों ने इस पुनीत कर्म की ओर अपनी सहायता और महानुभूति व्यक्त कर धार्मिक आदायों का एक अमिट उदाहरण प्रस्तुत किया है। जैन मूलमध परम्परा की देवगण शाखा को इस क्षेत्र में पर्याप्त सहायता मिली थी। अनेकों नगर जैन संस्कृति और धर्म प्रचार के केन्द्र बन गये थे। इस धर्म के प्रचार और प्रसार ने कन्नड और संस्कृत भाषा को भी विकसित होने का सुअवसर प्रदान किया था।

अनेकान्त की पुरानी फाइलें

अनेकान्त की कुछ पुरानी फाइलें अवशिष्ट हैं जिनमें इतिहास, पुरातत्त्व, दर्शन और साहित्य के सम्बन्ध में खोजपूर्ण महत्व के लेख लिखे गए हैं जो पठनीय तथा सग्रहणीय हैं। फाइलें अनेकान्त के लागत मूल्य ६) ६० में दो जावेगी, पोस्टेज खर्च अलग होगा।

फाइलें वर्ष ४, ५, ८, ९, १०, ११, १२, १३, १४, १५, १६, १७, १८, १९ वर्षों की हैं। अगर आप न अभी तक नहीं मंगाई हैं तो शीघ्र मगवा लीजिए, क्योंकि फाइलें थोड़ी ही अवशिष्ट हैं।

मैनेजर 'अनेकान्त'

वीरसेवामन्दिर २१ बरियागंज, दिल्ली।

जैन तर्क में हेत्वनुमान

डा० प्रद्युम्नकुमार जैन एम. ए. पी-एच. डी.

तर्कशास्त्र (Logic) चाहे भारतीय रहा हो अथवा पश्चिमी, हेत्वनुमान (Syllogism) सर्वत्र ही न्याय की घुरी रूप में स्वीकार किया गया है। उसकी यथार्थ स्थिति और रूप का निर्णय तर्कशास्त्र का मुख्य विषय है। यहाँ लेखक को केवल जैन तर्काश्रित हेत्वनुमान का एक सरल अध्ययन पश्चिमी तर्कशास्त्र के दृष्टिकोण से प्रस्तुत करना अभीप्सित है।

हेत्वनुमान (Syllogism) क्या है ?

हेत्वनुमान का तकनीकी प्रयोग पश्चिमी तर्कशास्त्र की प्रमुख देन है। अनुमान की आकारी (Formal) प्रशाखा में अव्यवहित (Immediate) और व्यवहित (Mediate) प्रकारों में से व्यवहित का प्रकाशन हेत्वनुमान के रूप में ही होता है। अतः पश्चिमी तर्कशास्त्र के जनक 'अरस्तू' ने हेत्वनुमान की परिभाषा इस प्रकार की, "हेत्वनुमान एक वह रीति है जिसमें कुछ कथित चीजों से तद्भिन्न कुछ अन्य चीजें अनिवार्य रूपेण निगमित होती हैं।" इसी परिभाषा को परिष्कृत रूप में 'ब्रैडले' ने प्रकट किया, कि "हेत्वनुमान वस्तुतः एक तर्क है, जिसमें उद्देश्य और विधेय के रूप में, दो पदों का एक ही तीसरे पद के साथ दिए हुए संबंध में अनिवार्य रूपेण स्वयं उन्हीं दोनों पदों के मध्य, उद्देश्य विधेय रूप में, सम्बन्ध निगमित किया जाता है।" इससे स्पष्ट है, कि हेत्वनुमान अनुमान का एक विशिष्ट तकनीक है, जिसके द्वारा प्रकृत अनुमान को सुव्यवस्थित ढंग से दूसरों तक पहुँचाया जा सकता है, और निष्कर्ष की वैधता पूर्वस्वीकृत सिद्धान्तों के आधार पर सिद्ध की जा सकती है। इसमें तीन पद होते हैं, जिनमें एक मध्यम पद के द्वारा शेष दो पदों में सम्बन्ध प्रस्थापित किया जाता है।

भारतीय तर्कशास्त्र के विवेचन में प्रमाण ज्ञान अथवा विशुद्ध ज्ञानोपलब्धि के कारण रूप में प्रमाण का सम्यक् विवेचन सभी तर्क शास्त्रियों को मान्य रहा है। यद्यपि प्रमाण की संस्था के बारे में मतभेद मिलता है, परन्तु प्रामाणिक चिंतन के लिए प्रमाणशास्त्र के अध्ययन पर सभी एकमत हैं। जैन परम्परा के अनुसार प्रमाण के केवल दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। परोक्ष प्रमाण के भी स्मृति प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान, और आगम भेद सम्मत हैं। इन भेदों में न्याय की दृष्टि से केवल तर्क और अनुमान का ही महत्व है। तर्क व्याप्ति-निर्माण की एक प्रक्रिया है, जिसे पश्चिमी तर्कशास्त्र में आगमन पद्धति के रूप में अध्ययन किया जाता है। अनुमान साधन से साध्य-ज्ञान की उपलब्धि में निहित है। यही साधन से साध्य-विज्ञान की शाब्दिक अभिव्यक्ति भारतीय तर्कशास्त्र में परार्थानुमान रूप में अभिप्रेत है, जो पश्चिमी तर्कशास्त्र के हेत्वनुमान के समकक्ष है। अतः परार्थानुमान और हेत्वनुमान प्रयोजन की दृष्टि से लगभग एक ही हैं।

जैन हेत्वनुमान का प्रारूप

जैन नैयायिकों का हेत्वनुमान के सम्बन्ध में अपना एक विशिष्ट दृष्टिकोण है जो हिन्दू और आरस्तवीय नैयायिकों के दृष्टिकोणों से अशतः साम्य रखते हुए सम्पूर्णतः उनसे भिन्न है। जैन हेत्वनुमान का आकार अपेक्षाकृत संक्षिप्त है। उसमें केवल दो अवयव अभिप्रेत हैं, जब कि न्यायदर्शन में पाँच और आरस्तवीय लॉजिक में तीन माने जाते हैं। यथा—

पर्वत पर अग्नि है,
क्योंकि वहाँ धूम्र है।

१. Anal Priora, 24 b, 18 से।

२. Principles of Logic, Bk. II pt. I C IV, P. 10

३. परीक्षामुखम्—२-१

४. वही—३-२

५. वही—३-१४, प्रमाण मीमांसा १-२-७

इसमें पहला अवयव पक्ष और दूसरा हेतु है^१। इसी को हिन्दू न्याय मत में निम्न प्रकारेण पांच अवयवों में व्यक्त किया जाता है^२ :—

पर्वत पर अग्नि है; (प्रतिज्ञा)
क्योंकि वहाँ धूम्र है; (हेतु)
जहाँ-जहाँ धूम्र, वहाँ-वहाँ अग्नि,
जैसे— (उदाहरण)

ऐसा ही यहाँ है; (उपनय)
अतः पर्वत पर अग्नि है। (निगमन)

आरस्तवीय हेत्वनुमान में उपर्युक्त पाँच अवयवों में से पहले तीन को विलोम रीति से रखा जाता है^३, यथा—

जहाँ धूम्र है वहाँ अग्नि है; (Major premise)
पर्वत पर धूम्र है, (Minor premise)
अतः पर्वत पर अग्नि है। (Conclusion)

जैन नैयायिक पंचावयव हेत्वनुमान में उदाहरण प्रभृति तीन अवयवों को तर्क की विद्वद् गोष्ठी के लिए व्यर्थ मानते हैं। उनका तर्क है कि हेत्वनुमान में उदाहरण नामक अवयव का कोई कार्य नहीं है। उदाहरण से न तो साध्यज्ञान उपलब्ध होता है, क्योंकि साध्य के लिए तो हेतु ही है और न व्याप्ति का ही उदय होता है, क्योंकि व्याप्ति अथवा अविनाभाव के निश्चय के लिए विपक्ष का प्रतियोग सिद्ध होना आवश्यक है। मात्र रसोई के उदाहरण से व्याप्ति का निश्चय नहीं होता^४। साथ ही उदाहरण केवल विशिष्ट दृष्टांत का निदर्शन करता है जबकि व्याप्ति सामान्य सत्य का। एक विशेष सामान्य की सिद्धि के लिए अपर्याप्त है। यदि उस एक विशेष पर संदेह करे, तो दूसरा विशेष, दूसरे पर संदेह की अवस्था में फिर और, और ऐसे ही अवस्था दोष सुनिश्चित है^५। अब कोई कहे, कि उदाहरण से व्याप्ति-स्मरण हो जाता है, तो वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि व्याप्ति-स्मरण के लिए हेतु ही पर्याप्त है, और उदाहरण सर्वथा निरर्थक

है^६। यहाँ तक कि जैन नैयायिक की दृष्टि में उदाहरण न केवल निरर्थक ही है, बल्कि साध्य-ज्ञान की उपलब्धि में बाधक है, क्योंकि हमें सिद्ध करना है कि आग पर्वत पर है, जब कि उदाहरण में आग पर्वत के बिना भी सम्भव दिखाई गई है। अतः प्रस्तुत पक्ष के मुकाबिले दूसरे पक्ष को प्रकट कर संदेह का बीजारोपण होता है, जो साध्य ज्ञान की सिद्धि में सहायक नहीं कहा जा सकता^७।

उदाहरण के अतिरिक्त पंचावयव हेत्वनुमान में अंतिम दो अवयव, यथा—उपनय और निगमन, भी जैनो के अनुसार पिष्टपेषण मात्र है। जैन नैयायिक माणिक्यनन्दि पूछते हैं, 'कुतोऽन्यथोपनय निगमने' (अर्थात्—अन्यथा किसलिए उपनय और निगमन हों?)^८ उपनय और निगमन में जो यह कहा गया, कि ऐसा यह पर्वत धूम्रमय है 'अतः पर्वत पर अग्नि है', तो क्या उपर्युक्त अवयवों में वर्णित और उदाहरण में प्रमाणित पर्वत पर धूम्र से अग्नि के ज्ञान में कोई संदेह रह गया था? अन्यथा उपनय और निगमन की क्या आवश्यकता पड़ गई? अतः जैन नैयायिक के अनुसार उपनय और निगमन भी अनुमान के अंग नहीं हैं, क्योंकि पक्ष में साध्य और हेतु के निश्चय हो जाने पर कोई संशय शेष नहीं रहता^९।

हेत्वनुमान में उदाहरण अंग के प्रति जैनो की उपेक्षा वस्तुतः एक विशेष माने रखती है। हिन्दू नैयायिक व्याप्ति निर्माण की क्रिया को वस्तुतः अनुमान से पृथक् नहीं मानता, बल्कि उसी का एक अंग मानता है। परन्तु जैन नैयायिक व्याप्ति अथवा अविनाभाव सम्बन्ध के निश्चयीकरण की क्रिया को तर्क अथवा ऊहा का नाम देता है, जिसे अनुमान की ही तरह अनुमान से अलग स्वतन्त्र प्रमाण स्वीकार करता है। यही पर जैन और आरस्तवीय तर्कशास्त्र एकमत हो जाते हैं। आरस्तू ने सामान्य साध्यवाक्य (Major premise) अथवा व्याप्ति-वाक्य की उपलब्धि आगमन प्रक्रिया के द्वारा मान्य की है, जिसे वह ताकि अनुमान की प्रक्रिया से पृथक् स्थान देता है।

१. परीक्षामुखम् ३-३७, प्रमाणनय तत्वालोकालंकार ३-२८

२. तर्कसंग्रह ४५; न्यायसूत्र, १-१-३२

३. वेल्डन कृत इन्टरमीडिएट लॉजिक, पृ० २००

४. परीक्षामुखम्, ३-३८, ३९

५. वही, ३-४० प्रमाणनय तत्वालोकालंकार ३-३६

६. प्रमेय रत्नमाला ३-४१ प्रमाण नय तत्वा० ३-३७

७. परीक्षामुखम् ३-४२

८. वही, ३-४३

९. वही ३-४४ प्रमाण नय तत्वा० ३-४०

यह आगमन प्रक्रिया का विज्ञान ही जैनों का 'तर्क अथवा ऊहा' है, जो व्याप्तिरूपी सामान्य ज्ञान की खोज और मिट्टि करता है और अनुमान-क्रिया का आधार निमित्त करना है। अतः पश्चिम के आकारी तर्कशास्त्री ठीक जैनों की भाँति हेतुनुमान में न तो उदाहरण, न उपनय और न निगमन ही स्वीकार करते हैं, बल्कि मध्यम पद अथवा हेतु (Middle term) के द्वारा पक्ष अथवा धर्म (Minor term) के साथ साध्य अथवा धर्म (Major term) का सम्बन्ध-स्थापन होना मानते हैं।

हेतु-मीमांसा

अब हम हेतुनुमान के समस्त पहलुओं के विस्तार में न जाकर केवल हेतुपद पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं, क्योंकि हेतु ही सम्पूर्ण हेतुनुमान की धुरी है। हेतु के माध्यम से ही अप्रत्यक्ष साध्य का ज्ञान होता है। अतः साध्य की सम्यक् जानोपलब्धि के लिए हेतु का सम्यक् ज्ञान आवश्यक है।

हेतु की परिभाषा में जैन नैयायिक माणिक्यनन्दि का कथन है, कि 'जिस पद का साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध हो वही हेतु या लिङ्ग है'। अविनाभाव का तात्पर्य है, कि जिसके होने पर ही हो और न होने पर न हो। माना कि हेतु है और ख साध्य। क और ख के अविनाभाव का तात्पर्य है कि ख के होने पर ही क हो, न होने पर न हो, तो ऐसा सम्बन्ध अविनाभाव होता है। पश्चिमी तर्कशास्त्र में इसे अनिवार्य (Necessary) सम्बन्ध कहते हैं। ऐसा अनिवार्य सम्बन्ध सहभाव और क्रमभाव दो रूपों में व्यक्त होता है। पश्चिम में इसे क्रमशः Law of Co-

existence and Law of Succession कहते हैं। इस प्रकार अनिवार्य सम्बन्ध में हेतु के सभी दृष्टान्त साध्यमय होते हैं अथवा हेतु का कोई दृष्टान्त साध्य के बिना सम्भव नहीं है। यदि साध्य नहीं है, तो हेतु भी नहीं हो सकता; उसी के साथ-साथ यदि हेतु उपलब्ध है तो इसका अर्थ है कि वही साध्य अवश्य है। इस प्रकार न्याय की पदावली में हेतु व्याप्य और साध्य व्यापक कहा जाता है, क्योंकि साध्य ही हेतु के दृष्टान्तों में व्यापक होता है। इस से स्पष्ट हुआ कि हेतु और साध्य का सम्बन्ध व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध होता है, जो सहभाव और क्रमभाव दोनों रूपों में व्यक्त हो सकता है।

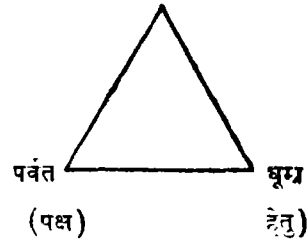
जैन नैयायिक जब हेतुनुमान का कथन करता है, तो उसके दोनों अवयवों में त्रिकोणीय सम्बन्ध को व्यक्त करता है, यथा—

पर्वत पर अग्नि है,

क्योंकि वहाँ धूम्र है।

इसमें त्रिकोणीय सम्बन्ध इस प्रकार है :—

अग्नि (साध्य)



एक ओर, पर्वत और अग्नि का गुह्य सम्बन्ध, दूसरी ओर, पर्वत और धूम्र का प्रकट सम्बन्ध तथा तीसरी ओर धूम्र और अग्नि का ऊहाधित अविनाभाव सम्बन्ध है। इसमें अविनाभाव को प्राधार बनाकर धूम्र और अग्नि को क्रमशः प्रकट और गुह्य मान कर अनुमान के निम्न-लिखित चार रूप सम्भव हो जाते हैं :—

(१) क—पर्वत पर अग्नि है;

क्योंकि वहाँ धूम्र है।

ख—पर्वत पर शीत स्पर्श नहीं है;

क्योंकि वहाँ धूम्र है।

(२) क—पर्वत पर धूम्र नहीं है;

१. देखिए—Bradley—Principles of Logic Bk. II Pt. I Ch. IV P. 10.

Joseph—An Introduction to logic, P. 253 Second Ed. Revised.

परीक्षामुखम् ३-१४

प्रमाण मीमांसा १-२-७

२. परीक्षामुखम् ३-१५

३. देखिए—एल. एस. स्टैविग कृत A modern Introduction to Logic, पृ० २७१

४. परीक्षामुखम् ३-१६; प्रमाण मीमांसा १-२-१०

५. जे. एस. मिल कृत Logic Bk. III Ch. XXII पृ. ४

क्योंकि अग्नि नहीं है।

ख—पर्वत पर शीत स्पर्श है;

क्योंकि अग्नि नहीं है।

इन चार विकल्पों की सम्भावना का आधार अविनाभाव का निहित अर्थ है। निहित अर्थ है : धूम्र और अग्नि का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध, जिसमें १. जहाँ धूम्र (व्याप्य) वहाँ अग्नि (व्यापक); फिर २. जहाँ धूम्र (व्याप्य) वहाँ अग्न्याभाव नहीं अथवा शीत स्पर्श नहीं (व्यापक)

[क्योंकि अग्न्याभाव $\equiv$ शीत स्पर्श];

और ३. जहाँ अग्नि नहीं (व्याप्य) वहाँ धूम्र नहीं (व्यापक); उसी प्रकार ४. जहाँ अग्न्याभाव (व्याप्य) वहाँ अग्नि विरोधी शीतस्पर्श है।

इन चार विकल्पों की सम्भावना का आधार अविनाभाव का निहित अर्थ है। निहित अर्थ में अविनाभावी पदों का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध ही दृष्टव्य है, कि १. जहाँ व्याप्य, वहाँ व्यापक, २. जहाँ व्यापक नहीं वहाँ व्याप्य नहीं। यहाँ पहले विकल्प में व्याप्य हेतु है और दूसरे में वह व्यापक। पहले में हेतु पक्ष में उपलब्ध है (देखिए उपर्युक्त उदाहरण सख्या १ (क) व (ख)। अतः जैन हेतु की उपस्थिति और अनुपस्थिति को आधार बना कर ही उसे दो भेदों में रखते हैं, यथा—

१. उपलब्ध हेतु

२. अनुपलब्ध हेतु

फिर उमी सम्बन्ध में हेतु का साध्य के साथ दुहरा सम्बन्ध होता है। जब हेतु साध्य को सिद्ध करता है तो वह एक तरफ तो साध्य का विधान करता है और दूसरी ओर साध्याभाव का निषेध भी जब धूम्र रूपी उपलब्ध-हेतु एक ओर अग्नि का विधान करता, तो दूसरी ओर वह अग्न्याभाव की सभी अवस्थाओं यथा, शीतस्पर्श आदि का निषेध भी करता है। ऐसा ही अनुपलब्ध हेतु में जब एक ओर अग्नि का अभाव धूम्रभाव का विधान करता है, तो दूसरी ओर वही अग्न्याभाव धूम्रभाव के विरुद्धभाव (धूम्र) का निषेध (धूम्रभाव की अनेक अवस्थाएँ, यथा—

१. परीक्षामुखम् ३-५७

शीत स्पर्श आदि की सम्भावना सिद्ध करके) करता है।

इस प्रकार उपलब्ध और अनुपलब्ध हेतु में विधि और निषेध के मिश्रण में हेतु मुख्यतः चार रूपों में प्रकट होता है, यथा—

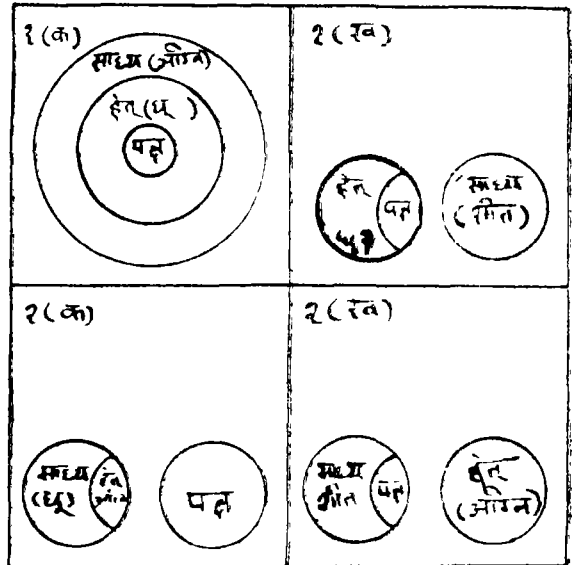
१. उपलब्ध अविरुद्ध (उदाहरण म० १-क)

२. उपलब्ध विरुद्ध (उदा० सं० १-ख)

३. अनुपलब्ध अविरुद्ध (उदा० म० २-क)

४. अनुपलब्ध विरुद्ध (उदा० सं० २-ख)

अब हेतु के इन प्रकारों में से सामान्य नियमों का निगमन करने में पूर्व इन्हें तनिक चित्रात्मक ढंग से समझ लेना और उपयुक्त होगा।



सकेत—जिन पदों के वृत्तों की परिधि एक दूसरे में शामिल हैं उसका तात्पर्य है कि उनमें विधानात्मक सम्बन्ध है; और जो वृत्त परस्पर असम्बद्ध हैं उनमें निषेधात्मक सम्बन्ध समझना चाहिए। उदाहरणार्थ १ (क) में पक्ष हेतु और साध्य तीनों में भावात्मक सम्बन्ध ही है। १ (ख) में पक्ष और हेतु के मध्य भावात्मक तथा साध्य में दोनों का निषेधात्मक सम्बन्ध है २ (क) में हेतु और साध्य के मध्य भावात्मक और दोनों का पक्ष के साथ

१. परीक्षामुखम् ३-५८, और भी देखिए चम्पतरायकृत

Science of Thought, पृ० १२१-१२२।

निषेधात्मक सम्बन्ध है। २ (ख) में पक्ष और साध्य के मध्य भावात्मक और दोनों का हेतु के साथ निषेधात्मक सम्बन्ध है।]

इससे अब ये नियम निकलते हैं, कि—

१. उपलब्धि हेतु का पक्ष के साथ धनात्मक (भावात्मक) सम्बन्ध होता है।
२. अनुपलब्धि हेतु का पक्ष के साथ ऋणात्मक (निषेधात्मक) सम्बन्ध होता है।
३. अविरुद्ध हेतु का साध्य के साथ धनात्मक (संगतिपूर्ण) सम्बन्ध होता है।
४. विरुद्ध हेतु का साध्य के साथ ऋणात्मक (असंगतिपूर्ण) सम्बन्ध होता है।

इस प्रकार हेत्वनुमान के त्रिकोणीय संबंध में उपर्युक्त प्रकार से दो भुजाओं का निर्णय पूरा हो गया। यथा— हेतु और पक्ष, तथा हेतु और साध्य के बारे में। अब शेष भुजा रहती है पक्ष और साध्य की, जो उपर्युक्त दो भुजाओं की स्थिति से निश्चित होती है, अथवा जिसके नियम उपर्युक्त नियमों से निगमित होते हैं। यह निगमन गणित के सीधे और सरल नियमों के आधार पर बड़ी आसानी से किया जा सकता है। गणित में धन-धन के समुच्चय का परिणाम धन, धन—ऋण के समुच्चय का परिणाम ऋण तथा ऋण-ऋण के समुच्चय का परिणाम धन होता है। हमने हेतु संबंध के उपर्युक्त चार नियमों में उपलब्धि को “+”, अनुपलब्धि को “—”, अविरुद्ध को “+” और विरुद्ध को “—” मान्य किया है। अतः गणित के सर्वमान्य नियम के अनुसार :—

१. उपलब्धि (+) अविरुद्ध (+) हेतु से निष्कर्ष धनात्मक होगा; [यथा—पर्वत पर अग्नि है—१(क)]
२. उपलब्धि (+) अविरुद्ध (—) हेतु से निष्कर्ष ऋणात्मक होगा; [यथा—पर्वत पर शीत नहीं है—१(ख)]
३. अनुपलब्धि (—) अविरुद्ध (+) हेतु से निष्कर्ष ऋणात्मक होगा; [यथा पर्वत पर अग्नि नहीं है—२(क)]
४. अनुपलब्धि (—) विरुद्ध (—) हेतु से निष्कर्ष धनात्मक होगा; यथा—पर्वत पर शीत है—२(ख)]

हेत्वनुमान का आकारी निर्वचन

अब हम यदि उपर्युक्त चारों हेत्वनुमानों को आकारी

तर्कशास्त्र (Formal Logic) की कसौटी पर कसें, तो हम पाएंगे कि वे वस्तुतः एक ही प्रकार के तर्क हैं, और उनकी तात्त्विकता में कोई भेद नहीं है। हम उन्हें आकारी तर्क की भाषा में निम्न प्रकार व्यक्त कर सकते हैं :—

- १ (क) सभी धूम्रावस्थाएँ अग्नि की अवस्था हैं। MaP
पर्वत पर धूम्रावस्था है; SaP
∴ पर्वत पर अग्न्यावस्था है। ∴ SaP (Barbara)

- १ (ख) कोई धूम्रावस्था शीतावस्था नहीं है; MaP
पर्वत पर धूम्रावस्था है; SaM
∴ पर्वत पर शीतावस्था नहीं है। ∴ SeP (P ≡ शत को अग्न्याभाव मानते हुए)
(Celarent)

- २ (क) कोई अग्न्याभाव धूम्रावस्था नहीं है, PaM
पर्वत पर अग्न्याभाव है। SaP
∴ पर्वत पर धूम्रावस्था नहीं है। ∴ SaM
(Celarent)

- २ (ख) सब अग्न्याभाव शीतावस्थाएँ हैं; PaM
पर्वत पर अग्न्याभाव है; SaP
∴ पर्वत पर शीतावस्था है। ∴ SaM (M ≡ शीत को धूम्राभाव मानते हुए)
(Barbara)

उपर्युक्त उदाहरणों को देखने से बिल्कुल स्पष्ट है कि चारों हेत्वनुमानों के साध्यवाक्य (Major premise) बिल्कुल एक ही हैं। १ (क) के साध्यवाक्य का प्रतिवर्तित वाक्य (Obverse proposition) १ (ख) का साध्य वाक्य है। १ (ख) के साध्य वाक्य का परिवर्तित (Converse Proposition) और १ (क) का परिप्रतिवर्तित वाक्य (Contrapositive) २ (क) का साध्य वाक्य है, तथा २ (क) के साध्यवाक्य का पूर्ण परिप्रतिवर्तित (Complete contrapositive) वाक्य २ (ख) साध्यवाक्य है। यथा—

MaP ≡ MeP (Obvdrse) १—(ख)

„ ≡ „ (Incomplete contrapositive) २-क

MaP ≡ PaM (Complete contrapositive) २-ख

इस प्रकार चारों साध्य वाक्य मूल में एक है। चारों का पक्ष तो पूर्णतः अपरिवर्तित ही है। हेतु पद अवश्य उपलब्धि और अनुपलब्धि प्रकारों में भिन्न हो गया है, जो साध्य वाक्य की जरूरत के लिहाज से हुआ है, क्योंकि प्रत्येक हेत्वनुमान को प्रथम आकृति में ही रहना था। इसीलिए सभी हेत्वनुमान प्रथम आकृति के बारंबारा और केलेरीन संयोगों में ही सिमिट कर रह गये हैं। अतः आकार की दृष्टि से वे सब एक ही प्रकार के अनुमान हैं।

ऊपर के पैराग्राफ में जैन हेत्वनुमान की पश्चिमी तर्कशास्त्र सम्मत आकार के सदर्थ में जाँच की गई। अब इसके साथ हम यह भी बताना चाहेंगे, कि जैन हेत्वनुमान का विषय-विस्तार आरस्तवीय हेत्वनुमान के सीमित विस्तार से ही बंधा नहीं है। वस्तुतः जैन हेत्वनुमान की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि वह आकारी दृष्टिकोण से खरा मिट्ट होते हुए भी आकारी तर्कशास्त्र की सीमाओं से भी मुक्त है। पश्चिम के आकारी तर्कशास्त्रियों ने भी आकारी तर्कशास्त्र की घोर आलोचना की, क्योंकि इस आकारी हेत्वनुमान (Formal syllogism) की परिधि बहुत सकीर्ण है। इसमें प्रत्येक प्रकार की तर्क-प्रक्रिया आकार-गत नहीं की जा सकी, जैसे कि कारण से कार्य कायं से कारण, अनुक्रम और सहवर्ती घटनाओं संबंधी अनुमान आदि। अतः वस्तुगत दृष्टि (Material view-point) से आकारी हेत्वनुमान कोई अधिक मूल्य नहीं रखता। उसमें केवल उद्देश्य और विधेयरूप में आने योग्य वर्ग-सम्बोधना (Class concepts) संबंधी अनुमान ही विषय किए जा सकते हैं। परन्तु जैन हेत्वनुमान में वर्ग-सम्बोधना के साथ अन्य अनुमानों का भी स्थान है। और उसी दृष्टिकोण से हेतु के उपयुक्त चार भेदों के अनेक उपभेद किये गये हैं, जो निम्न प्रकार हैं। इन उप-भेदों का विस्तारपूर्वक अध्ययन सम्प्रति स्थानाभाव के कारण सम्भव नहीं है।

उपभेद १—

१ उपलब्धि अविरुद्ध हेतु

- [क] व्याप्य— उदाहरण
शब्द परिणामी है;
क्योंकि शब्द बनता है।

१. परीक्षामुलम् ३-६५ से ८६ पर्यंत।

- [ख] कार्य— इस पशु में बुद्धि है;
क्योंकि इसमें व्यवहार है।
[ग] कारण— यहाँ छाया है;
क्योंकि छाता है।
[घ] पूर्वचर— रोहिणी का उदय होगा;
क्योंकि कृत्तिका उदय हो चुका है।
[ङ] उत्तरचर— भरिणी का उदय हो चुका है;
क्योंकि रोहिणी का उदय है।
[च] सहचर— फल में रूप है;
क्योंकि रस है।

२. उपलब्धि विरुद्ध हेतु

- [क] व्याप्य— यहाँ शीतस्पर्श नहीं है;
क्योंकि उष्णता नहीं है।
[ख] कार्य— यहाँ शीतस्पर्श नहीं है,
क्योंकि धूम्र है।
[ग] कारण— इस शरीर में मुख नहीं है;
क्योंकि हृदय शल्य है।
[घ] पूर्वचर— मुहूर्तान्ते रोहिणी उदित न होगा;
क्योंकि रेवती का उदय है।
[ङ] उत्तरचर— मुहूर्तपूर्व भरिणी उदित न होगी,
क्योंकि पुष्य का उदय है।
[च] सहचर— यह भित्ति पर भाग विहीन नहीं है;
क्योंकि उसका अंतर्भाग मौजूद है।

३. अनुपलब्धि अविरुद्ध हेतु

- [क] स्वभाव— भूतल पर घट नहीं है;
क्योंकि घट स्वभाव नहीं है।
[ख] व्यापक— यहाँ शिशिपा (वृक्ष) नहीं है;
क्योंकि यहाँ कोई वृक्ष नहीं है।
[ग] कार्य— यहाँ अप्रतिबद्ध समर्थन अग्नि नहीं है;
क्योंकि धूम्र नहीं है।
[घ] कारण— यहाँ धूम्र नहीं है;
क्योंकि यहाँ अग्नि नहीं है।
[ङ] पूर्वचर— मुहूर्त बाद रोहिणी उदित न होगा;
क्योंकि कृत्तिकोदय नहीं है।

- [च] उत्तरचर— मुहूर्तपूर्व भग्नि उदित नहीं हुआ है, इसमें अस्तु की हेतुनुमान संबंधी सभी उपलब्धियां तथा
क्योंकि अभी कृतिका ऊपर नहीं है। सीमाओं से अधिकांशतः मुक्ति मौजूद है।
- [छ] सहचर— समतुला का एक छोर उन्नाम नहीं है; (ज्ञानपुर—वाराणसी)
क्योंकि दूसरा छोर नाम नहीं है।

सहायक ग्रन्थ सूची (Bibliography)

४. अनुपलब्धि विरुद्ध हेतु

- [क] कार्य— इस प्राणि में व्याधि विशेष है,
क्योंकि निगमय चेष्टाएँ नहीं है।
- [ख] कारण— इसमें दुःख है,
क्योंकि डग्ट संयोग नहीं है।
- [ग] स्वभाव— सभी वस्तुएँ अनेकान्त धर्मी हैं,
क्योंकि उनमें एकान्त स्वभाव नहीं है।

इस प्रकार संक्षेप में, उपलब्धि के दोनों प्रकारों में ७-७ उपप्रकार और अनुपलब्धि में अविरुद्ध के ८ तथा विरुद्ध के ३ उपप्रकार किए गए हैं।

उपसंहार

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है, कि जैन तर्क के क्षेत्र में किमी वर्ग के तर्कशास्त्रियों में पीछे नहीं हैं। हेतुनुमान की विनाश चर्चा और उसका ऊहापोह महिन विवेचन जैनदर्शन की महान् उपलब्धि है।

1. Aristotle—Anal Priora
2. F.H. Bradley—Principles of Logic
3. Welton—Intermediate Logic
4. Joseph—An Introduction to Logic
5. L S. Stabing—A modern Introduction to Logic
6. J S mill—Logic
7. C.R. Jain—Science of Thought
8. P.K. Jain—Jaina and Hindu (Nyaya) Logic—a comparative study

9. माणिक्यनन्दि—परीक्षामुग्यम
10. हेमचन्द्र—प्रमाण मीमासा
11. अन्नमभट्ट—तर्क मग्रह
12. गोतम—न्यायमूल
13. प्रमाणनय तत्वालोकात्मिका
14. अन्ननवाय्य—प्रमेय रत्नमाला ★

स्व-पर सम्बोधक पद

६ बिबर दौलतराम

मानत क्यों नहि रे, हे नर ! सीख सयानी ।
भयो अचेत मोहमद पीके, अपनी सुधि विसरानी ॥८॥
दुखी अनादि कुबोध अवत तें, फिर तिनमें रति ठानी ।
ज्ञानसुधा निज भाव न चाह्यो, पर परनति मति मानी ॥९॥
भव अमारता लखें न क्यों जहें, नृप ह्वै कृमि विट यानी ।
सधन निधन नृप दास स्वजन रिपु, दुखिया हरि से प्राणी ॥१०॥
देह येह गद येह नेह इस, है बहु बिपति निसानी ।
जड मलीन छिन छीन करमकृत, बधन शिव-मुख-हानी ॥११॥
चाह-ज्वलत ईधन-विधिवन-धन, आकुलता कुलखानी ।
ज्ञान-सुधारस-शोधन रवि ये, बिषय अमित सृष्टिदानी ॥१२॥
यों लखि भक्तन-भोग बिरचि करि, निजहित सुन जिनशानी ।
तज वल राग बोल अब, अवसर, यह जिनचन्द्र बखानी ॥१३॥

महान सन्त भट्टारक विजयकीर्ति

डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल एम. ए. पो-एच. डी.

१५वीं शताब्दी में भट्टारक सकलकीर्ति ने गुजरात एवं राजस्थान में अपने त्यागमय एवं विद्वत्तापूर्ण जीवन से भट्टारक संस्था के प्रति जनता की गहरी आस्था प्राप्त करने में महान सफलता प्राप्त की थी। उनके पश्चात् इनके दो सुयोग्य शिष्य प्रशिष्यों ने भ० भुवनकीर्ति एवं भ० ज्ञानभूषण ने उसकी नींव को और भी दृढ़ करने में अपना योग दिया। जनता ने उन साधुओं का हार्दिक स्वागत किया और उन्हें अपने मार्गदर्शक एवं धर्म गुरु के रूप में स्वीकार किया। समाज में होने वाले प्रत्येक धार्मिक एवं सांस्कृतिक तथा साहित्यिक समारोहों में इनका परामर्श लिया जाने लगा तथा यात्रा सघी एवं विम्बप्रतिष्ठाओं में इनका नेतृत्व स्वतः ही अनिवार्य मान लिया गया। इन भट्टारकों के विहार के अवसर पर धार्मिक जनता द्वारा इनका अपूर्व स्वागत किया जाता और उन्हें अधिक से अधिक सहयोग देकर उनके महत्व को जनसाधारण के सामने रखा जाता। ये भट्टारक भी जनता के अधिक से अधिक प्रिय बनने का प्रयास करते थे। ये अपने सम्पूर्ण जीवन को समाज एवं संस्कृति की सेवा में लगाते और अध्ययन, अध्यापन एवं प्रवचनों द्वारा देश में एक नया उत्साहप्रद वातावरण पैदा करते।

विजयकीर्ति ऐसे ही भट्टारक थे जिनके बारे में अभी बहुत कम लिखा गया है। ये भट्टारक ज्ञानभूषण के शिष्य थे और उनके पश्चात् भट्टारक सकलकीर्ति द्वारा प्रतिष्ठापित भट्टारक गादी पर बैठे थे। इनके समकालीन एवं बाद में होने वाले कितने ही विद्वानों ने अपनी ग्रंथ प्रशस्तियों में इनका आदरभाव से स्मरण किया है। इनके प्रमुख शिष्य भट्टारक शुभचन्द्र ने तो इनकी अत्यधिक प्रशंसा की है और इनके संबंध में कुछ स्वतन्त्र गीत भी लिखे हैं। विजयकीर्ति अपने समय के समर्थ भट्टारक थे। उनकी प्रसिद्धि एवं लोकप्रियता काफी अच्छी थी, यही बात है कि ज्ञानभूषण ने उन्हें अपना पट्टाधि-

कारी स्वीकृत किया और अपने ही समक्ष इन्हें भट्टारक पद देकर स्वयं साहित्य सेवा में लग गये।

विजयकीर्ति के प्रारम्भिक जीवन के सम्बन्ध में अभी कोई निश्चित जानकारी उपलब्ध नहीं हो सकी है लेकिन भ० शुभचन्द्र के विभिन्न गीतों के आधार पर ये शरीर से कामदेव के समान सुन्दर थे। इनके पिता का नाम साह गंगा तथा माता का नाम कुम्भारि था।

साहा गंगा तनये करउ विनये शुद्ध गुरुं ।

शुभ बसह जाते कुम्भारि मातं परमपरं ।

साक्षादि सुबुद्धं जोकीह शुद्धं दलित तमं ।

सुरसेवत पापं मारीत मायं मथित तमं ॥१०॥

—शुभचन्द्र कृत गुरु छन्द गीतिका ।

बाल्यकाल में ये अधिक अध्ययन नहीं कर सके थे लेकिन भ० ज्ञानभूषण के संपर्क में आते ही इन्होंने सिद्धान्त ग्रन्थों का गहरा अध्ययन किया। गोमट्टसार लब्धिसार, त्रिलोकसार आदि सैद्धान्तिक ग्रन्थों के अतिरिक्त न्याय, काव्य व्याकरण आदि के ग्रन्थों का भी गहरा अध्ययन किया और समाज में अपनी विद्वत्ता की अद्भुत छाप जमा दी।

लब्धि सु गुमट्टसार सार त्रिलोचय मनोहर ।

कंकश तकं वितकं काव्य कमलाकर दिणकर ।

श्रीमूलसंघि विख्यात नर विजयकीर्ति वांछित करण ।

जा चांवसूर ता लगि तयो जयह सूरि शुभचंद्र सरण ।

इन्होंने जब साधु जीवन में प्रवेश किया तो ये अपनी युवावस्था के उत्कर्ष पर थे। सुन्दर तो पहले से ही थे किन्तु यौवन ने उसे और भी निलार दिया। इन्होंने साधु बनते ही अपने जीवन को पूर्णतः संयमित कर लिया। कामनाओं एवं षटरस व्यंजनों से दूर हट कर ये साधु जीवन की कठोर साधना में लग गये। और ये अपनी साधना में इतने तल्लीन हो गये कि देश भर में इनके चरित्र की प्रशंसा होने लगी।

भ० शुभचन्द्र ने इनकी सुन्दरता एवं समय का एक रूपक गीतमें बहुत ही सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है। रूपक गीत का संक्षिप्त निम्न प्रकार है।

जब कामदेव को भ० विजयकीर्ति की सुन्दरता एवं कामनाओं पर विजय का पता चला तो वह ईर्ष्या से जल भुन गया और क्रोधित होकर मन्त के समय को डिगाने का निश्चय किया।

नाद एक बैरि वगि रंगि कोई नाबीयो ।
मूल सधि पट्ट बंध विविह भावि भाबीयो ।
तसह भेरी डोल नाद वाद तेह उपनो ।
भणि मार तेह नारि कवण आज नीपनो ।

कामदेव ने तत्काल देवांगनाओं को बुलाया और विजयकीर्ति के समय को नष्ट करने की आज्ञा दी लेकिन जब देवांगनाओं ने विजयकीर्ति के बारे में सुना तो उन्हें अत्यधिक दुःख हुआ और मन्त के पाम जाने में कष्ट अनुभव करने लगी। इस पर कामदेव ने उन्हें निम्न शब्दों से उन्माहित किया।

वयण मुनि नव कामिणी दुख धारिइ महत ।
कही विमासण मझहवी नवि वारयो रहि कंत ॥१॥
रे रे कामणि म करि तु दुखह ।
इंद्र नरेन्द्र मगाव्या भिखह ।
हरि हर बभमि कीया रंकह ।
लौय सब मम वसीहुं निसंकह ॥१४॥

इसके पश्चात् क्रोध मान मद एवं मिथ्यात्व की सेना खड़ी की गई। चारों ओर वसन्त ऋतु कर दी गई जिसमें कोयल बुहु-कुहु करने लगी और भ्रमर गुजाने लगे। भेरी बजने लगी। इन सब ने मन्त विजयकीर्ति के चारों ओर जो माया जाल बिछाया उसका वर्णन कवि के शब्दों में पढ़िए—

बोलंत खेलंत चालत धावत धूणंत ।
धूजत हावकंत पूरत मोडत ।
तुबंत भजंत खंजत मुबकंत मारत रगेण ।
फाडंत जाणंत घालंत फेडंत खगोण ।
जाणीय मार गमण रमण य तीसो ।
बोल्यावइ निज वलं सकलं सुधीसो ।
सन्नाह बाहु बहु टोप तुषार बंती ।
रायं गणयता गयो बहु युद्ध कंती ॥१८॥

कामदेव की सेना आपस में मिल गई। बाजे बजने लगे। कितने ही मनुष्य नाचने लगे। धनुष-बाण चलने लगे और भीषण नाद होने लगा। विषम नाद किये गये। मिथ्यात्व तो देखते ही डर गया और कहने लगा कि इस मन्त ने तो मिथ्यात्व रूपी महान विकार को पहिले ही धो डाला है। इसके पश्चात् कुमति की बारी आया लेकिन उसे भी कार्य में सफलता नहीं मिली। मोह की सेना भी शीघ्र ही भाग गई अन्त में स्वयं कामदेव ने उस पर आक्रमण किया। इसका वर्णन पढ़िए—

महा मयण महीयर चडीयो जयवर कम्मह परिकर साथि कियो
मत्सर मद माया व्यसन निकाया पाखंड राया साथि लियो ।

उधर विजयकीर्ति ध्यान में तल्लीन थे। उन्होंने शम, दम एवं यम के द्वारा एक भी नहीं चलने दी जिससे मदन राज को उसी क्षण वहां से भागना पड़ा।

भूटां भूट करीय तिहां लग्गा, मयणराय तिहां ततक्षण भग्गा
आगति धो मयणाधिय नासइ,
ज्ञान खडग मुनि अंतिहि प्रकासइ ॥२७॥

इस प्रकार इस गीत में शुभचन्द्र ने विजयकीर्ति के चरित्र की निर्मलता ध्यान की गहनता एवं ज्ञान की महत्ता पर अच्छा प्रकाश डाला है। इस गीत से उनके महान व्यक्तित्व की झलक मिलती है।

विजयकीर्ति के महान व्यक्तित्व की सभी परवर्ती कवियों एवं भट्टारकों ने प्रशंसा की है। ब० कामराज ने उन्हें सुप्रचारक के रूप में स्मरण किया है^१। भ० सकल-भूषण ने यशस्वी, महामना, मोक्षसुखाभिलाषी, आदि विशेषताओं से उनकी कीर्ति का बखान किया है। शुभचन्द्र तो उनके प्रधान शिष्य तो थे ही इसलिए उन्होंने अपनी प्रायः सभी कृतियों में उनका उल्लेख किया है^२। श्रेणिक चरित्र में यतिराज, पुण्यमूर्ति आदि विशेषणों से अपनी श्रद्धाजलि अर्पित की है।

जयति विजयकीर्ति पुण्यमूर्तिः सुकीर्तिः

जयतु च यतिराजो भूमिपः स्पृष्टपादः ।

१. विजयकीर्तियोऽभवत् भट्टारकपदेशिनः ॥७॥

—जयकुमार पुराण

२. भट्टारक श्रीविजयादिकीर्तिस्तदीयपट्टे वरलब्धकीर्तिः ।

महामना मोक्षसुखाभिलाषी बभूव जनावनियार्च्यपादः ॥

—उपदेश रत्नमाला

१५-नलिन हिमांशुर्ज्ञानभूषस्य पट्टे,

विविध पर विधादि क्षमाधरे वज्रपातः ॥२२॥

—श्रेणिक चरित्र ।

भ० देवेन्द्रकीर्ति एव लक्ष्मीचन्द चादवाड ने भी अपनी कृतियों में विजयकीर्ति का निम्न शब्दों में उल्लेख किया है ।

विजयकीर्ति तस पट्टधारी, पगल्या पूरण मुखकार रे ।

—प्रद्युम्न प्रबन्ध ।

तिन पट विजयकीर्ति जैवंत, गुरू अन्धमती परवत समान ।

—श्रेणिक चरित्र ।

सांस्कृतिक सेवा

विजयकीर्ति का समाज पर जबरदस्त प्रभाव होने के कारण समाज की गतिविधियों में उनका प्रमुख हाथ रहता था । इनके भट्टारक काल में कितनी ही प्रतिष्ठाएं हुई । मन्दिरों का निर्माण एव जीर्णोद्धार किये गये । इनके अतिरिक्त सांस्कृतिक कार्यक्रमों के सम्पादन में भी इनका विशेष उल्लेखनीय योगदान रहा । सर्वप्रथम इन्होंने सवत् १५५७-१५६० और उसके पश्चात् सवत् १५६१, १५६४, १५६८, १५७० आदि सवतों में सम्पन्न होने वाली प्रतिष्ठाओं में भाग लिया और जनता को मार्गदर्शन दिया । इन सवतों में प्रतिष्ठित मूर्तियां डूंगरपुर, उदयपुर आदि नगरों के मन्दिरों में मिलती हैं । सवत् १५६१ में इन्होंने सम्यग्दर्शन सम्यक्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र्य की महत्ता को प्रतिष्ठापित करने के लिए रत्नत्रय की मूर्ति को प्रतिष्ठापित किया ।

स्वर्णकाल : विजयकीर्ति के जीवन का स्वर्ण काल सवत् १५५२ से १५७० तक का माना जा सकता है । इन १८ वर्षों में इन्होंने देश को एक नयी सांस्कृतिक चेतना दी तथा अपने त्याग एवं तपस्वी जीवन से देश को आगे बढ़ाया । सवत् १५५७ में इन्हें भट्टारक पद अवश्य

१. भट्टारक सम्प्रदाय पृ० १४४

२. यः पूज्यो नृपमल्लिभैरवमहादेवेन्द्र मुख्यैर्नृपैः ।

षटतर्कमशास्त्रकोविदमतिजप्रितयशश्चन्द्रमाः ॥

भव्याभोरुहभास्करः शुभकरः संसारविच्छेदकः ।

सोव्याच्छ्रुविजयादिकीर्ति मुनिपो भट्टारकाधीश्वरः ।

वही पृ० १४४

मिल गया था । उस समय भट्टारक ज्ञानभूषण जीवित थे क्योंकि उन्होंने सवत् १५६० में तत्त्वज्ञान तरंगिणी की रचना समाप्त की थी विजयकीर्ति ने सम्भवतः स्वयं ने कोई कृति नहीं लिखी । वे केवल अपने विहार एव प्रवचन में ही मार्ग दर्शन देते रहे । प्रचारक की दृष्टि से उनका काफी ऊंचा स्थान बन गया था और बहुत से राजाओं द्वारा भी सम्मानित होते थे । वे शास्त्रार्थ एवं वाद विवाद भी करने थे और अपने अकाट्य तर्कों से अपने विरोधियों में अच्छी टक्कर लेते थे । जब वे बहस करने तो श्रोतागण मंत्र मुग्ध हो जाते और उनकी तर्कों को सुनकर उनके ज्ञान की प्रशंसा किया करते । भ० शुभचन्द्र ने अपने एक गीत में इनके शास्त्रार्थ का निम्न प्रकार वर्णन किया ।

वादीय वाद विटंब वादि मिगाल मद् गंजन ।

वादीय कुंद कुदाल वादि श्रावय मन रजन ।

वादि तिमिर हर सूरि, वादि नीर सह सुधाकर ।

वादि विटबन वीर वादि निगाण गुण सागर ।

वादीन विवुध सरसति गच्छि मूलसंधि दिगंबर रह ।

कहि ज्ञानभूषण सो पट्टि श्रीविजयकीर्ति जागो यतिवरह ॥५॥

इनके चरित्र ज्ञान एव समय के सम्बन्ध में इनके शिष्य शुभचन्द्र ने कितने ही पद्य लिखे हैं उनमें से कुछ का रसास्वादन कीजिए—

सुरनर खग वर चारुचंद्र चरित चरणद्वय ।

समयसार का सार हंस भर चरित चिन्मय ।

वक्ष पक्ष शुभ मुख लक्ष्य लक्षण पतिनायक ।

ज्ञान दान जिनगान अथ चातक जलदायक ।

कमनीय मूर्ति सुन्दर सुकर धर्म शर्म कल्याण कर ।

जय विजयकीर्ति सूरिश वर श्री श्री वर्द्धन सौम्य वर ॥७॥

विशद विसंवाद वादि वरन कृद गद भेषज ।

दुनय वनद समीर वीर वंदित पद पंकज ।

पुन्य पयोधि सुचंद्र चंद्र चामीकर सुन्दर ।

स्फूर्ति कीर्ति बिलयात सुमूर्ति सोभित सुभ संकर ।

समार सर्व बहु द्रव्य हर नागरमनि चारित्र धर ।

श्री विजयकीर्ति सूरिय जयवर श्री वर्द्धन पंकहर ॥८॥

इस प्रकार विजयकीर्ति अपने समय के महान् सन्त थे जिनके विषय में अभी पर्याप्त खोज होना बाकी है ।

महाकवि समयसुंदर और उनका दानशील तप भावना संवाद

सत्यनारायण स्वामी एम. ए.

राजस्थान में एक कहावत है—समयसुंदर रागीतड़ा, कुंभे राड़े रा भीतड़ा' अर्थात् जिस प्रकार महाराणा कुंभा द्वारा बनवाये हुए सपूर्ण मकानों, मंदिरों, स्तंभों और शिवालेश्वों आदि का पार पाना कठिन है उसी प्रकार समयसुंदर जी विरचित समयस्त गीतों का पता लगा पाना भी दुष्कर कृत्य है; उनके गीत अपरिमित हैं।

कवि-परिचय

महाकवि समयसुंदर १७हवी शताब्दी के लब्धप्रतिष्ठ राजस्थानी जैन कवि हुए हैं। उनका जन्म पोरवाल जानीय पिता श्री रूपसिंह और माता लीलादेवी के यहां अनुमानतः सवत् १६१० वि० में साचौर (सत्यपुर) में हुआ। बाल्यावस्था में ही उन्होंने दीक्षा ग्रहण कर क्रमशः महोपाध्याय पद प्राप्त किया। मधुर स्वभावी महाकवि अपनी अप्रतिम विद्वत्ता से अपने जीवन-काल में ही प्रशंसित हो चुके थे। उनने भारत के अनेक प्रदेशों का भ्रमण करके अपनी नानाविध रचनाओं और मनुष्यदेशों द्वारा तत्रस्थ जनसमुदाय को कल्याणपथ की ओर अग्रसर किया। सौभाग्यवश महाकवि ने दीर्घायु प्राप्त की थी। सं० १७०३ में उन्होंने चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन ग्रहमदा-वाद में समाधिपूर्वक नदवर देह को त्याग कर स्वर्ग की ओर प्रस्थान किया। अपनी इस दीर्घायु में महाकवि ने संस्कृत और राजस्थानी की अनेक रचनाएँ कीं। "इनकी योग्यता एवं बहुमुखी प्रतिभा के सबंध में विशेष न कह कर यह कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी कि कलिकाल सर्वज्ञ हेमचंद्राचार्य के पश्चात् प्रत्येक विषय में मौलिक सज्जनकार एवं टीकाकार के रूप में विपुल साहित्य का निर्माता अन्य कोई नायक ही हुआ हो।" 'सीताराम-चौपाई' नामक बृहत्काय जैन-रामायण कवि की प्रतिनिधि १. गहोपाध्याय विनयसागर: 'समयसुंदर कृति-कुसुमांजलि'

गत निबंध 'गहोपाध्याय समयसुंदर', पृ० १.

रचना है। उनके अपरिमित फुटकर गीत भी बड़े महत्त्व-पूर्ण हैं। महाकवि के संबंध में विस्तृत जानकारी एवं उनकी लघु रचनाओं के रसास्वादन के लिए श्री अग्रर-चंद नाहटा और भँवरलाल नाहटा संपादित 'समयसुंदर कृति-कुसुमांजलि' दृष्टव्य है। यहाँ प्रस्तुत है उनकी अनेक लघुकृति 'दान शील तप भावना संवाद' का संक्षिप्त अध्ययन।

कृति-परिचय

प्रस्तुत कृति की रचना सं० १६६२ में राजस्थान के भूतपूर्व आमेर (जयपुर) राज्य के सागानेर नगर में हुई। इसके दो अपर नाम श्री अग्ररचंद भँवरलाल नाहटा के अनुसार 'दान शील तप भावना संवाद शतक' और श्री विनयसागर के अनुसार 'दानादि चौडालिया' है यद्यपि स्वयं महाकवि ने इसका नाम 'दान शील तप भावना संवाद' ही रखा है—

दान शील तप भावना रे रास रच्यउ सगदो रे।

भणतां गुणतां भावसुं रे, रिद्धि समृद्धि सुप्रसादो रे॥

॥ ढाल ५ छंद १० ॥

पात्र ढालो में आबद्ध कुल एक सी एक छंदों की इस

१. सोनै सँ बासठ समै रे, सागानेर मभार।

पद्य प्रभू सुपसाउ लै रे, एह थुण्यो अधिकारो रे॥

—स. कृ. कु. में विनयसागरजी का निबंध, पृ० ५६

[नाहटा-बंधुओं द्वारा प्रकाशित रास में इसका रचना-संवत् 'सोलइ सइ छासठि' छपा है जो संभवतः प्रूफ रीडिंग की भूल रही है, अन्यथा अपने 'सीता-राम-चौपाई' की भूमिका में (पृ० ४०) उन्होंने इस-का रचना सं० १६६२ ही लिखा है। श्री देसाई (मोहनलाल दलीचंद) ने भी अपने निबंध 'कविबर समयसुंदर' (आनंदकाव्य महोदधि भा० ७, पृ. ३५) में इसी संवत् का उल्लेख किया है।]

लघु कृति में रूपकात्मक ढंग से दान, शील, तप और भावना—धर्म के इन चारों तत्त्वों का परस्पर विवाद प्रदर्शित किया गया है।

प्रारंभ

कृति के प्रारंभ में मंगलाचरण के रूप में महाकवि ने प्रथम जिनेश्वर ऋषभदेव भगवान का वदन तथा गुरु-प्रसाद का स्मरण किया है—

प्रथम जिणेश्वर पय नभो, पामो सुगुरु प्रसाद ।

दान शील तप भावना, बोलिसि बहु सवाद ॥ दोहा १॥

रास का सार

रास का सार इस प्रकार है—

एक बार भगवान महावीर राजगृह के उद्यान में समोसरे (पधारे) । जब वे बारह परिषदों को उपदेश देने वाले थे कि दान ने उनसे कहा—प्रभो ! मैं बड़ा हूँ एतदर्थ व्याख्यान में पहले मेरा माहात्म्य बतलाये । और उसने बड़े दर्प के साथ अपने साधियों से कहा—सब सुन लो, है कोई मेरे समान महान ? दीक्षा-प्रसंग पर भगवान भी पहले दान देते हैं । दाता का प्रातःकाल उठने ही नाम स्मरण किया जाता है और उसकी मनोकामना तो सिद्ध होती है २ । समस्त संसार को वश में करना मेरे लिए जरा-सी बात है । मुझ जैसा ऋद्धि-समृद्धि का दाता भी संसार में कोई नहीं ३ ।

तत्पश्चात् वह उन महान आत्माओं का नामोल्लेख करता है जिसका कि निस्तार दान के द्वारा हुआ था—
मुमुख नामक गाथापति, चक्रवर्ती भरत, शालिभद्र को मेरे ही प्रसाद में ही सुख मिला । मूलदेव उड्ड के बालको के दान द्वारा राजा बन गया । भगवान ऋषभदेव को इक्षु रस का पारणा कराने से श्रेयासकुमार भवसागर से तर

१. बड़ौती बारह परषदा, सुणिवा जिणवर वाणि ।

दान कहइ प्रभु हूँ बडउ, मुझ नइ प्रथम बखाणि ॥

प्र० दो० ३

२. प्रथम पहरि दातार नुं, त्यइ सहू कोई नाम ।

दीधां री देवल चडइ, सीभइ बंछित काम ॥१५

३. दान कहइ जणि हूँ बडउ, मुझ सरिखउ नहीं कोय ।

रिद्धि समृद्धि सुख संपदा, दानइ दउलति होय ॥१२

गया ४ । श्रेणिक राजा ने गज के भव में शशक को प्राण-दान दिया जिसके फलस्वरूप उसे मेघकुमार-से पुत्र की प्राप्ति हुई ५ । इस प्रकार उसने चंदनबाला सती का भी उल्लेख किया ।

इसी बीच शील ने उसे टोक दिया—अरे, क्यों व्यर्थ का अहंकार कर रहा है । याचक के साथ तुम्हारा आठों प्रहर आडंबर का व्यवहार रहता है । तुम्हारा आगे बढ़ना क्या अर्थ रखता है ? सब कुछ तो मेरे पीछे है । भला सवारी के आगे चलने वाला दास भी कभी राजा हो सकता है ६ । कोई जिनेन्द्र का नया ही स्वर्ण—मंदिर बनवाये और करोड़ों का सोना दान दे तब भी वह मेरी समता नहीं कर सकता ७ । शील से समस्त सकट टल जाने है, यश और सौभाग्य की प्राप्ति होती है तथा देव-ताओं का सान्निध्य प्राप्त होता है । यही क्यों, शील-व्रत-धारी को न तो माप छू सकता है, न अग्नि जला सकती है तथा न अन्य भीषण वन्य प्राणी ही भयभीत कर सकते हैं ८ ।

तत्पश्चात् शील भी दान की तरह डींग हाकते हुए उन समस्त नर-नारियों का जिक्र करता है जिनका उसके द्वारा उद्धार हुआ है । वह कहता है—जगद्विरूपात कलह कराने वाला और भ्रमणशील नारद को मैंने सिद्धि दी ९ । रावण के घर से आई सीता को अग्नि-परीक्षा में पावक को पानी बनाकर मैंने ही सफलता दिलाई थी । पांडवों

४. प्रथम जिणेश्वर पारणइ, श्री श्रेयांसकुमार ।

सेलडि रस विहरावियउ, पाम्यउ भवनउ पार ॥१७

५. गज भव ससिलउ राखियउ, करुणा कीधी सार ।

श्रेणिक नइ घरि अवतर्यउ, अगज मेघकुमार ॥११०

६. गर्व म कर रे दान नुं, मुझ पूठइ सहू कोय ।

चाकर चालइ आगणि, तउ स्यु राजा होइ ॥१३

७. जिन मंदिर सोना तणउ, नवउ नीपावइ कोय ।

सोवन कोडिकी दान छइ, शील समउ नहि कोय ॥१४

८. शीलइ सर्प न आभडइ, शीलइ सीतल आगि ।

शीलइ अरि करि केसरी, भय जायइ सब भागि ॥१६

९. कलिकारक जगि जाणियइ,

वलि विरति नही पणि काइ रे ।

ते नारद मइ सीभ्यउ, मुझ जोवउए अधिकाइ रे ॥२१२

द्वारा हरी गई द्रौपदी की लज्जा एक सौ आठ बार वस्त्र प्रदान कर मैंने ही बचाई थी। इनके अतिरिक्त वह सती कलावती, सुभद्रा, सुदर्शन सेठ, सनाह मन्त्रीश्वर; सती-ब्याह्मी, चन्दनबाला, चेटानरेश की सातों पुत्रियों, राजि-मती और कुती इत्यादि की भी इस संबंध में चर्चा करता है।

सील की बात काटकर तप उससे कड़क कर बोला—तू बड़-बड़ कर क्यों बोल रहा है, मेरे सामने तुम्हारी क्या श्रौकात है? तूने स्वादिष्ट भोजन, मधुर तान और शरीर-मज्जा का तो परित्याग कर रखा है। आनंद नाम की तो तुम्हारे पास चीज ही क्या है? नारी से डरने वाला तथा भूठ-कपट द्वारा ज्यो-ज्यो करके प्राण बचाने वाला तू कायर क्यों बाते बघार रहा है? तुम्हारा सम्मान तो विरला ही करता है क्योंकि तू यदि नष्ट होता है तो चारों को भी साथ ले बैठता है। और इधर मैं! मेरा स्पर्श पाकर तो कुष्ठ आदि रोग भी हवा हो जाते हैं। उनमें तप से अट्टाईस लब्धियाँ उत्पन्न होती हैं। मैंने जिन्हें तारा है उन्हें जानकर तू आश्चर्यचकित रह जायगा। ले सुन—

सात मनुष्यों को सदैव मौत के घाट उतारने वाले अर्जुनमाली के घोर पापों का पलायन करके मैंने ही उसके कठोर कर्मा को काटा है। इसी तरह नंदिषेण, हरिकेशी चंडाल, विष्णुकुमार, धन्ना अणगार, हंडण ऋषि और बलभद्र आदि अनेक तपस्वियों का मैंने

१. पहिरण चीर प्रगट कीया, मइ अट्टोत्तर-मइ वारो रे। पांडव हारी द्रौपदी, मइ राखी माम उदागो रे ॥२/८
२. सरसा भोजन तइ तज्या, न गमइ मोठी नाद। देह तणी सोभा तजी, तुभ नइ किस्यउ सवाद ॥२/२
- नारि थकी डरतउ रहइ, कायरि किस्यउ बखान। कूड कपट बहु केलवां, जिम तिम राखइ प्राण ॥३
- को विरलउ तुम्हे आदरइ, छाडइ सहु संसार। एक आपत् भाजतउ, बीजा भाजइ च्यार ॥४
३. मुक्त कर फरसइ उपसमइ, कुष्ठादिक ना रोग। लब्धि अट्टावीस उपजइ, उत्तम तप सयोग ॥२/८
४. सात माणस नित मारतउ, करतउ पाप अघोर हो। अरजुनमाली मइ ऊपरयो, छेह्य करम कठोर हो ॥३/३

निस्तार किया है।

इन तीनों का विवाद अभी समाप्त ही नहीं हुआ कि भाव बीच में ही कूद पड़ा—अरे तुम तीनों क्यों भूझा अभिमान करते हो। महान लोग कहते आये हैं कि धर्म में भाव ही प्रमुख होता है बाकी सब गौण। इस बात का साक्षी तो व्याकरणवेत्ता ही दे देंगे कि तुम लोग नपुंसक हो अतः मेरे अभाव में आप से कुछ भी कार्य संपन्न नहीं हो सकता। रस के बिना कनक की उत्पत्ति, जल के बिना वृक्षों में वृद्धि और लवण के बिना जैसे भोजन में स्वाद नहीं आ पाता उसी प्रकार मेरे बिना किसी की सिद्धि भी नहीं मिल सकती। मंत्र, तंत्र, मणि, औषधि तथा देवता, धर्म और गुरु की सेवा में यदि भावना का समावेश नहीं हुआ तो ये कदापि फलदायी नहीं होते। तुम लोगो ने अभी जो अपने वृत्तांत कहे उनमें यदि भाव नहीं होता तो सिद्धि मिलती ही नहीं। और मैंने, मैंने अकेले ही बहुत से नर-नारियों को मुक्ति दिलाई है, जरा सावधान होकर उनके नाम भी सुन लो। और वह नाम सुनाने लगता है जो इस प्रकार है—प्रसन्नचंद्र ऋषि, इला पुत्र करगड् अणगार, कपिल, अतगड केवली, खदकमूरि के शिष्य, चंडहृद, मगावती, मरुदेवी, दुग्ता, भरत, आपाड-भूति, गजसुकमाल, पृथ्वीचंद आदि।

भगवान महावीर अब तक इन चारों का विवाद सुन रहे थे। उन्हें धर्म-कर्म के संबंध में झगड़ते रहना भला नहीं लगा इसलिए वे चारों को ही परनिदा से विरत होने का उपदेश देने लगे—निदक जैसा पापी कोई नहीं होता। चंडाल की तरह होता है वह। उसका मुंह तक कोई नहीं देखना चाहता। इसलिए आप परनिदा और अहंकार का परित्याग कीजिए। अपने-अपने स्थान पर रहने से ही

५. दान सील तप साभलउ, म करउ भूठ गुमान। लोक सहू बड़े साखि दी, धरमइ भाव प्रधान ॥३/४
६. आप नपुंसक सहू त्रिण्हे, छइ व्याकरणी साखि। काम सरइ नहीं को तुम्हे, भाव भणइ मो पाखि ॥३/५
७. मंत्र, तंत्र, मणि औषधि, देव धरम गुरु सेव। भाव बिना ते सवि वृथा, भाव फलइ नितमेव ॥३/७
८. दीक्षा दिन काउसगि रहउ, गयसुकमाल मसाणि। सोमिल सीस प्रजालीउ रे, सिद्धि गयउ सुहभाणि ॥४/१७

सारा संसार भला लगता है५। तत्पश्चात् भगवान महा-
वीर अपना चानुतन्त्रवसमन्त्रिन धर्मोपदेश प्रारंभ करते हैं६।

काव्यत्व

भाव-पक्ष की दृष्टि में तो रचना में धर्मोपदेश ही की प्रमुखता है। भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट धर्म के चारों तत्त्वों पर आचरण करने की प्रेरणा तो प्रस्तुत कृति से मिलती ही है, सहृदयों को शांत रस से मराबोर होने का भी मुअवमर मिलता है।

भगवान महावीर ने तो यद्यपि विवाद मिटाने के लिए मध्यम मार्ग निकाल कर दान शील तप और भाव को

समान बतलाया है१। किन्तु महाकवि फिर भी निष्कर्ष रूप में भाव को ही श्रेष्ठ बतलाते हैं, क्योंकि वह अकेला ही सर्वथा समर्थ है, यद्यपि बुरा वे तीनों को भी नहीं बतलाते२।

कला-पक्ष भी कृति का समृद्ध है। सरल और मुहा-
वरेदार चुटीली भाषा में धर्म-तत्त्वों का संवाद बड़ा ही रोचक है। दोहा और पांच देशी ढालों—१. मधुकर,
२ पास जिणंद जुहारीयड, ३ नणदल (दल), ४. कपूर
हुयड अति ऊजलु रे तथा ५. चेति चेतन करी—में कृति
आबद्ध है। उपमा, उदाहरण, अनुप्रास आदि अलंकारों
का प्रयोग विशेषतः हुआ है।

१. भगवन हठ भाजण भणी, च्यारे सरिखा गणति ।

च्यार करी मुख आपणा, चतुर्विध धरम भणति ॥४/८

२ नउ पनि अविऊ भाव छड, एकाकी समरत्थ ।

दान मोल तप त्रिण भला, पनि भाव बिना अकयन्थ ॥४/६

अजन आवे आजना, अधिकी आणि ए रेख ।

रज माहे तज काटता, अधिकउ भाव विशेष ॥७

५. को केहनी म करउ नुम्हे, निदा नइ अहकार ।

आप आपणी ढामइ रइउ, सहु को मलउ प्रसार ॥४/५

६. धरम हीयइ धरउ, धरम ना च्यार प्रकारे रे ।

भविषण सांभलउ, धरम मुगति मुखकारे रे ॥५/२

साहित्य-समीक्षा

१. प्राकृत भाषा—लेखक डा० प्रबोध वेचरदास पंडित, प्रकाशक पार्श्वनाथ विद्याश्रम हिन्दू यूनिवर्सिटी वाराणसी । पृ० संख्या ५७ मूल्य डेढ़ रुपया ।

प्रस्तुत पुस्तक प्राकृत भाषा पर सन् १९५३ में दिये गये प्रबोध पंडित के तीन भाषाओं का संकलन है। जिसे उन्होंने सितम्बर के महीने में बनारस यूनिवर्सिटी के भारती महाविद्यालय में दिये थे। उनमें पहला भाषण प्राकृत भाषा की ऐतिहासिक भूमिका, दूसरा प्राकृत के प्राचीन बोली विभाग। इस भाषण में प्राकृत सम्बन्धि अनेक बोलियों पर विचार करते हुए व्याकरण की दृष्टि से प्राकृत भाषा के कुछ रूपों पर विचार किया गया है। तीसरा है प्राकृत का उत्तर कालीन विकास। इस निबन्ध में महावीर और बुद्ध के समय प्रतिष्ठित प्राकृतों का

विकास भारतीय आर्य प्रदेश में होता है और अश्वघोष के समय में प्राकृत साहित्यिक स्वरूप प्राप्त कर लेती है। बोलियों के भेद से ही प्राकृत के विभिन्न रूप दृष्टिगोचर होते हैं। नाटकों की प्राकृतों पर भी विचार किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक प्राकृत के छात्रों के लिए विशेष उपयोगी है।

२. बौद्ध और जैनागमों में नारी जीवन—लेखक डा० कोमलचन्द जैन, प्रकाशक मोहनलाल जैन धर्म प्रचारक समिति अमृतसर । पृ० संख्या २७० मूल्य १५ रुपया ।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में, जिस पर हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस से लेखक को पी-एच. डी की डिग्री मिली है। ग्रन्थ के ७ अध्यायों में बौद्ध और जैनागमों में विहित नारी के जीवन पर अच्छा प्रकाश डाला गया है।

दूम्मे अधिकांशों में विवाहों का कथन करते हुए स्वयंवर विवाह पर महत्वपूर्ण प्रकाश डाला है। और नायधम्मकहा के अनुसार उसके स्वरूप और विशेषताओं पर विचार किया गया है, और लिखा है कि बौद्धागमों में स्वयंवर विवाह का कोई उल्लेख नहीं है जब कि श्वेताम्बर नायधम्मकहा में उस पर विस्तृत विचार किया गया है। स्वयंवर विवाह के सम्बन्ध में दिग्म्बर ग्रन्थों का कोई उल्लेख नहीं किया गया जबकि दि० कथा-ग्रन्थों में राजा अकपन की पुत्री सुलोचना के स्वयंवर का उल्लेख है जिस में भरत चक्रवर्ती के पुत्र अर्ककीर्ति, जयकुमार (भरत सेनापति) और अन्य अनेक राजकुमार पधारे थे। स्वयंवर में सुलोचना ने वरमाला जयकुमार के गले में डाली थी। इसमें कुछ विरोध हुआ और युद्ध में जयकुमार विजयी हुआ। ऐतिहासिक दृष्टि से यह स्वयंवर का उल्लेख बहुत प्राचीन और महत्वपूर्ण है। दूसरे सीता और झोपड़ों के स्वयंवर की घटनाएँ भी उल्लिखित मिलती हैं।

तीसरे प्रकरण में वैवाहिक जीवन पर अच्छा प्रकाश डाला गया है उससे ज्ञात होता है कि वैदिक काल में पत्नी को आदर की दृष्टि से देखा जाता था। बौद्धागमों में पत्नी के भेद बाह्य परिस्थिति और स्वभाव को लक्ष्य रखकर किये गये हैं। उन पर से उस काल की पत्नी के प्रकारों का सामान्यबोध हो जाता है। इस तरह यह शोध प्रबन्ध अपने विषय का स्पष्ट विवेचक है। इसके लिए लेखक और प्रकाशक संस्था दोनों ही धन्यवाद के पात्र हैं। मूल्य कुछ अधिक जान पड़ता है।

३. जीवन-दर्शन—लेखक गोपीचन्द धाड़ीवाल। संपादक डा० मोहनलाल मेहता, प्रकाशक पार्श्वनाथ विद्या-श्रम शोध संस्था वाराणसी-५। पृ० संख्या ६८ मूल्य तीन रुपया।

प्रस्तुत पुस्तक में श्रमण में प्रकाशित लेखों का चयन किया गया है जो लेखक द्वारा समय-समय पर लिखे गये हैं। उन्हें आत्मविज्ञान, अध्यात्मवाद, कर्मविज्ञान, अहिंसा और अहिंसा-साधना रूप पांच प्रकरणों में विभक्त किया गया है। सभी प्रकरण सम्बद्ध और जनसाधारण के हित की दृष्टि को लक्ष्य में रखकर लिखे गये हैं। लेखक की विचारधारा सन्तुलित और प्रेरणाप्रद है। पुस्तक उपयोगी है। इसके लिए लेखक और प्रकाशक दोनों ही धन्यवाद के पात्र हैं।

४. मेरा धर्म केन्द्र और परिधि—लेखक आचार्य तुलसी, प्रकाशक कमलेश चतुर्वेदी प्रबन्धक आदर्श साहित्य सच चक्र (राजस्थान) पृ० संख्या १२८ मूल्य सजित्द प्रति का दो रुपया पच्चीस पैसे।

प्रस्तुत पुस्तक में २५ निबन्ध विविध विषयों पर दिये हुए हैं, जिनमें वस्तुत्व का का विवेचन सरल भाषा में किया गया है। इनमें से कतिपय निबन्ध आधुनिक दृष्टि से विवेचित हैं, जैसे लोकतंत्र और चुनाव, विश्वशान्ति और अणुशास्त्र, युद्ध और सन्तुलन, सर्व धर्म समभाव और स्याद्वाद एशिया में जनतंत्र का भविष्य। आचार्य तुलसी ने जनमानस को वस्तुत्व का बोध कराने के लिए यह उपक्रम किया है। प्रकाशन सुन्दर है।

परमानन्दजेन शास्त्री

अपनी संभाल

अन्तरङ्ग के परिणामों पर दृष्टिपात करने से आत्मा की विभाव परिणति का पता चलता है। आत्मा पर पदार्थों की लिप्ता से निरन्तर दुखी हो रहा है, माना जाना कुछ भी नहीं। केवल कल्पनाओं के जाल में फँसा हुआ अपनी सुध में वेसुध हो रहा है। जाल भी अपना ही पोष है। एक आगम ही शरणा है यही आगम पंच परमेष्ठी का स्मरण करा के विभाव से आत्मा की रक्षा करने वाला है।

—बर्णी वाणी से

श्रद्धाञ्जलि

ईसवी के मन्त पूज्य वर्णी गणेश प्रसाद जी की ६४वीं जन्म जयन्ती आश्विन चतुर्थी २२ सितम्बर को मनाई गई। पूज्य वर्णी जी मानव समाज के आध्यात्मिक मन्त थे। उन जैसा महदय व्यक्ति अन्य देखने में नहीं आता। जैन धर्म की जिननी दृढ़ श्रद्धा और समयमारादि अध्यात्म ग्रन्थों का जितना गम्भीर मनन उन्हें था, अन्य की शायद ही हो। उनका हृदय सबके प्रति निमल भावनाओं से ओत-प्रोत था। सब का भगल चाहने वाले, और खासकर विद्वानों के शुभोच्चैःक महामना वर्णी जी अब यहाँ नहीं हैं, किन्तु उनकी अमर आत्मा परलोक में मुख-शान्ति का अनुभव कर रही होगी।

दिल्ली के चानुर्मा में जो लोग हरिजन मन्दिर प्रवेश के कारण उनके विरोधी थे, उनके प्रति भी उनका वैसा ही धार्मिक भाव बना हुआ था, उसमें रचमात्र भी परिवर्तन नहीं हुआ और न कभी उनके प्रति अप्रिय शब्द का व्यवहार ही किया। इससे उनकी निमल परिणति का सहज ही आभास हो जाता है। उनकी दम सम परिणति के कारण उनके विरोधी भी परोक्ष में प्रशमा करने थे। उस महान आत्मा के प्रति बीर सेवा मन्दिर परिवार अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पण करता है। साथ ही समाज में निवेदा करना है कि उनका स्मारक उनकी पवित्र भावनाओं और अभिनायाओं के अनुरूप होना चाहिये।

—बीर सेवा मान्दर परिवार

वीर-सेवा-मन्दिर और “अनेकान्त” के सहायक

१०००) श्री मिश्रोलाल जी धर्मचन्द जी जैन, कलकत्ता	१५०) श्री जगमोहन जी सरावगी, कलकत्ता
१०००) श्री देवेन्द्रकुमार जैन, ट्रस्ट	१५०) ,, कस्तूरचन्द जी आनन्दीलाल जी कलकत्ता
श्री माहु शीतलप्रसाद जी, कलकत्ता	१५०) ,, कन्हैयालाल जी मीनागम, कलकत्ता
५००) श्री रामजीवन सरावगी एण्ड सस, कलकत्ता	१५०) ,, ५० बाबूलाल जी जैन, कलकत्ता
५००) श्री गजराज जी सरावगी, कलकत्ता	१५०) ,, मालीगम जी सरावगी, कलकत्ता
५००) श्री नथमल जी मेठी, कलकत्ता	१५०) ,, प्रतापमल जी सदनलाल पाट्या, कलकत्ता
५००) श्री वज्रनाथ जी धर्मचन्द जी, कलकत्ता	१५०) ,, भागचन्द जी पाटनी, कलकत्ता
५००) श्री रतनलाल जी भाङ्गरी, कलकत्ता	१५०) ,, शिवरचन्द जी सरावगी, कलकत्ता
२५१) श्री ग० बा० हर्षचन्द जी जैन, रांची	१५०) ,, सुरेन्द्रनाथ जी नरेन्द्रनाथ जी कलकत्ता
२५१) श्री अमरचन्द जी जैन (पहाडिया), कलकत्ता	१०१) ,, मारवाडी दि० जन समाज, घ्यावर
२५१) श्री स० मि० धन्यकुमार जी जैन, कटनी	१०१) ,, दिगम्बर जन समाज, केकडी
२५१) श्री सेठ मोहनलाल जी जैन,	१०१) ,, सेठ चन्दूलाल कस्तूरचन्दजी, बम्बई न० २
मैमर्स मुन्नालाल द्वारकावाम, कलकत्ता	१०१) ,, लाला शान्तिनलाल कागजी, दरियागज बिल्ली
२५१) श्री लाला जयप्रकाश जी जैन	१०१) ,, सेठ भवरीलाल जी बाकलीवाल, इम्फाल
स्वस्तिक मेटल वर्कर्स, जगाधरी	१०१) ,, शान्तिप्रसाद जी जैन, जैन बुक एजेन्सी, नई दिल्ली
२५०) श्री मोतीलाल हीराचन्द गाधी, उस्मानाबाद	१०१) ,, सेठ जगन्नाथजी पाण्डया भूमरीतलेशा
२५०) श्री बन्शीधर जी जुगलकिशोर जी, कलकत्ता	१०१) ,, सेठ भगवानदास शोभागम जी मागर
२५०) श्री जगमन्दिरदाम जी जैन, कलकत्ता	(म० प्र०)
२५०) श्री सिधई कुन्दनलाल जी, कटनी	१०१) ,, बाबू नृपेन्द्रकुमार जी जैन, कलकत्ता
२५०) श्री महावीरप्रसाद जी अग्रवाल, कलकत्ता	१००) ,, बन्नीप्रसाद जी आत्मागम जी, पटना
२५०) श्री बी० आर० सी० जैन, कलकत्ता	१००) ,, रूपचन्दजी जैन, कलकत्ता
२५०) श्री रामस्वरूप जी नेमिचन्द्र जी, कलकत्ता	१००) ,, जीन रतन सेठ गुलाबचन्द जी टोया
१५०) श्री वजरगलाल जी चन्द्रकुमार जी, कलकत्ता	इन्दौर
१५०) श्री चम्पालाल जी सरावगी, कलकत्ता	

सभी ग्रन्थ यौने मूल्य में

- (१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। मपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम ए डी लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-वृत्ति के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, मजिन्द १५-००
- (२) आप्त परीक्षा—श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज मटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर, विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं. दयारंगलालजी के हिन्दी अनुवाद में युक्त, मजिन्द ८-००
- (३) स्वयम्भूस्त्रोत्र—समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना में सुशोभित। ... २-००
- (४) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, मटीक, मानुवाद और श्री जुगल किशोर मुख्तार की महत्व की प्रस्तावनादि में अलंकृत सुन्दर जिल्द-महित। १-००
- (५) अध्यात्मकमलमार्गण्ड—पचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-महित १५-००
- (६) युक्त्यनुशासन—तत्त्वज्ञान में परिपूर्ण समन्तभद्र की अगाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि में अलंकृत, मजिन्द ७५ ... ७५
- (७) श्रीपुरपाठर्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्व की स्तुति, हिन्दी अनुवाद सहित। ७५
- (८) शामनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वीं शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित ७७
- (९) सभीचीन धर्मशास्त्र—स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना में युक्त, मजिन्द ३-००
- (१०) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० १ मस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह उपयोगी ११ परिशिष्टों की और प० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक माहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना में अलंकृत, मजिन्द ४-००
- (११) समाधितन्त्र और रणोपदेश—अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००
- (१२) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दीकी महत्वकी रचना, मुख्तार श्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित २५
- (१३) तत्त्वार्थमूत्र—(प्रभाचन्द्रिय)—मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या में युक्त। ... २५
- (१४) श्रवणवेलगोल और दक्षिण के अन्य जैनतीर्थ। १-२५
- (१५) महावीर का सर्वोदय तीर्थ १९ पैमे, (५) समन्तभद्र विचार-दीपिका १९ पैमे, (६) महावीर पूजा २५
- (१६) बाहुबली पूजा—जुगलकिशोर मुख्तार की २५
- (१७) अध्यात्म रहस्य—प० आशाधर की सुन्दर कृति मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद सहित १-००
- (१८) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा २ अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्वपूर्ण संग्रह। ५५ ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रन्थ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. प० परमानन्द शास्त्री। मजिन्द १२-००
- (१९) जैन माहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ मख्या ७४० सजिन्द (वीर-शामन-मध प्रकाशन ५-००
- (२०) कमायपाहुड सुत्त—मूलग्रन्थ की रचना आज में दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चर्णिमूत्र लिखे। मपादक प. हीरालालजी मिद्वान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दा अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पृष्ठ कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। ... २०-००
- (२१) Reality भा० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द ६-००

प्रकाशक—प्रेमचन्द जैन, वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपबाणो प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली से मुद्रित।

अनेकान्त



भगवान् ऋषभदेव

गर्भः—(सवाई माधोपुर) में भूगर्भ से प्राप्त स० १३५० की मूर्ति

समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का मुखपत्र

विषय-सूची

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
१.	शान्तिनाथ स्तोत्रम्—मुनि श्री पद्मनन्दि	१४५
२.	मन्वसोर में जैनधर्म—पं० गोपीलाल 'अमर' एम० ए०	१४६
३.	तृष्णा की विचित्रता—श्रीमद्वाजचन्द्र	१५०
४.	सागारधर्मामृत पर इतर श्रावकाचारों का प्रभाव—पं० बालचन्द्र सि० शास्त्री	१५१
५.	आत्मविद्या क्षत्रियों की देन—मुनिश्री नथमल	१६२
६.	श्री अंतर्गिरि पाश्र्वनाथ वस्ती मन्दिर तथा मूल नायक मूर्ति शिरपुर— पं० नेमचन्द्र धन्नुमा जैन न्यायतीर्थ	१६६
७.	कवि देवीदास का परमानन्द विलास— डा० भागचन्द्र जैन एम० ए० पी० एच० डी०	१७२
८.	अग्रवालों का जैन संस्कृति में योगदान— परमानन्द जैन शास्त्री	१७७
९.	भगवान महावीर और बुद्ध का परि- निर्वाण—मुनि श्री नगराज	१८७
१०.	श्री अमृतचन्द्र सूरिकृत एक अपूर्व ग्रन्थ श्री डा० ए० एन० उपाध्ये टाइपल पेज	२



अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपये।
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैसे



सम्पादक-मण्डल
डा० आ० ने० उपाध्ये
डा० प्रेमसागर जैन
श्री यशपाल जैन

श्री अमृतचन्द्र सूरिकृत एक अपूर्व ग्रन्थ

डा० ए. एन. उपाध्ये

मुनि श्री पुण्यविजय की ज्ञानाराधना से विद्वत्समाज पूर्ण परिचित है। कितने ही प्राचीन ग्रन्थों का जीर्णोद्धार, स शोधन और प्रकाशन उनके शुभ हस्त से हुआ है।

अभी ज्ञानपंचमी के शुभ दिन उनका कृपा पत्र मुझे मिला है। उसमें वे कहते हैं—

‘मैं कुछ कार्य के लिए डेला का ज्ञानभण्डार को देखने गया था। वहाँ पर ताड़पत्र में लिखा हुआ आचार्य श्री अमृतचन्द्रसूरिकृत अपूर्व ग्रन्थ देखा। श्री अमृतचन्द्राचार्य की इस कृतिका उल्लेख आपकी प्रस्तावना में नहीं मिला। अतः प्रतीत हुआ कि श्री अमृतचन्द्राचार्य की यह कृति अज्ञात ही है। ग्रन्थ का नाम है—

शक्तिमणितोश अपर नाम लघुतत्त्वस्फोट

इसमें पच्चीस-पच्चीस पद्यात्मक पच्चीस पच्चीसियाँ हैं। अर्थात् पञ्चविंशति पञ्चविंशिकाये हैं। इसकी रचना आलंकारिक एवं प्रामादिक है। थोड़े ही समय में इसकी प्रेसकापी-पाण्डुलिपि हो जायगी। बाद में विद्यामन्दिर की ओर से प्रकाशित किया जायगा।

श्रावक और श्राविकाओं में श्री अमृतचन्द्र का खाम स्वाध्यायी बहुत है। इस वार्ता में उनका समाधान होगा—ग्रन्थ यथाशीघ्र प्रकाशित किया जायगा। और कई जगह इस ग्रन्थकी प्रति किमी को परिचित हो तो सूचना दीजिये।

मुनिश्री पुण्यविजयजी की उमर ७३ वर्ष है, और अभी उनके मोतियाबिंदुका ऑपरेशन होने वाला है। उनसे अभी पत्र व्यवहार करके उन्हें कष्ट देना ठीक नहीं—यही विनती है।

अनेकान्त को सहायता

बाबू नानालाल जी के० मेहता, एडवोकेट अनेकान्त के बड़े प्रेमी हैं। शुरू में अनेकान्त के सदस्य हैं। आपने इस वर्ष पर्यपण पत्र में अनेकान्त के लिये दश १०) रुपये भेजे हैं। इसके लिये वे धन्यवाद के पात्र हैं। आशा है अन्य विद्वान भी इसका अनुकरण करेंगे।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'



अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्पादक मण्डल उत्तरदायी नहीं है। —व्यवस्थापक अनेकान्त

धाम पहलू

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धमिन्धुरत्रिषानम् ।

मकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २०
किरण ४

}

बीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६
बीर निर्वाण सवन् २४६३, वि० ग० २०२४

{ अक्टूबर
सन् १९६७

शान्तिनाथ-स्तोत्रम्

त्रलाक्याधिपतिः सूचनपरं लोकेश्वरं रुद्रतं,
यस्योपधुं परोन्दुमण्डलनिभं छत्रत्रयं राजते ।
अश्रान्तोद्गतकेवलोज्ज्वलरुचा निर्भस्मिताकप्रभं,
सोऽस्मान् पातु निरञ्जनो जिनपतिः श्रीशान्तिनाथः सदा ॥१॥
देवः सर्वविदेष्ट एव परमो नान्यस्त्रिलोकोपतिः,
सन्त्यस्यैव समस्ततत्त्वविषया वाचः सतां संमताः ।
एतद्धोषयतीव यस्य विबुधैरास्फालितो दुन्दुभिः,
सोऽस्मान् पातु निरञ्जनो जिनपतिः श्रीशान्तिनाथः सदा ॥२॥

—मुनि श्री पद्मनन्दि

अर्थ—जिस शान्तिनाथ भगवान के एक-एक के ऊपर इन्द्रो के द्वारा धारण किए गए चन्द्रमण्डल के समान तीन छत्र तीनों लोकों की प्रभुता को सूचित करते हुए निरन्तर उदित रहने वाले केवलज्ञान रूप निर्मल ज्योति के द्वारा सूर्य की प्रभा को तिरस्कृत करके सुशोभित होते हैं, वह पापरूप कालिमा से रहित श्रीशान्तिनाथ जिनेन्द्र हम लोगों की सदा रक्षा करे ॥१॥ जिसकी भेरी देवों द्वारा ताड़ित होकर मानो यही घोषणा करती है कि तीनों लोकों का स्वामी और सर्वज्ञ यह शान्तिनाथ जिनेन्द्र ही उत्कृष्ट देव है और दूसरा नहीं है; तथा समस्त तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप को प्रकट करने वाले इसी के वचन सज्जनों को अभीष्ट हैं—दूसरे किसी के भी वचन उन्हें अभीष्ट नहीं हैं; वह पापरूप कालिमा से रहित श्रीशान्तिनाथ जिनेन्द्र हम लोगों की सदा रक्षा करे ॥२॥

मन्दसोर में जैनधर्म

गोपीलाल 'अमर' एम. ए.

दशपुर मन्दसोर :

प्राचीनकाल में मन्दसोर^१ को दशपुर^२ कहते थे^३। दशपुर एक देश^४ का नाम था, उसकी राजधानी^५ भी

१. मध्यप्रदेश के पश्चिम में इसी नाम के एक जिले का मुख्यालय।

२. इस नाम की सार्थकता मिट्ट कर देने वाली एक मनो-रजक घटना का उल्लेख आवश्यक सूत्र की चूणि, निर्युक्ति और वृत्ति आदि में इस प्रकार मिलता है।

महाराज उदयन (छठी शती ई० पू०) चण्डप्रद्योत को बन्दी बना कर अपनी राजधानी को ले जा रहा था कि वर्षाकाल प्रारम्भ हो जाने में वह अपने अधीनस्थ राजाओं के साथ मार्ग में ही ठहर गया। उन राजाओं ने सुरक्षा के लिए दस दस किले बना लिए। चार माह में वहाँ ग्रामवासियों का यातायात और आवास भी प्रारम्भ हो गया। वर्षाकाल के पश्चात् उदयन और वे राजा तो वहाँ से चले गए पर जो लोग वहाँ रहने लगे थे वे वहीं रहते रहे और वहाँ एक नगर ही बस गया जिस दस पुरो (किलों) के कारण 'दशपुर' ही कहा जाने लगा।

३. कुमारगुप्त के दशपुर अभिलेख (श्लोक ३०) में इसे 'पश्चिमपुर' भी कहा गया है क्योंकि गुप्तकाल में यह पश्चिम भारत का सर्वश्रेष्ठ नगर माना जाता था।

४. 'क्लीब दशपुर देशे पुरगोनदंयोरपि' विश्वलोचनकोश (बम्बई, १९१२), रान्तवर्ग, श्लोक २७३, पृ. ३२२

५. प्राचीन जनपदों की परम्परागत सूचियों में दशपुर का नाम नहीं मिलता, उसे अवन्ति या मालवा में अन्तर्गमित किया गया है।

६. काशी देश की राजधानी वाराणसी भी कालान्तर में 'काशी' ही कही जाने लगी थी।

दशपुर कहलाती थी^७। 'मन्दसोर' शब्द 'मन्द' दश^८ और 'सोर' का तद्भव रूप प्रतीत होता है जिसका अपभ्रंश 'मद दस^९ और' होगा। 'दस^९ और' का पाणिनीय व्याकरण द्वारा संस्कृतिकृत रूप 'दसोर' होगा^{१०}। 'मद' शब्द का मुखमुख के लिए गढ़ा हुआ रूप 'मण' और फिर 'मन' होगा। 'मन दसोर^{१०}' ही 'मन्दसोर' या 'मदसोर' बना होगा^{११}।

संक्षिप्त इतिहास :

रामायणकालीन चन्द्र वशी राजा रन्तिदेव की राजधानी दशपुर में थी^{१२}। छठी शती ई० पू० के अवन्ति-

७. बृहत्संहिता (२४, २०) और कुमार गुप्त तथा बन्धुवर्मन् के पाषाणस्तम्भ लेख में इसे एक नगर के रूप में ही उल्लिखित किया गया है।

८. मद नाम का एक स्थान मन्दसोर के पास आज भी विद्यमान है।

९. 'दस+उर', 'अदेङ् गुण. (अष्टाध्यायी, १।१।२)' सूत्र से गुण संज्ञा और 'आद् गुण (वही ६।१।६७)' सूत्र से गुण स्वर सन्धि होने पर 'दसोर' होगा।

१०. मन्दसोर के लिए दसोर शब्द भी प्रयुक्त होता है। देखिए, ग्वालियर स्टेट गजेटियर, प्रथम भाग पृ० २६५ और आगे इस क्षेत्र में कुछ समय पूर्व तक पाये जाने वाले दसोरा ब्राह्मण भी यही मिट्ट करने हैं।

११. कुछ विद्वान् इसे 'मन्दसौर' मान कर कहते हैं कि यहाँ चूक सौर (सूरस्य इदं सौरम्) अथान् सूर्य का तेज मन्द होता है (मन्द सौरं यस्मिन् तत् मन्द-सौरं नाम नगरम्) अतः यह मन्दसौर कहा जाता है।

१२. मेघदूत (पूर्व मेघ), श्लोक ४५ पर मल्लिनाथ का टीका।

नरेश चण्डप्रद्योत का अधिकार भी दशपुर पर रहा १३। मौर्य सम्राट् अशोक जब अवन्ति महाजनपद का क्षत्रप था तब उसके पश्चिम प्रान्तीय शासन में दशपुर भी सम्मिलित रहा होना चाहिए। उसके पश्चात् यहाँ शुङ्ग और शक राजाओं का अधिकार रहा। प्रारम्भिक सात वाहनों ने नासिक, शूपरिक, भृगुकच्छ और प्रभास के साथ दशपुर को नष्ट-भ्रष्ट किया था १४। क्षत्रात क्षत्रप नहुषान के शासनकाल में उसके दामाद उपवदास (ऋषभ-दत्त) ने जन साधारण के उपयोग की बहुत सी चीजें दशपुर लाकर अशोक की कीर्ति से प्रतिस्पर्धा की थी १५। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपनी दिग्विजय यात्रा में वर्मन् राजवंश को अपने अधीन करके उन्हें दशपुर का राज्यपाल नियुक्त किया था। विश्ववर्मन् १६ इन राज्यपालों में से एक था, जो कुमारगुप्त प्रथम के शासनकाल में भी विद्यमान था। इसके पश्चात् यहाँ वर्धन, मोरेवरी, मैत्रक और कलचुरी आदि शासकों ने शासन किया १७।

जैन धर्म :

दशपुर में जैनधर्म का प्रचार प्राचीनकाल से ही रहा है। उसकी गणना जैन तीर्थों में की गयी है १८ और आज

१३. आवश्यक सूत्र की वृत्ति आदि।

१४. ला, विमलचरण . हिस्टोरिकल जायफ्री आफ् ऐंडियट इण्डिया, पृ० २८१।

१५. वही।

१६. इसके दो अभिलेख मिले हैं, देखिए : एपि. इंडिका, जि. १२, पृ. ३१५, ३२१; वही, जिल्द १४, पृ० ३७१, जे. बी. श्री. आर. एस. जिल्द २६, पृ. १२७

१७ विस्तार के लिए देखिए : विद्यालङ्कार, जयचन्द्र इतिहास प्रवेश, पृ० २५१ और आगे।

१८. चम्पायां चन्द्रमुख्यां गजपुर मथुरा—

पत्तने चोज्जयिन्यां,

कोशाम्ब्या कोशान्यायां कनकपुरवरे—

देवगिर्यां च काश्याम्।

नामिक्ये राजगेहे दशपुरनगरे—

भट्टिले ताम्रलिप्या,

श्रीमतीर्थकराणां प्रतिदिवसमहं—

तत्र चैत्यानिवन्दे।

—जैनतीर्थमालामन्त्रोत्र।

भी उसकी वन्दना की जाती है १९। छठी शती ई० पू० में सिन्धु सौवीर देश २० के वीरभय पत्तनपुर २१ के राजा उदायन २२ के पास महावीर स्वामी की एक चन्दन की प्रतिमा थी जिसे जीवन्त स्वामी कहा जाता था। इसकी पूजा उदायन और उसकी रानी प्रभावती किया करती थी। प्रभावती की मृत्यु के पश्चात् उसकी दासी देवदत्ता उस मूर्ति की पूजा किया करती थी। उसका उज्जयिनी के राजा चण्डप्रद्योत से प्रेम हो गया जिसके साथ वह उज्जयिनी भाग गयी। भागते समय वह अपने साथ जीवन्त स्वामी की मूर्ति भी लेती गयी लेकिन उसके स्थान पर एक बैसी ही दूसरी मूर्ति छोड़ गयी। यह सब ज्ञात होते ही उदायन ने चण्डप्रद्योत का पीछा किया और उसे कैद कर लिया। लौटते समय, अतिवृष्टि के कारण उदायन चार माह के लिए शिवना के तट पर रुक गया। एक दिन पयुपण पर्व में उसका उपवास था। रसोइए से यह जान कर चण्डप्रद्योत ने भी अपना उपवास घोषित कर दिया। यह सुनकर उदायन समझा कि चण्डप्रद्योत जैनधर्मावलम्बी है अतः उसने उसे ससम्मान मुक्त कर दिया २३। फिर उसने उस प्रतिमा को लेकर वहाँ से प्रस्थान करना चाहा

१९. उपयुक्त स्तोत्र के रूप में जिसका पाठ आज भी प्रतिदिन विशेषतः श्वेताम्बर मूर्तिपूजक समाज में किया जाता है।

२०. व्याख्याप्रज्ञप्ति (१३, ६; पृ० ६२०) में इसे सिन्धु नदी के आसपास का प्रदेश कहा गया है।

२१. यह सिन्धु सौवीर की राजधानी थी और इसको दूसरा नाम कुमारप्रक्षेप (कुमार पक्षेव) था। देखिए आवश्यकचूर्ण, २ पृ० ३७। इसके समीकरण के लिए देखिए जैन जगदीशचन्द्र . जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज पृ० ४८२।

२२. इसका उल्लेख महावीर स्वामी द्वारा दीक्षित आठ राजाओं के साथ हुआ है। देखिए स्थानाङ्क ६, ६२१, व्याख्याप्रज्ञप्ति, १३, ६।

२३. उत्तराध्ययन टीका, १८, पृ० २५३ आदि। आवश्यकचूर्ण, पृ० ४०० आदि। राय चौधरी, एच. सी. पालिटिकल हिस्ट्री आफ् ऐंडियट इण्डिया, (कलकत्ता १९३२), पृ० ६७, १३२, १६५।

पर वह प्रतिमा वहाँ से हटायी न जा सकी। देववाणी से ज्ञात हुआ कि उसकी राजधानी शीघ्र ही भूमिसात् हो जाने वाली है अतः यह प्रतिमा यहीं रहना चाहिए। अतएव उदायन ने वहाँ एक मन्दिर का निर्माण कराया और उसमें वह प्रतिमा स्थापित कर दी २४। अपने देश को लौटकर चण्डप्रद्योत ने जीवन्त स्वामी २५ की पूजा की और उस मन्दिर को १२०० ग्रामों का दान किया।

प्रथम शती ई० पू० में रचित नन्दीसूत्र में आर्यरक्षित सूरि की वन्दना की गयी है। इन्होंने न केवल चारित्ररूपी सर्वस्वकी रक्षा की थी बल्कि रत्नोंकी पेटी के सद्ग अनुयोग की भी रक्षा की थी २६। दशपुर इनके जन्म से ही नहीं, महत्त्वपूर्ण योगदान से भी मयूढ रहा है २७। दशवैकालिक

२४. प्रद्योतोपि वीतभय प्रतिमायै विशुद्धधी ।

शासनेन दशपुर दस्वान्ति पुरीमगात् ॥

अन्येषुविदिशा गत्वा भायलस्वामिनामकम् ।

देवकीयं पुर चक्रे नान्यथा धरणोदितम् ॥

विशुन्मालीकृतायै तु प्रतिमायै महोपति ।

प्रददौ द्वादशग्रामसहस्रं शासनेन सः ॥

—हेमचन्द्राचार्य, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित,

१०।२।६०४-६।

२५. यह वास्तव में महावीर स्वामी की प्रतिमा थी जिस महावीर स्वामी के जीवनकाल में ही निर्मित कराये जाने के कारण जीवन्तस्वामी की प्रतिमा कहा जाता था। परन्तु इस नाम की प्रतिमा की परम्परा लगभग एक हजार वर्ष तक चलती रही। देखिए, शाह उमाकान्त प्रेमानन्द का लेख, जर्नल आफ् दी ओरिएण्टल इस्टीट्यूट, जिल्द १, अंक १, पृ० ७२ और आगे तथा जिल्द १, अंक ४, पृ० ३५८ और आगे।

२६. वंदामि अञ्जरविलय-खवणे, रविलयचारित्त सव्वस्स ।
रयण-करडग-भूयो, अणुओगो रविलयो जेहि ॥

—नन्दीसूत्र (लुधियाना, १९६६), गाथा ३२।

२७. विस्तृत विवरण के लिए देखिए, अभिधान राजेन्द्र कोष में 'अञ्जरविलय' शब्द (आगे के उद्धरण वही से लिए गये हैं)।

सूत्र, आवश्यकचूर्णि, उत्तराध्ययन सूत्र, नन्दीसूत्र और विविधतीर्थकल्प आदि में इनके आख्यान आते हैं २८। आर्यरक्षित सूरि सोमदेव और रुद्रसोमा के पुत्र थे। जो दशों दिशाओं के सारभूत दशपुर में रहते थे २९। फल्गुरक्षित इनका अनुज था। उच्चशिक्षा प्राप्त करके जब ये पाटलिपुत्र से दशपुर लौटे तब स्वयं राजा ने इनकी अगवान्ती की थी ३०। माता के कहने पर ये दृष्टिवाद का अध्ययन करने को आचार्य तोसलीपुत्र के पास गये जिन्होंने इन्हें दीक्षित करके दृष्टिवाद की शिक्षा दी। फिर ये उज्जयिनी में वज्रगुप्त सूरि के पास आये और वहाँ में यथामभव ज्ञानार्जन करके वज्रस्वामी से अध्ययन करने लगे। एक बार फल्गुरक्षित को माता ने इन्हें लेने के लिए भेजा। आर्यरक्षित ने उसे भी दीक्षित कर विद्याध्ययन कराया ३१। एक दिन उन्होंने गुरु से पूछा कि मने दशम पूर्व की यविकायें तो पड़ ली, अब कितना अध्ययन और शेष है? गुरु ने उत्तर दिया कि अभी तो तुम मरु के सरसो और समुद्र की बूद के बराबर ही पड़ सके हो ३२। कुछ समय तक और अध्ययन करके वे दशपुर आये और वहाँ उन्होंने अपने सभी स्वजनो को दीक्षित

२८. देखिए, श्रीमद् राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रन्थ में श्री मदनलाल जोशी का लेख, पृ० ४५२ और आगे।

२९. आस्नेपुर दशपुर मार दशदिशामिव ।
सोमदेवो द्विजस्त्र रुद्रसोमा च तत्प्रिया ॥

—आवश्यककथा श्लोक १।

३०. चतुर्दशापि तत्रासी विद्यास्थानान्यधीतवान् ।
यथागच्छद् दशपुर राजागात् तस्य सम्मुखम् ॥

—वही श्लोक ७७।

३१. सोम्यथाद् आतरागच्छ व्रतार्थी तेजनोखिल ।
स ऊचं सन्यमेतच्चेत् तत्त्वमादौ परिब्रज ॥

—वही श्लोक ११३।

३२. यविकर्ध्वाणतोऽप्राक्षीत्, शेषमस्य कियत् प्रभो ।
स्वाम्युचं सर्वं मेनोबिन्दुमब्धस्त्वमग्रही ॥

—वही, श्लोक ११४।

किया ३३ । इसके पश्चात् मथुरा आदि का भ्रमण करके ३४ य एक बार पुनः दशपुर आये ३५ और शेष जीवन भी उन्होंने कदाचित् वहीं व्यतीत किया । इस प्रकार दशपुर, आचार्य आर्यरक्षित सूरि की जन्मभूमि ही नहीं बल्कि कर्मभूमि भी रही ३६ ।

द्वितीय शती ई० में, जैन दर्शन और आचार के महान् व्याख्याता आचार्य समन्तभद्र ने अपने विहार द्वारा भी दशपुर को पवित्र किया था ३७ । उन्होंने स्वयं लिखा है : 'काञ्ची में मैं नग्न (दिग्म्बर साधु के रूप में) विहार करता था और मेरा शरीर मल से मग्न रहता था । (बाद में भस्मक रोग को शान्त करने की इच्छा में) लाम्बुश आकर मेने शरीर में भस्म रमा ली (और शैव साधु का वेश धारण कर लिया) । गुण्डोण्ड में मैं बौद्ध मिश्रु के रूप में पहुँचा । दशपुर नगर में मैं पार्श्वनाथ बन बैठा और (वहाँ के भागवत मठ में) मिष्टान्न खाने लगा । वाराणसी पहुँच कर मैं चन्द्र-किरणों के समान उज्ज्वल भस्म रमायी और (शैव) साधु का रूप धारण कर लिया । इतने पर भी मैं दिग्म्बर जैनधर्म की वकालत करता हूँ, हे राजन् (शिवकोटि) । जिसकी हिम्मत हो वह मेरे सामने आये और शास्त्रार्थ कर ले ३८ ।' अपने मालव और विदिशा के विहार के

कायक्रम ३९ में, संभव है ये पुनः दशपुर आये हों । दशपुर में जैनधर्म का प्रचार मध्यकाल में भी अवश्य रहा होगा पर उसके कोई उल्लेखनीय चित्र नहीं मिलते । '१५वीं शताब्दि के माडवगढ के मन्त्री सन्नम सोनी के द्वारा यहाँ जैन मन्दिर बनाने का उल्लेख प्राप्त है । "जैनतीर्थ सर्व-संग्रह" ग्रन्थ के अनुसार यहाँ के खन्चीपुर के पार्श्वनाथ मन्दिर की दीवार में लगी हुई द्वारपालों की प्रतिमा गुप्तकालीन है और खानपुरा सदर बाजार के पार्श्वनाथ के घर देरासर (गृह मन्दिर) में पद्मावती देवी की प्रतिमा भी प्राचीन है । अतः इस नगर में और उसके आसपास जो भी श्वेताम्बर और दिग्म्बर जैन मन्दिर हैं उन मन्दिरों और मूर्तियों तथा खण्डहरों की खोज की जाना अत्यन्त आवश्यक है । सम्भव है उनमें कोई ऐसा लेख भी मिल जाय जिसमें इस नगर के प्राचीन जैन इतिहास पर कुछ प्रकाश पड़ सके ४० । ग० १६१८ (१५६१ ई०) में, इसी नगर में साण्डेर गच्छ के ईश्वर सूरि ने 'ललिताङ्ग चरित' नामक रासो काव्य की रचना की थी ४१ । इसका

वाराणस्यामभूव शशधरधवल. पाण्डुराङ्गस्तपस्वी
राजन् यस्यास्ति शक्ति. मवदतु पुरतो जैननिग्रन्थवादी ॥
—परम्पराप्राप्त श्लोक

३३ इतश्च रक्षिताचार्यगतेर्दशपुर तत ।

प्रताप्य स्वजनान् सर्वान् सौजन्य प्रकटीकृतम् ॥

—वही, श्लोक १३६ ।

३४. अथायंरक्षिताचार्या मथुरा नगरी गताः ।

—वही, श्लोक १७५ ।

३५. अथान्यदा दशपुर यान्तिस्म गुरव क्रमान् ।

—वही, श्लोक १८६ ।

३६. अपन शिष्य विन्ध्य की प्रार्थना पर इनके द्वारा किया गया अनुयोगों का विभाजन जैन साहित्य के इतिहास में तीसरी आगमवाचना के रूप में प्रसिद्ध हुआ ।

३७. विस्तृत परिचय के लिए देखिए, मुस्तार आ. श्रीजुगल-किशोर ।

—स्वामी समन्तभद्र

३८. काञ्च्या नगरेऽहं मलमलिनननुर्लाम्बुशे पाण्डुपिण्ड-पुण्डोण्डे शक्यभिक्षुर्दशपुरनगरे मिष्टभोजी परिव्राट् ।

३९. पूर्व पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता
पश्चान्मालव सिन्धुठक्कविषये काञ्चीपुरे वैदिशे ।

प्राप्तोहं करहाटक बहुभट विद्योत्कट सकट
वादार्यो विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितम् ॥

—श्रवणबेल्लोल-शिलालेख, संख्या ५४ ।

४०. नाहटा, अगर चन्द जैन साहित्य में दशपुर . दशपुर जनपद संस्कृति (सम्पादक . मांगीलाल मेहता, प्रकाशक प्राचार्य, बुनियादी प्रशिक्षण महाविद्यालय, मन्दसौर), पृ० १२०-२१ ।

४१. 'महि महनि मासवदेस,
धण कणय लच्छि निवेम ।
तहें नयर मण्डव दुग,
अहिनवउ जाण हि मग ॥
तिहें अनुलबल गुणवन्त,
श्रीध्यास मुन जयवन्त ॥

महत्त्व साहित्यिक दृष्टि से ही नहीं अपितु ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भी बहुत है।

इस प्रकार, दशपुर अर्थात् मन्दसौर में जैनधर्म का प्रचार-प्रसार भगवान् महावीर के समय से रहा सिद्ध होता है। वहाँ आज भी जैन समाज का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

समरथ सहस्र धीर, श्री पातसाह निसीर ।
तसु रज्जि सकल प्रधान, गुरु रूक रयण निधान ।
हिन्दुभा राय बजोर, श्रीपूज मयणह धीर ॥

सिरिमाल वश वयश, मानिनी मानस हंस ।
सोनराय जीवन पुत्त, बहु पुत्त परिवार जुत्त ॥
सिरिमालिक माफरपट्टि, हय गय सुहृद बहु चट्टि ।
बसपुरह नयर मभारि, सिरिसंघ तणई अधारि ॥
सिरि शान्तिस्मृति सुपमाई, दुह दुरिय दूरि पलाई ।
ज किमवि अलियम सार, गुरु लहिय वर्ण विचार ॥
कवि कविउ ईश्वरस्मृति, तं खमउ बहुगुण भूरि ।
शशि रसु विक्रम काल, ए चरिय रचिउ रसाल ॥
ज ध्रुव रवि ससि मेर, तं जयउ गच्छ संडेर ।'
—प्रशस्ति ।

तृष्णा की विचित्रता

जिस समय दीनताई थी उस समय जमींदारी पाने की इच्छा हुई, जब जमींदारी मिली तो सेठाई प्राप्त करने की इच्छा हुई। जब सेठाई प्राप्त हो गई तब मंत्री होने की इच्छा हुई, जब मंत्री हुआ तो राजा बनने की इच्छा हुई। जब राज्य मिला, तब देव बनने की इच्छा हुई, देव हुआ तब महादेव होने की इच्छा हुई। अहो रायचन्द्र वह यदि महादेव भी हो जाय तो भी तृष्णा तो बढ़नी ही जाती है मरती नहीं, ऐसा मानो।

मुह पर भुरिया पड़ गई, गाल पिचक गए, काली केश की पट्टियां सफेद पड़ गईं, सूँघने, सुनने और देखने की शक्तियां जाती रही और दांतों की पकितया खिर गईं अथवा घिस गईं, कमर टेढ़ी हो गई, हाड-मांस सूख गए, शरीर का रंग उड़ गया, उठने-बैठने की शक्ति जाती रही, और चलने में हाथ में लकड़ी का सहारा लेना पड़ गया। अरे ! रायचन्द्र, इस तरह युवावस्था से हाथ धो बैठे, परन्तु फिर भी मन से यह रांड ममता नहीं मरी।

करोड़ों के कर्ज का सिर पर डंका बज रहा है, शरीर सूख कर रोग रूंध गया है। राजा भी पीड़ा देने के लिए मोका तक रहा है और पेट भी पूरी तरह से नहीं भरा जाता। उस पर पाता पिता और स्त्री अनेक प्रकार की उपाधि मचा रहे हैं। दुःखदायी पुत्र और पुत्री खाऊ खाऊं कर रहे हैं। अरे रायचन्द्र ! तो भी यह जीव उषेड बुन किया ही करता है और इससे तृष्णा को छोड़कर जंजाल नहीं छोड़ा जाता।

नाड़ी क्षीण पड़ गई, अवाचक की तरह पड़ रहा, और जीवन-दीपक निस्तेज पड़ गया। एक भाई ने इसे अन्तिम अवस्था में पड़ा देखकर यह कहा, कि अब इस विचार की मिट्टी ठंडी हो जाय तो ठीक है। इतने पर उस दुड्डे ने खीजकर हाथ को हिलाकर इशारे से कहा, कि हे मूर्ख चुप रह, तेरी चतुराई पर आग लगे। अरे रायचन्द्र ! देखो, देखो, यह आशा का पाश कैसा है ! मरने-मरते भी दुड्डे की ममता नहीं मरी।

(श्री मद्राजचन्द्र से साभार)

गत किरण ३ पृ १०५ से आगे—

सागारधर्मामृत पर इतर श्रावकाचारों का प्रभाव

बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री

इस उपासकाध्ययन में चर्चित श्रावकाचार का प्रभाव प्रस्तुत सागारधर्मामृत पर बहुत अधिक दिखता है। यह

१. पं० आशाधर ने सोमदेव मूर्ति और उनके इस उपासकाध्ययनका उल्लेख भी जहाँ-तहाँ स्वयं किया है—

क—‘मन्त्रभेद. परीवाद.’ ... (उपास० २८१)

इति यशस्विलके अतिचारान्तरवचन तत्परिष्कारास्त-
दात्यया इत्यनेन मगृहीतं प्रतिपत्तव्यम् । (सा. ध. स्वो. टीका ४-४५)

ख—सोमदेवपण्डितस्तु मानव्यनाधिकत्वे द्वावती-
चारी मन्यमान इदमाह—मानवन्व्यनताधिक्ये स्तेनकर्म
ततो ग्रह । विग्रहे मगृहीतमस्यास्तेयस्यने निवर्तका ॥
(उपास. ३७०—उपा. में मानवन्व्य के स्थान पर
‘पोतवन्व्य’ और सा. ध. में ‘स्तेनकर्म’ के स्थान पर ‘तेन
कर्म’ व ‘विग्रहे’ के स्थान पर ‘विग्रहो’ पाठ है । सा.
ध. स्वो. टीका ४-५० ।

ग—तदाह सोमदेवपण्डित—वधू-वित्तस्त्रियो
मुक्त्वा... ॥ (उपा. ४०५) सा. ध. स्वो. टीका ४-५२
घ—सोमदेवपण्डितस्त्वदमाह—कृतप्रमाणो लोभेन
धनाद्यधिकसंग्रहः । पञ्चमाणुव्रतज्यानीं करोति
गृहमेधिनाम् ॥ (उपा. ४४४—मुद्रित उपासका-
ध्ययन में ‘कृतप्रमाणान्लो’ और ‘धमादधिक’ पाठ
मुद्रित हुए हैं, इनकी अपेक्षा सा. ध. की टीका में
जो पाठ उपलब्ध है उनकी सम्भावना अधिक है) ।
सा. ध. स्वो. टीका ४-६४

ङ—तद्वच्चेमेऽपि श्रीसोमदेवबुधाभिमतः—दुष्प-
वस्य निषिद्धस्य... ॥ (उपा. ७६३) सा. ध. स्वो.
टीका ५-२०

श्लोक ७-१६ और २० की स्वो. टीका में ‘उपास-
काध्ययन’ का नामोल्लेख हुआ है । पर उससे जैसा
कि मूल में (सप्तमे अङ्के—७-२०) निदिष्ट है,

उपासकाध्ययन पं० आशाधर के समक्ष रहा है व उन्होंने
सागारधर्मामृत की रचना में उसका बहुत कुछ उपयोग
भी किया है । उदाहरण के रूप में उक्त दोनों ग्रन्थों के
कुछ ऐसे स्थलों को यहाँ प्रस्तुत किया जाता है जिनमें
बहुत कुछ समानता देखी जाती है ।

१ उपासकाध्ययन के अन्तर्गत भव्यमेन मृत्ति के परीक्षा-
प्रकरण (पृ० ६२-६६) में मोन में सम्बद्ध एक श्लोक
(१८०) आया है, जो ग्रन्थान्तर का प्रतीत होता है । वह
इस प्रकार है—

अभिमानस्य रक्षार्थं प्रतीक्षार्थं श्रुतस्य च ।

ध्वनन्ति मुनयो मोनमदनाविषु कर्मसु ॥

इसका मिलान सा. ध. के निम्न श्लोक (४-३५) में
कीजिये—

अभिमानावने गृद्धिरोषाद् बर्धयते तपः २ ।

मोनं तनोति श्रेयश्च श्रुतप्रश्रयतायनात् ॥

सातवा उपासकाध्ययन अग ही विवक्षित है, न कि
प्रस्तुत उपासकाध्ययन । दूसरे, वह प्रकरण प्रस्तुत
उपासकाध्ययन में उपलब्ध भी नहीं होता ।

२ मोन से चूँकि गृद्धिका निरोध होता है—लोलुपता
को छोड़ना पड़ता है, अतः उस मोन से इच्छानिरोध
रूप तप की वृद्धि होती है । इसके अतिरिक्त उके
आश्रय से मनःसिद्धि—मन के ऊपर नियन्त्रण—
और वचनकी सिद्धि—सरस्वती की प्रसन्नता (श्लोक
३६)—भी होती है । यह कथन भी यहाँ उपासका-
ध्ययनगत निम्न श्लोकों के आधार से किया गया है—
लौल्यत्यागात् तपोवृद्धिरभिमानस्य रक्षणम् ।
नतश्च समवाप्नोति मनःसिद्धिं जगत्त्रये ॥
श्रुतस्य प्रश्रयाच्छ्रेयं समृद्धेः स्यात् समाश्रयः ।
ततो मनुजश्लोकस्य प्रमीदति सरस्वती ॥

उपा. ८३५-३६

उपर्युक्त उपसकाध्ययन के श्लोक में मोन के लिए दो कारण—अभिमानरक्षा और श्रुतप्रतीक्षा (श्रुतविनय)—निहित हैं। वे दोनों कारण मा. ध. के इस श्लोक में भी अभिहित हैं। 'अभिमानस्य रक्षार्थ' और 'अभिमानावने' में शाब्दिक समानता भी है। चूँकि मा. ध. में यहाँ प्रकरण ही मोन का रहा है, अतः उसका वर्णन वहाँ कुछ विशेष रूप में—३४-३८ श्लोको में—उपलब्ध है।

२. उपामकाध्ययन में सम्यक्त्व के प्रादुर्भाव की सामग्री का निर्देश करते हुए 'उक्तं च' कहकर ग्रन्थान्तर में यह श्लोक उद्धृत किया गया है—

आसन्नभयता-कर्महानि-संज्ञित्व-शुद्धपरिणामाः ।

सम्यक्त्वहेतुरन्तर्बाह्योऽप्युपदेशकाविद्वज् ॥२२४

इससे मिलता जुलता सा. ध. में निम्न श्लोक पाया जाता है—

आसन्नभयता-कर्महानि-संज्ञित्व-शुद्धिभाक् ।

देशनाद्यस्तमित्यात्सो जीवः सम्यक्त्वमश्नुते ॥१-६

इसका पूर्वार्थ तो प्रायः उपर्युक्त श्लोक का ही है। उत्तरार्थ में भी पूर्व श्लोक में जैसे सम्यक्त्वोत्पत्ति के बाह्य हेतुभूत उपदेश का उल्लेख किया गया है वैसे ही सा. ध. में भी उक्त श्लोक के उत्तरार्थ में उसका (उपदेश—देशना का) निर्देश किया गया है।

३. उपसकाध्ययन में मद्य, मांस और मधु के त्याग के साथ पाच उदुम्बर फलों के त्याग स्वरूप आठ मूलगुण निर्दिष्ट किये गये हैं २।

प० आशाधर ने इन्हीं को मान्यता देकर अपने सा. ध. में उन्हें प्रथम स्थान देते हुए तत्पश्चात् आ. समन्तभद्र और जिनसेन के तद्विषयक अभिमत को सूचित किया है ३।

१ अनगारधर्माभूत की स्वोपज्ञ टीका (१-१) में इसे स्वयं प० आशाधर ने उद्धृत भी किया है।

२ मद्य-मांस-मधुत्यागः सहोदुम्बरपञ्चकैः ।
अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता मूलगुणाः श्रुते ॥२७०

३ तत्रादौ श्रद्धधर्जनीमांसां हिंसामपासितुम् ।
मद्य-मांस-मधुगुञ्जेत् पञ्च क्षीरफलानि च ॥
अष्टैतान् गृहिणा मूलगुणान् स्थूलवधादि वा ।
फलस्थाने स्मरेत् द्यूत मधुस्थान इहेव वा ॥

सा. ध. २, २-३

४. उपसकाध्ययन के इसी प्रकरण में मद्यदोषों का उल्लेख करते हुए सोमदेव गूरि ने कहा है (२७५) कि यदि मद्य की एक बूंद में सम्भव समस्त जीवराशि फैल जाय तो वह समस्त लोक को व्याप्त कर सकती है। यही बात प० आशाधर के द्वारा मा. ध. (२-४) में भी बड़ी गई है।

५. उपामकाध्ययन में (पृ. १३०-३३) मद्यपायी एकपात् परिव्राजक और उमका व्रत रखने वाले धूर्तिल चोर की कथा पृथक्-पृथक् कही गई है। इन्हीं नामों का निर्देश मा. ध. में उदाहरण के रूप में किया गया है ४।

६. उपामकाध्ययन में कहा गया है कि जो भोज-नादि के समय—पक्वभोजनादि में—अन्नतियो—मद्य-मांसादि का सेवन करने वालों—के साथ संसर्ग करना है वह इस लोक में निन्दा को प्राप्त करता है तथा परलोक उसका निष्फल जाता है। साथ ही वहाँ चर्मपात्र में रखे हुए पानी व तेल आदि के परित्याग के साथ व्रत में विमुख—मद्यादिका सेवन करने वाली—स्त्रियों के परित्याग की भी प्रेरणा की गई है ५।

पिछले श्लोक में प्रयुक्त 'एतान्' पद को स्पष्ट करते हुए उसकी स्वोपज्ञ टीका में प्रस्तुत उपामकाध्ययन का नामोल्लेख भी इस प्रकार किया गया है—
किंविशिष्टान् ? एतान्—उपासकाध्ययनादिशाम्ना-नुसारिभिः पूर्वमनुष्ठेयतयोपदिष्टान् ।

सा. ध. स्वो. टीका २, २-३

४. मा. ध. में इसी प्रकार से अन्यत्र भी जो जहाँ-तहाँ उदाहरण के रूप में कितने ही नामों का उल्लेख किया गया है उनमें से अधिकांश की कथाएँ प्रस्तुत उपसकाध्ययन में यथास्थान पायी जाती हैं। यथा—
मांसभोजी सौरसेन (उपा. पृ. १४०-४१; सा. ध. २-६) और उसका व्रत रखने वाला चण्ड नामक चाण्डाल (उपा. पृ. १४२-४३; सा. ध. २-६) इत्यादि।

५. कुर्वन्व्रतिभिः मार्थ संसर्ग भोजनादिषु ।
प्राप्नोति वाच्यतामत्र परत्र च न सत्फलम् ॥
दृतिप्रायेषु पानीय स्नेह च कुतुपादिषु ।
व्रतस्थो वज्रयेन्नित्य योपि नश्चाव्रतोचिना ॥

उपा २६८-६६

इमी का अनुसरण करके प० आशाधर ने सा. ध. मे यह कहा है—

भजन् मद्याविभाज स्त्रीस्तादृशः सह ससृजन् ।
भुक्स्यादौ चंति साकीति मद्यादिविगतिभक्तिम् ॥३-१०
चर्मस्थगम्भः स्नेहश्च ह्रिग्वसंहृतचर्म च ।
सर्वं च भोज्यं व्यापन्नं बोधः स्यादामिषव्रते ॥३-१२

७. अन्तरायों के टालने की प्रेरणा जैसे उपासकाध्ययन में की गई है वैसे ही सा. ध. मे भी की गई है । दोनों का अर्थसाम्य व शब्दसाम्य दर्शनीय है—

अतिप्रसंगहानाय तपसः परिबृद्धये ।
अन्तरायाः स्मृताः सद्भिर्व्रत-बीजविनिक्रियाः ॥

उपा. ३२४

अतिप्रसंगमसितुं परिवर्धयितुं तपः ।
व्रत-बीजवृत्तीभूक्तेरन्तरायान् गृही भयेत् ॥

सा. ध. ४-३०

८. रात्रिभोजन के परित्याग के सम्बन्ध मे भी उक्त दोनों ग्रन्थों के श्लोक देखिये—

अहिंसाव्रतक्षार्थं मूलव्रतविशुद्धये ।
निशायां वर्जयेद् भुक्तिमिहामुत्र च ढुल्लवाम् ॥

उपा. ३२५

अहिंसाव्रतक्षार्थं मूलव्रतविशुद्धये ।
नक्तं भुक्तिं चतुर्थापि सदा धीरस्त्रिधा त्यजेत् ॥

९. उपासकाध्ययन मे धावक के उत्तरगुणों का निर्देश इस प्रकार किया गया है—

अणुव्रतानि पञ्चैव त्रिप्रकारं गुणव्रतम् ।
शिखाव्रतानि षट्वारि गुणाः स्युर्द्वाविंशोत्तरे ॥३-१४

सा. ध मे ये ही १२ उत्तरगुण निश्चित किये गये है । वहा उनमे सम्बद्ध श्लोक का चतुर्थ चरण उपर्युक्त उपामकाध्ययन के उक्त श्लोक का ही है—गुणाः स्युर्द्वाविंशोत्तरे (४-४) ।

१०. उपासकाध्ययन मे जो साकल्पिक हिंसा के लिए धीवर का और आरम्भज हिंसा के लिए कर्षक (किमान) का उदाहरण दिया गया है वही उदाहरण सा. ध. मे दिया गया है १ ।

१ अघ्नन्नपि भवेत् पापी निघ्नन्नपि न पापभाक् ।
अभिषयानविशेषेण यथा धीवर-कर्षकी ॥ उ. ३४१

११. सागारधर्मामृत मे सत्याणुव्रत के प्रसंग मे वचन के जो सत्यसत्य आदि चार भेद निदिष्ट किये गये हैं वे उपासकाध्ययन मे वर्णित उन वचनभेदों से पूर्णतया प्रभावित है २ । उक्त भेदों मे चौथा भेद प्रमत्त्यासत्य है । व्यवहार का विरोधी होने से उसे दोनों ही ग्रन्थों मे समान रूप से हेय बतलाया गया है ३ ।

१२. उपासकाध्ययन मे बाह्य और आन्तर वस्तुओं मे 'ममेद' इस प्रकारका जो संकल्प हुआ करता है उसे परिग्रह कहा गया है ४ । इसी प्रकार सागारधर्मामृत मे भी चेतन, अचेतन और मिश्र (चेतन-अचेतन) वस्तुओं मे जो 'ममेद' इस प्रकारका संकल्प होता है उसे ही परिग्रह कहा गया है ५ ।

१३ सोमदेव सूरि के समय में मुनियों मे आचार-विषयक शिथिलता देखने मे आने लगी थी, जिससे उन्हें उनकी मान्यता मे कमी का अनुभव होने लगा था । इसी-से उन्हें उपासकाध्ययन मे यह कहना पड़ा—

यथा पूज्यं जिनेन्द्राणां क्वं लेपादिनिमित्तम् ।
तथा पूर्वमुनिच्छायाः पूज्याः सप्रति संयताः ॥७-७

इसी अभिप्राय को प० आशाधर ने सागारधर्मामृत (२-६४) मे इन शब्दों मे व्यक्त किया है—

आरम्भेऽपि सदा हिंसां सुधीः सांकल्पिकीं त्यजेत् ।
घ्नतोऽपि कर्षकादुच्चः पापोऽघ्नन्नपि धीवरः ॥

सा. २-८२

२ देखिए उपास. पृ. १७५-७६ का गद्यभाग और सा. ध. श्लोक ४, ४१-४३ (उन वचनभेदों के नाम भी दोनों ग्रन्थों में शब्दशः समान हैं) ।

३ तुरीय वर्जयेन्नित्य लोकयात्रा त्रये स्थिता । उ. ३८४
लोकयात्रानुरोधेनान् सत्यसत्यादिवाक्त्रयम् ।
ब्रूयादसत्यासत्यं तु तद्विरोधात् प्रातुचित् ॥
यत् स्वस्य नास्ति तत् कस्ये दास्यामीत्यादिसविदा ।
व्यवहारं विरुद्धान नासत्यासत्यमालपेत् ॥

सा. ध. ४-४० व ४-४३

४ ममेदमिति संकल्पो बाह्याभ्यन्तरवस्तुषु ।
परिग्रहो मतः × × × ॥ उपा. ४३२

५ ममेदमिति संकल्पश्चिदचिन्मिश्रवस्तुषु ।
ग्रन्थः × × × ॥ सा. ध. ४-५६ ।

विन्यस्येयंयुगीनेषु प्रतिमासु जिनानिष ।

भक्त्या पूर्वमुनीनर्चत् कुतः श्रेयोऽतिर्चिनाम् ॥

१४ सोमदेव सूरि ने पुण्योदय से प्राप्त धन का उपयोग जैनधर्मानुयायी के लिए करने की इस प्रकार से प्रेरणा की है—

देवास्तस्य धनं धन्येयंस्तस्य समयाश्रिते ।

एको मुनिर्भवेत्सभ्यो न सभ्यो वा यथागमम् ॥८२१

यही प्रेरणा सा. घ. (२-६३) में इस प्रकार से की गई है—

देवास्तस्य धनं प्राणैः सहावश्यं विनाशि च ।

बहुधा विनियुञ्जानः सुधीः समधिकान् क्षिपेत् ॥

१५ उपासकाध्ययन में लक्षणनिर्देशपूर्वक दान के तीन भेद कहे गये हैं—राजस, तामस और सात्त्विक । इनमें सात्त्विक दान को उत्तम, राजस को मध्यम और तामस को सर्वजघन्य दान बतलाया है १ ।

पं० आशाधर ने अतिथिसंविभाग के प्रकरण में श्लोक ५-४७ में दाता का स्वरूप बतलाते हुए उसकी स्वोपज टीका में कहा है कि चूँकि दाता सत्त्वादि गुणों से युक्त होता है, अतः उसके द्वारा दिया जाने वाला दान भी सात्त्विक आदि के भेद से तीन प्रकार का है २ ।

४. वसुनन्दि-श्रावकाचार और सागारधर्मामृत

वसुनन्दि-श्रावकाचार के रचयिता आ. वसुनन्दी हैं । उन्हीं के नाम पर यह ग्रन्थ 'वसुनन्दि-श्रावकाचार' नाम से प्रसिद्ध हुआ है । इसमें दर्शन-व्रत आदि ग्यारह स्थानों (प्रतिमाओं) के आश्रय से श्रावकधर्म का वर्णन किया गया है ३ । साथ ही वहाँ श्रावकों के द्वारा और भी जो यथायोग्य विनय, वैयावृत्य, कायक्लेश व पूजन-विधान अनुष्ठेय हैं उनका भी कथन किया गया है ४ । चूँकि

१ उपा. ८२८-३१ ।

२. किं च—सत्त्वादिगुणदातृक दानमपि सात्त्विकादि-भेदात् त्रिविधमिष्यते । तदुक्तम्—इतना कह कर आगे उपासकाध्ययन के उपयुक्त चार श्लोकों को उद्धृत भी कर दिया है । सा. घ. ५-४७

३ यह वर्णन प्रारम्भ की ३१३ गाथाओं में पूर्ण हुआ है ।

४ विणमो विज्जाविच्च कायकिलेसो य पुज्जनविहाणं । सत्तीए जह्जोमं कायब्बं देसविरएहि ॥३१६

उपयुक्त ग्यारह पद सम्यक्त्व से विरहित जीव के सम्भव नहीं हैं, अतः सर्वप्रथम वहाँ आठ अंगों सहित सम्यक्त्व और उसके विषयभूत जीवादि तत्त्वों का विवेचन किया गया है । तत्पश्चात् यह निर्देश करते हुए कि दर्शनश्रावक वह होता है जो सम्यक्त्व से विभूषित होकर पाँच उदुम्बर फलों के साथ सातों व्यसनों को छोड़ देता है ५ । इन द्यूतादि सात व्यसनो की यहाँ विस्तार से प्ररूपणा की गई है ६ ।

पं० आशाधर ने सागारधर्मामृत के अन्तर्गत कितने ही विषयों के वर्णन में उक्त वसुनन्दि-श्रावकाचार का आश्रय लिया है ७ । उनमें उदाहरण स्वरूप कुछ इस

आगे यथाक्रम से इस गाथा में निर्दिष्ट विनयादि का वर्णन किया गया है । उसमें भी प्रमुखता से पूजनविधान का वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है ।

५ पंचुंबरसहियाइ सत्त वि विसणाइ जो विवज्जेइ ।

सम्मत्तविसुद्धमई सो दसणसावमो भणिमो ॥५७॥

६ गा० ६०-१३३ ।

७ स्वयं पं० आशाधर ने सा. घ. की स्वो. टीका में आ. वसुनन्दी के नामोल्लेखपूर्वक वसुध्रा. की गाथाओं को भी उद्धृत किया है । यथा—

क—'अथ-पंचुंबरसहियाइ सत्त वि विसणाइ जो विवज्जेइ । सम्मत्तविसुद्धमई सो दसणसावमो भणिमो ॥ व. ५७ इति वसुनन्दिसेट्ठान्तिमते' । सा. घ. स्वो. टीका ३-१६

ख—यस्तु 'पंचुंबरसहियाइ'...॥५७॥ इति वसुनन्दिसेट्ठान्ति-मतेन दर्शनप्रतिमायां प्रतिपन्नस्तस्येदं तन्मतेनैव व्रत-प्रतिमां बिभ्रतो ब्रह्माणुव्रत स्यात् । तद्यथा— "पब्बेसु इत्थिसेवा.....॥" (व. आ. २१२) सा. घ. स्वो. टीका ४-५२

ग—इनके अतिरिक्त अनगारधर्मामृत की स्वो. टीका (८-८८)में भी जो 'एतच्च भगवद्वसुनन्दिसेट्ठान्ति [न्ति]-देवपादेराचारटोकाया "दुओणद जहाजाद" इत्यादिसूत्रे (मूला. ७-१०४) व्याख्यात द्रष्टव्यम् । (मूला. वृत्ति के कर्ता के रूप में यहाँ भी जिस ढंग से उनके नाम का उल्लेख किया गया है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि वसुनन्दि-श्रावकाचार के कर्ता वसुनन्दी और उक्त आचारवृत्ति के कर्ता वसुनन्दी दोनों एक ही हैं ।)

प्रकार हैं—

१ व. आ. में सात व्यसनों का वर्णन करते हुए प्रकरण के अन्त में १-१ गाथा द्वारा उक्त व्यसनों का सेवन करके जो दुर्गति को प्राप्त हुए है उनका उदाहरण दिया गया है। तदनुसार सा. घ. में भी उक्त व्यसनों का सेवन करने वालों में उन्हीं का नामोत्लेख किया है जो व. आ. में उदाहृत हैं।

२ व. आ. में प्रथमतः मेधावी—तीव्रबुद्धि जीवो को लक्ष्य करके दान के फल की प्ररूपणा की गई है। तत्पश्चात् मन्दबुद्धि जनों को लक्ष्य करके जो दानफल की वहां प्ररूपणा की गई है उसका अनुसरण कर पं० आशा-धर ने सा. घ. में उक्त दानफल का वर्णन किया है।

३ प्रोषधोपवास के प्रसंग में पं० आशाधर ने सा. घ. में प्रोषधविधान के उत्तम, मध्यम और जघन्य ये तीन भेद बतलाये हैं। उनमें पूर्वदिनों में १६ पहर के लिए—सप्तमी व त्रयोदशी के दोपहर से नौवीं व अमावस्या (या पूर्ण-मासी) के दोपहर तक—पूर्ण रूप से चारों प्रकार के आहार का परित्याग कर धर्मध्यानपूर्वक एकान्त स्थान में समय विताने को उत्तम, जल के अतिरिक्त अन्य चारों प्रकार के आहार के त्याग को मध्यम और आचाम्ल-निर्विकृति आदि को रखकर शेष भोजन के परित्याग को जघन्य प्रोषध-विधान कहा है।

इसका आधार वसुनन्दि-आचकाचार का तद्विषयक वर्णन रहा है। वहां उसके इसी प्रकार से तीन भेद व उनके लक्षण निर्दिष्ट किये गये हैं। यथा—

१ वसु. आ. १२५-३१

२ सा. घ. ३-१७

३ व. आ. २४०-४३

४ व. आ. २४४-४८

५ सा. घ. २-६७

६ एवमुत्तमं प्रोषधविधानमुक्त्वा (५-३४) मध्यमं जघन्यं च तदुपदेष्टुमाह—

उपवासाक्षमः कार्योज्ञपत्रास्तदक्षमः ।

आचाम्ल-निर्विकृत्यादि शक्त्या हि श्रेयसे तप ॥

सा. ५-३५

उत्तम-मज्झ-जहणं तिबिहं पोसहविहायमुत्तिष्ठं ।

सगससीए मासम्मि चउसु पव्वेसु कायणं ॥२८०

इस प्रकरण सम्बन्धी उभय ग्रन्थगत कुछ पद-वाक्यों की समानता देखिए—

व. आ.—सत्तमि-तेरसिदिवसम्मि अतिहिज्जणभोय-णावसाणम्मि भुंजणिउजं भोत्तूण—२८१ (सा. घ.—पर्वपूर्वदिनस्यार्धे अतिध्यशितोत्तरं भुक्त्वा—५-३६);

व. आ.—वायण-कहाणुपेहण - सिक्खावण-चित्तणोव-भोगेहि दिवससेसं जेऊण, भवराणिहयवंदणं किक्खा—२८४ (सा. घ.—धर्मध्यानपरो दिनं नीत्वा, आपराह्णिकं कृत्वा—५-३७);

व. आ.—रयणिसमयम्मि काउसग्गेण ठिक्खा × × × संथारं दाऊण × × × जिणालये णियघरे वा, ग्रहवा सयलं रत्ति काउस्सग्गेण जेऊण—२८५-८६ (सा.—यति-वद्विविक्तवसति श्रितः—४-३६, स्वाध्यायरतः प्रासुकसंस्तरे त्रियामां नयेत्—४-३७);

व. आ.—पच्चूसे उट्ठिता वंदणविहिणा जिणं णमंसित्ता—२८७ (सा.—ततः प्राभातिकं कुर्यात्—५-३८);

व. आ.—जिण-सुय-साहूण दव्व-भावपुज्जं काऊण—२८७ (सा.—पूज्यान् भावमय्यैव प्रासुकद्रव्यमय्या वा पूजया पूजयेत्—५-३९)

आर्यबिल-णिग्गियडो एयट्ठाणं च एयभसं वा ।

जं कीरइ त णेयं जहणयं पोसहविहाणं ॥ व. २६२

तत्राचाम्लमसंस्कृतसौवीरमिश्रीदनभोजनम्, त्वि-कृति—विक्रियेते जिह्वा-मनसी येनेति विकृतिः × × विकृतेनिष्क्रान्त भोजन निर्विकृति । आदिशब्देनैकस्थानैक-भक्त-रसत्यागादि । सा. घ. स्वो. टीका ५-३५

४ सा. घ. में उद्दिष्टविरत—अन्तिम आचक—की जो प्ररूपणा की गई है वह इस व. आ. की प्रकृत प्ररूपणा के ही आधार से की गई है। वहां उत्कृष्ट आचक के जैसे दो भेद किये गये हैं वैसे ही सा. घ. में उसके दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं। यथा—

एयारसम्मि ठाणे उक्किट्ठो सावन्नो हवे बुविहो ।

वत्थेक्कवरो पडमो कोवीणपरिगहो विविधो ॥ व. १०१

वम्मिस्साणं चयणं करेइ कसरि छुरेण वा पडमो ।

ठाणाइसु पडिलेहइ उवयरणेण पवडण्णा ॥१०२

स द्व घा प्रथमः द्रमश्रुमूर्धजानपनाययेत् ।

सितकौपीन संव्यात. कर्तर्या वा क्षुरेण वा ॥ सा. ७-३८

स्थानाविषु प्रतिलिखेत् मृद्वपकरणेन सः । ३९ पू.

तद्वद् द्वितीयः किन्त्वार्थसंज्ञो लुञ्चत्यसौ कचान् ।

कौपीनमात्रयुग् धत्ते यतिवत् प्रतिलेखनम् ॥ ७-४८

दोनों ही ग्रन्थों में उत्कृष्ट श्रावक के लिए उपवास की अनिवार्यता समान रूप में बतनायी गई है—

उपवास पुन गियमा चउधिवहं कुणइ पव्वेसु ॥ व. ३०३

कुपदेव चतुप्पव्यामुपवासं चतुविधम् ॥ सा. ७-३९

इसी प्रकार दोनों ग्रन्थों में उक्त श्रावक के लिए बैठकर हाथों में अथवा वर्तन में भोजन करने का निर्देश किया गया है—

भुंजेइ पाणिपत्तम्मि भायणे वा सहं समुवइट्ठो । व. ३०२

स्वयं समुपविष्टोऽद्यात् पाणिपात्रेऽथ भाजने । सा. ७-४०

भिक्षा याचना की विधि दोनों ग्रन्थों में निम्न प्रकार कही गई है—

पक्खालिऊण पत्तं पविसइ चरियाय पंगणे ठिऊचा ।

भणिऊण धम्मलाहं जायइ भिक्ख सयं चेव ॥

सिधं लाहालाहे अदीणवयणो गियत्तिऊण तन्नो ।

अण्णम्मि गिहे वरुचइ वरिसइ मोणेण कायं वा ॥

व. आ. ३०४-५

स श्रावकगृहं गत्वा पात्रपाणिस्तदङ्गणे ॥

स्थित्वा भिक्षां धर्मसाधं भणित्वा प्रार्थयेत् वा ।

मोनेन दशंघित्वांगं लाभालाभे समोऽचिरात् ॥

निर्गत्याम्यद् गृहं गच्छेद् सा. ७, ४०-४२

भिक्षा के लिए जाते हुए यदि कोई अधवीच में भोजन करने के लिए प्रार्थना करता है तो क्या करे, इसके लिए दोनों ही ग्रन्थों में यह कहा गया है—

जइ अद्ववहे कोइ वि भणइ पथेइ भोयण कुणह ।

भोत्तूण गिययभिक्खं तस्सणं भुंजे सेसं ॥

व. आ. ३०६

..... भिक्षोद्युक्तस्तु केनचित् ।

भोजनायाचितोऽद्यात् भुक्त्वा यद् भिक्षितं मनाक् ॥

सा. ७, ४१-४२

१ एमेव होइ बिहम्मो पव्वरि विससो कुण्णज्ज गियमेण ।

लोचं धरिज्ज पिच्छं भुजिज्जो पाणिपत्तम्मि ॥ व. ३११

यदि इस प्रकार से मार्ग में कोई नहीं रोकता है तो क्या करे, इसके लिए दोनों ग्रन्थों में कहा गया है—

अहं ण भणइ तो भिक्खं भमेज्ज. गियपोट्टपूरणपमाण ।

पच्छा एयम्मि गिहे जाएज्ज पासुगं सलिल ॥

ज कि पि पडियभिक्खं भुजिज्जो सोहिऊण जत्तेण ।

पक्खालिऊण पत्तं गच्छिज्जो गुरस्सयासम्मि ॥

व. आ. ३०७-८

प्रार्थयेताम्यथा भिक्षां यावत् स्वोदरपूरणीम् ।

लभेत् प्राप्तु यत्राम्भस्तत्र संशोध्य तां चरेत् ॥

आकांक्षन् संयमं भिक्षापात्रप्रक्षालनादिषु ।

स्वयं यतेत चावपः परथाऽसयमो महान् ॥

सा. घ. ७, ४३-४४

तत्पश्चात् दोनों ग्रन्थों में समान रूप से यह कहा गया है कि पश्चात् गुरु के पास जाकर विधिपूर्वक चार प्रकार के प्रत्याख्यान को ग्रहण करते हुए सबकी आलोचना करे । यथा—

गतूण गुरुसमोचं पक्खक्खणं चउधिवहं विहिणा ।

गहिऊण तन्नो सव्वं आलोचेज्जा पयत्तेण ॥ व. ३१०

ततो गत्वा गुरुपान्तं प्रत्याख्यानं चतुविधम् ।

गृह्णीयाद् विधिवत् सर्वं गुरोश्चालोचयेत् पुरः ॥

सा. ७-४५

माथ ही दोनों ग्रन्थों में यह भी कहा गया है कि जिसको यह भिक्षाभोजनविधि रुचिकर नहीं है व जिसके एक-भिक्षा का ही नियम है वह मुनि के आहार ग्रहण कर लेने पर किसी श्रावक के घर जाकर भोजन करे । पर यदि विधिपूर्वक वहा भोजन नहीं प्राप्त होता है तो फिर उसे उपवास ही करना चाहिए । यथा—

जइ एव ण रएज्जो काउरिस (?) गिहम्मि चरियाए ।

पविसत्ति (?) एयभिक्ख पवित्तिगियमणं ता कुज्जा ॥

व. ३०९

यस्त्वेकभिक्षानियमो गत्वाऽद्यादनुमुन्यसौ ।

भुक्त्यभावे पुनः कुर्यादुपवासमवश्यकम् ॥ ७-४६

५. वमुनन्दि-श्रावकाचार में इसी प्रसंग में यह कहा गया है कि देशव्रती श्रावक को दिनप्रतिमा, वीरचर्या, त्रिकालयोग और सिद्धान्तरहस्यों के पढ़ने का अधिकार नहीं है । यथा—

विणपडिम-वीरचरिया-तिथालजोगेणु णत्थि अहियारो ।

सिद्धतरहसाण वि अज्झयणे देसविरदाणं ॥ व ३१२

यही बात सागारधर्मांश में भी इसी प्रकार से कही गई है—

श्रावको वीरचर्याऽहःप्रतिमातापनादिषु ।

स्यान्नाधिकारी सिद्धान्तरहस्याध्ययनेऽपि च ॥७-५०

५. योगशास्त्र व सागारधर्मांश

आचार्य हेमचन्द्र द्वारा विरचित योगशास्त्र^१ में प्रमुखता से योग (ध्यान) का वर्णन है। पर प्रमगवश वहा चारित्र के वर्णन में श्रावकाचार की भी प्ररूपणा की गई है। प्रस्तुत सागारधर्मांश की रचना में प० आशाधर ने इस योगशास्त्र का भी बहुत कुछ उपयोग किया है। इसके अतिरिक्त व्रतातिचारो की प्ररूपणा में तो उन्होंने अन्य भी श्वेताम्बर ग्रन्थों का सहारा लिया है^२। इस योगशास्त्र का सागारधर्मांश पर कितना प्रभाव है, यह देखने के लिए यहां इन दोनों ग्रन्थों के कुछ श्लोकों का मिलान किया जाता है।

यहां यह स्मरणीय है कि उक्त सागारधर्मांश धर्मांश ग्रन्थ का उत्तर भाग है, पूर्व भाग उसका अनगारधर्मांश है। इन दोनों ही भागों पर प० आशाधर विरचित स्वोपज्ञ टीका भी है। इसी प्रकार हेमचन्द्र विरचित योगशास्त्र पर भी विस्तृत स्वोपज्ञ विवरण उपलब्ध है।

१ सागारधर्मांश का प्रथम श्लोक इस प्रकार है—

अथ नत्वाऽहंतोऽक्ष्णचरणान् श्रमणानपि ।

तद्धर्मरागिणां धर्मः सागाराणां प्रणेयते ॥

प० आशाधर अनगारधर्मांश में मुनिधर्म का निरूपण कर चुकने के पश्चात् यहा गृहस्थधर्म का वर्णन प्रारम्भ करने हुए सर्वप्रथम यह प्रतिज्ञा करते हैं कि अब आगे उस मुनिधर्म में अनुराग रखने वाले गृहस्थों के धर्म का निरूपण किया जाता है।

इसका मिलान योगशास्त्र के इस श्लोक से कीजिए—

सर्वात्मना यतीन्द्रानामेतच्चचारित्रमोरितम् ।

यतिधर्मानुरक्तानां देशतः स्यादगारिणाम् ॥

योगशास्त्र १-४६

१ इसका ग्रन्थपरिचय अनेकान्त वर्ष २०, किरण १ (अप्रैल १९६७) पृ० १९-२१ पर देखिये।

२ यथा—आवश्यकचूणि और श्रावकप्रज्ञप्ति आदि।

आचार्य हेमचन्द्र भी इसके पूर्व १८-४५ श्लोकों में मुनिधर्म का निरूपण कर चुकने पर यहां यह कहते हैं कि सर्व सावद्य के त्यागरूप यह मुनियों का धर्म कहा जा चुका है। इस मुनिधर्म में अनुरक्त गृहस्थों का वह चारित्र सर्वात्मना—सर्वविरतिरूप—न होकर देशतः—एकदेशविरतिरूप—ही होता है।

यहां सागारधर्मांश के उक्त श्लोकगत 'तद्धर्मरागिणा' और 'सागाराणां' तथा योगशास्त्र के इस श्लोक में प्रयुक्त 'यतिधर्मानुरक्तानां' और 'अगारिणां' पद विशेष ध्यान देने योग्य है।

२ सागारधर्मांश के प्रथम अध्याय में श्लोक ११ के द्वारा कंसा गृहस्थ गृहस्थधर्म के आचरण के योग्य होता है, यह बतलाने के लिए वहां 'न्यायोपात्तधनः' आदि १४ विशेषण दिये गये हैं। गृहस्थ की इस विशेषता का वर्णन योगशास्त्र में प्रथम प्रकाश के अन्तर्गत श्लोक ४७-५६ में विस्तार से उपलब्ध होता है। वहां गृहस्थ की इस विशेषता को व्यक्त करने के लिए जो ३५ विशेषण दिये गये हैं उनमें सा ध के वे १४ विशेषण समाविष्ट हैं। यथा—

१ न्यायोपात्तधनः (न्यायसम्पन्नविभवः—याग-शा. १-४७), २ गुणगुरुन् यजन् (मातापित्रोश्च पूजक—

१ दोनों ग्रन्थों की स्वोपज्ञ टीका में 'न्यायोपात्तधनः (न्यायसम्पन्नविभवः)' का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया गया है—

सा. ध —स्वामिद्रोह-मित्रद्रोह विश्वसितवञ्चन-चौर्यादिगर्हाथोपाजंनपरिहारेणाथोपाजंनोपायभूतः स्व-स्व-वर्णानुरूपः सदाचारो न्यायः, तेनोपात्तमुपाजितमात्म-सात्कृत धन विभवो येन स तथोक्त । (यो शा. पृ. १४५ —स्वामिद्रोह-मित्रद्रोह-विश्वसितवञ्चन-चौर्यादिगर्हाथोपाजंनपरिहारेणाथोपाजंनोपायभूतः स्व-स्ववर्णानुरूपः सदाचारो न्यायस्तेन सम्पन्न उत्पन्नो विभवः सम्पत्तस्य स तथा ।)

२ तथा गुरवो माता-पितरावाचार्यश्च, तानपि पूजयन्—त्रिमन्व्यप्रणामकरणानिदोषचरन्, तथा गुणैर्ज्ञान-मयमादिभिर्गुरवो महान्तो गुणगुर्वस्तानपि यजन्—मेवाञ्जल्यासनाभ्युत्थानादिकरणगणेन मानयन् ।

(सा. ध. स्वो. टीका)

५०, व्रतस्थजानवृद्धानां पूजकाः—५४) ३. सद्गीः १ (अवर्ण-वादी न क्वापि—४८), ४ अन्त्योन्त्यगुणं त्रिवर्गं भजन् (अन्त्योन्त्याप्रतिबन्धेन त्रिवर्गमपि साधयन्—५२), ५ तद-हंगृहिणी-स्थानालयः (कुल-शीलसमैः सार्धं कृतोद्वाहोऽन्य-गोत्रजैः—४७, अनतिव्यक्त-गुप्ते च स्थाने सुव्रातिवैश्विके । अनेकनिर्गमद्वारविर्वजितनिकेतनः॥४९॥, उपप्लुनस्थानं त्यजन्—५०), ६ ह्रीमयः (सलज्जः—५५), ७ युक्ताहार-विहारः (अजीर्णं भोजनत्यागी काले भोक्ता च सात्म्यत २—५२, अदेश-कालयोश्चर्या त्यजन्—५४), ८ आर्यसमितिः (कृत-संगः सदाचारेः—५०), ९ प्राज्ञः (बलाबल जानन्—५४), दीर्घदर्शी विशेषज्ञः—५५), १० कृतज्ञः (कृतज्ञः—५५), ११ वशी (वशीकृतेन्द्रियग्राम—५६), १२ धर्मविधि शृण्वन् (शृण्वानो धर्ममन्वहम्—५१), १३ दयालु (सदय—५५), १४ अघभी. (पापभीरुः—४८) ।

३ आगे (२-१०) प्राणी का अंग होने से मूग-उड़द आदि अन्न के समान मांस का भी भक्षण करना अनुचित नहीं है, इस आशंका के परिहार में प० आशाधर ने पत्नी और माता का उदाहरण देकर मांस भक्षण के अनौचित्य को सिद्ध किया है ।

.....व्रतस्थाश्च ते ज्ञानवृद्धाश्च, तेषां पूजकः ।

पूजा च सेवाञ्जल्यासनाभ्युत्थानादिलक्षणा । (यो. शा. स्वो. टीका पृ. १५७) ।

- १ सद्गीः—सती प्रशस्ता परावर्णवाद-पाश्यादिदोष-रहिता गीर्वाण्यस्यासी सद्गी. । (सा.ध. स्वो. टीका)
- २ योगशास्त्र में इस श्लोक (१-५२) के स्वो. विवरण में 'पानाहारादयो.....' इत्यादि श्लोक द्वारा 'सात्म्य' का लक्षण निर्दिष्ट किया गया है । वह श्लोक प० आशाधर के द्वारा भी सा. ध. के छठे अध्यायगत २४वें श्लोक की स्वो. टीका में उद्धृत किया गया है । इसके अतिरिक्त सा. ध. में इस श्लोक की स्वोपज्ञ टीका के नीचे जो 'सर्वत्र शुचयो', 'लोकापवादभी-रुत्वं'; 'यस्य त्रिवर्गशून्यानि'; 'पादमायान्निधि कुर्यात्'; आयाधं च निपुञ्जीत' और 'यदि सत्सग-निरतो' इत्यादि श्लोक दिये गये हैं वे योगशास्त्र के स्वो. विवरण में क्रमसे पृ. १४६, १४६, १५४, १५१, १५१ और १५० पर उपलब्ध होते हैं ।

यह समाधान योगशास्त्र में श्लोक ३-३३ की स्वो-पज्ञ वृत्ति में निम्न श्लोक के द्वारा किया गया है—

यस्तु प्राण्यङ्गमात्रत्वात् प्राह मांसोदने समे ।

स्त्रीत्वमात्रान्मात्-पत्न्योः स किं साम्यं न कल्पयेत् ॥

पृ० ४७६-१२

४ उक्त दोनों ग्रन्थों में पांच उदुम्बर फलों के नाम इस प्रकार निर्दिष्ट किये गये हैं—

पिप्पल, उदुम्बर, प्लक्ष, वट और फल्गु (फल्गुरत्र काकोदुम्बरिका—स्वो. टीका) । सा. ध. २-१३

उदुम्बर, वट, प्लक्ष, काकोदुम्बरिका और पिप्पल । यो. शा. ३-४२ ।

५ रात्रिभोजन प्रकरण में प० आशाधर ने जिस वनमाला का उदाहरण दिया है (४-२६) वह योगशास्त्र के निम्न श्लोक में इस प्रकार उपलब्ध होता है—

श्रूयते ह्यन्यशपथाननादृत्यैव लक्ष्मणः ।

निशाभोजनशपथं कारितो वनमालया ॥३-६८

यहां सा. ध. में योगशास्त्र के 'अन्यशपथान्' और 'कारितो' पद जैसे के तैसे लिए गये हैं ।

६ इसी प्रकरण में प० आशाधर ने रात्रिभोजन को जलोदरादि रोगों का उत्पादक और प्रेतादि के द्वारा उच्छिष्ट बतलाया है (४-२५) । इस श्लोक की स्वो. टीका में वे उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार करते हैं—

तत्र यूका भोजनेन सह भुक्ता जलोदरं करोति, कोलिका कुष्ठम्, मक्षिका छदिम्, मदिगका मेदा [मेधा]-हानिम्, व्यञ्जनान्त पतितो वृश्चिकस्तालुव्यथाम्, कण्टकाः काष्ठखण्डं वा गलव्यथाम्, बालश्च गले लग्नः स्वरभङ्गम् । इत्यादयो दृष्टदोषा सर्वेषां प्रतीतिकराः ।

इस स्पष्टीकरण के आधारभूत योगशास्त्र के निम्न श्लोक रहे हैं—

मेघां पिपीलिका हन्ति यूका कुर्याज्जलोदरम् ।

कुश्ले मक्षिका वान्ति कुष्ठरोगं च कोलिकः ॥

कण्टको दाहखण्डं च वितनोति गलव्यथाम् ।

व्यञ्जनान्तनिपतितस्तालु विष्यति वृश्चिकः ॥

विलग्नश्च गले बालः स्वरभङ्गाय जायते ।

इत्यादयो दृष्टदोषाः सर्वेषां निशि भोजने ॥

यो. शा. ३, ५०-५२

उक्त रात्रिभोजन को प्रेतादि से उच्छिष्ट निम्न श्लोक में कहा है—

अन्नं प्रेत-पिशाचाद्यैः संचरद्भिर्निरंकुशैः ।

उच्छिष्टं कियते यत्र तत्र नाद्याहिनात्यये ॥ यो.शा. ३-४८

७ पं० आशाधर ने दिनके प्रारम्भ के दो और अन्त के दो अन्तर्मुहूर्तों को छोड़कर दिन में भोजन का विधान किया है (४-२६) । इसी प्रकार हेमचन्द्राचार्य ने दिन के प्रारम्भ की दो और अन्त की दो घटिकाओं को छोड़कर दिन में भोजन का विधान किया है (३-६३) । दोनों ही ग्रन्थों में उक्त प्रकार से रात्रिभोजन का परित्याग करने वाले गृहस्थ की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि वह इस प्रकार से अपने जीवन के अर्ध भाग को तो उपवास के साथ बिता देता है । वे श्लोक इस प्रकार हैं—

योऽस्ति त्यजन् बिनाहन्तमुहूर्तौ रात्रिवत् सदा ।

स वर्ष्येतोपवासेन स्वजनार्थं नयन् कियत् ॥ सा.ध. ४-२६

करोति विरतिं धन्यो यः सदा निशि भोजनात् ।

सोऽयं पुरुषायुष्य स्यादवश्यमुपोषितः ॥ यो.शा. ३-६६

८ सा. ध. में भोगोपभोगपरिमाणव्रत के प्रसंग में भोग और उपभोग वस्तुओं के प्रमाण के प्रतिरिक्त मांस, मद्य, मधु, त्रसघातजनक, बहुघातजनक, प्रमादजनक, अनिष्ट और अनुपसेष्य वस्तुओं का भी त्याग कराया गया है । इस वर्णन के आधारभूत यद्यपि प्रमुखता से रत्न-करण्डगत ८५-८६ श्लोक रहे हैं, फिर भी तद्विषयक विशेष वर्णन में योगशास्त्र का भी सहारा लिया गया है । इस प्रसंग में वहाँ प्रथमतः निम्न दो (३, ६-७) श्लोक उपलब्ध होते हैं—

मद्यं मांसं नवनीतं मधुदुग्धपञ्चकम् ।

अनन्तकायमज्ञातफलं रात्रौ च भोजनम् ॥

ग्रामगोरससंपृक्तं द्विदलं पुष्पितोदनम् ।

दध्यर्हद्वितीयातीतं कुयितान्नं च वर्जयेत् ॥

इन श्लोकों में निर्दिष्ट क्रम से वहाँ आगे मद्य का वर्णन ८-१७, मांस का वर्णन १८-३३, नवनीत का ३४-३५, मधु का ३६-४१, उदुम्बर फलों का ४२-४३, अनन्तकायका ४४-४६, अज्ञात फल का ४७, रात्रिभोजन का ४८-७० तथा ग्रामगोरससंपृक्त द्विदल, पुष्पित ओदन व दो दिन बाद के दही का वर्णन ७१-७२ श्लोकों में किया गया है ।

इन सबका वर्णन सा. ध. में भी यत्र तत्र किया गया

है, जो यथाक्रम से इन श्लोकों में देखा जा सकता है—

२, ४-५ व ३-११; २, ६-१० व ३-१२; २-१२; २-११ व ३-१३; २-१३ व ३-१४, ५-१७; ३-१४; २, १४-१५ तथा ४, २४-२६, व ३-१५; ५-१८ व ३-११ ।

९ योगशास्त्र में व्रतातिचारों के वर्णन के प्रसंग में श्लोक ३-६८ के द्वारा भोजन के आश्रय से भोगोपभोग-परिमाणव्रत के पांच अतिचारों का निर्वेश करके तत्पश्चात् श्लोक ३, १००-१०१ के द्वारा उक्त भोगोप-भोगपरिमाणव्रत के कर्माश्रित १५ अतिचारों का—खर-कर्मों का—नामोल्लेख किया गया है । इससे पूर्व के श्लोक ३-६६ के स्वोपज्ञ विवरण में भोगोपभोगपरिमाण का लक्षणान्तर इस प्रकार किया गया है—

भोगोपभोगमानस्य च व्याख्यानान्तरम्—भोगोपभोग-साधनं यद् द्रव्यं तदुपाज्जनाय यत् कर्म व्यापारस्तदपि भोगोपभोगशब्देनोच्यते, कारणे कार्यापचारात् । ततश्च कर्मतः कर्माश्रित्य, खर कठोर प्राणिवाधक यत् कर्म कोट्ट-पालन-गुप्तिपालन-वीतपालनादिरूपं तत् त्याज्यम्, तस्मिन् खरकर्मत्यागलक्षणे भोगोपभोगव्रते पञ्चदश मलानति-चारान् संत्यजेत् । (पृ. ५६६)

सागारधर्माभूत में आचार्य हेमचन्द्र के उपर्युक्त कथन

१ इनमें द्विदल से सम्बद्ध उभय ग्रन्थगत श्लोकों में बहुत कुछ शब्दसाम्य भी है । यथा—

ग्रामगोरससंपृक्तं द्विदलं पुष्पितोदनम् ।

दध्यर्हद्वितीयातीतं कुयितान्नं च वर्जयेत् ॥ यो. ३-७

ग्रामगोरससंपृक्तं द्विदलं प्रायणोऽनवम् ।

वर्षास्वदलितं चात्र पत्रशाकं च नाहरेत् ॥ सा. ५-१८

पुष्पितोदनं और दिनद्वयातीत दही का परित्याग सा.

ध. (३-११) में निम्न श्लोक द्वारा कराया गया है—

सन्धानकं त्यजेत् सर्वं दधि-तत्र दध्यर्होषितम् ।

काञ्जिकं पुष्पितमपि मद्यव्रतमलोऽप्यथा ॥

२ उभय ग्रन्थगत वे अतिचारविषयक श्लोक भी बहुत कुछ समानता रखते हैं । यथा—

सचित्तस्तेन सम्बद्धः सन्मिश्रोऽभिषवस्तथा ।

दुष्पक्वाहार इत्येते भोगोपभोगमानगाः ॥ यो. ३-६८

सचित्तं तेन सम्बद्धं सम्मिश्रं तेन भोजनम् ।

दुष्पक्वमप्यभिषव भुञ्जानोऽप्येति तद्व्रतम् ॥ सा. ५-२०

का सीधा उल्लेख न करके पं० आशाधर ने श्लोक ५-२० को स्वोपज्ञ टीका में सिताम्बराचार्य की शका के रूप में प्रायः उन्हीं के शब्दों में उसे उपरिथित करते हुए अचार बतलाया है। यथा—

अत्राह सिताम्बराचार्य — भोगोपभोगसाधनं यद् द्रव्यं तदुपार्जनाय यत् कर्म व्यापारस्तदपि भोगोपभोगशब्देनोच्यते, कारणे कार्योपचारात् । ततः कोट्टपालादिखरकर्मपि त्याज्यम् । तत्र खरकर्मत्यागलक्षणे भोगोपभोगव्रते अङ्गार-जीविकादीन् पञ्चदशातिचारान्स्त्यजेत् । तदचारः ।

इस प्रकार उक्त खरकर्मों के परित्याग को अचार बतलाकर भी पं० आशाधर ने अतिजडबुद्धि जनो के प्रति उनके परित्याग की भी स्वीकार कर लिया है।

१० योगशास्त्र में श्रावक के १२ व्रतों का वर्णन करके तत्पश्चात् यह कहा गया है कि इस प्रकार उन व्रतों में स्थित होकर जो पुरुष भक्तिपूर्वक सात क्षेत्रों में धन का परित्याग करता है तथा दीन जनों के लिए भी दयाद्वं होकर दान देता है वह महाश्रावक कहलाता है२ ।

इसी प्रकार सा. ध. में भी कहा गया है कि जो गृहस्थ उक्त व्रतों का परिपालन करता हुआ गुणवानो की वैयावृत्ति करता है, दीन जनों का उद्धार करता है, और इस (आगे छोटे अध्याय में वर्णित) दिनचर्या का आचरण करता है; वह महाश्रावक होता है३ ।

११ तत्पश्चात् दोनों ही ग्रन्थों में जो श्रावक की दिनचर्या का वर्णन किया गया है वह बहुत कुछ समानता रखता है। इस प्रसंग में योगशास्त्र में सर्वप्रथम यह श्लोक उपलब्ध होता है—

१ इसी से उन्होंने श्लोक ५, २१-२२ में उक्त १५ खरकर्मों की नामनिर्देशपूर्वक सङ्गृहीत कर लिया है। योगशास्त्र में इन खरकर्मों का पृथक्-पृथक् निरूपण नामनिर्देशपूर्वक श्लोक १००-११४ में किया गया है।

२ एव व्रतस्थितो भक्त्या सप्तक्षेत्र्या धनं वपन् ।

दयया चातिदीनेषु महाश्रावक उच्यते ॥ यो. ३-१२०

३ एवं पालयितुं व्रतानि विदधच्छीलानि सप्तामला-

न्यागुणं: समितिष्ठन्नारतमनोदीप्राप्तवाग्दीपकः ।

वैयावृत्यपरायणो गुणवता दीनानतीवोद्धर-

श्चर्या देवसिकीमिमां चरति यः स स्यान्महाश्रावकः ॥

सा. ध. ५-५५

आहो मुहूर्तं उत्तिष्ठेत् परमेष्ठिस्तुतिं पठन् ।

किञ्चर्मः किङ्कुलश्चास्मि किञ्चतोऽस्मीति च स्मरन् ॥

यो. शा. ३-१२२

उधर सा. ध. में भी इस प्रकरण के प्रारम्भ में इसी आशय का प्रथम श्लोक इस प्रकार प्राप्त होता है—

आहो मुहूर्तं उत्थाय वृत्तापञ्चनमस्कृतिः ।

कोऽहं को मम धर्मः किं व्रतं चेति परामृशेत् ॥ सा. ध. ६-१

१२ तदनन्तर योगशास्त्र (३-१२३) में कहा गया है कि पश्चात् स्नानादि से पवित्र होता हुआ घर पर पुष्प, नैवेद्य और स्तुति के द्वारा जिन देव की पूजा करके शक्ति के अनुसार प्रत्याख्यान ग्रहण करे और तत्पश्चात् देवालय को जाय ।

यही बात सा. ध. में भी (६, ३-५) कही गई है ।

इस प्रकरण में सा. ध. के निम्न श्लोक योगशास्त्र के इन श्लोकों से काफी प्रभावित हैं—

प्रविश्य विधिना तत्र त्रिः प्रदक्षिणयेज्जिनम् ।

पुष्पादिभिस्तमभ्यर्च्य स्तवनं वृत्तमः स्तुयात् ॥ यो. ३-१२४

क्षालिताङ्घ्रिस्तथैवान्तः प्रविश्यानन्दनिर्भरः ।

त्रिः प्रदक्षिणयेन्तत्वा जिनं पुण्याः स्तुतीः पठन् ॥ सा. ६-६

+ + +

ततो गुरुणामभ्यर्णं प्रतिपत्तिपुरःसरम् ।

विबधोत विशुद्धात्मा प्रत्याख्यानप्रकाशनम् ॥ यो. ३-१२५

अर्थेयपथसङ्गृह्ण कृत्वाभ्यर्च्य जिनेश्वरम् ।

श्रुतं सूरिं च तस्याग्रे प्रत्याख्यानं प्रकाशयेत् ॥ सा. ६-११

+ + +

विलास-हासं निष्ठ्यूत-निद्रा-कलह-बुष्कथा ।

जिने ब्रह्मवन्स्यान्तराहारं च चतुर्विधम् ॥ यो. ३-८१

मध्ये जिनगृहं हासं विलासं दुःकथां कलिम् ।

निद्रां निष्ठ्यूतमाहारं चतुर्विधमपि त्यजेत् ॥ सा. ६-१४

+ + +

ततः प्रतिनिवृत्तः सन् स्थानं गत्वा यथोचितम् ।

सुधीर्धर्माविरोधेन विदधोतार्थचिन्तनम् ॥ यो. ३-१२८

ततो यथोचितस्थानं गत्वाऽर्थेऽधिकृतान् सुधीः ।

अवितिष्ठेद् व्यवस्थेद्वा स्वयं धर्माविराधतः ॥ सा. ६-१५

+ + +

ततो माध्याह्निकीं पूजां कुर्यात् कृत्वा च भोजनम् ।

तद्विद्विः सह शास्त्रार्थरहस्यानि विचारयेत् ॥ यो. ३-१२६

विषम्य गुरुसङ्गचारिभ्योऽर्थिभिः सह ।

जिनावमरहस्यानि विनयेन विचारयेत् ॥ सा. ६-२६

+ + +
ततश्च संध्यासमये कृत्या देवार्चनं पुनः ।

कृतावश्यककर्मा च कुर्यात् स्वाध्यायमुत्तमम् ॥

न्याय्ये काले ततो देव-गुरुस्मृतिपवित्रितः ।

निद्रामत्पामुपासीत प्रायेणाब्रह्मवर्जकः ॥

निद्राच्छेदे योषिवङ्गसतत्त्व परिचिन्तयेत् ।

स्थूलभद्रादिसाधूनां तन्निवृत्ति परामृशन् ॥ यो. शा. ३, १३०-३२

सायमावश्यकं कृत्वा कृतदेव-गुरुस्मृतिः ।

न्याय्येकालेऽल्पशः स्वप्याच्छक्त्या चाब्रह्म वर्जयेत् ॥

निद्राच्छेदे पुनश्चित्तं निर्बन्धेनैव भावयेत् ।

सम्यग्भावितनिर्बन्धः सद्योनिर्वाति चेतनः ॥ सा. ध. ६, २७-२८

+ + +
त्यक्तसंगो जीर्णवासा मलविलिन्नकलेवरः ।

भजन् माधुकरीं वृत्तिं मुनिचर्यां कदा श्रये ॥ यो. ३-१४२

कदा माधुकरी वृत्तिः सा मे स्यादिति भावयन् ।

यथालाभेन सन्तुष्टः उत्तिष्ठेत् तनुस्थितो ॥ सा. ६-१७

+ + +
शत्रो मित्रे तृणे स्त्रेण स्वर्णेऽश्मनि मणौ मृदि ।

मोक्षे भवे भविष्यामि निर्विशेषमतिः कदा ॥ यो. ३-१४६

पुरेऽरण्ये मणौ रेणौ मित्रे शत्रौ सुखेऽसुखे ।

जीविते मरणे मोक्षे भवे स्यां समधीः कदा ॥ सा. ६-४१

इनके प्रतिरिक्त और भी कितने ही श्लोक हैं जो श्रम्य और शब्दों से भी समानता रखते हैं ।

उपसंहार

पण्डितप्रवर आशाधर मस्कृत और प्राकृत उभय भाषाओं के असाधारण विद्वान् होते हुए सिद्धान्त, न्याय, व्याकरण, काव्य और आयुर्वेद आदि अनेक विषयों में पारंगत थे । उन्होंने अपने समय में उपलब्ध इन विषयों के

१ उन्होंने कितने ही शिष्यों को व्याकरण, न्याय और काव्य आदि विषयों को पढ़ाकर गणनीय विद्वान् बनाया था । यथा—

यो द्वाग्व्याकरणाब्धिपारमनयच्छ्रुश्रूषमाणान् न कान् पटुर्कर्त्तृपरमास्त्रमाप्य न यतः प्रत्ययिनः केऽक्षिपन् ।
चरुः केऽस्त्रलित न येन जिनवाग्-दीप पथि ग्राहिताः
पीत्वा काव्य-मुधां यतश्च रसिकेऽबापुः प्रतिष्ठान के ॥

अन. ध. प्रशस्ति ६

प्रचुर ग्रन्थों का परिशीलन किया था । उनके द्वारा जैसे अनेक मौलिक ग्रन्थों की रचना हुई है वैसे ही अनेक ग्रन्थों पर टीका भी की गई है । प्रस्तुत ग्रन्थ सागार-धर्मसूत्र—जो धर्मसूत्र ग्रन्थ का पूर्व भाग है—इसी कारण से एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ बन सका है । श्रावक के द्वारा अनुष्ठेय प्रायः सभी क्रियाओं का इसके मूल भाग में या उसकी स्वोपज्ञ भव्य-कुमुद-चन्द्रिका टीका में समावेश हुआ है । कुछ विषयविवेचन या किसी विषय का विस्तार यहां ऐसा भी उपलब्ध होता है जो प्रायः अप्रामाणिक या आम्नायविरुद्ध माना जाता है । पर उसका भी वर्णन पं० आशाधर ने अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से नहीं किया है, किन्तु जैसा कि आप ऊपर देख चुके हैं पूर्व ग्रन्थों का—चाहे वे दिगम्बर रहे हों या श्वेताम्बर—आश्रय लेकर उन्होंने उनका वर्णन किया है । बिना ग्रन्थाधार के उन्होंने स्वतन्त्रता से कुछ भी नहीं लिखा, ऐसा मुझे अब तक के अध्ययन से प्रतीत होता है । कुछ भी हो, श्रावकाचार विषयक यह विस्तृत ग्रन्थ विवेकी पाठकों के लिए उपयोगी ही सिद्ध हुआ है ।

२ क—जैसे भाड़ा देकर कुछ काल के लिए वेश्या को स्वस्त्री मान उसके सेवन में ब्रह्मचर्याणुव्रत को भग्न मानकर अतिचार मानना (४-५८ की स्वोपज्ञ टीका) । इसके लिए आधारभूत हेमचन्द्र सूरि के योगशास्त्र का स्वोपज्ञ विवरण रहा है (३-६४) । प्रायः उसी के शब्दों में पं० आशाधर ने उक्त अतिचार का विशदीकरण किया है । उसका इस प्रकार का स्पष्टीकरण आवश्यकचूर्णि और श्रावकप्रज्ञप्ति आदि ग्रन्थ भी श्वे. ग्रन्थों में उपलब्ध होता है ।

ख—नीराजनाविधि में गोमय आदि के विधान का उल्लेख (६-२२) । इसका आधार उपासकाध्ययन का निम्न श्लोक रहा है—

देहेऽस्मिन् विहितार्चने निनदति प्रारब्धगीतव्वना—
वातोद्यः स्तुतिपाठमङ्गलरवैश्वानन्दिनि प्राङ्गणे ।
मृत्सना-गोमय-भूति-पिण्ड-हरितादभं-प्रसूनाक्षतं—
रम्भोभिश्च सचन्दनैर्जिनपतेर्नीराजानां प्रस्तुते ॥

उपा. ५३६, पृ० २३६

आत्म-विद्या क्षत्रियों की देने

मुनि श्री नथमल

आत्म-विद्या की परम्परा

ब्रह्म विद्या या आत्म-विद्या अर्वादि शब्द है। मुण्ड-कोपनिषद् के अनुसार सम्पूर्ण देवताओं में पहले ब्रह्मा उत्पन्न हुआ। वह विश्व का कर्त्ता और भुवन का पालक था। उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को समस्त विद्याओं की आधारभूत ब्रह्म-विद्या का उपदेश दिया। अथर्वा ने अंगिर को, अंगिर ने भारद्वाज-सत्यवह को, भारद्वाज सत्य-वह ने अपने से कनिष्ठ ऋषि को उसका उपदेश दिया। इस प्रकार गुरु-शिष्य के क्रम से वह विद्या अंगिरा ऋषि को प्राप्त हुई।

बृहदारण्यक में दो बार ब्रह्म-विद्या की वंश-परम्परा बताई गई है। उसके अनुसार पौतिभाष्य ने गोपवन से ब्रह्म-विद्या प्राप्त की। गुरु-शिष्य का क्रम चलते-चलते अन्त में बताया गया है कि परमेष्ठी ने वह विद्या ब्रह्मा से प्राप्त की। ब्रह्मा स्वयंभू हैं। शंकराचार्य ने ब्रह्मा का अर्थ हिरण्यगर्भ किया है। उससे आगे आचार्य-परम्परा नहीं है, क्योंकि वह स्वयंभू हैं।

मुण्डक और बृहदारण्यक का क्रम एक नहीं है। मुण्डक के अनुसार ब्रह्म-विद्या की प्राप्ति ब्रह्मा से अथर्वा को होती है और बृहदारण्यक के अनुसार वह ब्रह्मा से परमेष्ठी को होती है। ब्रह्मा स्वयंभू है इस विषय में दोनों एक मत हैं।

जैन दर्शन के अनुसार आत्म-विद्या के प्रथम प्रवर्तक भगवान् ऋषभ हैं। वे प्रथम राजा, प्रथम जिन (ग्रहत्), प्रथम केवली, प्रथम तीर्थंकर, और प्रथम धर्म-चक्रवर्ती

१. मुण्डकोपनिषद् १।१; १।२

२. बृहदारण्यकोपनिषद् २।६।१; ४।६।१-३

३. बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य, २।३।६, पृ० ६१८

परमेष्ठी विराट् ब्रह्मणो हिरण्यगर्भात् ततः परं आचार्य परम्परा नास्ति।

थे। उनके प्रथम जिन होने की बात इतनी विश्रुत हुई कि आगे चलकर प्रथम जिन उनका एक नाम बन गया। श्रीमद् भागवत से भी इसी मत की पुष्टि होती है। वहा बताया गया है कि वासुदेव ने आठवां अवतार नाभि और मरुदेवी के वहां धारण किया। वे ऋषभ रूप में अवतरित हुए और उन्होंने सब आश्रमों द्वारा नमस्कृत मार्ग दिख-लाया। इसलिए ऋषभ को मोक्ष-धर्म की विवक्षा से वासुदेवांश कहा गया।

ऋषभ के सौ पुत्र थे। वे सबके सब ब्रह्म-विद्या के पारगामी थे। उनके नौ पुत्रों को आत्म-विद्या-विशारद भी कहा गया है। उनका ज्येष्ठ पुत्र भरत महायोगी

४. श्री जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, वक्षस्कार २, सू० ३०

उसहे नाम अरहा कोसलिए पढमराया पढमजिणे पढमकेवली पढमतिथकरे पढमधम्मवरचक्कवट्टी समुप्पज्जित्थे।

५. कल्पसूत्र १६४

उसभेण कोसलिए कासवगुत्ते णं तस्स ण पच नाम-धिज्जा एवमाहिज्जति, तंजहा—उसभे इ वा पढम-राया इ वा पढमभिक्खाचरे इ वा पढमजिणे इ वा

६. श्रीमद्भागवत, स्कन्ध १, अध्याय ३, श्लोक १३
अष्टमे मेरुदेव्यां तु, नाभेजति उरुक्रमः।
दशयन् बर्त्मधीराणां सर्वाश्रम नमस्कृतम्॥

७. श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ११, अध्याय २, श्लोक १६
तमाहुर्वासुदेवाः, मोक्षधर्मविवक्षायाः।

८. श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ११, अ० २, श्लोक १६
अवतीर्णं सुतशतं, तस्यासीद्, ब्रह्मपारगम्॥

९. श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ११, अ० २, श्लोक २०
नवाभवन् महाभागाः, मुनयो ह्यर्थक्षंसिनः।
अमरा वातरशनाः, आत्म-विद्या विशारदाः॥

या १ ।

जम्बूद्वीप प्रवृत्ति, कल्पसूत्र और श्रीमद् भागवत के संदर्भ में हम आत्म-विद्या का प्रथम पुरुष भगवान् ऋषभ को पाते हैं । कोई आश्चर्य नहीं कि उपनिषद्कारों ने ऋषभ को ही ब्रह्मा कहा हो ।

ब्रह्मा का दूसरा नाम हिरण्यगर्भ है । महाभारत के अनुसार हिरण्यगर्भ ही योग का पुरातन विद्वान् है, कोई दूसरा नहीं २ । श्रीमद्भागवत् में ऋषभ को योगेश्वर कहा है ३ । उन्होंने नाना योग-चर्याओं का चरण किया था ४ । हठयोग प्रदीपिका में भगवान् ऋषभ को हठयोग-विद्या के उपदेष्टा के रूप में नमस्कार किया गया है ५ । जैन आचार्य भी उन्हें योग-विद्या के प्रणेता मानते हैं ६ । इस दृष्टि से भगवान् ऋषभ आदिनाथ, हिरण्यगर्भ और ब्रह्मा—इन नामों से अभिहित हुए हैं ।

ऋग्वेद ७ के अनुसार हिरण्यगर्भ भूत जगत् का एक मात्र पति है । किन्तु उससे यह स्पष्ट नहीं होता कि वह परमात्मा है या देहधारी ? शंकराचार्य ने बृहदारण्यकोपनिषद् में ऐसी ही विप्रतिपत्ति उपस्थित की है—किन्हीं विद्वानों का कहना है कि परमात्मा ही हिरण्यगर्भ है और कई विद्वान् कहते हैं कि वह ससारी है ८ । यह सन्देह

१. श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ५, अ० ४।६

येषां स्त्रु महायोगी भरतो ज्येष्ठः, श्रेष्ठ गुणः आसीत् ।

२. महाभारत, शान्तिपर्व, अ० ३४६।६५

हिरण्यगर्भो योगस्य, वेत्ता नान्यः पुरातनः ।

३. स्कन्ध ५, अ० ४।३

भगवान् ऋषभ देवो योगेश्वरः ।

४. श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ५, अ० ५।३५

नानायोगचर्याचरणो भगवान् केवल्यपति ऋषभः ।

५. हठयोग प्रदीपिका

श्रीआदिनाथाय नमोस्तु तस्मै, येनोपदिष्टा हठयोग विद्या ?

६. ज्ञानार्णव १।२

योगिकल्पतरुं नैमि, देव-देवं वृषध्वजम् ।

७. ऋग्वेद संहिता, मण्डल १०, अ० १०, सूत्र १२१, मन्त्र १

हिरण्यगर्भः समवतंताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।

स दाधार पृथिवी द्यामुतेमा कर्म देवाय हविषा विधेम ॥

८. बृहदारण्यकोपनिषद्, भाष्य १।४।६, पृ० १८५

अत्र विप्रतिपद्यन्ते पर एव हिरण्यगर्भ इत्येके । संसारीत्यपरे ।

हिरण्यगर्भ के मूल स्वरूप की जानकारी के अभाव में प्रचलित था । भाष्यकार सायण के अनुसार हिरण्यगर्भ देहधारी है ९ । आत्म-विद्या, सन्यास आदि के प्रथम प्रवर्तक होने के कारण इस प्रकरण में हिरण्यगर्भ का अर्थ ऋषभ ही होना चाहिए । हिरण्यगर्भ उनका एक नाम भी रहा है । ऋषभ जब गर्भ में थे तब कुबेर ने हिरण्य की वृष्टि की थी, इसलिए उन्हें हिरण्यगर्भ भी कहा गया १० ।

कर्म-विद्या और आत्म-विद्या

कर्म-विद्या और आत्म-विद्या—ये दो धाराएं प्रारम्भ से ही विभक्त रही हैं । मरीचि, अगिरा, अग्नि, पुलस्त्य, पुलह, ऋतु और वसिष्ठ—ये सात ऋषि ब्रह्मा के मानस पुत्र हैं । ये प्रधान वेदवेत्ता और प्रवृत्ति-धर्मावलम्बी हैं । इन्हें ब्रह्मा द्वारा प्रजापति के पद पर प्रतिष्ठित किया गया । यह कर्म-परायण पुरुषों के लिए शाश्वत मार्ग प्रकट हुआ ११ ।

सन, सनत्, सुजात, सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, कपिल और सनातन—ये सात ऋषि भी ब्रह्मा के मानस पुत्र हैं । इन्हें स्वयं विज्ञान प्राप्त है और ये निवृत्ति धर्मावलम्बी हैं । ये प्रमुख योग-वेत्ता, साख्य-ज्ञान-विशारद, धर्म-शास्त्रों के आचार्य और मोक्षधर्म के प्रवर्तक हैं १२ ।

९. तैत्तिरीयारण्यक, प्रपाठक १०, अनुवाक ६२ सा. भाष्य ।

१०. महापुराण, पर्व १२, श्लोक ६५

सैषा हिरण्यगर्भो वृष्टिः धनेशेन निपातिता ।

विभोहिरण्यगर्भत्वमिव बोधयितुं जगत् ॥

११. महाभारत, शान्तिपर्व, अ० ३४०।६६-७१

मरीचिरङ्गिराश्चाग्निः पुलस्त्यः पुलहः ऋतूः ।

वसिष्ठ इति सप्तर्षे मानसा निमिता हि ते ॥

एते वेदविदो मुख्या वेदाचार्याश्च कल्पिताः ।

प्रवृत्तिधर्मिणश्चैव प्राजापत्ये प्रतिष्ठिताः ॥

अयं क्रियावता पन्थश्च व्यक्तीभूतः सनातनः ।

अनिरुद्ध इति प्रोक्तो लोकसंगकरः प्रभुः ॥

१२. महाभारत, शान्तिपर्व, अ० ३४०।७२-७४

सनः सनत्सुजातश्च सनकः सनन्दनः ।

सनत्कुमारः कपिलः सप्तमश्च सनातनः ।

सप्तर्षे मानसा प्रोक्ता ऋषयो ब्रह्मणः सुतः ।

स्वयमागतविज्ञाना निवृत्ति धर्मास्थिताः ॥

सप्तति शतस्थान में बतलाया गया है कि जैन, शैव और सांख्य—ये तीन धर्म-दर्शन भगवान् ऋषभ के तीर्थ में प्रवृत्त हुए थे। इससे महाभारत के उक्त तथ्यांश का समर्थन होता है।

श्रीमद्भागवत में लिखा है—भगवान् ऋषभ के कुशावर्त आदि नौ पुत्र नौ अधिपति बने, कवि आदि नौ पुत्र आत्म-विद्या-विशारद श्रमण बने और भरत को छोड़ कर शेष ८१ पुत्र महाश्रोत्रिय, यज्ञशील और कर्म-शुद्ध ब्राह्मण बने। उन्होंने कर्म-तंत्र का प्रणयन किया।

भगवान् ऋषभ ने आत्म-तंत्र का प्रवर्तन किया और उनके ८१ पुत्र कर्म-तंत्र के प्रवर्तक हुए। ये दोनों धाराएं लगभग एक साथ ही प्रवृत्त हुईं। यज्ञ का अर्थ यदि आत्म-यज्ञ किया जाए तो थोड़ी भेद रेखाओं के साथ उक्त विवरण का सवादक प्रमाण जैन-साहित्य में भी मिलता है और यदि यज्ञ का अर्थ वेद-विहित यज्ञ किया जाए तो यह कहना होगा कि भागवतकार ने ऋषभ के पुत्रों को यज्ञशील बता यज्ञ को जैन-परम्परा से सम्बन्धित करने का प्रयत्न किया है।

आत्म-विद्या भगवान् ऋषभ द्वारा परिवर्तित हुई। उनके पुत्रों—वातरशन श्रमणों—द्वारा वह परम्परा के रूप में प्रचलित रही। श्रमण और वैदिक धारा का संगम हुआ तब प्रवृत्तिवादी वैदिक धर्म उससे प्रभावित नहीं हुए। किन्तु श्रमण परम्परा के अनुयायी असुरों की वृत्ति आत्म-लीनता और अशोकभाव को देखा और भौतिक समृद्धि की तुलना में आत्मिक समृद्धि को अधिक उन्नत देखा तो वे उससे सहसा प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके।

एते योगविदो मुख्याः सांख्यज्ञानविशारदाः ।

आचार्या धर्मशास्त्रेण मोक्षधर्मप्रवर्तकाः ॥

१. सप्तति शतस्थान ३४०, ३४१

जड्ढणं सइवं संखं, वेभंति य नाहिमाण बुद्धाणं ।

वइसेसियाण वि मयं, इमाइं सग दरिसणाइं कम ॥

तिन्नि उसहस्स तित्थे, जायाइं सीयलस्स ते दुन्नि ।

दरिसण मेगं पासस्स, सत्तमं वीरतित्थंमि ॥

२. श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ५, अ० ४।६-१३

३. आवश्यक निर्युक्ति, पृ० २३५, २३६

वेदोत्तर युग में आत्म-विद्या और उसके परिपार्श्व में विकसित होने वाले अहिंसा, मोक्ष आदि तत्त्व दोनों धाराओं के संगम स्थल हो गए।

वैदिक साहित्य में श्रमण-संस्कृति के और श्रमण-साहित्य में वैदिक-संस्कृति के अनेक संगम-स्थल हैं। यहां हम मुख्यतः आत्म-विद्या और उसके परिपार्श्व में अहिंसा की चर्चा करेंगे।

आत्म-विद्या और वेद

महाभारत का एक प्रसंग है—महर्षि बृहस्पति ने प्रजापति मनु से पूछा—भगवन् ! जो इस जगत का कारण है, जिसके लिए वैदिक कर्मों का अनुष्ठान किया जाता है, ब्राह्मण लोग जिसे ज्ञान का अन्तिम फल बताते हैं तथा वेद के मन्त्र-वाक्यों द्वारा जिसका तत्त्व पूर्ण रूप से प्रकाश में नहीं आता, उस नित्य वस्तु का आप मेरे लिए अर्थार्थ वर्णन करें।

श्रमण परम्परा और क्षत्रिय

श्रमण परम्परा में क्षत्रियों की प्रमुखता रही है और वैदिक परम्परा में ब्राह्मणों की। भगवान् महावीर का देवानन्द की कोख से त्रिसला क्षत्रियाणी की कोख में संक्रमण किया गया, यह तथ्य श्रमण परम्परा सम्मत क्षत्रिय जाति की श्रेष्ठता का सूचक है। महात्मा बुद्ध ने कहा था—वाशिष्ठ ! ब्रह्मा सनत्कुमार ने भी गाथा कही है—

गोत्र लेकर चलने वाले जनों में क्षत्रिय श्रेष्ठ हैं।

जो विद्या और प्राचरण से युक्त है, वह देव मनुष्यों में श्रेष्ठ है। वाशिष्ठ ! यह गाथा ब्रह्मा सनत्कुमार ने ठीक ही कही है, बेठीक नहीं कही। सार्थक कही, अनर्थक नहीं। इसका मैं भी अनुमोदन करता हूँ।

क्षत्रिय की उत्कृष्टता का उल्लेख बृहदारण्यकोपनिषद् में भी मिलता है। वह इतिहास की उस भूमिका पर अंकित हुआ जान पड़ता है, जब क्षत्रिय और ब्राह्मण एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी हो रहे थे। वही लिखा है—भारम्भ मे यह एक ब्रह्म ही था। अकेले होने के कारण वह विभूति-युक्त कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ। उसने अतिशयता से क्षत्र इस प्रशस्त रूप की रचना की अर्थात्

४. महाभारत, शान्तिपर्व, २०।१।४

देवताओं में जो क्षत्रिय, इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, मेघ, यम, मृत्यु और ईशान् आदि हैं, उन्हें उत्पन्न किया। अतः क्षत्रिय से उत्कृष्ट कोई नहीं है। इसी से राजसूय यज्ञ में ब्राह्मण नीचे बैठ कर क्षत्रिय की उपासना करता है, वह क्षत्रिय में ही अपने यज्ञ को स्थापित करता है।

आत्म-विद्या के लिए ब्राह्मणों द्वारा क्षत्रियों की उपासना

क्षत्रियों की श्रेष्ठता उनकी रचनात्मक शक्ति के कारण नहीं, किन्तु आत्म-विद्या की उपलब्धि के कारण थी। यह आश्चर्यपूर्ण नहीं, किन्तु बहुत यथार्थ बात है कि ब्राह्मणों को आत्म-विद्या क्षत्रियों से प्राप्त हुई है।

आरुणि का पुत्र श्वेतकेतु पंचालदेशीय लोगों की सभा में आया।

प्रवाहण ने कहा—कुमार ! क्या पिता ने तुम्हें शिक्षा दी है ? श्वेतकेतु—हां भगवन् !

प्रवाहण—क्या तुम्हें मालूम है कि इस लोक से (जाने पर)

प्रजा कहाँ जाती है ?

श्वेतकेतु—भगवन् ! नहीं।

प्रवाहण—क्या तू जानता है कि वह फिर इस लोक में कैसे आती है ?

श्वेतकेतु—नहीं। भगवन् !

प्रवाहण—देवयान और पितृयान—इन दोनों मार्गों का एक दूसरे से विलग होने का स्थान तुम्हें मालूम है ?

श्वेतकेतु—नहीं भगवन् !

प्रवाहण—तुम्हें मालूम है, यह पितृलोक भरता क्यों नहीं है ?

श्वेतकेतु—भगवन् ! नहीं।

प्रवाहण—क्या तू जानता है कि पाचवीं आहुति के हवन कर दिये जाने पर आप (सोमघृतादि रस) पुरुष सज्ञा को कैसे प्राप्त होते हैं ?

श्वेतकेतु—भगवन् ! नहीं।

‘तो फिर तू अपने को’ मुझे शिक्षा दी गई है, ऐसा क्यों बोलता था ? जो इन बातों को नहीं जानता वह अपने को शिक्षित कैसे कह सकता है ?

तब वह त्रस्त होकर अपने पिता के स्थान पर आया

और उससे बोला—श्रीमान् ने मुझे शिक्षा दिये बिना ही कह दिया था कि मैंने तुम्हें शिक्षा दे दी है।

उस क्षत्रिय बन्धु ने मुझसे पांच प्रश्न पूछे थे, किन्तु मैं उनमें से एक का भी विवेचन नहीं कर सका। उसने कहा—तुमने उस समय (आते ही) जैसे ये प्रश्न मुझे सुनाए हैं, उनमें से मैं एक को भी नहीं जानता। यदि मैं उन्हें जानता तो तुम्हें क्यों नहीं बतलाता ?

तब वह गौतम राजा के स्थान पर आया और उसने अपनी जिज्ञासाएं राजा के सामने प्रस्तुत कीं।

राजा ने उसे चिरकाल तक अपने पास रहने का अनुरोध किया और कहा—गौतम ! जिस प्रकार तुमने मुझसे कहा है, पूर्वकाल में तुमसे पहले यह विद्या ब्राह्मणों के पास नहीं गई। इसीसे सम्पूर्ण लोको में क्षत्रियों का ही (शिष्यों के प्रति) अनुशासन होता रहा है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में भी राजा प्रवाहण आरुणि से कहता है—इससे पूर्व यह विद्या (अध्यात्म विद्या) किसी ब्राह्मणों के पास नहीं रही। वह मैं तुम्हें बता-ऊंगा।

उपमन्यु का पुत्र प्राचीनशाल, पुलुष का पुत्र सत्ययज्ञ, मल्लविके का पुत्र इन्द्रद्युम्न, शर्करक्षा का पुत्र जन और अश्वतराश्व का पुत्र वुडिल—ये महा गृहस्थ और परम श्रोत्रिय एकत्रित होकर परस्पर विचार करने लगे कि हमारा आत्मा कौन है और हम क्या हैं ?

उसने निश्चय किया कि अरुण का पुत्र उद्दालक इस समय इस वैश्वानर आत्मा को जानता है। अतः हम उसके पास चलें। ऐसा निश्चय कर वे उसके पास आए।

उसने निश्चय किया कि ये परम श्रोत्रिय महागृहस्थ मुझमें प्रश्न करेंगे, किन्तु मैं इन्हें पूरी तरह से बतला नहीं सकूंगा। अतः मैं इन्हें दूसरा उपदेष्टा बतला दू।

उसने उनसे कहा—इस समय केकयकुमार अश्वपति इस वैश्वानर संज्ञक आत्मा को अच्छी तरह जानता है।

१. छान्दोग्योपनिषद् ५।३।१-७, पृ० ४७२-४७६

२. बृहदारण्यकोपनिषद् ६।२।८—

यथेय विद्येतः पूर्वं न कस्मिंश्चन ब्राह्मण उवाच तां त्वहं तुभ्यं वक्ष्यामि।

आइए हम उसी के पास चलें। ऐसा कहकर वे उसके पास चले गये।

उन्होंने केकयकुमार अश्वपति से कहा—इस समय आप वैश्वानर आत्मा को अच्छी तरह से जानते हैं, इस-लिए उसका ज्ञान हमें दें।

दूसरे दिन केकयपति अश्वकुमार ने उन्हें आत्म-विद्या का उपदेश दिया। ब्राह्मणों के ब्रह्मणत्व पर तीखा व्यंग्य करते हुए अलातशत्रु ने गार्ग्य से कहा था—ब्राह्मण क्षत्रियों की शरण इस आशा से आए कि यह मुझे इस ब्रह्म का उपदेश करेगा, यह तो विपरीत है, तो भी मैं तुम्हें उसका ज्ञान कराऊंगा हीर।

प्रायः सभी मैथिल नरेश आत्म-विद्या को आश्रय देते थे।

एम-विंटरनिट्स ने इस विषय पर बहुत विशद विवेचना की है। उन्होंने लिखा है—भारत के इन प्रथम दार्शनिकों को उस युग के पुरोहितों में खोजना उचित न होगा, क्योंकि पुरोहित तो यज्ञ को एक शास्त्रीय ढांचा देने में दिलोजान से लगे हुए थे जबकि इन दार्शनिकों का ध्येय वेद के अनेकेश्वरवाद को उन्मूलित करना ही था। जो ब्राह्मण यज्ञों के आडम्बर द्वारा ही अपनी रीढ़ी कमाते हैं, उन्हीं के घर में ही कोई ऐसा व्यक्ति जन्म ले ले जो इन्द्र तक की सत्ता में विश्वास न करे, देवताओं के नाम से आहुतियाँ देना जिसे व्यर्थ नजर आए, बुद्धि नहीं मानती। सो अधिक संभव नहीं प्रतीत होता है कि यह दार्शनिक चिन्तन उन्हीं लोगों का क्षेत्र था, जिन्होंने वेदों में पुरोहितों का शत्रु अर्थात् अरि, कजूस, 'ब्राह्मणों का दक्षिणा देने से जी चुराने वाला' कहा गया है।

उपनिषदों में तो, और कभी-कभी ब्राह्मणों में भी ऐसे कितने ही स्थल आते हैं जहाँ दर्शन-अनुचिन्तन के उस युग प्रवाह में क्षत्रियों की भारतीय संस्कृति को देन स्वतः सिद्ध हो जाती है।

कौशीतकी ब्राह्मण (२६।५) में प्राचीन भारत की

१. छान्दोग्योपनिषद ५।१।१-७, पृ० ५३६-५४३

२. बृहदारण्यकोपनिषद २।१।१५, पृ० ४२२

३. श्रीबिष्णु पुराण ४।५।३४, पृ० ३१०

प्रायेणैते आत्म-विद्याश्रयिणो भूपाला भवन्ति।

साहित्यिक गतिविधि की निदर्शक एक कथा, राजा प्रतर्दन के सम्बन्ध में आती है कि किस प्रकार वह मानी ब्राह्मणों से यज्ञ विद्या के विषय में जूझता है। शतपथ की ११वीं कण्डिका में राजा जनक सभी पुरोहितों का मुँह बन्द कर देते हैं और तो और ब्राह्मणों को जनक के प्रश्न समझ में ही नहीं आए? एक और प्रसंग में श्वेतकेतु-सोमशुष्य और याज्ञवल्क्य सरीखे माने हुए ब्राह्मणों से प्रश्न करते हैं कि अग्निहोत्र करने का सच्चा तरीका क्या है और किसी से इसका सन्तोषजनक उत्तर नहीं बन पाता। यज्ञ की दक्षिणा अर्थात् सौ गाएँ, याज्ञवल्क्य के हाथ लगती है, किन्तु जनक साफ-साफ कहे जाता है कि अग्निहोत्र की भावना अभी स्वयं याज्ञवल्क्य को भी स्पष्ट नहीं हुई और सत्र के अनन्तर जब महाराज अन्दर चले जाते हैं तो ब्राह्मणों में कानाफूँसी चल पड़ती है कि यह क्षत्रिय होकर हमारी ऐसी की तंसी कर गया खैर हम भी तो इसे सबक दे सकते हैं—ब्रह्मोद्य (के विवाद) में इसे नीचा दिखा सकते हैं? तब याज्ञवल्क्य उन्हें मना करता है—देखो, हम ब्राह्मण हैं और वह सिर्फ एक क्षत्रिय है, हम उसे जीत भी ले तो हमारा उससे कुछ बढ़ नहीं जाता और अगर उसने हमें हरा दिया तो लोग हमारी मखौल उड़ा-एंगे। देखो? एक छोटे से क्षत्रिय ने ही इनका अभिमान चूर्ण कर डाला। और उनमें (अपने साथियों से) छुट्टी पाकर याज्ञवल्क्य स्वयं जनक के चरणों में हाजिर होता है, भगवन्! मुझे भी ब्रह्म-विद्या सम्बन्धी अपने स्वानुभव का कुछ प्रसाद दीजिए? और भी ऐसे अनेक प्रसंग मिलते हैं, जिनसे आत्म विद्या पर क्षत्रियों का प्रभुत्व प्रमाणित होता है।

आत्म-विद्या के पुरस्कर्ता

एम० विन्टरनिट्ज ने लिखा है—जहाँ ब्राह्मण यज्ञ-याग आदि की नीरस प्रक्रिया से लिपटे हुए थे, अष्ट्यात्म-विद्या के चरम प्रश्नों पर और लोग स्वतंत्र चिन्तन कर रहे थे। इन्हीं ब्राह्मणोत्तर मण्डलों से ऐसे वानप्रस्थों तथा रमते परिव्राजकों का सम्प्रदाय उठा—जिन्होंने न केवल ससार और सासारिक सुख वैभव से अपितु यज्ञादि की

१. प्राचीन भारतीय साहित्य, प्रथम भाग, प्रथम खण्ड, पृ० १८३।

नीरसता से भी अपना सब नाता तोड़ लिया था। आगे चलकर बौद्ध, जैन आदि विभिन्न ब्राह्मण-विरोधी मत-मतान्तरों का जन्म इन्हीं स्वतन्त्र चिन्तकों तथाकथित नास्तिकों—की बदौलत ही सम्भव हो सका, यह भी एक ऐतिहासिक तथ्य है, प्राचीन यज्ञादि सिद्धान्तों के भस्मशेष से इन स्वतन्त्र विचारों की परम्परा वही—यह भी एक (और) ऐतिहासिक तथ्य है। याज्ञिकों में 'जिद' कुछ घर कर जाती और न यह नई दृष्टि कुछ सभव हो सकती।

इन सबका यह मतलब न समझा जाए कि ब्राह्मणों का उपनिषदों के दार्शनिक चिन्तन में कोई भाग था ही नहीं, क्योंकि प्राचीन गुरुकुलों में एक ही आचार्य की छात्र-छाया में ब्राह्मण-पुत्रों, क्षत्रिय-पुत्रों की शिक्षा-दीक्षा का तब प्रबन्ध था और यह सब स्वभाविक ही प्रतीत होता है कि विभिन्न समस्याओं पर समय-समय पर उन दिनों विचार विनिमय भी बिना किसी भेदभाव के हुआ करते हो।

“बौद्ध, जैन आदि विभिन्न ब्राह्मण विरोधी मत मतान्तरों का जन्म इन्हीं स्वतन्त्र चिन्तकों-तथाकथित नास्तिकों की बदौलत ही सम्भव हो सका।” इस वाक्य की अपेक्षा यह वाक्य अधिक उपयुक्त हो सकता है कि बौद्ध, जैन आदि विभिन्न ब्राह्मण विरोधी मत-मतान्तरों का विकास प्रात्म-वेत्ता क्षत्रियों की बदौलत ही सम्भव हो सका। क्योंकि अध्यात्म-विद्या की परंपरा बहुत प्राचीन रही है, सम्भवतः वेद-रचना से पहले भी रही है। उसके पुरस्कर्ता क्षत्रिय थे। ब्राह्मण पुराण भी इस बात का समर्थन करते हैं कि भगवान् ऋषभ क्षत्रियों के पूर्वज हैं^१। उन्होंने सुदूर अतीत में अध्यात्म-विद्या का उपदेश दिया था।

१ प्राचीन भारतीय साहित्य, प्रथम खण्ड, प्रथम भाग, पृ० १८६

२. (क) वायुपुराण पूर्वार्द्ध अ० ३३, श्लोक ५०
नाभिस्त्व जमयत्पुत्रं मरुदेव्यां महाद्युतिः।
ऋषभं पार्थिवं श्रेष्ठ सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम्॥

(ख) ब्रह्माण्ड पुराण, पूर्वार्द्ध अनुषंगपाद अ० १४।६०
ऋषभ पार्थिवं श्रेष्ठ सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम्।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे, वीरः पुत्रसताग्रजः॥

ब्राह्मणों की उदारता

ब्राह्मणों ने भगवान् ऋषभ और उनकी अध्यात्म-विद्या को जिस प्रकार अपनाया, वह उनकी अपूर्व उदारता का ज्वलन्त उदाहरण है। एम. विन्टरनिट्ज के शब्दों में हम यह भी न भूल जाए कि (भारत के इतिहास में) ब्राह्मणों में ही प्रतिभा पाई जाती है कि वे अपनी घिसी-पिटी उपेक्षित विद्या में भी नये विरोधी भी क्यों न हो—विचारों की संगति बिठा सकते हैं, आश्रम-व्यवस्था की, इसी विशिष्टता के साथ, चुपचाप उन्होंने अपने (ब्राह्मण) धर्म का अंग बना लिया—वानप्रस्थ और संन्यासी लोग भी उन्हीं की प्राचीन व्यवस्था में समा गए^३।

आरण्यकों और उपनिषदों में विकसित होने वाली अध्यात्म विद्या को विचार सगम की सजा देकर हम अतीत के प्रति अन्याय नहीं करते। डा० भगवत शरण उपाध्याय का मत है कि ऋग्वेदिककाल के बाद, जब उपनिषदों का समय आया तब तक क्षत्रिय ब्राह्मण संघर्ष उत्पन्न हो गया था और क्षत्रिय ब्राह्मणों से वह पद छीन लेने को उद्यत हो गए थे जिसका उपभोग ब्राह्मण वैदिक-काल से किए आ रहे थे^४। पार्जितर का अभिमत इससे भिन्न है। उन्होंने लिखा है—राजाओं व ऋषियों की परम्पराएं भिन्न-भिन्न रही। सुदूर अतीत में दो भिन्न परम्पराएं थीं—क्षत्रिय परम्परा और ब्राह्मण परम्परा। यह मानना विचारपूर्ण नहीं कि विशुद्ध क्षत्रिय-परम्परा पूर्णतः विलीन हो गई थी या अत्यधिक भ्रष्ट हो गई या जो वर्तमान में है, वह मौलिक नहीं। ब्राह्मण अपने धार्मिक व्याख्याओं को सुरक्षित रख सके व उनका पालन कर सके हैं तो क्षत्रियों के सम्बन्ध में इससे विपरीत मानना अविचारपूर्ण है। क्षत्रिय परम्परा में भी ऐसे व्यक्ति थे, जिनका मुख्य कार्य ही परम्परा को सुरक्षित रखना था।

...क्षत्रिय व ब्राह्मण परम्परा का अन्तर महत्वपूर्ण है और स्वभाविक भी। यदि क्षत्रिय परम्परा का अस्तित्व नहीं होता तो वह आश्चर्यजनक स्थिति होती..... ब्राम्हण व क्षत्रिय परम्परा की भिन्नता प्राचीनतम काल से

३. प्राचीन भारतीय साहित्य, प्रथम भाग, प्रथम खण्ड, पृ० १८६।

४. सस्कृति के चार अध्याय, पृ० ११०

पराशरों से संकलन व पौराणिक ब्राम्हणों का उन पर अधिकार होने तक रही।

वस्तुतः क्षत्रिय परम्परा ऋग्वेदकाल से पूर्ववर्ती है। उपनिषद्काल में क्षत्रिय ब्राम्हणों का पद छीन लेने की उद्यत नहीं थे प्रत्युत ब्राम्हणों को आत्म-विद्या का ज्ञान दे रहे थे। जैसा कि डा० उपाध्याय ने लिखा है— ब्राम्हणों के यज्ञानुष्ठान आदि के विरुद्ध क्रान्तिकर क्षत्रियों ने उपनिषद्-विद्या की प्रतिष्ठा की और ब्राम्हणों ने अपने दर्शनों की नींव डाली। इस संघर्ष का काल-प्रसार काफी लम्बा रहा जो प्रन्ततः द्वितीय शती ई० पूर्व में ब्राम्हणों के राजनीतिक उत्कर्ष का कारण हुआ। इसमें एक ओर तो वशिष्ठ, परशुराम, तुरकावधेय, कात्यायन, राक्षस, पतंजलि और पुण्यमित्र, देवापि, जनमेजय, अश्वपति, कैंकेय, प्रवाहण, जंबलि—अजातशत्रु, कौशेय, जनक, विदेह, पार्श्व, महावीर, बुद्ध और बृहद्रथ की२।

आत्म-विद्या और अहिंसा

अहिंसा का आधार आत्म-विद्या है। उसके बिना अहिंसा कोरी नैतिक बन जाती है, उसका आध्यात्मिक मूल्य नहीं रहता।

अहिंसा और हिंसा कभी ब्राम्हण और क्षत्रिय परंपरा की विभाजन रेखा थी। अहिंसा-प्रिय होने के कारण क्षत्रिय जाति बहुत जन-प्रिय हो गई थी। जैसा कि दिनकरजी ने लिखा है—अवतारों में वामन और परशुराम, ये दो ही हैं, जिनका जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था। बाकी सभी अवतार क्षत्रियों के वंश में हुए हैं। यह आकस्मिक घटना हो सकती है, किन्तु इससे यह अनुमान आसानी से निकल आता है कि यज्ञों पर चलने के कारण ब्राम्हण इतने हिंसाप्रिय हो गए थे कि समाज उनसे घृणा करने लगा और ब्राम्हणों का पद उसने क्षत्रियों को दे

दिया। प्रतिक्रिया केवल ब्राम्हण धर्म (यज्ञ) ही नहीं, ब्राम्हणों के गढ़ कुरु पंचाल के खिलाफ भी लगी और वैदिक सभ्यता के बाद वह समय आ गया। जब इज्जत कुरु-पंचाल की नहीं, बल्कि मगध और विदेह की होने लगी। कपिलवस्तु में जन्म लेने के ठीक पूर्व, जब तथागत स्वर्ग में देवयोनि में विराज रहे थे, सब की कथा है कि देवताओं ने उनसे कहा कि अब आपका अवतार होना चाहिए। अतएव आप सोच लीजिए कि किस देश और किस कुल में जन्म ग्रहण कीजिएगा। तथागत ने सोच समझकर बताया कि महाबुद्ध के अवतार के योग्य तो मगध देश और क्षत्रिय वंश ही हो सकता है। इसी प्रकार महावीर, वर्धमान भी पहले एक ब्राम्हणी के गर्भ में आए थे। लेकिन इन्द्र ने सोचा कि इतने बड़े महापुरुष का जन्म ब्राम्हण वंश में कैसे हो सकता है? अतएव उसने ब्राम्हणी का गर्भ चुराकर उसे एक क्षत्राणी की कुक्षी में डाल दिया। इन कहानियों से यह निष्कर्ष निकलता है कि उन दिनों यह अनुभव किया जाता था कि अहिंसा धर्म का महाप्रचारक ब्राम्हण नहीं हो सकता, इसीलिए बुद्ध और महावीर के क्षत्रिय वंश में उत्पन्न होने की कल्पना लोगों को बहुत अच्छी लगने लगी३।

उक्त अवतरणों व अभिमतों से ये निष्कर्ष हमें सहज उपलब्ध होते हैं—

१. आत्म-विद्या के आदि स्रोत तीर्थंकर ऋषभ थे।

२. वे क्षत्रिय थे।

३. उनकी परंपरा क्षत्रियों में बराबर समादृत रही।

४. अहिंसा का विकास भी आत्म-विद्या के आधार पर हुआ।

५. यज्ञ संस्था के समर्थक ब्राम्हणों ने वैदिककाल में, आरम्भ-काल में, आत्म-विद्या को प्रमुखता नहीं दी।

६. आरम्भिक व उपनिषद्काल में वे आत्म-विद्या की ओर आकृष्ट हुए।

७. क्षत्रियों के द्वारा उन्हें वह (आत्म-विद्या) प्राप्त हुई। ★

१. Ancient India Historical tradition by F.E.

Pargiter Page 5-6.

२. संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ११०

३. वही, पृ० १०६, ११०

श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ वस्ती मंदिर

तथा मूलनायक मूर्ति—शिरपुर

पं० नेमचंद धन्नुसा जैन न्यायतीर्थ

शिरपुर के अन्तरीक्ष पार्श्वनाथ का मन्दिर ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है यह भली भाँति स्पष्ट है। अनेकान्त वर्ष २० किरण १ मे शिरपुर के पवली मन्दिर के सम्बन्ध मे प्रकाश डाला गया है। प्रस्तुत लेख मे वहाँ के वस्ती मन्दिर और मूल नायक मूर्ति के सम्बन्ध मे कुछ ज्ञातव्य इतिवृत्त दिया जा रहा है। आशा है पाठकगण उम पर विचार करेंगे।

“ऐसा बताया जाता है कि, यहाँ का पुराना मन्दिर भी ४० साल पहले बनवाया गया था। अब वह खाली है। यहाँ के पुजारी लाड या जैन है।”

ई० सं० १८६८ में अकोला जिले के एक सरकारी आदमी ने शिरपुर के श्री अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ दिगंबर जैन मन्दिर को भेट दी थी। और वहाँ के वृद्ध लोगों से भिलकर क्षेत्र के बारे मे कुछ जानकारी प्राप्त की थी। वह उमकी रिपोर्ट में ऊपर के मजकूर के साथ और भी लिखता है—

“इस नये मन्दिर का भी निर्माण अदाजा चालीस साल पहले ही हुआ है। उसके बाद उस पुराने मन्दिर से इस नये मन्दिर मे मूर्ति का स्थानांतर किया गया। वह प्रमंग यहाँ के वृद्धों को अच्छी तरह याद है।

“उम महाभगल उत्सव के मुखिया थे खामगाव निवामी सेठ ओकारदासजी आबगी तथा उनके पिताजी। उन्होंने ही यहाँ की बड़ी न० १ की धर्मशाला बनवायी है। तथा उनके द्वारा यहाँ के महाद्वार का काम अभी अधूरा ही था। [जिसे उनके पुत्र मेठ दुनीचंद जी ने पूरा किया है।]

“यहाँ का आनदशयी (हेमाडपथी) मन्दिर बहुत पुराना है। वह आज तक कभी भी पूरा नहीं हुआ। दो दफे चूना, विटो मे मरम्मत की गई। लेकिन आज भी वह अधूरा ही है। यहाँ के पुजारी कहते हैं कि इस मन्दिर मे अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ की मूर्ति ने आज तक प्रवेश ही नहीं

किया।” आदि।

इस रिपोर्ट की घटनाओं का समय आज मे करीबन १५० साल पहले का यानी ई० सं० १८२० से २६ तक का है। इस रिपोर्ट से हम इस बात मे निश्च हो गये कि, यद्यपि हेमाडपंथी पवली दिगंबर जैन मन्दिर श्री अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ की प्रतिमा के लिये बनाया गया था, तथापि उम मन्दिर मे यह प्रतिमा आज तक विराजमान नहीं हुई।

अब रही बात इस रिपोर्ट के प्रारम्भ मे जो उल्लेख आया है—पुराना मन्दिर भी ४० साल पहले बनवाया गया, इसका अर्थ इसी लेख मे विस्तार के साथ आयेगा ही।

तथा इस नये वस्ती मन्दिर के कर्तृत्व के बारे में स्पष्ट उल्लेख है कि खामगाव जि० बुलढाणा के आबगी कुलात्पन्न दिगंबर जैन आबकों ने यह मन्दिर तथा धर्मशाला का निर्माण किया। इससे भी यही स्पष्ट हुआ कि यह मन्दिर—मन्दिर की मूर्ति तथा संबंधित धर्मशालाएँ दिगंबर जैन समाज की ही देन है। पवली मन्दिर का वास्तु, शिल्प और कला देखकर यह ही निर्णय हुआ है। इसकी चर्चा २-३ अको मे की गई है। उस पर से भी हम मन्दिर के साथ मूलनायक की मूर्ति का स्वरूप दिगंबर ही सिद्ध होता है।

तथापि इस मन्दिर की अधिक जानकारी के लिये यहाँ की रचना का तथा रचनाकारों का इतिहास आपके सामने रखता हूँ।

यह है वह महाद्वार, जिसका काम पूरा होने ही सेठ दुलीचंद जी ओकारदास जी आबगी ने ई० सं० १८८५ मे चार कुड की पूजा की थी। इस समय तक यहाँ हर

१ अधिक स्पष्टीकरण के लिए अकोला के इनाम बुक के इनाम सर्टिफिकेट देखिये।

यात्री पर दर डोई चार आना कर लेकर सरकार की ओर से नंदादीप के लिए घी मिलता था। अतः इसके संबंधित अधिकारी फेरी कमल साहेब को इस महोत्सव में बुलाया गया तथा हर यात्री को कर मुक्त करने की अर्जा उनके सामने रखी गई। तब विचार विमर्ष होने पर उन्होंने घी बन्द कर यात्री कर उठाने की घोषणा की थी। किन्तु दिगंबर जैन समाज ने उस समय उनका यथोचित सत्कार किया था, उससे प्रेरित होकर इस मन्दिर के उत्पन्न (आय) के लिये मेरे यह गाव (याने यहां के उत्पन्न) इनाम देने की इच्छा प्रगट की थी। किन्तु समाज ने उनका केवल आभार मानकर ही उसे स्वीकार नहीं किया था।

इस महाद्वार से अन्दर जाते ही आवार के मध्य में मन्दिर की बड़ी इमारत दिखती है। इसका ऊपर का हिस्सा से ओर नीचे का काम पत्थरों से किया गया है। ऊपर एक छोटा सा गुमटाकार शिखर है। सामने, एक समय एक ही आदमी प्रवेश कर सके, ऐसा छोटा दरवाजा दिखता है, बस यह ही श्री अ० पा० दिगंबर जैन बस्ती मन्दिर है। इसीके एक भोयरे में देवाधिदेव, त्रिलोकीनाथ श्री अतरिक्ष प्रभु विराजमान है।

इस छोटे दरवाजे से अन्दर प्रवेश करने पर चौक मिलता है। उसके चारों ओर चार फीट ऊंचा चबूतरा है। उसके ऊपर तीन बाजू में दिगंबरी पेड़ी का सामान बैठक, पेटी, कपाटे आदि हैं तथा पश्चिम बाजू में भट्टारक श्री जिनसेन के स्मृति रूप सेनगन का मन्दिर है। आओ यहां जल से हाथ पांव धोकर चन्दन लगाएँ और अन्दर चलें।

सुनिये ये सामने की घड़ी क्या कहती है—“टन् टन् टन्। ई० स० १८७७ फाल्गुन वदी ७मी से यहां है। मैं हर यात्रे करूँ से गर्ज कर कहती हूँ कि मेरा मालिक था दिगंबर जैन, निरमल (यह गाव है द्राबाद के पास है) का रहने वाला नाम है उसका—व्यकोबा काशीबा कोठारी बोगार। टन्, टन्, टन्।”

मन्दिर जी में प्रवेश करते ही सामने एक वेदी पर २०-२५ दिगंबर जैन मूर्ति तथा पीतल की एक पद्मावती

१. घण्टा के ऊपर के लेख के आधार से।

देवी नजर आती है। वह निराभरण स्वरूप, दिगंबर मुद्रा, वीतराग छवी तथा नासाग्रदुष्टि रूप प्रसन्न मुख देखते ही सहज ही भक्तिभाव से दोनों हाथ जुड़ जाते हैं। हर यात्री यहां नतमस्तक होकर भगवान के सामने साष्टांग प्रणिपात करता है।

दिगंबर जैन धाकड़ समाज ने यह मन्दिर भट्टारक श्री जिनसेन के स्मृति निमित्त निर्माण किया था। अतः इस मन्दिर में बायीं ओर उनका गुरुपीठ है। उस पर अभी १०८ श्री कुदकुदाचायं जी का तथा वीरसेन भट्टारकजी (जिनसेन के परंपरागत अन्तिम शिष्य का फोटो विराजमान है।

यहां से नीचे भोयरे में उतरने के लिए सीधे हाथ से एक अरुद मार्ग है। आइये अब नीचे चलेगे।

भोयरे में—

यहां जो बीच में ३॥ फुट ऊंची, कृष्ण वर्ण तथा संपन्नालकृत मूर्ति दिखती है वह है श्री अतरिक्ष पादवं-नाथ भगवान। इसकी प्राप्ति होने पर श्रीपाल ईल राजा इमे एनिचपर ले जाना चाहता था, मगर यह यहां ही आकाश में स्थिर हो गई। कहा जाता है कि उस समय यह प्रतिमा ७ से ८ फीट ऊंचाई पर स्थित थी। इसके नीचे में पनिहागी स्त्री मिर पर घड़ा रखकर सहज जा सकती थी। यह भी कहा जाता है कि इस प्रतिमा जी के नीचे से एक घोड़े का सवार भी निकल सकता था। किसी किसी का यह भी कहना है यह मूर्ति इसी भोयरे में वि० सं० ५५५ में भी विराजमान थी। यह मूर्ति यहां कब से विराजमान है। इस विवाद के विषय को छोड़ भी दिया तो भी दसवीं सदी में इस मूर्ति की, ऊपर जैसी स्थिति थी यह सुनिश्चित है। किन्तु आज यह मूर्ति सिर्फ एक अगुल भर ही अधर है। मूर्ति का एक भाग जमीन का सहारा ले रहा है। चौदहवीं सदी में मूर्ति इतनी ही अधर थी इसके अनेक उल्लेख मिलते हैं।

२. देखो सेनगण भट्टारक परंपरा यह हमारा लेख, अने।

३. भट्टारक श्री महिचद्रकृत अ पा. विनंति देखो।

४. सोमधर्मगणी रचित इतिहास देखो।

५. महिचद्र तथा लावण्य समय।

६. अकोला डि. गजेटिअर ई. स. १९११।

मूर्ति अधर कंसी है—इस चमत्कार का चक्षुर्वे सत्यम् अनुभव के लिए (१) वहा का पुजारी मूर्ति के नीचे से एक वस्त्र डालकर पीछे से निकालकर बताता है। (२) तथा भोयरे का विद्युत्प्रकाश बन्द कर दो निरांजनी (दीप) मूर्ति के पीछे रखकर मूर्ति की स्थिति स्वयं अज्ञमाने को कहता है, देखो मूर्ति के नीचे से पीछे का प्रकाश दिखता है।

चमत्कार—मूर्ति का जमीन से अन्तर देखने के लिए यात्री स्वयं नत मस्तक हो जाता है। क्या यह कम चमत्कार है? सिर्फ मूर्ति का चमत्कार देखने के लिए यहा आने वाले और अपना शिर न झुकाने वाले का शिर खुद ही झुक जाना, इसमें ही प्रभु का प्रभुत्व है। कंसा प्रभुत्व है—

आत्म गुण मण्डिते, पार्श्वनाथ वदना ॥
अलंकार छडिके, क्षातिसखी सेवना।
आत्मरूप ध्यान है, वीतराग कारणे।
द्वय निर्ग्रन्थ पद, आत्मधर्म साधने ॥१॥
हम सम तब नाही, राग ब्राह्मद्रियोमें।
विषमय रूप माने, प्रेम वा बासनो में ॥
सहजहि तब वे थे, प्राप्त दिव्यान्त वस्त्र।
अंबर तब बिशा ही, अन्य माने तूं अस्म ॥२॥

देखिये, जहां पेड का एक पत्ता आकाश में बिना आधार क्षण भर भी स्थिर नहीं रह सकता वहा करीब एक सहस्र वर्षों से ३॥ फीट ऊंची, मजबूत पत्थरों की अनेक (गुणरत्नो से) परिपूर्ण प्रतिमा यहा अंतरिक्ष स्थित है। यह यहा शिरपुर में आकर देखने पर किसके मन को चकित न करेगी? हरेक के मन को हरने वाले श्री देवाधिदेव पार्श्वप्रभु के दिगंबर जैन शासन का दुनिया में जय जय कार हो। बोलिये—श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ भगवान की जय ८।

८. पत्र यत्र विहायसि प्रविपुले स्थातु क्षण न क्षम।

तत्रास्ते गुणरत्न रोहणगिरियो देवदेवो महान् ॥

चित्र नात्र करोति कस्य मनसो दृष्ट. पुरे श्रीपुरे।

म श्रीपार्श्वजिनेश्वरो विजयते दिग्वाससां शासनम् ॥३

इस तरह प्रभु के गुण गौरव करने के भाव सहज ही निर्माण होते हैं। बाद में दाहिनी ओर के श्री १००८ महावीर भगवान के बेबी पर स्थित सभी दिगंबर मूर्ति के सामने भक्ति से यात्री कहता है—हे महावीर प्रभो, अनेक गुणों से तथा विभूति से विभूषित आत्मिक गुणों से परिपूर्ण, कीर्ति सपन्न ऐसे आप समवशरण में जब थे, तब चद्रमा के समान आकाश में (अधर ही) विहार करते या स्थिर थे। अत. आपके धवल रूप को शत शत प्रणाम। बोलिये श्री महावीर भगवान की जय।

बाई ओर यह श्री १००८ आदि प्रभु की दिगंबरी वेदी है। इसमें आदि प्रभु की मूर्ति की स्थापना भट्टारक श्रीसोमसेन ने श्रीपुर में ही शके १६६१ (ई० स० १६३९) में की थी। इस वेदी पर स्थित सभी दिगंबर मूर्ति, यत्र, पादुका आदि की भक्ति वंदना कर आगे भगवान पार्श्वनाथ को शासन देवता पद्यावती माता का विनय करने का भाव सहज ही पैदा होता है। इसके शिला पर उत्कीर्ण अन्य दिगंबर मूर्ति की भक्ति करते समय याद आती है कि, इस मातृछत्र की स्थापना अन्य एक पार्श्व प्रभु की मूर्ति के साथ वि. स. १९३० कार्तिक सुदी १३ (ई. स. १८७४) के दिन हुई थी। जिसके संस्थापक 'बालसा' दि० जैन कासार है।

इसके नजदीक ही बालात्कारगण के भट्टारकों का गुहपीठ है। उस पर श्री १०८ कुदकुदाचार्य का तथा भ० श्री देवेन्द्रकीर्ति जी का फोटो है। बीच में एक चांदी की कवली (शास्त्री जी रखने का आसन) है। उस पर दि० जैन शास्त्र रहते हैं।

इसी तरह आगे के दालान में चार दिगंबरी वेदिया है। अंतिम भाग में रखी हुई ३ फीट ऊंची पत्थर की प्राचीन प्रतिमा पर दृष्टि केन्द्रित होती है। हा, यह गुडघों के पास खडिन होने पर भी अखण्ड है। यह प्रतिमा एक ऐतिहासिक घटना को सूचित करती है।

(क्रमशः)

९ कीर्त्या भुवि भासितया वीर, त्व गुण समुत्थया भासितया।

भासोद्भुसभासितया, सोम इव व्योम्नि कुदशोभासितया ॥

कवि देवीदास का परमानन्द विलास

डा० भागचन्द जैन एम. ए. पी-एच. डी.

श्री दि० जैन परिवार मन्दिर, इतवारा, नागपुर के हस्तलिखित ग्रन्थों का अवलोकन करते समय कवि देवीदास द्वारा रचित कुछ ग्रन्थों के देखने का अवसर मिला। उनमें परमानन्द विलास, पदपक्त और वर्तमान चौबीसी विधान पूजा मुख्य है। प्रथम दो ग्रन्थ एक साथ लिखे गये हैं और अन्तिम ग्रन्थ पृथक् है जिसकी अनेक प्रतियाँ उपलब्ध हैं। परमानन्द विलास की प्रति ७×१५ इञ्च है। पत्र मर्या ४८ है १॥ इञ्च का चारो तरफ हासिया छूटा हुआ है। लिपिकार ने उसका उपयोग जहाँ कहीं अशुद्धि होने पर पाठ को शुद्ध करने के लिए किया है। प्रत्येक पत्र के पृष्ठ पर ११ पक्तियाँ हैं और प्रत्येक पक्ति में प्रायः ४५ अक्षर हैं। सर्वत्र काली स्याही का उपयोग किया गया है। परन्तु शीर्षक, छन्द नाम और पद्य मर्या लिखते समय लिपिकार ने लाल स्याही का भी उपयोग किया है। अक्षर सुपाठ्य हैं। कागज भी अच्छा है।

स्थितिकाल और जीवनदर्शन

कवि ने परमानन्द विलास में कोई ऐसी प्रशस्ति नहीं दी है जिसके आधार पर उनका स्थितिकाल और अवसान काल निश्चित रूप से जाना जा सके। ग्रन्थ के मध्य में बुद्धि-बावनी के अन्त्य पद्य में यह अवश्य निर्देश मिलता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ स. १८१० में चैत्र वदी परमा (एवम्) गुरुवार को समाप्त हुआ। कवि दुगोडा ग्राम के निवासी थे जो औरछा स्टेट में था। के मूल निवासी रहे हैं—

संवत् साल अठारह सैं पुन द्वादस और धरो अधिकारे ।
चैत्रवदी परमा गुरुवार कवित्त सर्व इकठे करि धारे ॥
गंगह रूप गुपाल कहै कमलापति सीख सिखावन वारे ।
कैलगवां पुनि ग्राम दुगोडह के सब ही वस वासन हारे ॥

वर्तमान चौबीसी विधानपूजा में दी गई प्रशस्ति के अनुसार भी ये दुगोडह-कैलगवां के ही मूल निवासी रहे हैं। बाद में ये कैलगवां में आकर बसे। ललितपुर में

रह कर ही शायद वर्तमान चौबीसी विधान पूजा ग्रन्थ रचा गया है। इसका रचना काल सं० १८२१ है। शायद यह अन्तिम रचना हो। कवि की एक रचना प्रवचनसार का पद्यानुवाद भी है कवि का वंश गोलालारे और गोत्र कासिल्ल (कोशिल) था। इनके पुत्र का नाम गोपाल था। वह भी कवित्त कला का धनी कहा गया है।

कवि ने, लगता है, किसी स्कूल में शिक्षा नहीं प्राप्त की। यह बात उन्होंने परमानन्द विलास में अनेक बार दुहराया है। शायद लघुता प्रदर्शन के निमित्त उक्त पद्य में कमलापति का नाम अवश्य दिया है—कमलापति सीख सिखावन वारे। सम्भव है वे ग्रन्थ समाज में प्रेरक बनें हो। आगे भी उन्होंने गुरु के रूप में किंगी का नामोल्लेख नहीं किया है—

भाषा कवि मतिमन्द अति होत महा असमर्थ ।

बुद्धिवत धरि लीजियो जहँ अनर्थ करि अर्थ ॥

गुरु मुख ग्रन्थ सुन्यो नही सुन्यो जथावत जास ।

निरविकल्प समझाइनी निज पर देवीदास ॥

देवीदास ने अनेक छन्दों में जैनधर्म के प्रति अत्यधिक अनुराग, वात्सल्य और दृढ़ता प्रदर्शित की है। परमाथं पथ को जान लेने के बाद ही प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की गई है—

आदि जिनेश्वर आदि अन्त महावीर बखानो ।

जिनको जूग चरनारविंद नित प्रति उर आनो ॥

परगट समवरसन सुपथ निजकर सुखकारन ।

ज्ञानावरणादिक सुअ दुरबन्ध निवारन ॥

तसु पढ़त सुनत अहलाद अदि परमारथ पथ को विवित ।

समर्थ सुसंत गुनवंत अति भाषा करि बनो कवित्त ॥

कवि ने भले ही स्कूली शिक्षा प्राप्त न की हो, परन्तु वह निश्चितरूप से एक विद्वान कवि रहा है। और उसने जैन शास्त्रों का अभ्यास निःसन्देह गभीरतापूर्वक

किया है। कवि ने प्रस्तुत ग्रन्थ में चौपाई, छप्पय, सोरठा, गीतिका, तेईसा, अडिल्ल, कवित्त, सर्वया, तोटक, कुण्ड-लिया, चचंगी, मगहठा, पढरी, नराच, गगोदक आदि छन्दों का उपयोग किया है। साथ ही चित्रबन्ध, चक्रबन्ध, कमलबन्ध, धनकबन्ध, कडारबन्ध आदि का भी प्रयोग किया है। भाषा अलंकारिक और मिष्ट है। यह कवि की विनम्रता है कि वह अपने को मतिमन्द और छन्द-अर्थ ज्ञानहीन बतलाता है—

ग्रन्थ उक्त देखी प्रगट कहि भाषी जिहि ठौर ।
कौन मात पव अरथ घट घर लोजो बुध और ॥
ग्रन्थ अरथ छवि छन्द की मरति कला न पास ।
संली दिन संली भई गति मति देवियदास ॥

तीन मूढ़ अडतीसी—२८

परमानन्द विलास के ग्रन्थ में भी कवि ने यही विनम्रता अभिव्यक्त की है। यथार्थ वस्तु जानने की अभिलाषा से ही इस ग्रन्थ की उन्होंने रचना की है। गुरु की बिना सहायता से जो कुछ भी ज्ञान क्रम-क्रम से प्राप्त किया जा सका, कवि ने ग्रन्थों के रूप में जन समक्ष प्रस्तुत किया है। साथ ही अपने आपको अल्पज्ञ कहकर ग्रन्थ के अन्त में कविने विधिहीन कथन को मुधार कर पढ़ने के लिए भी निवेदन किया है।

पोथी जिन तनकी विषै लिखी तारता सोई ।
भाषा छन्द मझार वा धरी वचनिका कोई ॥
धरी वचनका कोई करी जाकी हम भाषा ।
मोहि जथारथ वस्तु जानवे की अभिलाषा ॥
गाथा अर असलोक समझिबे को मति थोथी ।
भाषा की भाषा बनाइ इह लिखी सु हम पोथी ॥ १ ॥

आनंदकारी बात है भाषा ग्रन्थ मझार ।

अर्थ वरं सुन चाहिए समझें सब संसार ॥

समझें सब संसार लिखी देखी हम तंसी ।
दिन गुर मुख सर दही कही भाषा करि जंसी ॥
गेर विधि जहं होइ सोधि लोजो बुधवारी ।
परमानन्द विलास यह सु प्रति आनंदकारी ॥ २ ॥
पंडित बिना सु कौन पं पढ़े पढ़ैया होहि ।
मिली यहां अवलोक ह नहीं पढ़ैया मोहि ॥

नहो पढ़ैया मोहि मैं सुमति सो निज कोरी ।
भाषा करि इतनी पुजी सु क्रम-क्रम करि जोरी ॥
तापें भयो न मैं निदान करिकें मति मंडित ।
मति विशेष वारी इहा न कोई पुनि पंडित ॥ ॥
हिये मझार सुमति नही वेरी को वस बास ।
माफिक अपनी सवित कवि वरने देवीदास ॥

परमानन्दविलास का विषय

परमानन्द विलास के कवि ने ग्रन्थ में लगभग २८ विषयों पर कवित्त लिखे हैं। सर्व प्रथम परमानन्द स्तोत्र लिखा है। और उसके बाद है जोब चतुर्भेदादि वत्तीसी, जिनातराउली, धर्म पंचविंशती काय, पंचपदपञ्चमी, दमधा सम्यक्त्व त्रयोदशी, पुकारपञ्चमी, वीतरागपञ्चमी, दरसनछत्तीसी, बुद्धिबाउनी, तीन मूढ़ आरतीसी, देवशास्त्र गुणपूजा, सीलाग चतुर्दशी, सप्तविंशत, विवेक वत्तीसी, स्वायोग गच्छरी मालोचभावोत्तरावली, पंचवर्ग क कवित्त, योग पञ्चमी, तुषकमरी व्यवहार कथन उपदेश, हादम बावनी, उपदेश पञ्चमी, जिन स्तुति द्वार हर दोर की, हित उपदेशकी जवरी, मोतलाष्टक, सरधान-पञ्चमी, कषायावलोकन चौबीसी, पञ्चमकाल की विपरीत गीति। इन सभी पर पृथक्-पृथक् विवेचन इस अल्पकाय निबन्ध में सम्भव नहीं। इसलिए कुछ मुख्य विषयों की ओर हम चले।

परमानन्द स्तोत्र—

इसमें कवि ने आत्मा-परमात्मा के विषय में बड़े ही सुलभे ढंग से अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। आत्मा का निश्चय नय और व्यवहार नय दोनों नयों के आधार पर विवेचन किया है। आत्मा के विविध रूपों का वर्णन करने के बाद कह दिया है—

भिन्न भिन्न को कहि सकें ब्रह्म रूप गुन भास ।

अल्प बुद्धि कर अल्प गुन वरने देवीदास ॥ ॥

देह और आत्मा के बीच जो सम्बन्ध है उसे उन्होंने मुन्दर उदाहरण देते हुए समझाया है। दूध अथवा दही में घी और काष्ठ में अग्नि रहती है उसी प्रकार शरीर में आत्मा रहता है। ये दोनों उसी प्रकार परस्पर भिन्न-भिन्न भी हो जाते हैं जैसे तिली के मध्य रहने वाला तेल, तिल

से पृथक् हो जाता है—

पाहन में जैसे कनिक वही वृष में घीऊ ।

काठ माहि जिमि अग्नि है त्यों सरीर में जीऊ ॥२५॥

तेल तिलो के मध्य है पर गट नहीं विस्माय ।

जतन जगत से भिन्नता खरी तेल हो जाय ॥२६॥

जीवचतुर्भेदादि वत्तीसो—

जीव के चार भेद है—सत्ता, भूत, प्राण और जीव । सत्ता के चार भेद है—पृथ्वी, जल, पावक और पवन । वनस्पति के जीव को भूत की श्रेणि में गिनाया है । विकलत्रयों को प्राणवान् कहा है तथा पचेन्द्रियवान् को जीव की सजा दी है ।

इसके बाद किस जीव का घात करने से कितना पाप लगता है यह बताया है । असंख्यात सत्ता का घात करने पर एक भूत के वध के बराबर, असंख्यात वृक्षों का विनाश करने पर दो इन्द्रिय जीव के वध के बराबर, एक लाख दो इन्द्रिय जीवों का वध करने पर तीन इन्द्रिय जीव के वध बराबर, हजार तीन इन्द्रिय जीव के घात करने पर एक चतुरिन्द्रिय जीव के वध बराबर, सो चतुरिन्द्रिय जीवों का वध करने पर एक पचेन्द्रिय जीव के वध बराबर और एक पचेन्द्रिय जीव के वध की समानता मुदर्शन मेरु से दी है—

हेम मुदर्शन मेरु समान धर पुन कोट रतन परधान ।

ऐसी दण्ड करे जो पुन एक जीव घातत् सब मुन्न ॥

इसके बाद पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु कायिक जीवों की तथा विकलत्रयों की स्थिति और आयु का मांगोपाग विवेचन दिया है । तदनन्तर स्वयम्भूरमण मच्छ, निग, नारकी, निगोद आदि जीवों का व्याख्यान किया है । अन्त में यह कह दिया है—“जीव दरव की कथा अनन्त । जाकी कहत न आवै अन्त” ॥३१॥

त्रिनातराउत्ती—

इसमें चौबीस तीर्थकरों के बीच हुए अन्तराल का वर्णन किया गया है । उसके बाद हुई मुनि परम्परा और पचम तथा षष्ठम काल के विषय में भी व्याख्यान है । मुनियों में उत्पन्न हुई आचार शिथिलता के विषय में कहा है—

दिन दिन पुनि विपरीत कुभिग, जसी वती करि बकं कुलिग ।

पहरं वसन भोगविधि चहै, तिन सो मुगव मुनीस्वर कहै ॥२६॥

धर्म पंचविंशति—

सांसारिक दशा का वर्णन करते हुए श्रावक के लिए समस्त भ्रमजाल छोड़कर धर्म धारण करनेकी सलाह दी गई है—तजहु सकल भ्रम जाल रे भाई, तू इह धर्म विचार । उसे जैन रसायन पीने को कहा गया है । अनेक उदाहरण देकर धर्म की उपयोगिता बताई—

ज्यों निस ससि विनऊ नहै जी । नारि पुरुष विन ते न

जैसे गज दन्त बिना जी ॥ धर्म बिना नर जे मरे भाई ॥१६॥

जैसे फूल विवासु की जी जल विन सरवर जेह ।

जैसे ग्रह संपति बिना जी धर्म बिना नर देह रे भाई ॥१७॥

पंचपद पञ्चीसी—

कवि ने पच परमेष्ठी की भक्ति वशात् २५ कवित लिखे हैं जो भाव और भाषा दोनों की दृष्टि से सुन्दर बन पड़े हैं—

उवधि ज्ञान गंभीर मोह भव विषय विहंडित ।

हारक सम गुन विमल सुद्ध जिय अख्य अलङ्कित ॥

केवल पद परगास भयो भववीर विभंजन ।

सकल तत्त्व वक्तव्य देव ध्रुव परम निरंजन ॥

मति हि बोध परगट अवध हरन तिमिर जन मन मरन ।

चाहत सुख जिनदेव युति बहु प्रकार मंगल करन ॥५॥

दसधा सम्यक्त्व त्रयोदशी—

इसमें सम्यक्त्व का दस प्रकार से भिन्न-भिन्न छन्दों में वर्णन किया गया है । छन्दों में प्रमुख हैं—छप्पय, सोरठा, गीतिका, तेईसा, अडिल्ल, कवित आदि सम्यक्त्व के दस प्रकार ये हैं—

आज्ञा प्रथम सुभाव द्वितीय मारग सुख बायक ।

तृतीय नाम उपदेस सूत्र चौथी बुध लायक ॥

वीर्यमा पंचमौ षष्ठ सकोप भनिज्जइ ।

सप्तम विधि विस्तार अर्थ अष्टम गुन लिज्जइ ॥

परमावगाढ नवमौ कथन अर अवगाढ विचारचित ।

इह भिन्न-भिन्न दस भांति कहि

समकित निज हित सुनहु मित ॥२॥

पुकार पच्चीसो—

भक्तिरस से ओत-प्रोत पुकार पच्चीसो मे “वेर ही वेर पुकारत ही जनकी बिनती सुनिये जिन राई” पद प्रत्येक पद के अन्त में आया है। कवि अपने इष्ट देव से प्रार्थना कर रहा है—

देर करौ मति श्रीकहनानिधि जू पति राखन हार निकाई ।
जोग जुरे क्रमसौं प्रभ जू यह न्याय हजूर भई तुम आई ॥
आनि रह्यो सरनागति हों तुमरी सुनि के तिहु लोक बड़ाई ।
वेर ही वेर पुकारत ही जन की बिनती सुनिये जिनराई ॥२२

वोतराग पच्चीसो—

द्रव्य के त्रिविध रूपों का वर्णन आचार्य कुन्दकुन्द के प्रवचनसार के आधार पर बड़े ही सरस और मन लुभावने पद्यों में किया है—

जैसे और धातु को मिलाय वर्ण हीन हेम
कसत कसौटी सौं सु दीसं पराधीनता ।
जो पं पीठी पत्रक रचे दीजे आंच नाना भाति
विगर सलौनी जाकी घटं न मलीनता ॥
जैसे क्रिया कोटि करे प्राणी जो विवेक बिना
घरे व्रत मोन रहे देह करे क्षीया ।
जानै जो प्रमान भली भाति अगम के जीव
निरजीव आदि नवतत्त्व-वरसी ॥
भरम विवारी धीरधरम जनपचारी
विगत बिभाव साग संजमी समरसी ।
सुख दुख एक ही प्रमान जान जगते
राग दोष मोह दसा डारी है विसरसी ॥
ऐसी सुद्ध परम विवेकी मृनिराज
जाके सुद्ध उपयोग धन घटा घट वरसी ॥२॥

दरसन छत्तीसो—

दर्शन पाहुड के आधार पर कवि ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का विभिन्न छन्दों में, मर्म भाषा में वर्णन किया है। सम्यक्दर्शन हीन व्यक्ति को मोक्ष नहीं मिल सकता।

वरसन करि के हीन न सोहै जगमाहीं ।
दरसन करके हीन ताहि अव्यय पद नाहीं ॥
जो चरित्र करि हीन होइ जो दरसन धारी ।
क्रम क्रम सेती तो न पुख पाबं सिब नारी ॥

भव देख्यो पद संसार महि बिन बरसन जे नर रहै ।
सो संत पुरुष इह जानके चल सबउ तिन सो कहै ॥

बुद्धि बावनी—

इसमें तेईसा गुरु उत्तर मर्दया, गतागत आदि के माध्यम से कवि ने सामारिक दशाका वर्णन करते हुए पंच परमेष्ठी की स्तुति की है। पंचपरमेष्ठी की स्तुति करते समय इष्टदेव को कृणासागर और स्व पर प्रकाशक-ज्ञानवान् कहा है—

जाके घट वसे जिनवानो सो पुनोत प्राणी ।
जाके उभं मातकी दया समस्त हिये है ।
जाकी मति पंनो भेद स्व-पर प्रकाशिये की ।
भिन्न भिन्न करे छेनी को स्वभाव लीये है ॥

परसो ममत्व डारके सुधरे निज भाव ।
परमउ छाउ सुध सरधान कीये है ।
जाके भ्रम नाही पग्यो निज ग्यान मांही सो ।
तो गुन को अयाही सत्य ही सो चित दिये है ॥१३॥

धर्म अनेक प्रकार का है परन्तु स्यादाद दृष्टि बिना वह निराधार है। सुधर्म स्वामी को कवि ने धर्म रक्षक मान कर प्रणाम किया है और बाद में “धर्म बिना जन्म निष्फल” ऐसा विचार अभिव्यक्त किया है—
ज्यों जूवतिय बिन कंत रैन बिन चद जोत भर ।
ज्यों सरिताइन होइ बर्षबिन ऊन सून पर ।
ज्यों गजराज प्रवीन हीन दंतन नहि सोहत ।
मुक्ताफल बिन पान ताहि गुनवत नगोहत ॥
ज्यों सेना नरपति हीन कहि परम लता बिन पट्ट पट्टे ।
ज्यों पा नरभव निरफल कही जिन जिनके नहि धर्मधुव ॥२८

इसी प्रकार बुद्धिबावनी में ५२ छन्द हैं। सभी एक में एक बढ़कर हैं। अलंकारों का उनमें स्वाभाविक प्रयोग है। भाषा में भक्ति रस का प्रवाह है।

इसके बाद तीन मूढताओं का वर्णन ३८ कवित्तों में किया गया है। तीनों मूढताओं के सात सात भेद किये हैं। तदनन्तर प्रसिद्ध कवि दानतरायकृत देवशास्त्र गुरु पूजा उद्धृत है। यह या तो प्रक्षिप्ताष्ट है अथवा कवि की अत्यन्त प्रिय पूजन रही है। दानतराय वि.स. १८वीं शती के कवि हैं। कवि देवीदास से वे किसी प्रकार से सम्बन्धित रहे होंगे।

शीलांग चतुर्दशी में शील के १८०० भेद गिनाये हैं ।
गीत ४ मन, वचन, काय=३=१२×३ कृत कारित,
अनुमोदन=३६×५ इन्द्रिय=२८० संस्कार, शृङ्गार,
राग, श्रीडाहास, ससर्ग, सकल्प, तननिरीक्षण, तनमड,
भोग, मन बिता=१०×१०=१००×१८०=१८०० ।
यहा काम की दश अवस्थाओं का भी वर्णन है । बाद में
पापियों की मानसिक अवस्था का सुन्दर विवेचन है ।

विवेक बत्तीसी में भेदविज्ञान का आख्यान है ।
भाषा, भाव और अलंकार की दृष्टि से विवेक बत्तीसी
अधिक सुन्दर बन पड़ी है । अनुप्रास की छटा देखिये—

सरस दरस सारस पुरस धीर समर सनिवास ।
परस दरस पारस सरस पौरस सुजस बिलास ॥

पचवरन के कवित्त में देवीदास की काव्य-शक्ति और
भी निखरी-सी दिखाई देती है—

सिंहासन सेत पर समूह सेत बारज है,
जापं सेत दड की प्रभा उतंग चली है ।
जापं सेत छत्र धरं हीरा नग सेत जरे,
मनो सेत भान और निकरी रक्ष पाली है ॥
सेत जग मगं जोत सेत फूच बिष्ट होत,
सेत ध्यान धरं सेत सेत धरं मुक्ति गली है ।
सेत संख लछन विराजें जे जिनेस जापं,
मनो सेत पंकज पं करं कलोल अली है ॥

ग्रन्थ के अन्त में पञ्चम काल की विपरीत रीति के
विषय में कहते हुए कवि ने साधुओं के आचार-विचार की
कटु आलोचना की है—

जाके परमानू सो परिग्रहा स जती नाही,
जती हो समस्त संग राखे आदि पालकी ।
सिष्य साखा तिनके सु धोरे चड़े आगे चलें,

उर माहि राखे सो की तरवार डाल की ॥
राई मेर के समान फेर की सुवात यहै,
ग्रन्थ बिखे नाहि में बिलोकी कहि हाल की ।
तिनं गुर माने जैन मतो जे कहावैं सबै,
देखी विपरीत ऐसी पचम सुकाल की ॥

जहाँ जैन साधुओं की पालकी आदि विषयक आलो-
चना की है वहाँ उनके धन विषयक प्रेम की भी भर्त्सना
की है । इस विपरीत रीति को देखकर कवि को इतना
दुख हुआ कि उसने विपरीत आचरण करने वाले मुनि
वेपधारियों को शठ (मूर्ख) कह दिया है—

भेष धरें न मुनीस्वर कौ सुविशेष न रं व हिये महि आन ।
जोरत दाम कहावत नान जती विपरीत महा अति ठाने ॥
अंबर छोड़ि दिगबर होत सुअंबर फेर गहै तजि आन ।
जे सठि आप करे सठि औरन जे सठ लोग तिनं गुर माने ॥

अन्त में कवि इस विपरीत आचार-विचार को देखकर
दुःखित होता है और कहता है कि जो निग्रन्थों को छोड़
कर ऐसे यात्रियों को अपना गुरु स्वीकार करते हैं वे
वस्तुतः कल्पवृक्ष काटकर धतूरे का वृक्ष लगाते हैं—

सेवत जे सर ग्रथ गुर निरग्रन्थन कौ छोड़ि ।
कल्पवृक्ष ज्यों काटि कै ठयत धतूरो गोड़ि ॥
मिथ्याती दुरजन जिनं उपदेसत जे कूर ।
जैसे स्वान कु भक्षनी के मुख वेत कपूर ॥

इस प्रकार समूचा ग्रन्थ कवि की काव्य-शक्ति का
द्योतक है । उन्होंने अपना अध्यन और विचार सरल
भाषा और छन्दों के माध्यम से उपस्थित किया है ।
भाषा में जहा सरलता है वहाँ उसमें अर्थगंभीर्य और
माधुर्य भी है । प्रवाह की सरमता मनोहारिणी है इसलिए
ग्रन्थ प्रकाशन के योग्य है । ★

विवेक की महत्ता

अविवेकी मानो जीव अपनी रक्षा और प्रतिष्ठा के लिए दूसरे जीवों की निन्दा करता है उसे नीचा दिखाने
का प्रयत्न करता रहता है । उसका अनाकार करने का भी यत्न करता है । पर विवेकी जीव अपनी निर्मल परिणति
से जगत का यह राग रग देखता हुआ भी उस और प्रवृत्त नहीं होता, वह तो आत्म-निरीक्षण द्वारा अपने दोषों को दूर
करने और मान को निर्मूल करने में ही अपनी शक्ति का व्यय करता है । और विवेक से अहंकार को जीतता है । यही
उसकी महत्ता है ।

अग्रवालों का जैन संस्कृति में योगदान

परमानन्द जैन शास्त्री

जगजीवन ने सं० १७०१ में बनारसी विलास का संकलन किया था। आपके अनेक पद उपलब्ध होते हैं। आपने हीरानन्द जी के साथ एकीभाव स्तोत्र आदि का पद्यानुवाद किया था। आपके पद बड़े सुन्दर और भावपूर्ण हैं। यहां उनका एक पद पाठकों के ज्ञापनार्थ दिया जाता है जिसमें जगत और जीवन की अनित्यता का वर्णन है।

जगत सब बीसत घन की छाया।

पुत्रकलत्र मित्र तन संपत्ति, उदय पुद्गल जूरि आया।
भव-परिनति वरषागम सोहै, आलस-पवन बहाया ॥१॥
इन्द्रिय विषय लहरि लड़िता है, देखत जाय विलाया।
राग दोष बगु पकति बीलति, मोह गहल धर राया ॥
निजसंपत्ति रत्न त्रय गहिकर, मुनिजन तर मन भाया।
सहज अनंत चतुष्टय मंदिर, जगजीवन सुख पाया ॥

जगजीवन द्वारा हीरकवि के साथ एकीभाव स्तोत्र तथा 'चतुर्विंशतिका' का पद्यानुवाद भी मिलकर बनाया हुआ उपलब्ध है। यदि आगरा और आस-पास के शास्त्र-भंडारों का अन्वेषण किया जाय तो संभव है आपके सम्बन्ध में अनेक ज्ञातव्य प्राप्त हो सकेंगे।

जीवन-परिचय

बारहवें कवि दानतराय हैं। यह आगरा के निवासी थे। आपके पूर्वज लायलपुर से आकर आगरा में बस गये थे। आपका कुल अग्रवाल और गोत्र गोयल था। कवि के पितामह (दादा) का नाम बीरदास था और पिता का नाम श्यामदास। कवि का जन्म संवत् १७३३ में हुआ था। आपका पालन-पोषण बड़े यत्न से किया गया और प्रारंभिक शिक्षा भी मिली। उस समय जैनधर्म को जानते हुए भी आपकी उस ओर रुचि नहीं थी। इस कारण

आपने पिता और कुटुम्बियों द्वारा अनुपालित धर्म का ही आचरण करते थे।

दैवयोग से आपके पिता का सं० १७४२ में आपकी लघुवय में अचानक देवलोक हो गया। उस समय आपकी अवस्था नौ वर्ष की थी, पिता के आकस्मिक वियोग का आपके जीवन पर विशेष प्रभाव पड़ा। और गृहस्थी का सब कार्य-भारस्वरूप प्रतीत होने लगा। परन्तु फिर भी आत्मीय जनों और दूसरे धर्मात्मा सज्जनों के सहयोग से कुछ अपना कार्य करते हुए भी शिक्षा की ओर अग्रसर होते रहे। सं० १७४६ में पं० विहारीदास और मानसिंह के उपदेश से कवि का भुक्ताव जैनधर्म की ओर हुआ और उनकी आस्था जैनधर्म पर जम गई।

संवत् १७४८ में १५ वर्ष की अवस्था में दानतराय जी का विवाह हो गया। और गृहस्थ जीवन की सुदृढ़ सांकलों से वे आबद्ध हो गये। कवि के सात पुत्र और तीन पुत्री थीं। १९ वर्ष की अवस्था तक कवि का भुक्ताव विषय-भोगों की ओर रहा, किन्तु सत्समागध का परित्याग नहीं किया, परिणाम स्वरूप कवि जैन सिद्धान्त के मर्मज्ञ विद्वान बन गये। वे जैनधर्म के सिद्धान्तों को सरल एवं सुबोध भाषामें समझाते थे। कवि ने सं० १७५२ में १७८३ तक लगभग एक सौ रचनाएं रची हैं। और ३२३ भक्तिपूर्ण, उपदेशक, आध्यात्मिक गीतों (पदों) की रचना की है। कवि ने लिखा है कि संवत् १७७५ में मेरी माता ने शील बुद्धि ठीक की। और सं० १७७७ में वे सम्मेलन शिखर की यात्रार्थ गईं और वहीं पर परलोकवासिनी हुईं। कवि ने सं० १७८३ के कार्तिक महीने की शुक्ला चतुर्दशी को देवलोक प्राप्त किया।

२ सत्रह सय तेसीस जन्म व्याले पिता मर्न।

अटताले व्याह सात सुत सुता तीन जी।

१. विशेष परिचय के लिये देखें अने. वर्ष ११ कि. ४-५

कवि ने जैनधर्म के सिद्धान्तों का मनन कर श्रीर आत्म-सौन्दर्य के अनुभव को ससार के सामने इस ढंग से रखा है, जिससे आन्तरिक वैभव का परिज्ञान सहज ही हो जाता है। कवि की कृतियां मानव हृदय को स्वार्थ सम्बन्धों की संकीर्णता से ऊपर उठाकर लोक कल्याण की भावभूमि पर ले जाती हैं, उससे मनोविकारों का परिष्कार हो जाता है—चित्त शुद्धि हो जाती है। इन्द्रिय विषय-विकारों का विश्लेषण कवि की प्रतिभा का द्योतक है। मानव-हृदय के रहस्यों में प्रवेश करने की उनमें अतुल क्षमता विद्यमान थी। कवि ने उपदेशशतक में मिथ्यात्व-सम्यक्त्व की महिमा, गृहवास का दुःख, इन्द्रियों की दासता नरक-निगोध के दुःख, पुण्य-पाप की महत्ता, धर्म का महत्त्व, ज्ञानी-अज्ञानी का चिन्तन और आत्मानुभूति की विशेषता आदि विषयों का सरस विवेचन किया है।

आशा की नूतन राशियाँ अज्ञानी के मानस क्षितिज पर उदित हो रही हैं। उससे उसका संतुलन बिगड़ गया है, वह चिन्ता से सतप्त हुआ कि कर्तव्य विमूढ़ हो रहा है। कवि उसे सान्त्वना देता हुआ सोच एवं चिन्ता छोड़ने का उपदेश दे रहा है।

काहेँ कौं सोच करं मन मूरख, सोच करं कछु हाथ न ऐहै,
पूरव कर्म सुभासुभ संचित, सो निहचं अपनी रस देहैं।
ताहि निवारन की बलवंत, तिहैं जगमाहि न कोउ लसैंहै,
सातैंहि सोच तजो समतागहि, ज्यों सुख होइ जिनंद कहैंहै॥६३

यह ठीक है कि जीव अपनी आजीविका या रजगार के लिए निरन्तर चिन्तावान रहता है, उसके अभाव में

छपाले मिले सुगुरु बिहारीदास मानसिध ।
तिनों जैन मारग का सरधानी कीन जी ।
पचत्तर माता मेरी सील बुद्धि ठीक करी ।
सतत्तरि सिखर समेद देह खीन जी ।
कछु आगरे में कछु दिल्ली माहि जोर करी ।
अस्सी माहि पोथी कीनी परबीन जी ॥३८

× × ×
सवत विक्रम नृपत के, गुण वसु शैल सितश ।
कतिक सुकल चतुरदशी, दानत सुर गंतूश ॥

—धर्मविलास प्रशस्ति

परिताप से उसका मानस विकृत हो जाता है परेशानी में जीवन विताना पड़ता है—उसे कोई नहीं पूछता। और उसे धर्म-कर्म भी नहीं रुचता। कवि कहता है कि वह रजगार एक धर्म करने से पूरा हो जाता है :—

रोजगार बिना यार यारसों न करं प्यार,
रोजगार बिना नार नाहर ज्यों घूरं है ।
रोजगार बिना सब गुण तो विलाय जायं,
एक रोजगार सब ओगुन कौं चूरं है ।
रोजगार बिना कछु बात बनि आवैं नाहि,
बिना वाम छाठों जाम बेंठो घाम भूरं है ।
रोजगार बने नाहि रोज रोज गारी खाहि,
ऐसी रोजगार एक धर्म किये पूरं है ॥६४

जब तक जीव अपनी भ्रम दशा का परित्याग नहीं करता, तब तक उसकी ममता पर पदार्थ से नहीं हटती—उसमें ही विपकी रहती है। तब स्व-पर के भेद विज्ञान में उसका मन नहीं लगता, वह राग-द्वेष के भ्रमजाल में ही उलझा रहता है। भवकूप से निकलने की सामर्थ्य भी उसमें व्यक्त नहीं हो पाती। कवि कहता है कि मिथ्या-तिमिर का अवसान होने पर ही बोध-भानु प्रकट होता है तभी मोह की दीड धूप से जीव को छुटकारा मिल सकता है। और तब आपको आप और पर को पर मानता है और आत्मरस में विभोर हो शिवभूप से स्नेह करता है, और शाश्वत सुख का पात्र बनता है।

स्व-पर न भेद पायों पर हो सौं मन लायों,
मन न लगायों निज आत्म सरूप सौं ।
राग-दोषमाहि सूता विभ्रम अनेक गूता,
भयों नाहि बूता जो निकसों भवकूप सौं ॥
अब मिथ्यातम सान प्रगटौ प्रबोध-भान,
महामुख दान आन मोह दोर धूप सौं ।
आप आपरूप जान्यौ पर ही की पर मान्यौ,
आपरस सान्यौ ठान्यौ नेह शिव भूप सौं ॥७७

कवि ने अपनी रचनाओं में अनेक सुभाषित भी दिये हैं : उनका नमूना इस प्रकार है :—

“मैं मधु जोरघी नहि बियो, हाथ लल पछिताय ।
धन मति संची दान दो माखी कहै सुनाय ॥

चिता चिता बुढ़ बिबे, बिबे अधिक सदीव ।
छिन्ता चेतनिकों बहै, चिता बहै निरजोव ॥
पूरन घट बोल नहीं, अरघ भए छलकंत ।
गुनी गुमान करे नहीं, निरगुन मान करंत ॥”
रचनाओं के नाम

१. उपदेश शतक (सं० १८५८) १२१ पद्य,
२. छहठाला (सं० १७५८), ३. सुखबोध पंचासिका ५२
प०, ४. धर्मपञ्चोत्ती २७ प०, ५. तत्त्वसार भाषा ७६
प०, ६. दर्शन दशक ११ प०, ७. ज्ञानदशक ११ प०,
८. द्रव्यादि चौबोल पञ्चोत्ती २५ प०, ९. व्यसनत्याग
पोडस १६ प०, १०. सरघा चालीसी ४० प०, ११. सुख
बत्तीसी ३२ प०, १२. विवेकवीसी २० प०, १३. भक्ति
दशक सर्वैया ३१ सा. १० २ प०, १४. धर्मरहस्यबावनी
(तेहसा सर्वैया) ५२ प०, १५. चारसी जीव समाम ३२
प०, १६. दशस्थान चौबीसी ३० प०, १७. व्योहार
पञ्चोत्ती २६ प०, १८. आरती दशक, १९. दशबोल
पञ्चोत्ती २५ प०, २०. जिनगुण माल सप्तमी ३१ सा,
२१. समाधिमरण १० प०, २२. आलोचना पाठ ६ प०,
२३. एकीभावोत्तर भाषा २६. प०, २४. स्वयभूस्तोत्र भाषा
२५ प०, २५. पार्श्वनाथ स्तवन १० प०, २६. तिथि
पोडशी १८ प०, २७. स्तुति वारसी १२ प०, २८. यति
भवनाष्टक ६ प०, २९. सज्जनगुणदशक ११-३१ सा.,
३०. वर्तमानवीसीदशक १० प०, ३१. अष्ट्यात्म पचा-
सिका ५० प०, ३२. अक्षरवावनी १५ प०, ३३. नेमिनाथ
बहत्तरी ७२ प०, ३४. वज्रदन्तकथा ११ प०, ३५. आठ
गणछः ११ प०, ३६. धर्मचाहगीत ८ प०, ३७. आदि-
नाथ स्तुति ३६ प०, शिक्षा पचासिका ५० प०,
३८. जुगल आरती २० प०, ३९. वैराग्यछत्तीसी
३६ प०, ४०. वाणी सख्या ११२ पद्य, ४१. पल्ल-
पञ्चोत्ती २५ प०, ४२. पट्गुणी हानि वृद्धिबीसी
२० प०, ४३. पूरण पचासिका ५५ प०, ये सब रचनाएं
‘धर्मविलास’ में प्रकाशित हो चुकी हैं। ४४. चर्चाशतक
हिन्दी की महत्वपूर्ण कृति है जिसमें सैद्धान्तिक चर्चाओं
को पद्यों में अंकित किया हुआ है। जो कण्ठ करने योग्य
है। इससे गूढ़ विषयों का भी सक्षेप में परिचय मिल
जाता है। इसमें गागर में सागर भर देने की नीति

चरितार्थ होती है। ४५वी रचना पद संग्रह है, जिसमें
३२३ भक्तिपूर्ण, औपदेशिक और आध्यात्मिक सरस एवं
सरल गीतों में वस्तु तत्त्व का विवेचन है।

आगम विलास में भी अनेक रचनाओं का संकलन है
जिनमें से मुख्य ये हैं—१. आगम शतक में १५२ सर्वैया
हैं। अन्य कुटकर रचनाएं। २. प्रतिमा बहत्तरी दिल्ली में
रची गई ४६ प०, (सं० १७८१), ३. विद्युत चोरकथा
४० प०, ४. सनत्कुमार चक्रवर्ती की कथा ४७ प०,
५. दोहा ५०, ६. ओंकारादिक ५२ प०, ७. वर्णद्वन्द्वभाग
८. ज्ञान पञ्चोत्ती, ९. जिनपूजाष्टक, १०. गणधर आरती
११. कालाष्टक, १२, ४६, गुणजयमाला, १३. सधपञ्चोत्ती,
१४. सहज सिद्ध अष्टक, १५. देवशास्त्र गुरु की आरती,
और अन्य स्फुट रचनाएं।

दशलक्षण पूजा, सोलहकारण पूजा, नन्दीदेवर पूजा,
पंचमेरु, देव शास्त्र-गुरुपूजा, सिद्धपूजा, वीम विरहमान
पूजा और रत्नत्रय पूजा आदि। पूजाएं प्रायः प्रकाशित
हो चुकी हैं। किन्तु आगम विलास की अन्य सभी रच-
नाएं अभी अप्रकाशित हैं। इस ग्रन्थतालिका पर से सहज
ही जाना जा सकता है कि कविवर दानताराय ने हिन्दी
भाषा की कितनी अधिक सेवा की है। रचनाओं को दो
भागों में विभाजित किया जा सकता है। भक्तिपूर्ण औप-
देशिक आध्यात्मिक और कथा जीवन चरितात्मक। गीतों
या पदों को तीनों विभागों में रखा जा सकता है।

तेरहवें कवि दरिगहमल्ल है। जो वस्तु देशान्तर्गत
सहजादपुर के निवासी थे, जो गंगा के तट पर बसा हुआ
था, इनकी जाति अग्रवाल और गोत्र ‘गर्ग’ था। यह
काष्ठासध माथुरगच्छ पुष्करगण के भट्टारक कुमारसेन
की आम्नाय के विद्वान् थे, और मेठ सुदर्शन के समान
दृढ व्रती थे। इनके पुत्र का नाम विनोदोलाल था। कवि
दरिगह मल के बनाये हुए अनेक पद और जवड़ी आदि
हैं, जो स्व-पर-सम्बोधक हैं। जकड़ी में अपनेको सम्बोधित

१. प्रस्तुत सहजादपुर प्रयाग या इलाहाबाद के पास गंगा
नदी के तट पर बसा हुआ था। वहां अग्रवाल
श्रावकों के अनेक घर थे, जिन मन्दिर था। १७वीं
शताब्दी के कवि भगवतीदास अग्रवाल ने वहां ठहर
कर अनेक रचना रचीं थीं।

करता हुआ कवि कहता है कि—हे जियरा ! तू सुन, सुन, तू तो तीन लोक का राजा है तू घर बार को छोड़ कर अपने सहज स्वभाव का विचार कर, तू पर में क्यों राग कर रहा है, तूने अनादि काल से आत्मा को पर समझा है और पर को आत्मा । इसी कारण दुख का पात्र बन रहा है । अब तू एक उपाय कर, अब सुगुणों का आवलम्बन कर, जिससे कर्म छीज जाय—विनष्ट हो जाय । तू दर्शन ज्ञान चारित्र्यमय है, और त्रिभुवन का राव है, जैसा कि उसके निम्न पद्य से प्रकट है :—

सुन सुन जियरा रे, तू त्रिभुवन का राव रे
तू तजि पर भाव रे चेतसि सहज सुभाव रे ।

चेतसि सहज सुभाव रे जियरा, परसों मिलि क्या राव रहे,
अप्या परजान्या पर अप्याणा, चउगइ दुःख अणाइ सहे ।
अब सो गुन कीजे कर्महि छोर्जे, सुणहु न एक उपाव रे ।
दंसण णाण चरण मय रे जिय, तू त्रिभुवन का राव रे ॥१॥

इससे पता चलता है कि कवि दरगहमल की कविता धार्मिक होते हुए भी सरस भाव पूर्ण और स्व-पर-सम्बोधक है । अन्य एक जकडी के पद्य में कहा है कि हे मूढ तू मानव जनम को व्यथ न गमा, इसी से तू शाश्वत सुख को नही ढूढ़ पा रहा है ।

तू यह मणुयतन, काहे मूढ गमावै;
सासय सुखदायक, सो तू ढूँढ़ि न पावै ।

ढूँढ़ न पावै पासि तुम ही, आप आप समावै ।
गुन रतन मूठीमाँहि तेरी, काई वहबिसि धावै ।
वह राज अविचल करहि शिवपुर, फिर संसार न आवै ।
यो कहै बरिगह यह मणुयतन, काहे मूढ गमावै ॥२॥

कवि का समय १८वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है ।

चौदहवें कवि हेमराज है, जो अग्रवाल और गर्गोत्री थे । और आगरा के रहने वाले थे । आप अपने समय के अच्छे विद्वान टीकाकार और कवि थे । कवि ने अपनी पुत्री 'जैनुलदे' को, जो रूपवान, गुणशीलवान थी खूब विद्या पढ़ाई थी । हेमराज ने उसका विवाह नन्दलाल के साथ कर दिया था । नन्दलाल भी उस समय आगरा में ही रहते थे । आपने कुंवरपाल शाता की प्रेरणा से कुन्द-कुन्दाचार्य के प्रवचनसार की बालबोध टीका शाहजहां के

राज्यकाल में सं० १७०६ में पूर्ण की थी । परमात्म-प्रकाश की भाषाटीका सं० १७१७ में पांडे रूपचन्द जी के प्रसाद से बनाई थी । कर्म प्रकृति की टीका भी सं० १७१७ में बनाई थी । पांडे हेमराज अध्यात्म साहित्य के अच्छे विद्वान थे । आप की कविता बड़ी भावपूर्ण है । कवि ने अध्यात्मी कुंवरपाल की प्रेरणा से 'सितपट चौरासी बोल' की रचना भी रचना की थी, जिसका आदि मगल पद्य इस प्रकार है :—

सुनयपोष हतदोष, मोषसुख शिवपद दायक ।

गुनमनिकोष सुपोष, रोषहर तोष विधायक ।

एक अनंत स्वरूप संत वंदित अभिनंदित ।

निज स्वभाव परभाव भावि भासेइ अमदित ।

अविदित चारित्र विलसित अमित,

सर्व मिलित अविलिप्त तन ।

अविचलित कलित निजरस ललित,

जय जिन दलित सुकलिल धन ।

भवतामर स्तोत्र के पद्यानुवाद का जैन समाज में पर्याप्त प्रचार है । कवि की अन्य क्या कृतिया हैं ? उनका अन्वेषण होना चाहिए । कवि के जीवन का अन्त कब हुआ यह भी विचारणीय है ।

पन्द्रहवें कवि बिहारीदास है, जो आगरा के निवासी थे और वहां की अध्यात्म शैली में प्रमुख थे । कवि दानतराय ने इन्हें अपना गुरु माना है । दानतराय मान-

१ नगर आगरेमे हितकारी, कँवरपाल ज्ञाना अविकारी ।

तिन विचार जियमे यह कीनी, जो भाषा यह होइ नवीनी ।

अल्प बुद्धिभी अरथ बखानै, अगम अगोचर पद पहिचानै ।

यह विचार मन में तिन राखी, पांडे हेमराज सो भाखी ।

× × ×

अवनीपति वदहि चरण, सुवर्ण कमल विहसत ।

साहजिहा दिनकर-उदै, अरिगण-तिमिर-नसत ॥

× × ×

हेमराज हिय आनि, भविक जीव के हित भणी ।

जिनवर-आण-प्रमानि, भाषा प्रवचन की कही ।

सत्रह सँ नव उतरै, माघ मास सित पाख ।

पंचमि आदित वार को, पूरन कीनी भाख ॥

—प्रवचनसार प्रशस्ति

सिंह और बिहारीदास के सत्समागम से ही जैनधर्म के रहस्य को पाकर विद्वान बने थे। बिहारीदास के नाम से अनेक पद उपलब्ध होते हैं। संभवतः वे इन्हीं के हों। यह ध्यानतराय के समकालीन हैं।

सोलहवें कवि मानसिंह हैं। संभवतः यह आगरा में जोहरी थे। बड़े ही सरल हृदय, विद्वान और अध्यात्म चर्चा में रस लेते थे। इन्होंने भी ध्यानतराय को जैन सिद्धान्त का परिज्ञान कराया था। और भगवतीदास ओसवाल के साथ-साथ द्रव्य संग्रह का भी पद्यानुवाद किया था। जैसा कि उसके निम्न वाक्य से प्रकट है। इहि विधि ग्रंथ रच्यो सुविकाम, मानसिंह व भगोतीदाम यह पद्यानुवाद माघ मुदी दशमी को किया गया है। कवि मानसिंह का यह आध्यात्मिक पद (गीत) कितना सरम और भावपूर्ण है इसे बतलाने की आवश्यकता नहीं है।

जगत गुरु कब निज आतम ध्याऊं ॥
नग्न दिगम्बर मुद्रा धरिकं, कब निज आतम ध्याऊं ।
ऐसी लब्धि होइ कब मोकों, हों वा छिन को पाऊं ॥१
कब घर त्याग होऊं बनवासी, परम पुरुष ली लाऊं ॥
रहो अडोल जोड़ पद्मसासन करम कलंक खपाऊं ॥२
केवलज्ञान प्रगट कर अपनो, लोकालोक लखाऊं ।
जन्म-जरा-बुख देय जलांजलि, हों बब सिद्ध कहाऊं ॥३
सुख अनंत बिलसौं तिह पानक, काल अनंत गमाऊं ।
'मानसिंह' महिमा निज प्रगट, बहुरि न भव में आऊं ॥४

मानसिंह रत्नपरीक्षक जोहरी थे, और अध्यात्म चर्चा में विशेष रस लेते थे। वे अच्छे कवि भी थे। कवि की अन्य रचनाओं का अन्वेषण करना चाहिए।

सत्रहवें कवि विनोदीलाल हैं। इनके परदादा का नाम 'मंडन' और दादा का नाम 'पारम' था। और पिना का नाम 'दरिगह मल्ल' था। विनोदीलाल जैन सिद्धान्त के अच्छे विद्वान और कवि थे। कवि ने अपने विषय में लिखा है कि—“द्वै पन आयु वृथा मुझ गई, तीजे पन कछु शुभ मति भई।” इससे स्पष्ट है कि आयु के दो भाग बीत जाने पर कवि जैनधर्म की ओर विशेष रूप से

आकृष्ट हुए थे। और तभी ग्रन्थ रचना की ओर भी चित्त लगाया था। आपकी निम्न रचनाएं अवलोकन में आई हैं उनके नामादि निम्न प्रकार हैं :—

१. भक्तामर कथा स० १७३६, २. सम्यक्त्व कीमुदी स० १७४६, ३. श्रीपाल विनोद (सिद्धचक्र कथा) स० १७५० और गजेव के राज्यकाल में बनाकर समाप्त किया है। यद्यपि यह संस्कृत रचना का पद्यानुवाद मात्र है, फिर भी सरस है। और दोहा, चौपाई, सोरठा, अडिल्ल आदि अनेक छन्दों के १३५४ पद्यों में रचा गया है, कवि ने उसकी प्रशस्ति में अपना निम्न परिचय दिया है :—

“नाम कथा श्रीपाल विनोद, पढत सुनत मन होय प्रमोद ।
जाति वानिया अग्ररवार, गोत्र अठारह मे सिरवार ।
गर्ग गोत्र जदुवश प्रधान, अनखचून मुझ अल्लि महान ।
परदादे को मंडन नाम, कुलमंडन हूबो सो धाम ।
दादो पारस तासु समान, यथा नाम जैसे गुणजान ।
दरिगहमल्ल तात मुझ तनों शील मुमेव सुदर्शन मनो ।
ताको अनुत्र विनोदीलाल, मै यह रचना रची विशाल ।

× × ×

सत्रत सत्रह सैं पद्यान, द्वैज उजारी अग्रहन मास ।
रवि वामर पाई शुभघरी, ता दिन कथा सपूरन भई ।”

४. चौथी रचना राजुन पच्चीसी है, जिसमें नेमिनाथ और राजमति का वर्णन है। पाचवी रचना नेमिनाथ व्याहृता—यह कवि की छोटी सी सरस रचना है, इसमें नेमिनाथ की पारतिका चित्रण किया गया है। पशुपक्षियों को बाड़े में बन्द देखकर और उनकी करुण पुकार सुनकर हिमा में भयभीत हो वैराग्य ग्रहण किया, और भौतिक सुखों का परित्याग कर मानव कल्याण के लिए उनका तपस्या के लिए चला जाना मच्चा पुरुषार्थ है। कवि ने वर की वेप-भूषा का वर्णन निम्न पद्य में किया है—

और धरो सिर बूलह के कर ककण बांध बई कस डोरी ।
कुंडल कानन में झलके अति भाल में लाल विराजति रोरी ।
भोतिन की लड़ शोभित है छवि देखि लज्ज वनिता सब गोरी ।
लाल विनोदीके साहिब के सुख देखनको दुनियां उठ बोरी ॥

१ संवत सत्रह सैं इकतीस, माघ मुदी दशमी शुभदीस ।
मंगल करण परम सुखधाम, द्रव्यसंग्रह प्रति करहु प्रणाम ॥७

नेमिनाथ की विरचित का चित्रण निम्न पद्य में किया है—

नेम उदास भये जबसे कर जोडके सिद्ध का नाम लियो है।
अम्बर भूषण डार दियो शिर मोर उतार के डार दियो है।
रूप धरो मुनिका जबही तबहीं चढ़ि के गिरिनारि गयो है।
'लाल बिनोदी' के साहिब ने तहां पंच महाव्रत योगल्यो है।

छठवीं रचना फूलमाला पच्चीसी और ७वीं नेमिनाथ बारहमासा है। अनेक पद भी आपके बनाये हुये है। सभी रचनाये सम्बोधक और सुस्चिपूर्ण है। कवि की अन्य रचनाएँ अन्वेषणीय है।

अठरहवें कवि 'जगतराय' हैं, जो पानीपत के पास गोहाना नगर के निवासी थे। और वहां से आगरा में रहने लगे थे। इनकी जाति अग्रवाल और गोत्र सिंगल था माईदास श्रावक के दो पुत्र थे, रामचन्द्र और नन्दलाल। उनमें जगतराय रामचन्द्र के पुत्र थे। और जगद्वाराय के पुत्र टेकचन्द थे।

जगतराय आगरा के ताजगज मे राय से दाग मे रहते थे। उच्चकोटि के कवि और विद्वान थे। आप वहां की अध्यात्म शैली के उन्नायक थे। आपकी इस समय तीन कृतियाँ अवलोकन मे आई है। पद्मनन्दि पच्चीसी, सम्यक्त्व कौमुदी और छन्द रत्नावली। इनके निवाय संवत् १७८४ में इन्होंने कविधर दयानाराय की फुटकर कविताओं का संकलन कर मैनपुरी मे उसे आगम विलास नाम दिया था। पद्मनन्दि पच्चीसी कवि ने सवत १७२२ के फाल्गुण शुक्ला दशमी मंगलवार को समाप्त की थी। जैसा कि उनके निम्न पद्य से प्रकट है —

"संवत सतरासैं बाबीस, फागुण मासि सुवि पक्ष जगोस।
तिथि वंशमी पुष्प मंगलवार, ग्रन्थ समाप्तभयो जयकार ॥"

यहां यह बात विचारणीय है कि डा० ज्योतिप्रसाद जी ने सम्यक्त्व कौमुदी का रचयिता कार्माप्रसाद नाम के किसी कवि को बतलाया है, जो जगतराय के आश्रित थे।

१ पानीपथ सुभदेश सहर गुहानो जानिये।

कबही न दुख को लेश, सुखवर तें जहा सर्वदा ॥

रामचन्द्र मुत जगत अनूप, जगतराय ज्ञायक गुणभूप।

तिन यह कथा ज्ञान के काज, वर्णों आठो समकित साज।

—सम्यक्त्व कौमुदी

२ संवत सतरह सैं चौरासी माघ सुदी चतुर्दशी भापी।

तब यह लिखत समाप्त कीनी, मैनपुरीके माहि नवीनी ॥

हो सकता है कि कवि ने उनके लिए रची हो। किन्तु ग्रन्थ की पुष्पकाओं मे—“इति श्री मन्महाराज श्रीजगत-
राय जी विरचतायां सम्यक्त्व कौमुदी कथाया अष्टं कथा-
नक संपूर्ण ॥ यह संभव है कि जगतराय को उस समय अवकाश न हो, और कवि कासीदास से उसे बनवाया हो। पर कासीदास का अन्य कोई ग्रन्थ या परिचय नहीं मिला। अस्तु ग्रन्थ का रचनाकाल सं० १७२२ सुनिश्चित है, किन्तु राजस्थान की सूचीवाला संवत चिन्तनीय है। १

सम्यक्त्व कौमुदीकी रचनाभी सं० १७२२ में हुई है। कविने छन्दरत्नावली हिम्मतखां के अनुरोध से सं० १७३० मे बनाकर समाप्त की थी। ग्रन्थ मे कवि ने हिम्मतखान के यश और वीरत्व की प्रशंसा भी की है। जैसाकि उस के निम्न पद्यों से प्रकट है —

जगतराय सौ यह कह्यो, हिम्मतखान बुलाइ।

पिंगल प्राकृत कठिन है, भाषा ताहि बनाइ ॥

बान मान गुनचनान सुजान, दिन-दिन बाढो हिम्मतखान।

जगतराय कवि यह जस गायो, पढत सुनत सबही मन भायो ॥

हिम्मतखां सो अरि कपत, भाजत ले ले जीय।

अरि रि हमें हैं सग ले, बोलत तिनकी ताँय।

+ + +

संवत सहस सात सतीस, कातिक मास शुक्ल पक्ष दीस।

भयो ग्रथ पूरन शुभ थान, नगर आगरा महा प्रधान ॥

यहां यह बात खास तौर से उल्लेखनीय है कि अनेक विद्वान जगनराय, जगतराम, जगदाम को एक ही व्यक्ति मानकर उल्लेख करते है। पर विचार करने पर जगतराय और जगदराम भिन्न-भिन्न व्यक्ति ज्ञात होते है। उनकी

१ विक्रम सवत ते जान, सत्रह सैं बाईस बखान।

माधवमास उजियारो सही, तिथि तेरस भूसुतसी लही।

—अने० वर्ष १०, कि० १० पृ. ३७४

राजस्थान ग्रन्थ भण्डार की सूची न० ४ पृ. २५२

पर सम्यक्त्व कौमुदी कथा भाषा जगतराय पत्र सं०

१५१ र० काल १७७२ फाल्गुण सुदी १३, बैठन न०

७५३ दिया है। अतः ग्रथ का रचनाकाल विवादस्थ

हो जाता है। अतः उसकी जाच हो जाना चाहिए

कि दोनों मे रचनाकाल कीनसा सही है।

जाति भी भिन्न-भिन्न है। जगतराम खडेलवाल जातिके थे और उनका गोत्र था 'गोदिका'। यह गोत्र खडेलवालों में ही होता है अग्रवालों में नहीं। राजस्थान के ग्रथभण्डारों की सूची भाग ४ के पृष्ठ ५८१ में 'प्रातभयो सुमरि देव पुण्य-काल जात रे' पद का कर्ता जगतराम गोदिका बतलाया है। जगतराम के अनेक पद मिलते हैं उनमें से कुछ पदों में 'जगराम' नाम भी पाया जाता है। अतएव जगतराम और जगराम दोनों एक ही व्यक्ति जान पड़ते हैं। किन्तु ऊपर जिन जगतराय कवि का परिचय दिया गया है वे अग्रवाल हैं। वे जगतराम से भिन्न हैं। कवि जगतराम ने सं० १८४६ में 'वृहत् निवर्ण विधान' नाम का ग्रन्थ बनाया है, उसमें यज्ञ-तन्त्र त्रिलोकसार की गाथाये उद्धृत है। वे वही हैं या दूसरे, यह विचारणीय है।

डा० प्रेमसागर जी ने हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि के पृष्ठ २५५ में जगतराय को जगतराम बतला कर जगतराम की रचना को जगतराय की रचना बतलाई है। डा० कस्तूरचन्द जी कासलीवाल भी दोनों को एक मान रहे हैं। किन्तु ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि जगतराय और जगतराम दोनों ही विद्वान जुड़े-जुड़े हैं। एक नहीं है।

जगराज और जगरूप नाम के दो विद्वानों का और भी उल्लेख मिलता है, जो संभवतः भिन्न भिन्न हैं। जगराज ने सकलकीर्ति की सुभाषितावली का पद्यानुवाद सं० १७०६ में बनाकर समाप्त किया है। और जगरूप ने श्वेताम्बर चौरासी बोल की रचना सं० १८११ में बनाकर समाप्त की थी, यह रचना दिल्ली के नया मन्दिर धर्मपुरा के शास्त्र भण्डार में सुरक्षित है।

उन्नीसवें कवि पृथ्वी पाल है, जो अग्रवाल गंग गोत्रीय धावक थे, और तेजपुर के रहने वाले थे। वे पानीपत (पण्डित) आये और वहाँ उन्होंने भ० सहस्रकीर्ति के चरण कमलों को नमस्कार कर सं० १६६२ के माघ महीने की कृष्णा पंचमीके दिन 'श्रुत पंचमी रास' बनाकर समाप्त किया था। जैसा कि उसके निम्न अन्तिम प्रशस्ति पद्यों से प्रकट है :—

सहस्र कीर्ति गुहचरण कमल नमि रास कियो बुद्धि ।
पंडित जन मति हास करो, चोड़ी मेरी बुद्धि ।

नव सतसं नव बोझ अधिक सबत तुम जानौ ।
माघ मास दिन पंचमि तम नर रवि सुनि आणौ ।
गरग गीत है अग्रवाल, धावक व्रत पाल ।
वेश मल्लूक भोजराज सुत है पृथिवी पाल ।
नगर तेजपुर सुत के सो आयो पानीपत ।
श्रुतपंचमी को रास कियो, पंडित तुलसी कथ ।
नर नारि जे रास सुनिहि, मन बच रहि गावहि ।
सुख सपति आनद लहै बांछित फल पावहि ॥

बीसवें कवि भाऊ है। जो तहनगढ़ या त्रिभुवनगिरि के निवासी थे। इनकी जाति अग्रवाल और गोत्र 'गंग' था। भाऊ के पिता का नाम मनुसाह और माता का नाम कुप्रिया कुमारी था। इनकी इस समय तक चार रचनाओं का पता चला है—१. आदित्यवार कथा, २. नेमिनाथरास, ३. पाश्र्वनाथ कथा, जो जयपुर के तेरापंथी मन्दिर के गुच्छक नम्बर १३ में दर्ज है लिपि सं० १७०४ है। ग्रथ सूची भा० २ पृ. ३५५। ४थी रचना पुष्पदन्त पूजा है। कवि ने अपनी रचनाओं में रचनाकाल नहीं दिया। इस कारण उनका समय निश्चित बगालाना संभव नहीं है। फिर भी इनका समय वि की १६वीं शताब्दी जान पड़ता है। डा. कस्तूरचन्द जी कासलीवाल को आदित्यवार कथा की प्रति स. १६२६ की लिखी हुई मिली है। इससे भी कवि का समय १६वीं तथा सत्रहवीं शताब्दी का प्रथम चरण हो सकता है।

इक्कीसवें कवि ब्रूनचन्द या बुलाकीदास है। इनका जन्म आगरा में हुआ था। यह गोयल गोत्रीय अग्रवाल

१ अग्रवाल यह कियो बखान,
कुंमरि जननि तिहुवण गिरि धान ।
गरगहि गीत मनु की पूत,
भयो कविजन भगति सज्जत ।
कारण कथा करण मति भई,
त्यो यह धर्म कथा अरठई ।
मन धरि भाव सुनै जो कोई,
सो नर सुरग देवता होई ।
भाऊ भणे सु द्वे कर जोडि,
जिन पंडित मोहि लावहु खोडि ।

—आदित्यव्रत कथा

श्रावक थे। इनके पूर्वज वयाना (श्रीपथ-भरतपुर) में रहते थे। इनके पितामह श्रवणदास कारणवश वयाना छोड़कर आगरे में बस गये थे। श्रवणदास के पुत्र नन्द-लाल को सुयोग्य जानकर पंडित हेमराज ने अपनी विदुषी पुत्री जैनुलदे का विवाह कर दिया था। बुलाकीदास इन्हीं के पुत्र थे। माता का अपने पुत्र पर विशेष अनुराग था। कवि ने भी माता की विशेष प्रशंसा की है। कवि के गुरु अरुणमणि थे। जो भ० श्रुतकीर्ति के प्रशिष्य और बुधराधव के शिष्य तथा कान्हरसिंह के पुत्र थे। इन्होंने अपना अजितपुराण सं. १७१३ में जहानाबादजय-सिंहपुरा (नई दिल्ली) के पार्श्वनाथमन्दिरमें बनाया था। अरुणमणि ने कवि को प्रेम से विद्या पढ़ाई थी, कवि ने अपनी माता की प्रेरणा से प्रश्नोत्तर श्रावकाचार सं० १७४७ में समाप्त किया था, इस श्रावकाचार के तीन हिस्से जहानाबाद में और चौथा पानीपत में समाप्त हुआ था। और पाण्डवपुराण सं. १७५४ में बनाया था। कवि की अन्य कथा कृतियां हैं यह कुछ ज्ञात नहीं हो सका।

बाईसवे कवि वृन्दावन हैं। जो अग्रवाल गोयल गोश्री

- १ अरुण-रतन पंडित महा, शास्त्र कला परवीन।
बूलचन्द तिनपै पठ्यो, ग्यान अंश तहा लीन ॥१६
बहुत हेतकरि अरुन नै, दयो ज्ञान को भेद।
तब सुबुद्धि घट मे जगी, करि कुटुम्बि तम छेद ॥२०
ऐसे सुत पै अधिक ही, करे जू माता प्रीति।
सब चिन्ता सुत की हरे, यहै माय की रीति ॥२१

—प्रश्नोत्तर श्रावकाचार

- २ रस-वृष-यति-चन्द्रे ख्यात सवत्सरे (१७१३) स्मिन्।
नियमित सित वारे वैजयन्ती-दशम्या।
रचितममलवाग्मि, रक्त रत्नेन तेन ॥४०॥
मुद्गले भूभुनां श्रेष्ठे राज्येश्वरगसाहि के।
जहानाबाद नगरे पार्श्वनाथजिनालये ॥४१॥

—अजितपुराण प्रशस्ति

- ३ “सत्रह सैं सैंतालमें, दूत्र सुदी वैशाख।
बुद्धवार भैं रोहिनी, भयो समापत भाख ॥
तीन हिस्से या ग्रंथ के, भये जहानाबाद।
चौथाई जलपथ विषै, वीतराग परसाद ॥

—प्रश्नोत्तर श्रावकाचार प्रशस्ति

थे। आप का जन्म शाहाबाद जिले के वारा नामक गांव में गंगा नदी के किनारे संवत् १८४८ में माघ शुक्ला १४ सोमवार को पुष्य नक्षत्र, कन्यालग्न भानु अंश २७ के शुभ मुहूर्त में हुआ था। आपके वंशधर वारा छोड़कर काशी में आकर रहने लगे थे। कवि के पिता का नाम धर्मचन्द्र था। धर्मचन्द्र बड़े धर्मात्मा और गण्यमानपुरुष थे। वे शरीर से हृष्ट-पुष्ट और निर्मम थे। और छोटे भाई का नाम था महावीरप्रसाद। संवत् १८६७ में १२ वर्ष की वय में वृन्दावन अपने पिता के साथ काशी आये थे और काशी में बाबर शहीद की गली में रहते थे। आपके वंशधर पहले काशी में रहते थे। पश्चात् वे वारा चले गये थे और फिर वारा से काशी में रहने लगे थे। वृन्दावन अपने पिता के समान पद्मावतीदेवी के भक्त थे और मन्त्र-तन्त्रादि में भी इनका विश्वास था।

कवि की माता का नाम सिताबी और पत्नी का नाम स्वमणी था। इनकी पत्नी बड़ी धर्मात्मा और पतिव्रता थी। आपके दो पुत्र थे, अजितदास और शिखर चन्द्र।

- ४ अग्रवाल कुल गोल गोत्र वृन्दावन धरमी।

धरमचन्द जसु पिता, शिताबी माता मरमी ॥

—प्रवचनसार प्रशस्ति

- ५ वाराणसी आरा ताके बीच वसै वारा,
सुरमरि के किनारा तहा जनम हमारा है।
ठारै अडताल माघ मेत चौदैं सोम पुष्य,
कन्या लग्न भानु अंश सत्ताईस धारा है।
साठ माहि काशी आये तहा सत्संग पाये,
जैनधर्म मर्म लहि भर्म सब डारा है।
सैली मुखदाई भाई काशीनाथ आदि जहा,
अध्यात्म वानी की अखड वहै धारा है।

—प्रवचनसार प्रश० पृ. ११०।

- ६ कवि ने छन्द शतक में अपनी गुणवती पत्नी का आदर्श सामने रखकर मजुभाषिणी छन्द का उदाहरण बनाया जान पड़ता है :—

‘प्रमदा प्रवीन व्रतलीन पावनी,
दिठ शील पालि कुलरीति राखिनी।
जल अन्न शोधि मुनि दान दायिनी,
बह धन्य नारि मृदुमजु भाषिनी ॥

—छन्द शतक, वृन्दा. पृ. ८५

इनमें अजितदास भी अपने पिता के ही समान कवि थे। इन्होंने अपने पिता की आज्ञा से हिन्दी में जैन रामायण की रचना ७१ सर्ग तक कर पाई थी, कि असमय में देवलोक हो गया। आपकी यह रामायण बाबू हरिदासजी द्वारा वालों के पास थी। कवि की समुद्राल काशी में ठठेरी बाजार में थी। इनके समुद्र बड़े धनिक व्यक्ति थे। उनके यहां उस समय टकसाल का काम होता था। एक दिन किरानी अंग्रेज इनके समुद्र की टकसाल देखने के लिए आया, तब उसने कहा कि हम तुम्हारा कारखाना देखना चाहते हैं कि उसमें सिक्के कैसे तैयार होते हैं। वृन्दावन ने उसे टकसाल नहीं दिखाई, इससे वह नाराज होकर चला गया। दैवयोग से वही अंग्रेज कुछ दिनों बाद काशी का कलेक्टर होकर आया। उस समय वृन्दावन सरकारी खजांची के पद पर आसीन थे। साहब बहादुर ने प्रथम साक्षात्कार के समय ही इन्हें पहिचान लिया, और बदला लेने का विचार किया। यद्यपि कविवर अपना सब कार्य बड़ी ईमानदारी से करते थे, पर जब अफसर ही विरोधी हो, तब वह कितने दिन बच सकता है। आखिर साहब ने एक जाल बनाकर कवि को तीन वर्ष की जेल की सजा दे दी। कवि ने उसके अत्याचारों को शान्ति से सहा, कुछ दिन के बाद कवि—“हो दीन-बन्धु श्रीपति कृष्ण निधान जी। अब मेरी व्यथा क्यों न हरो वार क्या लगी।” आदि स्तुति बना कर गा रहे थे। उस समय उस अंग्रेज ने उनकी तन्मय दशा को देखा, और पूछा कि तुम क्या गा रहा था। तब उन्होंने कहा कि मैं परमात्मा की स्तुति कर रहा था। और उन्हें बाद में उसने रिहा कर दिया। तब से वह स्तवन ‘सकटमोचन स्तोत्र’ के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

उक्त घटना के समूचक अनेक उल्लेख मिलते हैं, पाठकों की जानकारी के लिए एक दो का उदाहरण निम्न प्रकार है :—

१ अब मोपर क्यों न कृपा करते, यह क्या अंधेर जमाना है।

इन्साफ करो मत बेर करो सुखवृन्द भरो भगवाना है।

वृ. वि. पृ. २

२ वृखन्द, नन्दवृन्द को, उपसर्ग निवारो। वृ. वि. पृ. २०

जान पड़ता है कवि ने जेल में अनेक स्तवन बनाये

हैं, उनसे उनकी अन्तर्व्यथा की स्पष्ट झलक मिलती है।

कवि वृन्दावन आशु कवि थे, उनमें काव्य रचने की स्वाभाविक प्रतिभा थी। कविता में स्वाभाविकता और सरलता है।

आपकी निम्न छह रचनाएं हैं—१ प्रवचनसार २ चतुर्विंशति जिनपूजा, तीस चौबीसी पाठ, छन्द शतक, अर्हत्पाशा केवली और वृन्दावन विलास। यह कवि की अनेक छुटकर रचनाओं का संग्रह है। कवि की ये सभी कृतियां महत्वपूर्ण हैं। पूजा-पाठ अति सुन्दर बन पड़े हैं। उनमें यमकालंकार आदि का चित्रण है, कविता सुन्दर और मनमोहक है। इनमें छन्द शतक महत्व का ग्रंथ है, इसमें हिन्दी के सो छन्दों के बनाने की विधि सोशाहरण दी हुई है। उनके उदाहरण उसी छन्द में अंकित हैं। छन्द-शतक कवि ने स. १८६८ में अठारह दिन में अपने ज्येष्ठ पुत्र अजितदास के पढ़ने के लिए बनाई है, जैसा कि उसके निम्न प्रशस्ति पद्यों से प्रकट है :—

अजितदास निज सुघन के पठन हेत अभिनन्द।

श्रीजिनिव सुखवृन्द को रच्यो छव यह वृन्द ॥११५

पोषकृष्ण चौदस सुदिन, ताविन कियो अरभ।

अठारह दिन में भयो, पूरन शब्द बंभ ॥११६

+ + +

अठारह सौ ठानवें, सबत विक्रम भूप।

दोस माघ कलि को भयो, पूरन छव अनूप ॥११८

प्रवचनसार कवि की सुन्दर और भावपूर्ण कृति है, उसे कवि ने तीसरी बार में स. १६०५ में उदयरज के उपकार से बनाकर समाप्त किया है। चतुर्विंशति जिन पूजा का समय प्रेमी जी ने वृन्दावन की प्रति पर स. १८७५ कातिक कृष्ण अमावस्या गुरु बतलाया है। तीस चौबीसी पूजा गुरु स. १८७६ माघ शुक्ला पंचमीको पूर्ण हुआ है :—दरय तत्त्व गुण केवल सु, सबत विक्रमवान।

माघ धवल पांच नवल, पूरण परम निधान ॥

अर्हत्पाशाकेवली का रचनाकाल स. १८६१ होता है

जैसा कि निम्न दोहे से प्रकट है :—

संवत्सर विक्रम विगत, चन्द्र रश्मि विनचन्द।

माघ कृष्ण आठे गुरु, पूरण जयति जिनन्द ॥

१ देखो, वृन्दावन विलास की प्रस्तावना।

इसमें 'रन्ध्र' शब्द से ६ लिए गये हैं। क्योंकि मल द्वार छिद्र ६ होते हैं। जैसा 'नव द्वार वह घिनकारी' वाक्य से प्रकट है।

कवि का अन्तिम जीवन कैसा बीता, और देहोत्सर्ग कब हुआ यह कुछ ज्ञात नहीं हुआ।

तेबीसवें कवि जोगीदास है। यह सलेमगढ़ के निवासी थे। इनकी जाति अग्रवाल थी। इनकी एकमात्र कृति 'अष्टमी कथा' पंचायती मन्दिर खजूर मस्जिद दिल्ली में मौजूद है, जिसका अन्त निम्न प्रकार है :—

“सब साहू प्रति गड़मलसाहू, तातन सागर कियो भवलाहू।
पोहकरादास ता तनों, नन्दो जब लग ससि-सूरज तनों।
गुरु उपदेश करी यह कथा, जीवो चिर.....सदा।
अग्रवाल रहै गड़ सलेम, जिनवाणी यह है नित नेम।
मुनि कहा मुनि पुष्वह् आस, कथा कही पंडित जोगीदास ॥”

बीबीसवें विद्वान निहालचन्द अग्रवाल हैं। इन्होंने सं. १८६७ में 'नयचक्र' की भाव प्रकाशिनी बनाई थी।

पच्चीसवें विद्वान पं० परमेष्ठी सहाय हैं, जो आरा के निवासी और श्रावक कीरतचन्द्र के पुत्र थे। इन्होंने अपने पिता के पास जैन सिद्धान्त का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था। उस समय ये आरा में अच्छे विद्वान समझे जाते थे। सं० १८६४ में परमेष्ठी सहाय आरा से काशी आये थे, उस समय वहाँ जैनधर्म के ज्ञाताओं की अच्छी शैली थी। आरा में आपकी धार्मिक चर्चा बाबू सीमधरदास जी से हुआ करती थी। इसका उल्लेख कवि वृन्दावनजी ने किया है^२। इन्होंने साधर्मि भाई जगमोहनदास

१ देखो, बाबा दुलीचन्द का ग्रन्थ भण्डार ग्रंथसूची भा० ४ पृ. १३४।

२ संवत् चौरातमें सुभाय, आरे तें परमेष्ठी सहाय।
अध्यातमरंग पगे प्रवीन, कवितामें मन निशिदिवस लीन।
सज्जनता गुन गखे गंभीर। कुल अग्रवाल सुविशालधीर।
ते मम उपगारी प्रथमवर्म, सांचे सरधानी विगत भर्म। १७५

—प्रवचनसार प्रशस्ति

की तत्त्वार्थ-विषय के जानने की विशेष रुचि की देखकर स्व-पर-हित के लिए गृध्र पिच्छाचार्य के तत्त्वार्थ सूत्र की 'अर्थ प्रकाशिका' नाम की टीका पांच हजार श्लोकों के परिमाण में बना कर पं० सदासुख जी के पास जयपुर भेजी थी। तब सदासुख जी ने उसे ग्यारह हजार श्लोक प्रमाण बनाकर वापिस उन्हीं के पास आरा भेज दी थी। जैसा कि उसके प्रशस्ति पद्यों से प्रकट है।

पूरब में गगातट घाम, अति सुन्दर आरा तिस नाम।
तामें जिन चर्यालय लसै, अग्रवाल जैनी बहु बसैं ॥१३
बहु ज्ञाता तिनमें जु रहाय, नाम तासु परमेष्ठी सहाय।
जैन ग्रन्थमें रुचि बहु करै, मिथ्या धर्म न चित में धरै ॥१४

सो तत्त्वार्थ सूत्र की, रची वचनिका सार।

नाम जु अर्थ प्रकाशिका, गिणतो पांच हजार ॥१५

सो भेजी जयपुर विषं, नाम सदासुख जास।

सो पूरण ग्यारह सहस्र, करि भेजी तिन पास ॥१६

अग्रवाल कुल कीरतिचंद, जु आरे मांहि सुवास।

परमेष्ठीसहाय तिनके सुत, पिता निकटकरि शास्त्राभ्यास ॥१७
कियो ग्रन्थ अधिगम सु सदासुख रास चहुँ दिश अर्थ प्रकाश।

—अर्थ प्रकाशिका प्रस्तावना

छब्बीसवें गद्य भाषा के टीकाकार नन्दराम अग्रवाल हैं, जो गोयलगोत्री थे। इन्होंने आगरा में स. १६०४ में योगसार की टीका बनाई थी। टीकाकार ने आगरा के ताजगंज के पार्श्वनाथ मन्दिर में स्थित भगवान पार्श्वनाथ की श्यामवर्ण की प्रतिमा की अपूर्व महिमा का भी उल्लेख किया है। और वहाँ के अच्छे शास्त्र भण्डार का भी उल्लेख किया है। नन्दराम जी ने टीका की उम्मेदी लाल के सहयोग से पूर्ण किया था।

संवत् उन्निस शतक ऊपर, अंक धरो तुम चार सुधार।
फागुन सेत पुनीत नवीमी चन्द्रवार तीसरा पहार (?)
शुभ नक्षत्र विषं पूरणकर राजा प्रजा सब सुखकार।
चन्द्रसूर जबलों तबलों इह ग्रंथ रह्यो वृषको दातार ॥

(क्रमशः)

भगवान महावीर और बुद्ध का परिनिर्वाण

अणुवत् परामर्शक मुनिश्री नगराज

महावीर का परिनिर्वाण पावा में और बुद्ध का परिनिर्वाण कुसिनारा में हुआ। दोनों क्षेत्रों की दूरी के विषय में दीर्घ-निकाय-अट्ठकथा (सुमंगलविलासिनी) बताती है—“पावानगरतो तीणि गावुतानि कुसिनारानगरं” अर्थात् पावानगर से तीन गव्यूत (तीन कोस) कुसिनारा था। बुद्ध पावा के माघ्याह्न में विहार कर सायंकाल कुसिनारा पहुँचते हैं। वे रुग्ण थे, असक्त थे, विश्राम ले-लेकर वहाँ पहुँचे। इससे भी प्रतीत होता है कि पावा से कुसिनारा बहुत ही निकट था। कपिलवस्तु (लुम्बिनी) और वैशाली (क्षत्रियकुण्डपुर) के बीच २५० मील की दूरी मानी जाती है^१। जन्म की २५० मील की क्षेत्रीय दूरी निर्वाण में केवल ६ मील की ही दूरी रह गई। कहना चाहिए, साधना से जो निकट थे, वे क्षेत्र से भी निकट हो गये।

दोनों की ही अन्त्येष्टि मल्ल-क्षत्रियों द्वारा सम्पन्न होती है। महावीर के निर्वाण-प्रसंग पर नव मल्लकी, नव लिच्छवी, अठारह काशी-कोशल के गणराजा पोषध्व्रत में होते हैं और प्रातः काल अन्त्येष्टिक्रिया में लग जाते हैं। बुद्ध के निर्वाण-प्रसंग पर आनन्द कुसिनारा में जाकर सस्थागार में एकत्रित मल्लों को निर्वाण की सूचना देते हैं। आनन्द ने बुद्ध के निर्वाण के लिए कुसिनारा को उपयुक्त भी नहीं समझा था; इससे प्रतीत होता है कि मल्ल बुद्ध की अपेक्षा महावीर से अधिक निकट रहे हो।

इन्द्र व देव-गण दोनों ही प्रसंगों पर प्रमुखता से भाग लेते हैं। महावीर की चिता को अग्निकुमार देवता प्रज्वलित करते हैं और मेघकुमार देवता उसे शान्त करते हैं; बुद्ध की चिता को भी मेघकुमार देवता शान्त करते हैं। दोनों के ही दाढ़ा आदि अवशेष ऊर्ध्वलोक और पाताललोक के इन्द्र से जाते हैं। दोनों ही प्रसंगों पर इन्द्र

व देवता शोकातुर होते हैं। इतना अन्तर प्रसंग है कि महावीर की अन्त्येष्टि में देवता ही प्रमुख होते हैं, मनुष्य गौण। बुद्ध की अन्त्येष्टि में दीखते रूप में सब कुछ मनुष्य ही करते हैं, देवता अदृष्ट रहकर योगभूत होते हैं; देवता क्या चाहते हैं; यह अर्हत् भिक्षु मल्लों को बताते रहते हैं। देवताओं के सम्बन्ध में बौद्धों की उक्ति परिष्कारक लगती है।

अन्तिम वर्ष का विहार दोनों का ही राजगृह से होता है। महावीर पावा वर्षावास करते हैं और कार्तिक अमावस्या की शेष रात में वहीं निर्वाण प्राप्त करते हैं। पावा और राजगृह के बीच का कोई घटनात्मक विवरण नहीं मिलता और न कोई महावीर की रुग्णता का भी उल्लेख मिलता है। बुद्ध का राजगृह से कुसिनारी तक का विवरण विस्तृत रूप से मिलता है। उनका शरीरान्त भी सुकर-मद्द से उद्भूत व्याधि से होता है। उनकी निर्वाण-तिथि वैशाखी पूर्णिमा मुख्यतः मानी गई है, पर सर्वास्तिवाद-परम्परा के अनुसार तो उनकी निर्वाण-तिथि कार्तिक पूर्णिमा है^१।

निर्वाण से पूर्व दोनों ही विशेष प्रवचन करते हैं। महावीर का प्रवचन दीर्घकालिक होता है और बुद्ध का स्वल्पकालिक। प्रश्नोत्तर चर्चा दोनों की विस्तृत होती है। अनेक प्रश्न शिष्यों द्वारा पूछे जाते हैं और दोनों द्वारा यथोचित उत्तर दिये जाते हैं। दोनों ही परम्पराओं के कुछ प्रश्न ऐसे लगते हैं कि वे मौलिक न होकर पीछे से जुड़े हुए हैं। लगता है, जिन बातों को मान्यता देनी थी, वे बातें महावीर और बुद्ध के मुह से कहलाई गईं। अन्तिम रात में दोनों ही क्रमशः राजा हस्तिपाल और मुम्भद्र परिव्राजक को दीक्षा प्रदान करते हैं।

निर्वाण-गमन जानकर महावीर के अन्तेवासी गणधर

१. राहुल सांकृत्यायन, सूत्रकृतांग सूत्र की भूमिका पृ० १

१. E. J. Thomas, Life of Buddha, P. 158.

गौतम मोहगत होते हैं, रुदन करते हैं; बुद्ध के उपस्थाक आनन्द मोहगत होते हैं और रुदन करते हैं। गौतम इस मोह-प्रसंग के अनन्तर ही केवली हो जाते हैं; आनन्द कुछ काल पश्चात् अर्हत् हो जाते हैं।

आयुष्य-बल के विषय में महावीर और बुद्ध; सर्वथा दोनों पृथक् बात कहते हैं। महावीर कहते हैं—“आयुष्य-बल बढ़ाया जा सके, न कभी ऐसा हुआ है और न कभी ऐसा हो सकेगा।” बुद्ध कहते हैं—“तथागत चाहें तो कल्प भर जी सकते हैं।”

महावीर का निर्वाण-प्रसंग मूलतः कल्पसूत्र में उपलब्ध होता है। कल्पसूत्र से ही वह टीका, चूणि, व चरित्र-ग्रन्थों में पल्लवित होता रहा है। कल्पसूत्र महावीर के सप्तम पट्टधर आचार्य भद्रबाहु द्वारा सकलित माना जाता है। वेमे कल्पसूत्र में देवर्द्धि क्षमाश्रमण तक कुछ संयोजन होता रहा है, ऐसा प्रतीत होता है। देवर्द्धि क्षमाश्रमण का समय ईस्वी सन् ४५३ माना गया है; पर इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि महावीर का निर्वाण-प्रसंग उस सूत्र का मूलभूत अंग ही है। भद्रबाहु का समय ईसा पूर्व ३७१-३५७ का माना गया है।

बुद्ध की निर्वाण-चर्चा दीघनिकाय के महापरिनिव्वान-सुत्त में मिलती है। इससे ऐसा लगता है कि यह भी संगृहीत प्रकरण है। दीघनिकाय मूल त्रिपिटक-साहित्य का अंग है, पर महापरिनिव्वानसुत्तके विषय में राईस डेविड्स^१ ई० जे० थोमस^२ विटरनिज^३ का भी अभिमत है कि वह कुछ काल पश्चात् संयोजित हुआ है। इसका अर्थ यह भी नहीं कि महापरिनिव्वानसुत्त बहुत अर्वाचीन है। दोनों प्रकरणों की भाव, भाषा और शैली से भी उनकी काल-विषयक निकटता व्यक्त होती है। आलंकारिकता और अतिशयोक्तिवाद भी दोनों में बहुत कुछ समान है।

महावीर का निर्वाण-प्रसंग बहुत संक्षिप्त व कहीं-कहीं अशुद्ध-सा प्रतीत होता है। कुछ घटनाएं काल-क्रम की शृंखला में जूड़ी ई-सी प्रतीत नहीं होती। बहुत सारी

घटनाएं केवल यह कह कर बता दी गई हैं—“उस रात को ऐसा हुआ।” बुद्ध का निर्वाण-प्रसंग अपेक्षाकृत अधिक सुयोजित लगता है। वह विस्तृत भी है।

प्रस्तुत प्रकरण में महावीर और बुद्ध; दोनों के निर्वाण-प्रसंग क्रमशः दिये जाते हैं। मूल प्रकरणों को संक्षिप्त तो मुझे करना ही पड़ा है। साथ-साथ यह भी ध्यान रखा गया है कि प्रकरण अधिक से अधिक मूलानुरूपी रहे। महावीर के निर्वाण-प्रसंग में कल्पसूत्र के अतिरिक्त भगवतीसूत्र, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र, सौभाग्यपञ्चम्यादि पर्व कथा संग्रह, महावीर चरियं आदि ग्रन्थों का भी आधार लेना पड़ा है। बुद्ध के निर्वाण-प्रसंग में महापरिनिव्वानसुत्त ही मूलभूत आधार रहा है। महत्वपूर्ण उक्तियों के मूल पाठ भी दोनों प्रसंगों के टिप्पण में दे दिये गये हैं।

महावीर

अन्तिम वर्षावास

राजगृह से विहार कर महावीर अपापा (पावापुरी)^१ आये। समवसरण लगा। भगवान् ने अपनी देशना में बताया—“तीर्थंकरों की वर्तमानता में यह भारतवर्ष धन-धान्य से परिपूर्ण, गावों और नगरों से व्याप्त स्वर्ग-सदृश होता है। उस समय गाव नगर जैसे, नगर देवलोक जैसे, कौटुम्बिक राजा जैसे और राजा कुबेर जैसे समृद्ध होते हैं। उस समय आचार्य इन्द्र समान, माता-पिता देव समान, सास माता समान और स्वसुर पिता समान होते हैं। जनता धर्माधर्म के विवेक से युक्त, विनीत, सत्य-सम्पन्न, देव और गुरु के प्रति समर्पित, सदाचार-युक्त होती है। विज्ञानों का आदर होता है। कुल, शील तथा विद्या का अंकन होता है। ईति, उपद्रव आदि नहीं होते। राजा जिन-धर्मी होते हैं।

“अब जब तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव आदि अतीत हो जायेगे, कैवल्य और मनः पर्ययज्ञान का भी विलोप हो जायेगा। तब भारतवर्ष की स्थिति क्रमशः प्रतिकूल होती जायेगी। मनुष्य में क्रोध आदि बढ़ेंगे; विवेक घटेगा। मर्यादाएं छिन्न-भिन्न होंगी; स्वैराचार बढ़ेगा, धर्म घटेगा, अधर्म बढ़ेगा। गाव श्मान जैसे, नगर प्रेत-

१. यह कौन-सी पावा थी, कहाँ थी, आदि वर्णन देखें,”

१. Phys Davids, Dialogues of Buddha, Vol. II, P. 72.

२. E J. Thomas, Life of Buddha, P. 156.

३. Indian Literature, Vol. II, Pp. 37-42.

लोक जैसे, सज्जन दास जैसे व दुर्जन राजा जैसे होने लगेंगे। मत्स्य-न्याय से सबल दुर्बल को सताता रहेगा। भारतवर्ष बिना पतवार की नाव के समान डावाडोल स्थिति में होगा। चोर अधिक चोरी करेंगे, राजा अधिक कर लेगा व न्यायाधीश अधिक रिश्वत लेंगे। मनुष्य धन-धान्य में अधिक आशक्त होगा।

“गुरुकुलवास की मर्यादा मिट जायेगी। गुरु शिष्य की शास्त्रज्ञान नहीं देंगे। शिष्य गुरुजनो की सेवा नहीं करेंगे। पृथ्वी पर क्षुद्र जीव-जन्तुओं का विस्तार होगा। देवता पृथ्वी से अगोचर होते जायेंगे। पुत्र माता-पिता की सेवा नहीं करेंगे, कुल-बधुएं आचार-हीन होंगी। दान, शील तप और भावना की हानि होगी। भिक्षु-भिक्षुणियों में पारस्परिक कलह होगा। झूठे तोल-मापका प्रचलन होगा। मंत्र, तंत्र, औषधि, भणि, पुष्प, फल, रस, रूख, आयुष्य, ऋद्धि, आकृति, ऊर्चाई, इन सब उत्तम बातों में ह्रास होगा।

“आगे चलकर दुषम-सुषमा नामक छठे आरे में तो इन सबकी अत्यन्त हानि होगी। पंचम दुःसम आरे के अन्त में दुःप्रसव नामक आचार्य होंगे, फल्गुश्री साध्वी होंगी, नागिल श्रावक होगा, सत्यश्री श्राविका होगी। इन चार मनुष्यों का ही चतुर्विध सघ होगा। उस समय मनुष्य का शरीर दो हाथ परिमाण और आयुष्य बीस वर्ष का होगा। उस पंचम आरे के अन्तिम दिन प्रातःकाल चारित्र-धर्म, मध्याह्न राज धर्म और अपराह्न में अग्नि का विच्छेद होगा।

“२१०० वर्ष के पंचम दुषम आरे के व्यतीत होने पर इतने ही वर्षों का छठा दुषम-दुषमा आरा आयेगा। धर्म, समाज, राज-व्यवस्था आदि समाप्त हो जायेंगे। पिता-पुत्र के व्यवहार भी लुप्त-प्रायः होंगे। इस काल के आरम्भ में प्रचण्ड वायु चलेगी तथा प्रलयकारी मेघ बरसेंगे। इससे मानव और पशु बीज-मात्र ही शेष रह जायेंगे। वे गंगा और सिन्धु के तट-विवरो में निवास

करेंगे। मास और मछलियों के आधार पर वे अपना जीवन-निर्वाह करेंगे।

‘इस छठे आरे के पश्चात् उत्सर्पिणी काल-चक्रार्ध का प्रथम आरा आयेगा। यह ठीक वैसा ही होगा, जैसा अवसर्पिणी काल-चक्रार्ध का छठा आरा था। इसका दूसरा आरा उसके पंचम आरे के समान होगा। इसमें शुभ का आरम्भ होगा। इसके आरम्भ में दुष्कर संबलक मेघ बरसेगा, जिससे भूमि की उष्मा दूर होगी। फिर क्षीर-मेघ बरसेगा, जिससे धान्य का उद्भव होगा। तीसरा घृत-मेघ बरसेगा, जो पदार्थों में स्निग्धता पैदा करेगा। चौथा अमृत-मेघ बरसेगा, इससे नानागुणोपेत औषधिया उत्पन्न होगी। पांचवा रस-मेघ बरसेगा, जिससे पृथ्वी में सरसता बढ़ेगी। ये पांचो ही मेघ सात-सात दिन तक निरन्तर बरसने वाले होंगे।

“वातावरण फिर अनुकूल बनेगा। मनुष्य उन तट विवरो से निकल कर मैदान में बसने लगेंगे। क्रमशः उनमें रूप, बुद्धि, आयुष्य आदि की वृद्धि होगी। दुषम-सुषमा नामक तृतीय आरे में ग्राम, नगर आदि की रचना होगी। एक-एक कर तीर्थकर होने लगेंगे। इस उत्सर्पिणी काल के चौथे आरे में योगलिक-धर्म का उदय हो जायेगा। मनुष्य युगल रूप में पैदा होंगे, युगल रूप में मरेंगे। उनके बड़े-बड़े शरीर और बड़े-बड़े आयुष्य होंगे। कल्प-वृक्ष उनकी आशानूति करेंगे। आयुष्य और अवगाहना से बढ़ता हुआ पांचवा और छठा आरा आयेगा। इस प्रकार यह उत्सर्पिणी काल समाप्त होगा। एक अवसर्पिणी और एक उत्सर्पिणी काल का एक काल-चक्र होगा। ऐसे काल-चक्र अतीत में होते रहे हैं और अनागत में होते रहेंगे जो मनुष्य धर्म की वास्तविक आराधना करते हैं, वे इस काल-चक्र को तोड़कर मोक्ष प्राप्त करेंगे, आत्म-स्वरूप में लीन होहुँ।”

३. क्रमशः दो मेघों के बाद सात दिनों का ‘उषाङ्क’ होगा। इस प्रकार तीसरे और चौथे मेघ के पश्चात् फिर सात दिनों का ‘उषाङ्क’ होगा। कुल मिला कर पाँचों मेघों का यह ४६ दिनों का क्रम होगा।

—जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति सूत्र, वक्ष. २, काल अधिकार

१. भगवती सूत्र, शतक ७, उद्देशक ६ में इन मेघों को असमेघ, विरसमेघ, क्षारमेघ, खट्टमेघ, अग्निमेघ, विज्जमेघ, विषमेघ, असनिमेघ आदि नामों से बताया है।

२. उस समय गंगा और सिन्धु का प्रवाह रथ-मार्ग जितना ही विस्तृत रह जायेगा। —भग०सूत्र शतक ७, उद्देशक ६

४. नेमिचन्द्रमूर्ति कृत महावीर चरिय के आधार से।

महवीर ने यह अपना अन्तिम वर्षावास भी पावा-पुरी में ही किया वहा हस्तिपाल नामक राजा था। उसकी रज्जुक सभा (लेख-शाला^१) में वे स्थिरवास से रहे। कार्तिक अमावस्या का दिन निकट आया। अन्तिम देशना के लिए अन्तिम समवशरण की रचना हुई। शक्र ने खड़े होकर भगवान् की स्तुति की। तदनन्तर राजा हस्तिपाल ने खड़े होकर स्तुति की।

अन्तिम देशना व निर्वान

भगवान् ने अपनी अन्तिम देशना प्रारम्भ की। उस देशना में ५५ अध्ययन पुण्य-फल विपाक के और ५५ अध्ययन पाप-फल विपाक के कहे; वर्तमान में जो सुख विपाक और दुख विपाक नाम से आगमरूप है। ३६ अध्ययन अष्ट व्याकरण के कहे, जो वर्तमान में उत्तराध्ययन-आगम कहा प्रधान नामक मरुदेवी माता का अध्ययन कहते-कहते भगवान् पर्यासासन^४ (पद्मासन) में स्थिर हुए। तब भगवान् ने क्रमशः बादर काययोग में स्थित रह, बादर मनोयोग और वचनयोग को रोका। सूक्ष्म काययोग में स्थित रह बादर काय योग को रोका; वाणी और मन के सूक्ष्म योग को रोका। इस प्रकार शुक्ल-ध्यान का "सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति" नामक तृतीय चरण प्राप्त किया। तदनन्तर सूक्ष्म काययोग को रोककर "समुच्छिन्नक्रियाऽनिवृत्ति" नामक श्वन्न-ध्यान का चतुर्थ चरण प्राप्त किया। फिर अ, इ, उ, ऋ, लृ के उच्चारण-काल जितनी शैली-अवस्था को पारकर और चतुर्विध अघाती कर्म-दल का क्षयकर भगवान् महावीर सिद्ध बुद्ध,

१. इसका शुक्ल शाला भी अर्थ किया जाता है।

२. समवायाग सूत्र, सम० ५५, कल्पसूत्र, सू० १४७

३. कल्पसूत्र, सू० १४७, उत्तराध्ययन चूर्णि, पत्र २८३; उत्तराध्ययन सूत्र के अन्तिम अध्ययन की अन्तिम गाथा भी इस बात को स्पष्ट करती है—

इह पाउकरे बुद्धे, नायए परिनिव्वुए।

छत्तीसं उत्तरज्जाए, भवसिद्धि य सम्मए ॥

यह विशेष उल्लेखनीय है कि यहाँ महावीर को 'बुद्ध' भी कहा गया है।

४. संपलियकनिसण्णे—सम्यक पद्मासनेनोपविष्टः

—कल्पसूत्र, कल्पार्थबोधिनी, पत्र १२३

मुक्त अवस्था को प्राप्त हुए^५।

वह वर्षावास का चतुर्थ मास था, कृष्ण पक्ष था, पन्द्रहवाँ दिवस था, पक्ष की चरम रात्रि अमावस्या थी। एक युग के पाच संवत्सर होते हैं, 'चन्द्र' नामक वह दूसरा संवत्सर था। एक वर्ष के बारह मास होते हैं, उनमें वह 'प्रीतिवर्द्धन' नाम का चौथा मास था। एक मास में दो पक्ष होते हैं, वह 'नन्दीवर्द्धन' नाम का पक्ष था। एक पक्ष में पन्द्रह दिन होते हैं, उनमें 'अग्निवेश्य' नामक वह पन्द्रहवाँ दिन था, जो 'उपशम' नाम से भी कहा जाता है। पक्ष में पन्द्रह रातें होती हैं, वह 'देवानन्दा' नामक पन्द्रहवीं रात थी, जो 'निरति' नाम से भी कही जाती है। उस समय अर्च नाम का लव था, मुहूर्त नाम का प्राण था, सिद्ध नाम का स्तोक था^६, नाग नाम का कारण था^७। एक अहोरात्र में तीस मुहूर्त होते हैं, वह सर्वादि

५. तेण कालेणं तेणं समयेणं.....वावत्तखिसाइं सव्वा-उय पालइत्ता, खीणे वेयणिज्जाउयनामगुत्तं, इमीसे ओसप्पिणीए दूसमसुसमाए समाए बहुविइक्कंताए, तिहिं वासेहि अद्धनवमेहिं व मासेहि सेसेहिं, पाव ए मज्झिमाए हत्थिवालस्स रण्णो रज्जुआभाए, एगे अबीए, छट्ठेण भत्तेण अपाणएणं, साइणा नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं पच्चूसकाल समयसिं, सपलियकनिसण्णे, पणपन्न अज्झयणाइं कल्लाणफलविवागाइं पणपन्न अज्झयणाइं पावफलविवागाइं छत्तीसं च अयुट्ठ-वागरणाइं वागरित्ता, पहानं नाम अज्झयण विभावे-माणे कालगए विइक्कते समुज्जाए छिन्न-जाइ-जरा-मरण-बंधणे सिद्धे, बुद्धे मुत्ते अतगडे परिनिव्वुडे सव्वदुक्खप्पहीणे।

—कल्पसूत्र, सू० १४७

६. ७ प्राण=१ स्तोक

७ स्तोक=१ लव

७७ लव=१ मुहूर्त

—भगवती सूत्र, शतक ६, उद्देशक ७

७. शकुन्यादि करण चतुष्के तृतीयमिदम्। अमावास्या-त्तरार्द्धेऽवश्यं भवत्येतद्।

—कल्पार्थबोधिनी, पत्र ११२

सिद्धि नामक उनसीसवाँ मुहूर्त था । उस समय स्वाति नक्षत्र के साथ चन्द्र का योग था ।

प्रश्न चर्चाएं

भगवान् महावीर की यह अन्तिम देशना सोलह प्रहर की थी । भगवान् छट्ठ-भक्त से उपोसित थे । देशना के अन्तर्गत अनेक प्रश्न-चर्चाएँ हुईं । राजा पुण्यपाल ने अपने ८ स्वप्नों का फल पूछा । उत्तर सुनकर संसार से विरक्त हुआ और दीक्षित हुआ । हस्तिपाल राजा भी प्रतिबोध पाकर दीक्षित हुआ ।

इन्द्रभूति गौतम ने पूछा—“भगवन् ! आपके परिनिर्वाण के पश्चात् पाँचवा आरा कब लगेगा ?” भगवान् ने उत्तर दिया—“तीन वर्ष साढ़े आठ मास बीतने पर ।” गौतम के प्रश्न पर आगामी उत्सर्पिणी काल में होने वाले तीर्थंकर, वासुदेव, बलदेव, कुलकर आदि का भी नाम-ग्राह भगवान् ने परिचय दिया ।

गणधर सुधर्मा ने पूछा—“भगवन् ! कैवल्य-रूप सूर्य कब तक अस्तंगत होगा ?” भगवान् ने कहा—“मेरे से बारह वर्ष पश्चात् गौतम सिद्ध-गति को प्राप्त होगा, मेरे से बीस वर्ष पश्चात् तुम सिद्ध-गति प्राप्त करोगे, मेरे से चौसठ वर्ष पश्चात् दूसरा शिष्य जम्बू अन्नगर सिद्ध-गति को प्राप्त करेगा । वही अन्तिम केवली होगा । जम्बू के पश्चात् क्रमशः प्रभव, शय्यम्भव, यशोभद्र, सभूति विजय, भद्रबाहु, स्थूलभद्र चतुर्दश पूर्वधर होंगे । इनमें से शय्यम्भव पूर्व-ज्ञान के आधार पर दशवैकालिक आगम की रचना

१. संवत्सर, मास, पक्ष, दिन, रात्रि, मुहूर्त ! इनके समग्र नामों के लिए देखें; कल्पसूत्र, कल्पार्थबोधिनी, पत्र ११३। टीकाकार ने इन समग्र नामों को ‘जैन-शैली’ कहकर अभिहित किया है ।

२. षोडश प्रहरान् यावद् देशनां दत्तवान्

—सौभाग्यपञ्चम्यादि पर्व कथा संग्रह, पत्र १००;

ख. सोलस प्रहराह् देशणं करेह्

—विविधतीर्थकल्प, पृ० ३६

३. कल्पसूत्र; १४७; नेमिचन्द्रकृत महावीर चरित्र, पत्र, ६६

४. सौभाग्यपञ्चम्यादि पर्व कथा संग्रह, पत्र १००-१०२

करेगा ५ ।”

शक्र द्वारा आयु-वृद्धि की प्रार्थना

जब महावीर के परिनिर्वाण का अन्तिम समय निकट आया, इन्द्र का आसन प्रकम्पित हुआ । देवों के परिवार से वह वहा आया । उसने अश्रुपूरित नेत्रों से महावीर को निवेदन किया—“भगवन् ! आपके गर्भ, जन्म, दीक्षा और कैवल्यज्ञान में हस्तोत्तरा नञ्जत्र था । इस समय उसमें भस्म-ग्रह सक्रान्त होने वाला है । आपके जन्म-नक्षत्र में आकर वह ग्रह दो सहस्र वर्षों तक आपके संधीय प्रभाव के उत्तरोत्तर विकास में बहुत बाधक होगा दो सहस्र वर्षों के पश्चात् जब वह आपके जन्म-नक्षत्र से पृथक् होगा, तब श्रमणों का, निर्ग्रन्थों का उत्तरोत्तर पूजा-सत्कार बढ़ेगा । अतः जब तक वह आपके जन्म-नक्षत्र में सक्रमण कर रहा है, तब तक आप अपने आयुष्य बल को स्थित रखें । आपके साक्षात् प्रभाव से वह संबंधा निष्फल हो जायेगा ।” इस अनुरोध पर भगवान् ने कहा—‘शक्र ! आयुष्य कभी बढ़ाया नहीं जा सकता । ऐसा न कभी हुआ है, न कभी होगा । दुपमा काल के प्रभाव से मेरे शासन में बाधा तो होगी ६ ।’

गौतम को कैवल्य

उसी दिन भगवान् महावीर ने अपने प्रथम गणधर इन्द्रभूति गौतम को देवशर्मा ब्राह्मण को प्रतिबोध देने के लिए अन्यत्र भेज दिया । अपने अन्तेवासी शिष्य को दूर भेजने का कारण यह था कि मृत्यु के समय वह अधिक स्नेह-विह्वल न हो । इन्द्रभूति ने देवशर्मा को प्रतिबोध

५. सौभाग्यपञ्चम्यादि पर्व कथा संग्रह, पत्र १०६; इस ग्रन्थ के रचयिता ने महावीर की इस भविष्यवाणी को क्रमशः हेमचन्द्राचार्य तक पहुँचा दिया है ।

६. “जिनेश ! तव जन्मर्क्षं गन्ता भस्मकदुर्ग्रहः ।

बाधिष्यते स वर्षाणां, सहस्रे द्वे तु शासनम् ॥

तस्य सङ्क्रामणं यावदिवलम्बस्व ततः प्रभो ।

भवत्प्रभाप्रभावेण, स यथा विफलो भवेत् ॥

स्वाम्यूचे शक्र ! केनाऽपि नायु सन्धीयते ववचित् ॥

दुपमाभावतो बाधा, भाविनी मम शासने ॥

—कल्पसूत्र, कल्पार्थबोधिनी, पत्र १२१

दिया। उन्हें भगवान् के परिनिर्वाण का सम्वाद मिला। इन्द्रभूति के श्रद्धा-विभोर हृदय पर वज्राघात-सा लगा। अपने आप बोलने लगे—“भगवन् ! यह क्या किया ? इस अवसर पर मुझे दूर किया। क्या मैं बालक की तरह आपका अंचल पकड़कर आपको मोक्ष जाने से रोकता ? क्या मेरे स्नेह को आपने कृत्रिम माना ? मैं साथ हो जाता, तो क्या सिद्ध-शिला पर संकीर्णता हो जाती ? क्या मैं आपके लिए भार हो जाता ? मैं अब किसके चरणों में प्रणाम करूँगा ? किससे अपने जगत् और मोक्ष-विषयक प्रश्न करूँगा ? किसे मैं “भदन्त” कहूँगा ? मुझे अब कौन गौतम ! गौतम !” कहेगा ?”

इस भाव-विह्वलता में बहते-बहते इन्द्रभूति ने अपने आपको सम्हाला। सोचने लगा—“अरे ! यह मेरा कैसा मोह ? वीतरागों के स्नेह कैसा ? यह सब मेरा एक पाक्षिक मोह-मात्र है। बस ! अब मैं इसे छोड़ता हूँ। मैं तो स्वयं एक हूँ। न मैं किसी का हूँ। न मेरा यहाँ कुछ भी है। राग और द्वेष विकार-मात्र है। समता है। समता ही आत्मा का आलम्बन है।” इस प्रकार आत्म-रमण करते हुए इन्द्रभूति ने तत्काल कैवल्य प्राप्त किया।

जिस रात को भगवान् महावीर का परिनिर्वाण हुआ, उस रात को नव मल्लकी, नव लिच्छवी, अठारह काशी-कौशल के गणराजा वीपघ व्रत में थे।

निर्वाण-कल्याणक

भगवान् की अन्त्येष्टि के लिए सुरों के, असुरों के सभी इन्द्र अपने-अपने परिवार से वहाँ पहुँचे। सब की आँखों में आँसू थे। उनको लगता था—हम अनर्थ हो गये हैं। शक्र आदेश से देवता नन्दन-वन आदि से गोशीर्ष चंदन लाये। क्षीर-सागर से जल लाये। इन्द्र ने भगवान्

के शरीर को क्षीरोदक से स्नान कराया विलेपन आदि किये, दिव्य वस्त्र ओढ़ाये। तदनन्तर भगवान् के शरीर को दिव्य शिविका में रखा।

इन्द्रों ने वह शिविका उठाई। देवों ने जय-जय ध्वनि के साथ पुष्प-वृष्टि की। मार्ग में कुछ देवांगनाएं और देव नृत्य करते चलते थे, कुछ देवमणि रत्न आदि से भगवान् की अर्चा कर रहे थे। श्रवक-श्राविकाएँ भी शोक-विह्वल होकर साथ-साथ चल रहे थे। यथास्थान पहुँच कर शिविका नीचे रखी गई। भगवान् के शरीर को गोशीर्ष चंदन की चिता पर रखा गया। अग्नि कुमार देवों ने अग्नि प्रकट की। वायु कुमार देवों ने वायु प्रचालित की। अन्य देवों ने घृत और मधु के घट चिता पर उड़ले। जब प्रभु का शरीर भस्मसात् हो गया, तो मेघ कुमार देवों ने क्षीरसागर के जल से चिता शान्त की। शक्रेंद्र तथा ईशानेंद्र ने ऊपर की दायी और बायी दाढ़ों का संग्रह किया। चमरेन्द्र और बलीन्द्र ने नीचे की दाढ़ों का संग्रह किया। अन्य देवों ने अन्य दात और अस्थि-खण्डों का संग्रह किया। मनुष्यों ने भस्म लेकर सन्तोष माना। अन्त में चिता-स्थान पर देवताओं ने रत्नमय स्तूप की सघटना की।

दीपमालोत्सव

जिस दिन भगवान् का परिनिर्वाण हुआ, देव और देवियों के गमगागमन से भू-मण्डल आलोकित हुआ। मनुष्यों ने भी दीप सजोये। इस प्रकार दीप-माला पर्व का प्रचलन हुआ।

जिस रात को भगवान् का परिनिर्वाण हुआ, उस रात को सूक्ष्म कुंथु जाति का उद्भव हुआ। यह इस बात का संकेत था कि भविष्य में सूक्ष्म जीव-जन्तु बढ़ते जायेंगे और संयम दुराराध्य होता जायेगा। अनेक भिक्षु-भिक्षु-णियों ने इस स्थिति की समझकर उस समय आमरण अनशन किया।

(अगले अंक में समाप्त)

१. कल्पसूत्र, कल्पार्थबोधिनी, पत्र ११४

२. जं रयणि च ण समणे भगवं महावीरे कालगए जाव सम्बदुखप्पहीणे, त रयणि च ण नव मल्लई नव लेच्छई काशी-कौशलगा अट्टारस-वि गणरायाणो अमावासाए पाराभोय पोसहोववासं पटुविमु।

—कल्पसूत्र, सू० १३२

३. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १०, सर्ग ३ के आधार से

४. कल्पसूत्र, सूत्र १३०-१३१

५. सौभाग्यपञ्चम्यःदि पर्व कथा संग्रह, पत्र १००-११०

६. कल्याणसूत्र, सूत्र १३६-३७

श्री बा. नानालाल के. मेहता एडवोकेट का महत्वपूर्ण पत्र

श्रीमान्, समय की गति बदल रही है, बम्बई भारत का विशाल नगर है, यहाँ पर मैं देखता हूँ, हर शस्त्र सुख प्राप्ति के लिये शुभ सामग्री प्राप्त करने को दौड़ता है, परन्तु इतने पर भी वह सुख प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि मुख कहा है, कैसा है, व कैसे प्राप्त हो सकता है यह वह समझता ही नहीं है क्योंकि उमे विद्वानों द्वारा ऐसा उत्तम साहित्य और उपदेश प्राप्त नहीं होता है, अभी दीपावली के शुभ अवसर पर मैंने एक कश्चियन को उसके धर्म का साहित्य मुफ्त ग्राम बाजार में बाटते हुए देखा और उसने मुझे भी दिया, परन्तु जो जैन समाज गौरव के साथ दीवाली भगवान श्री महावीर के निर्वाण का पवित्र त्योहार मनाती है, वह भगवान के संदेश का जो कि जन समाज के सुख का कारण बन सकता है, जन समाज के नजदीक पहुँचाना ही नहीं चाहती,

इस युग में अपने व ग्राम लोगों के हित के लिये जैन साहित्य का प्रचार होना बहुत ही आवश्यक है अतः आप से निवेदन है कि आप इस विषय में—अपने “अनेकान्त” पत्र में कुछ सामग्री प्रकाशित करने की कृपा करेंगे।

“अनेकान्त” पूरे जैन समाज का एक बहुत ही उच्चकोटि का पत्र है जो हमारे सामने बड़ी मेहनत और परिश्रम के साथ साहित्य सामग्री प्रस्तुत करता है ऐसे श्रेष्ठ व उत्तम पत्रको हर शस्त्रने मगाकर इसे उन्नति पर पहुँचाना चाहिए।

मैं इस नये वीर सवत् २४६४ के उपलक्ष में प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि वह हम सबको सद्बुद्धि प्रदान करते हुए हमारे “अनेकान्त” पत्र के प्रचार की खूब खूब वृद्धि करे।

वीर-सेवा-मन्दिर और “अनेकान्त” के सहायक

- १०००) श्री मिश्रीलाल जी धर्मचन्द जी जैन, कलकत्ता
- १०००) श्री देवेन्द्रकुमार जैन, ट्रस्ट,
श्री साहु शीतलप्रसाद जी, कलकत्ता
- ५००) श्री रामजीवन सरावगी एण्ड सस, कलकत्ता
- ५००) श्री गजराज जी सरावगी, कलकत्ता
- ५००) श्री नथमल जी सेठी, कलकत्ता
- ५००) श्री वैजनाथ जी धर्मचन्द जी, कलकत्ता
- ५००) श्री रतनलाल जी भाँकरी, कलकत्ता
- २५१) श्री रा० बा० हरखचन्द जी जैन, रांची
- २५१) श्री अमरचन्द जी जैन (पहाड्या), कलकत्ता
- २५१) श्री स० सि० धन्यकुमार जी जैन, कटनी
- २५१) श्री सेठ सोहनलाल जी जैन,
मैसर्स मुन्नालाल द्वारकादास, कलकत्ता
- २५१) श्री लाला जयप्रकाश जी जैन
स्वस्तिक मेटल वर्क्स, जगाधरी
- २५०) श्री मोतीलाल हीराचन्द गांधी, उस्मानाबाद
- २५०) श्री बन्शीधर जी जुगलकिशोर जी, कलकत्ता
- २५०) श्री जुगमन्दिरदास जी जैन, कलकत्ता
- २५०) श्री सिधई कुन्दनलाल जी, कटनी
- २५०) श्री महावीरप्रसाद जी अग्रवाल, कलकत्ता
- २५०) श्री बी० आर० सी० जैन, कलकत्ता
- २५०) श्री रामस्वरूप जी नेमिचन्द्र जी, कलकत्ता
- १५०) श्री वजरंगलाल जी चन्द्रकुमार जी, कलकत्ता
- १५०) श्री चम्पालाल जी सरावगी, कलकत्ता

- १५०) श्री जगमोहन जी सरावगी, कलकत्ता
- १५०) „ कस्तूरचन्द जी आनन्दीलाल जी कलकत्ता
- १५०) „ कन्हैयालाल जी सीताराम, कलकत्ता
- १५०) „ पं० बाबूलाल जी जैन, कलकत्ता
- १५०) „ मालीराम जी सरावगी, कलकत्ता
- १५०) „ प्रतापमल जी मदनलाल पांड्या, कलकत्ता
- १५०) „ भागचन्द जी पाटनी, कलकत्ता
- १५०) „ शिखरचन्द जी सरावगी, कलकत्ता
- १५०) „ सुरेन्द्रनाथ जी नरेन्द्रनाथ जी कलकत्ता
- १०१) „ मारवाड़ी दि० जैन समाज, व्यावर
- १०१) „ दिगम्बर जैन समाज, केकड़ी
- १०१) „ सेठ चन्दूलाल कस्तूरचन्दजी, बम्बई नं० २
- १०१) „ लाला शान्तिलाल कागजी, दरियागंज दिल्ली
- १०१) „ सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल, इम्फाल
- १०१) „ शान्तिप्रसाद जी जैन, जैन बुक एजेन्सी,
नई दिल्ली
- १०१) „ सेठ जगन्नाथजी पाण्ड्या भूमरीतलैया
- १०१) „ सेठ भगवानदास शोभाराम जी सागर
(म० प्र०)
- १०१) „ बाबू नृपेन्द्रकुमार जी जैन, कलकत्ता
- १००) „ बन्नीप्रसाद जी आत्माराम जी, पटना
- १००) „ रूपचन्दजी जैन, कलकत्ता
- १००) „ जैन रत्न सेठ गुलाबचन्द जी टोंग्या
इन्दौर

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

R. N. 10591/62

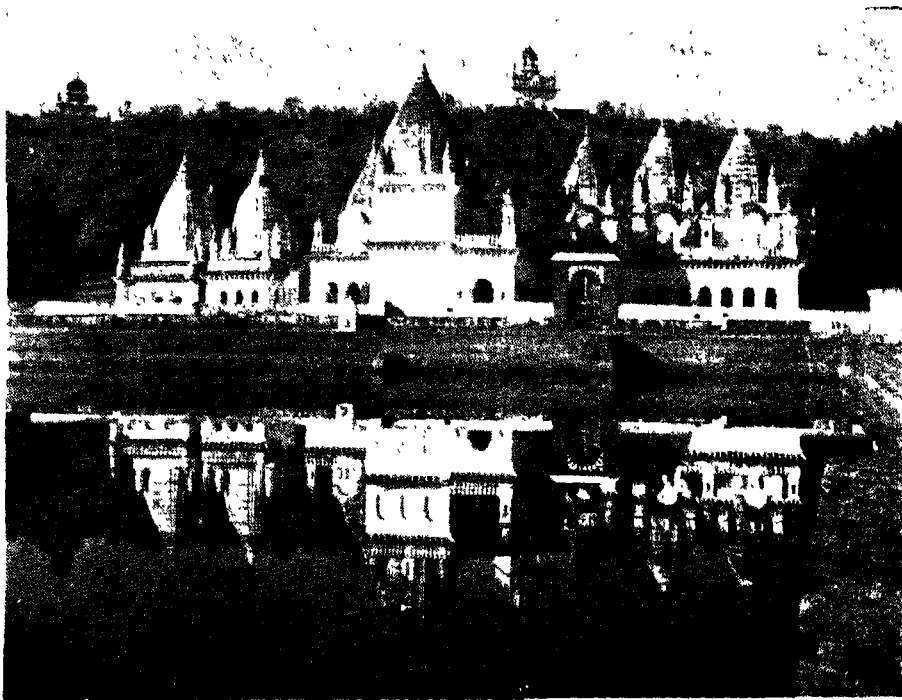
- (१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए. डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानों के लिए अनीव उपयोगी, बड़े साइज, सजिल्द १५-००
- (२) आष्ट परीक्षा—श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वीपज सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर, विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य प. दरवारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८-००
- (३) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना में सुशोभित। ... २-००
- (४) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल-किशोर मुख्तार का महत्व की प्रस्तावनादि में अलंकृत सुन्दर जिल्द-महिन। १-५०
- (५) अध्यात्मकमलमाण्ड—पञ्चाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिकरचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १-५०
- (६) युक्त्यनुशासन—तत्त्वज्ञान में परिपूर्ण समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... ७५
- (७) श्रीपुरपादवंनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्व की स्तुति, हिन्दी अनुवाद सहित। ७५
- (८) शासनचतुर्विंशिका—(नीथंपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वीं शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित ७५
- (९) समीचीन धर्मशास्त्र—स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना में युक्त, सजिल्द। ... ३-००
- (१०) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० १ संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का सगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह उपयोगी ११ परिशिष्टों की और ५० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना में अलंकृत, सजिल्द। ... ४-००
- (११) समाधितन्त्र और इष्टोपदेश—अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००
- (१२) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दाकी महत्वकी रचना, मुख्तार श्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित २५
- (१३) तत्त्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्राय)—मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या में युक्त। ... २५
- (१४) श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैनतीर्थ। १-२५
- (१५) महावीर का सर्वोदय तीर्थ १६ पैग, (५) समन्तभद्र विचार-दीपिका १६ पैग, (६) महावीर पूजा २५
- (१६) बाहुबली पूजा—जुगलकिशोर मुख्तार कृत (समाप्त) २५
- (१७) अध्यात्म रहस्य—५० आशाश्रम की सुन्दर कृति मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। १-००
- (१८) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा २ अपभ्रंश के १२० अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्वपूर्ण संग्रह। ५५ ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रन्थ-परिचय और परिशिष्टों सहित। स. ५० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द १२-००
- (१९) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ मरुया ७४० सजिल्द (वीर-शामन-मध प्रकाशन ५-००
- (२०) कसायपाहुड सुत—मूलग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णपूत्र लिखे। सम्पादक पं. हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पृष्ठ कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। ... २०-००
- (२१) Reality आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द ६-००

प्रकाशक—प्रेमचन्द जैन, वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली से मुद्रित।

द्वे मासिक

दिसम्बर १९६७

अनेकान्त



कुण्डलपुर में— सम्मति सागर के किनारे पर जैन मन्दिर

समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का मुख पत्र

विषय-सूची

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
१	पद्मप्रभ-जित-मुनि—समन्तभद्राचार्य	१६३
२.	श्रीवर स्वामी की निर्वाण भूमि कुण्डलपुर— प० जगमाहनलाल शास्त्री	१६४
३	जैन ग्रन्थ मयहालयों का महत्त्व— डा० कस्तूरचन्द कामलीवाल	१६६
४	भारतीय वास्तुशास्त्र में जैन प्रतिमा सम्बन्धी ज्ञानव्य—अगरचन्द नाहटा	२०७
५	भगवान महावीर और बुद्ध का परिनिर्वाण —मुनि श्री नगराज	२१६
६.	यशपाल जैन का ग्रन्थक्षीय भाषण	२२२
७.	शिरपुर का जैन मन्दिर दिगम्बर जैनों का ही है।	२२७
८	केशि-गीतम-संवाद—प० बालचन्द्र मिद्वान्त शास्त्री	२२८
९.	आत्म-निरीक्षण—परमानन्द शास्त्री	२३२
१०	अग्रवालों का जैन संस्कृति में योगदान— परमानन्द शास्त्री	२३३
११	स्वर्गीय नरेन्द्रमिह मिश्री का संक्षिप्त परिचय	२३७
१२	साहित्य-समीक्षा—डा० प्रेमसागर तथा परमानन्द शास्त्री	२३९



सम्पादक-मण्डल
डा० आ० ने० उपाध्ये
डा० प्रेमसागर जैन
श्री यशपाल जैन



अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्पादक
मण्डल उत्तरदायी नहीं हैं। —व्यवस्थापक अनेकान्त

अनेकान्त को सहायता

५) ला० विजयचन्द्र जी गोंटे वाले लखनऊ की
मुपुत्री सौ० किरण के विवाहोपल में निकाले हुए दान में
से डा० ज्योति प्रसाद जी लखनऊ की मार्फत ५) रुपये
मधन्यवाद प्राप्त हुए।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

विलम्ब का कारण

अनेकान्त की यह किरण प्रेम में नये टाइपो की
व्यवस्था के कारण विलम्ब से प्रकाशित हो रही है। इसके
लिए हमें खेद है। आगे की किरण यथा सम्भव शीघ्र
प्रकाशित करने का प्रयत्न किया जायगा।

व्यवस्थापक

'अनेकान्त'

अनेकान्त के ग्राहकों से

अनेकान्त के जिन ग्राहक महानुभावों ने अपना वार्षिक
शुल्क नहीं भेजा है, उन्हें अपना वार्षिक शुल्क ६) रुपये
सनी आईर में शीघ्र भेज देना चाहिए। कारण कि
२०वां वर्ष समाप्त हो रहा है। आशा ही नहीं विश्वास है
कि ग्राहक महानुभाव २०वें वर्ष का अपना वार्षिक मूल्य
शीघ्र भेजकर अनगृहीत करेंगे।

व्यवस्थापक

'अनेकान्त'

वीरसेवा मन्दिर २१ दरियागज, दिल्ली

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपये
एक किरण का मूल्य १ रुपये २५ पैसे



ओम् ग्रहम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।

सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २०
किरण ५

वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६
वीर निर्वाण संवत् २४६३, वि० सं० २०२४

{ विसम्बर
सन् १९६७

पद्मप्रभ-जिन-स्तुतिः

(अर्द्धभ्रमः)

अपापापदमेयश्रीपादपद्म प्रभोऽर्चय ।

पापमप्रतिमाभो मे पद्मप्रभ मतिप्रदः ॥२७॥

—समंतभद्राचार्य

अर्थ—हे प्रभो ! आपके चरणकमल पूर्वसंचित पापकर्म से रहित हैं, आपत्तियों से शून्य है, और अपरिमित लक्ष्मी के शोभा के-आधार है। तथा आप स्वयं भी अनुपम आभा से—तेज से सहित है। हे सम्यग्ज्ञान देने वाले पद्मप्रभ जिनेन्द्र ! मेरे भी पापकर्म नष्ट कीजिये ।

भावार्थ—भगवन् ! आपके निष्ठाप—पवित्र चरणकमलों के आश्रय से मनुष्य को वह सम्यग्ज्ञान प्राप्त होता है, जिसके द्वारा वह अपने समस्त पापकर्म तथा उनके फल स्वरूप प्राप्त हुई आपत्तियों को नष्ट कर अनन्त चतुष्टयरूप लक्ष्मी से सहित हो जाता है और तब उसकी आत्मा अनन्त तेज से प्रभासित हो उठती है ॥२७॥

श्रीधर स्वामी की निर्वाण भूमि,

कुण्डलपुर

श्रीजगन्मोहनलाल जी शास्त्री

[मध्यप्रदेश का प्रसिद्ध क्षेत्र कुण्डलपुर अपनी प्राकृतिक सुषमा के लिये तो विख्यात है ही, वहाँ स्थापित बड़े बाबा की अद्वितीय विशाल और अतिशय सौम्य प्रतिमा के लिए भी यह क्षेत्र उल्लेखनीय है।

अन्तिम केवली श्रीधर स्वामी की निर्वाण भूमि होने के कारण यही कुण्डलपुर क्षेत्र “सिद्ध क्षेत्र” भी है ऐसी स्थापना इस लेख के विद्वान लेखक श्रीमान् पंडित जगन्मोहनलालजी शास्त्री ने इस लेख में की है। लेखक द्वारा प्रस्तुत शास्त्रीय प्रमाण और उनका विवेचन तथा लेखक की नवीन शोधजन्य धारणाएं विचारणीय है। —सम्पादक]

अन्तिम केवली श्रीधर स्वामी की निर्वाण भूमि का नामोल्लेख तिलोयपण्णत्ति, निर्वाण काण्ड, आदि में आया है। इन्हीं के आधार पर उक्त निर्वाण भूमि का निर्णय करने का प्रयास कुछ विद्वानों द्वारा पिछले बीस-बाइस वर्षों में किया गया है। इस सबध के प्राय सभी शास्त्रीय उल्लेखों को दृष्टि में रखकर तत्सबधी उपलब्ध लेखों का मनन करके तथा कुछ नवीन उद्धाटित प्रमाणों पर विचार करते हुए इस लेख में भगवान श्रीधर स्वामी के निर्वाण स्थल पर विचार करते हुए मध्यप्रदेश के दमोह जिले में स्थित प्रसिद्ध और मनोरम क्षेत्र कुण्डलपुर को उनकी सिद्धभूमि मानने के कारण और साक्ष्य प्रस्तुत करने का मे प्रयास कर रहा हूँ। इस लेख का प्रारम्भ शास्त्रोक्त प्रमाणों से करते हुए सर्वप्रथम हम तिलोयपण्णत्ति की सर्वाभिन्न गाथा पर विचार करेंगे।

श्रीतिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ पतिवृषभाचार्य द्वारा रचित है जा श्रीजीवराज ग्रन्थमाला द्वारा वि. सं. २००० में प्रकाशित हुआ है। यह त्रिलोक सबधी वर्णन करने वाला प्राचीन ग्रन्थ प्राकृत भाषा में है। ग्रन्थ के स्वाध्याय काल में गाथा संख्या १४७६ पढ़ने में इस प्रकार आई—

कुण्डल गिरिभि चरिमो केवलणाणीमु सिरिधरो सिद्धो।

अर्थात् चरम केवली श्रीधर कुण्डलगिरि से सिद्ध हुए। इस गाथा के पढ़ने के बाद अनेक प्रश्न खड़े हुए। ये

श्रीधर केवली कब हुए? अन्तिम केवली तो जम्बू स्वामी कहे गये हैं, फिर ये चरम केवली कैसे हुए? कुण्डलगिरि कौन सा स्थान है? इत्यादि। ग्रन्थ के आलोकन से यह जाना जाता है कि केवली तो अनेक के प्रकार होते हैं पर प्रत्येक तीर्थंकर के समय दो तरह के केवली मुख्यतया कहे गये हैं। १. अनुसंधान या अनुबद्ध केवली, और २. अननुबद्ध या अननुबद्ध केवली।

अनुबद्ध केवली वे हैं जो भगवान तीर्थंकर के समवशरण में स्थित अनेक शिष्यों में भगवान के पश्चात् मुख्य उपदेष्टा परम्परा में केवल ज्ञानी होकर हुए। इस तरह जो परिपाटी क्रम से हुए वे अनुबद्ध केवली हैं।

तथा जो परिपाटी क्रम में नहीं हुए किन्तु केवली हुए वे अनुबद्ध केवली कहलाते हैं। इनकी संख्या प्रत्येक तीर्थंकर के समय अलग-अलग बताई गई है। जैसे—

भगवान ऋषभदेव के समवशरण में केवली संख्या २०००० पर अनुबद्ध केवली केवल ८४। श्री अजितनाथ के समवशरण में सम्पूर्ण केवलज्ञानियों की संख्या २०००० पर अनुबद्ध केवली केवल ८४। इसी प्रकार प्रत्येक तीर्थंकर के अनुबद्ध और अननुबद्ध केवली की संख्याएँ भिन्न हैं। श्रीमहावीर तीर्थंकर के समवशरण में केवलज्ञानी ७०० थे और अनुबद्ध केवली केवल ३ थे।

इसका यह अर्थ है कि भगवान महावीरके पट्टशिष्य श्री गौतम गणधर थे यद्यपि गणधर ११ थे पर मुख्य गणधर श्री

गौतम थे। भगवान महावीरके पश्चान् कार्तिक कृष्ण १५ को ही श्री गौतम केवली हुए उनके पट्ट पर रहने वाले सुधर्माचार्य थे जो गणधर तो भगवान महावीर के थे पर उनको पट्ट श्री गौतम स्वामी के बाद प्राप्त हुआ। और सुधर्माचार्य भी केवली हुए इनके बाद इनके पट्ट पर श्री जम्बूस्वामी हुए जो केवली हुए। जम्बूस्वामी के पट्ट पर श्री विष्णुनन्दि तथा विष्णुनन्दि के पट्ट पर श्री नन्दिमित्र, नन्दिमित्र के पट्ट पर अपराजित फिर गोवर्धन और उनके पट्ट पर श्रीभद्रबाहु (प्रथम) हुये पर ये सब श्रुतकेवली हुये केवली नहीं हुए। इनसे शिष्य प्रशिष्य परम्परा आगे चली जो भूतबली आचार्य तक ६८३ वर्ष प्रमाण चली।

यद्यपि आचार्य परम्परा आगे भी चली परन्तु यहाँ तक अंगशान रहा इसके बाद अंगधारी नहीं हुये। आज के महान ग्रंथ खटखण्डागम श्रीपुष्पदन्त और भूतबलि आचार्य द्वारा रचित हैं।

इस प्रकार पट्टधर शिष्यों की परम्परा में ३ केवली हुए जिनका उल्लेख कर आये हैं वे भगवान महावीर के अनुबद्ध केवली थे। इनके सिवाय जो ७०० केवली समवशरण में थे वे अननुबद्ध केवली थे उनमें सभी केवली अपनी-अपनी आयु के अन्त में सिद्धपद को प्राप्त हुए होंगे। यद्यपि इनका समयोल्लेख नहीं है तथापि पंचम काल की आयु १२० वर्ष कही है तब इनकी आयु भी अधिक से अधिक इतनी अथवा चतुर्थकाल में इनका जन्म होने से कुछ वर्ष अधिक भी रही हो तो भी भगवान के मुक्तिगमन काल के बाद प्रथम शताब्दी में ही इनका मुक्तिगमन सिद्ध है।

इन ७०० केवली भगवानों में अन्तिम केवली श्री श्रीधर स्वामी थे जिनका तिलोपपण्णत्ति में कुण्डलगिरि से मुक्तिगमन बताया गया है।

ग्रंथ में उक्त उल्लेख पढ़ने पर मेरा ध्यान सर्वप्रथम दमोह (म० प्र०) के निकट स्थित कुण्डलपुर पर गया यह पर्वत कुण्डलाकार (गोल) है अतः कुण्डलगिरि हो सकता है। अन्यत्र ऐसा पर्वत नहीं है और न ऐसे ग्राम की ही प्रसिद्धि है।

कुण्डलपुर के पर्वत पर मुख्य मन्दिर में जो वृहत् पद्मासन १२ फुट उत्तुंग मूर्ति विराजमान है वे बड़े बाबा

श्री महावीर स्वामी हैं। ऐसा कहा जाता आ रहा है। सं० १७५७ साह सुदी १५ सोमवार का एक शिलालेख श्री मन्दिर जी में है। उसमें भी इन्हें महावीर स्वामी लिखा है। पर मूर्ति के अधोभाग में जहाँ सिंहासन के सिंहा बने हैं उनके मध्य जो चिन्ह बनाने का स्थान है वहाँ कोई चिन्ह नहीं है। जो चिन्ह है वे सिंहासन के रूप में है और ऐसे चिन्ह कुण्डलपुर के उसी मन्दिर में संस्थापित श्री नेमिनाथ, संभवनाथ आदि सभी तीर्थंकर मूर्तियों में बने हैं। पर वे मात्र सिंहासन के प्रतीक हैं तीर्थंकर का चिन्ह तो दो सिंहों के मध्य में है। इस मूल प्रतिमा में चिन्ह के स्थान पर कोई चिन्ह नहीं है।

प्रतिमा के आसन के पाषाण में दोनों चरणों के पास दो कमल बने हैं। ये चिन्ह नहीं हैं, यदि चिन्ह होते तो एक बनाया जाता, और वह भी मध्य में न कि दोनों चरणों के नीचे एक-एक। इसके सिवाय मस्तक के आसपास दोनों तरफ देवों की उड़ती हुई मुद्रा में बनाया जाना आदि लक्षणों से मुझे ऐसा अनुमान हुआ कि क्या यह सामान्य केवली की मूर्ति है? और “चरण कमल तल कमल है” “नम ते जय जय वानि” की उचित के अनुसार तो इनके चरणों के पास कमल दोनों ओर बनाए गये और जयकार बोलते हुए आकाश में देवता दिखाए गये हैं।

इस कल्पना के आने पर मैंने कुछ ऐसा ही निगण्य कर एक लेख ७।८ वर्ष पूर्व जैन सदेश में प्रकाशित किया था। इस लेख के खंडन में २ लेख आये थे। प्रथम लेख श्री ‘नीरज’ सतना का था कि मूर्ति के आसन के दोनों ओर गोमुख यक्ष और चक्रेश्वरी की मूर्ति है साथ ही जटाओं के चिन्ह मूर्ति पर है। अतः मूर्ति श्री आदि तीर्थंकर की होनी चाहिए भले ही चिन्ह के स्थान पर चिन्ह न हो अतः श्रीधर केवली की मूर्ति उसे मानना प्रमाणित नहीं होता।

मैंने स्थान का पुनः निरीक्षण किया और मुझे नीरज जी का कथन सर्वथा उपयुक्त ज्ञात और यह निश्चित किया कि मुख्य मूर्ति भगवान आदिनाथ की है। १७५७ में ब्र. नेमिसागर ने मूल में चिन्ह न देखकर केवल सिंहासन

के सिंहीं के आधार पर उन्हें भगवान महावीर घोषित किया ।

चूँकि कुण्डलपुर भगवान महावीर का जन्मस्थान प्रसिद्ध है । और यह स्थान कुण्डलपुर कहलाता है फलतः इस साम्य के कारण भी उनका ध्यान भगवान श्री महावीर की ओर गया हो और इन्हे भगवान महावीर मान लिया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है ।

दूसरा लेख श्री पं० दरबारीलाल जी कोठिया न्यायाचार्य का था^१ । उन्होंने अपने लेख में प्रतिपादित किया था कि कुण्डलगिरि स्थान यह नहीं है जो दमोह (म०प्र०) के पास है । बल्कि राजगृह की पंचपहाड़ियों में किसी पहाड़ी का नाम कुण्डलगिरि था । और वही सिद्ध स्थान श्री श्रीधर केवली का हो सकता है । प्रमाण स्वरूप उन्होंने पूज्यपाद स्वामी, जो पाँचवी या छठवी शताब्दी के विद्वान आचार्य हैं, उनकी दशभक्ति का दिया था । उसमें निर्वाण भक्ति में पंचपहाड़ियों के साथ कुण्डल शब्द पड़ा है । कोठिया जी के निर्णय से हम सहमत नहीं हो सके और आज भी सहमत नहीं है इसके कारण निम्न प्रकार है ।

(१) दशभक्ति में जो निर्वाण भक्ति का प्रकरण है उसमें निर्वाण क्षेत्रों के नामों की गणना है । उसमें केवल पंच पहाड़ियों के नाम हैं बल्कि ऋष्याद्रि-मेढक-कुण्डल-द्रोणीमति-विध्य-पोदनपुर आदि अनेक निर्वाण भूमियों के नाम हैं । इनमें पंच पहाड़ियों में सभी के नाम नहीं हैं । केवल उनके नाम हैं जो सिद्धि स्थान हैं । वे हैं वैभार-विपुलाचल-ऋष्याद्रिक । कुण्डल शब्द के साथ मेढक शब्द उसके पूर्व पड़ा है और उसके बाद भी पंचपहाड़ियों में उसका नाम है । इससे सिद्ध है कि जिस प्रकार मेढक मेढगिरि के लिए अलग से आया है इसी प्रकार कुण्डल शब्द कुण्डलगिरि के लिए अलग से आया है फलतः मेढगिरि की तरह कुण्डलगिरि स्वतन्त्र निर्वाणभूमि है । अन्यथा निर्वाण भूमि में उसका उल्लेख न पाया जाता । निर्वाण भूमियों में उसका नाम आना उस स्थान को सिद्ध भूमि मानने के लिए पर्याप्त प्रमाण है ।

श्लोक निम्न प्रकार है—

१. अनेकान्त वर्ष ८ पृ० ११५

द्रोणीमति प्रबल कुण्डल मेढके च

वैभार पर्वत तले वर सिद्धकूटे

ऋष्याद्रिके च विपुलाद्रि बलाह के च

विध्यं च पोदनपुरे वृषदीपके च ॥६॥

—संस्कृत निर्वाण भक्ति

निर्वाण भक्ति में इसके पूर्व के श्लोको में तीर्थकरों की निर्वाण भूमियों के नाम देकर ८वें श्लोक के पूर्व उत्थानिका भी है जो इस प्रकार है—

इदानीं तीर्थकरेभ्योऽप्येवं निर्वाणभूमिं स्तोतु माह—

अर्थात् तीर्थकरों के बाद अन्य केवलियों की निर्वाणभूमि की स्तुति करते हैं । आठवें श्लोक में शत्रुजय-तुगीगिरि—का नामोल्लेख है । तदनन्तर इस श्लोक का अर्थ होता है ।

द्रोणीमति (द्रोणगिरि) प्रबलकुण्डल, प्रबलमेढक ये दोनों, वैभार पर्वत का तलभाग, सिद्धकूट, ऋष्याद्रिक, विपुलाद्रि, बलाहक, विध्य, पोदनपुर वृषदीपक ।

इसके बाद दसवें श्लोक में—सह्याचल, हिमवत्, लम्बायमान गजपथ आदि पवित्र पृथिवियों में जो साधुजन कर्म नाश कर मुक्ति पधारे वे स्थान जगत् में प्रसिद्ध हुए । आगे के श्लोको में इन स्थानों की पवित्रता का वर्णन कर स्तुति की है ।

प्रस्तुत प्रसंग में कुण्डल शब्द पर विचार है । टीका में कुण्डल और मेढक को “प्रबल कुण्डले प्रबल मेढके च” ऐसा लिखा गया है जिसका अर्थ स्वतन्त्रता से श्रेष्ठ कुण्डलगिरि और श्रेष्ठ मेढगिरि होता है । पाँच पहाड़ियों में केवल ३ नाम आए हैं । ऋष्याद्रिक इसे टीकाकार ने भ्रमणगिरि लिखा है । यह कोई सही तर्क न होगा कि ४ पहाड़ियों के नाम उसमें हैं तो एक नाम शेष में से हम पाचवी पहाड़ी को मान लें । पाच पहाड़ियों के नाम—(१) रत्नागिरि (ऋषिगिरि) (२) वैभारगिरि (३) विपुलाचल (४) बलाहक (५) पाण्डु ये पाच हैं । बौद्ध ग्रंथों में पांच पहाड़ियों के नाम इस प्रकार हैं—(१) वेपुल्ल (२) वैभार (छिन्न) (भ्रमणगिरि) (३) पाण्डव (४) इसगिलि (उदयगिरि) (ऋषिगिरि) और (५) गिज्झकूट । धवला टीका में इनके नाम हैं (१) ऋषिगिरि (२) वैभार (३) विपुलगिरि (४) छिन्न (बलाहक) (५) पाण्डु । उक्त तीनों नामावली से सिद्ध है कि

पाँचों पहाड़ियों में कुण्डलगिरि किसी का भी नाम नहीं था और न आज भी है। तब पंच पहाड़ियों में उसकी कल्पना का कोई आधार नहीं रह जाता फलतः कुण्डल-गिरि स्वतंत्र निर्वाण भूमि है यह सिद्ध होता है नीचे लिखा प्राकृत निर्वाण भक्ति का उल्लेख भी इसे सिद्ध करता है।

अगल देवं वंदमि वरणयरे निवण कुण्डली वंदे ।

पासं सिरपुरि वंदमि लोहागिरि संख दीवन्मि ।

वरनगर में अगलदेव (आदिनाथ) की तथा निर्वाणकुण्डली क्षेत्र को श्रीपुर में श्री पार्श्वनाथ को तथा लोहागिरि शखदीप में श्री पार्श्वनाथ की मे वंदना करता हूँ।

इस निर्वाण भक्ति में कुण्डली के साथ निर्वाण शब्द भी लगा है। इससे भी यह निर्वाण क्षेत्र सिद्ध है। पंच-पहाड़ियों के नाम इस श्लोक में नहीं हैं ताकि उसे उनमें से एक पहाड़ी मान लिया जाय।

प्रस्तुत प्रमाणों से “कुण्डलगिरि कोई निर्वाण क्षेत्र है” यह सिद्ध हो गया। प्रश्न अब यह है कि वह स्थान कहाँ है कुण्डलपुर (विहार) कुण्डल (औध रियासत) तथा कुण्डलपुर (दमोह) में प्र० ये तीन स्थान कुण्डल नाम से हैं। ये तीनों भारत में स्थित हैं। चौथा कुण्डलगिरि जिसका उल्लेख मगलाष्टक में आता है वह मनुष्य लोक के बाहिर कुण्डलगिरि द्वीप में, वह तो निर्वाण भूमि नहीं हो सकता। अतः तीन का ही विकल्प शेष रहता है। इन पर आगे विचार किया जाता है।

(१) बिहार प्रदेश का कुण्डलपुर भगवान महावीर का जन्म स्थान माना गया है न कि निर्वाण भूमि। आज कल तो यह भी नहीं माना जाता बल्कि वैशाली कुण्डपुर उनकी जन्मभूमि सिद्ध हो चुका है।

(२) औध रियासत में कुण्डल रेलवे स्टेशन से २ मील है जहाँ दो मन्दिर हैं पर वे भगवान पार्श्वनाथ के हैं। किन्तु यह निर्वाणभूमि नहीं माना जाता।

(३) कुण्डलपुर (म० प्र०) यह दमोह से २० मील है। कुण्डलाकार (गोलाकार) पर्वत है और मूल मन्दिर में (प्रख्यात नाम) श्री महावीर तीर्थंकर की तथा यथार्थ आदिनाथ भगवान की मूर्ति है।

यह स्थान निर्वाणभूमि श्री श्रीधर स्वामी की है ऐसा

मेरा वर्षों से मत चला आ रहा है जबकि अन्य स्थान सिद्ध नहीं होते।

यह कहा जाता है कि यह अतिशय क्षेत्र है कारण प्रसिद्ध अत्याचारी शासक औरंगजेब ने मूर्तिखंडन करने का यहाँ प्रयास किया था पर उसके सेवकों पर तत्काल मधुमक्खियों का ऐसा आक्रमण हुआ कि वे सब भाग खड़े हुए। इस अतिशय के कारण यह अतिशय क्षेत्र माना जाता है। निर्वाणभूमि अभी तक नहीं माना जाता।

यहाँ एक प्रश्न है कि औरंगजेब के काल में यह अति-शय हुआ और तब से यह अतिशय क्षेत्र माना जाय पर क्षेत्र तो औरंगजेब से बहुत पूर्व का है। छठवीं शताब्दी की कला का अनुमान है। जैनोतर मंदिर भी जिन्हे ब्रह्म मंदिर कहने हैं छठी शताब्दी से वहाँ है ऐसा कहा जाता है। तब छठी शताब्दी से औरंगजेब काल तक १००० वर्ष तक यह कौन सा क्षेत्र था।

कुण्डलाकार यह पर्वत ऐसा स्थान नहीं है जहाँ किसी राजा का किला या गढ़ी है। जिससे यह माना जाय कि उसने मन्दिर और मूर्ति बनवाई होगी। कोई प्राचीन विशाल नगर भी वहाँ नहीं है कि किन्हीं सेठों ने या समाज ने मंदिर निर्माण कराया हो। तब ऐसी कौन सी बात है जिसके कारण यहाँ इतना विशाल मंदिर और मूर्ति बनाई गई। तर्क से यह सिद्ध है कि यह सिद्ध भूमि ही थी जिसके कारण इस निर्जन जंगल में किसी ने यह मंदिर बनाया तथा अन्य ५८ जिनालय भी समय-समय पर यहाँ बनाये गये जो आज भी सुशोभित हैं। ये जिनालय वि० सं० ११०० से १६०० तक के पाए जाते हैं। सन् सवत लेख रहित भी बीसों जिन बिम्ब खडित वहाँ स्थित हैं। वहाँ १७५७ का जो शिलालेख है वह मंदिर के निर्माण का नहीं बल्कि जीर्णोद्धार का है। लेख सस्कृत भाषा में है जिसमें यह उल्लेख है कि—

श्री कुन्द कुन्दाचार्य के अन्वय में यशः कीर्ति नामा मुनीश्वर हुए उनके शिष्य श्री ललितकीर्ति तदनंतर धर्म-कीर्ति पश्चात् पद्मकीर्ति पश्चात् सुरेन्द्रकीर्ति हुए। उनके शिष्य मुचन्द्रगण हुए जिन्होंने इस स्थान को जीर्ण-शीर्ण देखकर भिक्षावृत्ति से एकत्रित धन से इसका जीर्णोद्धार कराया अचानक उनका देहावसान हो गया तब उनके

शिष्य ब्र० नेमिसागर ने वि. सं. १७५७ माघ सुदी १५ सोमवार को सब छतों का काम पूरा किया।

ऐसी किंवदन्ती भी आ रही है कि चन्द्रकीर्ति (मुचउ-गण) नामक कोई भट्टारक भ्रमण करते-करते यहाँ आए उनको दर्शन करके ही भोजन का नियम था। किन्तु कोई मंदिर पास न होने से वे निराहार रहे तब मनुष्य के छद्म-वेश में किसी देवता ने उन्हें कुण्डलगिरि पर ले जाकर स्थान का निर्देश किया। वे वहाँ पर गए और इस विशाल काय प्रतिमा का दर्शन किया। तथा इन्होंने ही इस मंदिर का जीर्णोद्धार कराया। किंवदन्ती शिलालेख के लेख से मेल खाती है अतः सत्य है। यह जीर्णोद्धार प्रसिद्ध बुन्देल-खण्ड केसरी महाराजा छत्रसाल के राज्यकाल में हुआ। कहते हैं अपने आपत्तिकाल में महाराजा छत्रसाल इस स्थान में कुछ दिन प्रच्छन्न रहे हैं और पुनः राज्य भार प्राप्त करने पर उनके तरफ से ही तालाब सीढियाँ आदि का निर्माण भक्तिवश कराया गया है।

इन सब प्रमाणों के होते हुए भी लोग संदेह करते थे कि वस्तुतः यही स्थान श्रीधर केवली की निर्वाणभूमि है इसका कोई लिखित प्रमाण उपलब्ध नहीं है। अभी इसी वर्ष में कुण्डलगिरि गया था, वीर निर्वाण महोत्सव पर। वहाँ बड़े मंदिर के चौक में एक प्राचीन छतरी बनी है और उसके मध्य ६ इंच लम्बे चरणयुगल हैं। अनेकों बार दर्शन किए इन चरणों के। ये भट्टारकों के चरणचिह्न होंगे ऐसा मानते रहे। कारण चरणचिह्न तो सिद्धभूमि में स्थापित होने का नियम है यह तो अतिशय क्षेत्र है। सिद्ध भूमि नहीं है। अतः यहाँ चरणों का पाया जाना यह बताता है कि किन्हीं 'भट्टारकों' ने अपने या अपने गुरु के चरण स्थापित किये होंगे।

पर इस बार हमारे आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब पुजारी ने हमें बताया कि चरणों के नीचे की पट्टी पर कुछ लेख है हमने तत्काल उसे ले जाकर जमीन में सिर रखकर उसे बारीकी से पढ़ा तो घिसे अक्षरों में कुछ स्पष्ट पढ़ने में नहीं आया तब जल से स्वच्छ कर कपड़े से प्रक्षाल

कर उसे पढ़ा तो उन चरणों के पायाण के सामने की पट्टी पर लिखा है—

“कुण्डलगिरौ श्री श्रीधर स्वामी”

इस लेख को पढ़ अपनी बरषों की धारणा सफल प्रमाणित हो गई और इस प्रमाण की समुपलब्धि में कोई संदेह नहीं रह गया। यह सूर्य की तरह सप्रमाण सिद्ध है कि—ये चरण श्री श्रीधर स्वामी के हैं और यह क्षेत्र श्री कुण्डलगिरि है।

कुण्डलगिरि के नाम के कारण नीचे वसे छोटे से ग्राम का नाम कुण्डलपुर पड़ा हो इसके पूर्व इस ग्राम को “मंदिरटीला” नाम से कहते थे शिलालेख में इसे इसी नाम से उल्लिखित किया गया है। संभवतः ब्र. नेमिसागर जी का ध्यान भी चरणों के उस छोटे से लेख पर नहीं गया जैसे कि पचासों बरसों से उनके दर्शन करने वाले हजारों व्यक्तियों का नहीं गया। यह लेख इसके बाद क्षेत्र के अध्ययन श्री राजारामजी वजाज सि. बाबूलाल जी कटनी तथा वहाँ के एक मंदिर निर्माणकर्ता ऊँचा के सिंघई तथा अन्य कई लोगों ने पढ़ा है।

क्षेत्र कमेटी के प्रबंधकों से मैंने प्रत्यक्ष में भी निवेदन किया है तथा इस लेख द्वारा भी निवेदन करता हूँ कि उस स्थान को सुरक्षित करावें ताकि उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री नष्ट न हो।

चौक में छतरी प्रारम्भ से तो है नवीन नहीं है। उससे चौक में स्थान की कमी आ जाती है पर प्राचीन होने से अभी तक सुरक्षित चली आई है। यह भी इस बात का प्रमाण है कि यह श्रीधर केवली का मुक्ति स्थान ही है कारण छतरी बिना प्रयोजन नहीं बनाई जाती। १५०१ के संवत् की एक जीर्ण प्रतिमा में उस स्थान का नाम निषधिका (नसियाँ) भी लिखा है।

उक्त प्रमाणों के प्रकाश में यह बिलकुल स्पष्ट है कि “कुण्डलगिरि” (दमोह म. प्र.) ही श्री श्रीधर केवली की निर्वाण भूमि है।

राजस्थान के इतिहास निर्माण में जैन ग्रन्थ संग्रहालयों का महत्त्व*

डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल

भारतीय इतिहास में राजस्थान का महत्वपूर्ण स्थान है। इतिहास के सैकड़ों पृष्ठ इस प्रदेश के निवासियों की वीरता एवं पराक्रम की कहानियों से भरे पड़े हैं। वास्तव में यहाँ के शासकों एवं शासितों ने देश के इतिहास को कितनी ही बार मोड़ दिया था। यहाँ के रणथम्भौर, चित्तौर, भरतपुर, जोधपुर, जैसलमेर जैसे दुर्ग वीरता, शोध एवं शक्ति के आधार स्तम्भ रहे थे किन्तु वीरता के साथ साथ यहाँ भारतीय साहित्य एवं संस्कृति के गौरव-स्थल भी पर्याप्त सन्ख्या में मिलते हैं। यदि राजस्थानी वीर योद्धाओं ने जननी जन्मभूमि की रक्षार्थ हँसते-हँसते प्राणों को न्योछावर किया तो यहाँ होने वाले आचार्यों, मुनियों, सन्तों एवं विद्वानों ने भी अपनी कृतियों द्वारा जनता में देश भक्ति नैतिकता एवं सांस्कृतिक जागरूकता का प्रचार किया। उन्होंने नागौर, बीकानेर, अजमेर, जैसलमेर, जयपुर आदि कितने ही नगरों में ग्रंथ भंडारों के रूप में साहित्यिक दुर्ग स्थापित किये जहाँ भारतीय साहित्य एवं संस्कृति की सुरक्षा एवं उसके विकास के उपाय सोचे गये तथा सारे प्रदेश में ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ करवाने, उनके पठन पाठन का प्रचार करने का अर्थ व्यवस्थित रूप से किया गया और राजनैतिक उथल-पुथल एवं सामाजिक झगड़ों से इन शास्त्र भंडारों को दूर रखा गया। वास्तव में साहित्य की सुरक्षा एवं उसकी श्रीवृद्धि में सबसे अधिक जन सहयोग जैन ग्रंथ संग्रहालयों का रहा यही कारण है कि जैन ग्रंथ संग्रहालय राजस्थान के छोटे-छोटे गाँवों तक में मिलते हैं। इन शास्त्र भंडारों ने राजस्थान के इतिहास के कितने ही महत्वपूर्ण तथ्यों को संजोया और उसे सदा ही नष्ट होने से बचाया। यदि हम इन ग्रंथ भंडारों के संबन्ध में कुछ गम्भीरता से विचार

करें तो हमें मालूम होगा कि राजस्थान में जैन ग्रंथ संग्रहालय सबसे अधिक संख्या में मिलते हैं। ये ग्रंथ संग्रहालय छोटे-छोटे गाँवों से लेकर बड़े २ नगरों तक में स्थापित किये हुए हैं। इन संग्रहालयों की निश्चित संख्या एवं उनमें संग्रहीत पाण्डुलिपियों की संख्या बतलाना तो कठिन है लेकिन अब तक की खोज के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इन हस्तलिखित ग्रंथों की संख्या १॥ लाख से कम नहीं होगी। जयपुर, बीकानेर, अजमेर, जैसलमेर, बूंदी जैसे नगरों में एक से अधिक ग्रंथ संग्रहालय हैं। अकेले जयपुर नगर में ऐसे २५ ग्रंथ भंडार हैं जिनमें सभी में हस्तलिखित पाण्डुलिपियों का अच्छा संग्रह है। इनमें संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, राजस्थानी भाषा के हजारों ग्रंथों की पाण्डुलिपियाँ सुरक्षित हैं। ताड़पत्र पर सबसे प्राचीन पाण्डुलिपि सन् १०६० की है जो जैसलमेर के वृहद ज्ञान भंडार में संग्रहीत है इसी तरह कागज पर संवत् १३२६-सन् १२७२ : पाण्डुलिपि जयपुर के श्री दिगम्बर जैन मन्दिर तेरहपथियों के शास्त्र भंडार के संग्रह में है। कागज वाली पाण्डुलिपि में देहली का नाम योगिनीपुर एवं तत्कालीन सम्राट का नाम गयामुद्दीन तुगलक के नाम का उल्लेख है। इन भंडारों में तेरहवीं, १४वीं शताब्दी से लेकर १९वीं शताब्दी तक लिखे गये ग्रंथों का विशाल संग्रह है जिनमें भारतीय विद्या एवं संस्कृति के अमूल्य तत्त्व छिपे पड़े हैं। यहाँ किसी एक विषय पर अथवा एक ही भाषा में ये पाण्डुलिपियाँ संग्रहीत नहीं हैं किन्तु धर्म, दर्शन, पुराण, कथा, काव्य एवं चरित के अतिरिक्त इतिहास, ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद संगीत जैसे लौकिक विषयों पर अच्छी से अच्छी कृतियों की पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध होती हैं। यहाँ मैं यह बतलाना चाहूँगा

❧ जोधपुर में आयोजित राजस्थान इतिहास कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन पर दिया गया एक भाषण

कि जैनाचार्यों एवं विद्वानों ने भाषा विशेष से कभी मोह नहीं रखा किन्तु जनता की माँग के अनुसार इन्होंने अपनी कृतियों का निर्माण एवं उनका संग्रह किया। इसीलिए आज इन भंडारों में प्राकृत एवं संस्कृत की कृतियों के अतिरिक्त अपभ्रंश हिन्दी एवं राजस्थानी कृतियाँ भी पर्याप्त संख्या में मिलती हैं। इसलिए ये प्राचीन साहित्य, इतिहास एवं संस्कृति के अध्ययन करने के लिये प्रामाणिक केन्द्र हैं।

लेकिन राजस्थान के इन जैन ग्रंथ संग्रहालयों की महत्ता की ओर विद्वानों का सर्वप्रथम ध्यान आकृष्ट करने का श्रेय पाश्चात्य विद्वान कर्नल जेम्स टाड को है जिन्होंने अपनी पुस्तक (Travels in Westero India) में जैसलमेर के जैन ग्रन्थ संग्रहालयों का बहुत ही सुन्दर एवं रोचक वर्णन किया। टाड के ४५ वर्ष पश्चात् डा० व्हलर एवं डा० जैकोबी जैसे विद्वानों ने जैसलमेर के ग्रंथ भंडारों का निरीक्षण किया और यहाँ की साहित्य समृद्धि की ओर विद्वानों को स्मरण कराया। इन तीन पाश्चात्य विद्वानों के महत्वपूर्ण एवं खोजपूर्ण लेखों के कारण भारतीय विद्वानों का भी उनकी ओर ध्यान आकृष्ट हुआ। सन् १९०४ में भारतीय विद्वानों में सर्वप्रथम श्रीधर भण्डारकर जैसलमेर गये और अपनी इस यात्रा का वर्णन सन् १९०६ की खोज रिपोर्ट में प्रकाशित कराया इसके पश्चात् कितने ही विद्वान यहाँ के भण्डारों को देखने के लिए जाते रहे जिनमें प० हीरालाल, हसराम, सी. डी. दलाल, मुनि पुन्यविजय जी एवं मुनि जिनविजय जी के नाम उल्लेखनीय हैं।

जैसलमेर के ग्रंथ भंडारों के अतिरिक्त राजस्थान के अन्य शास्त्र भंडारों की ओर विद्वानों का विशेष ध्यान होते हुए भी कुछ वर्ष पूर्व तक किसी भी भारतीय विद्वानों ने उन्हें व्यवस्थित रूप से नहीं देखा और साहित्य की अमूल्य निधियाँ उनमें ऐसे ही बन्द पड़ी रही। बीकानेर, जूरा सरदार शहर आदि कुछ नगरों में स्थित ग्रंथ भंडारों की सूचियाँ तो अवश्य बनायी गईं तथा श्री अग्ररचंद जी नाहटा जुगलकिशोर जी मुस्तार एवं पं. परमानंद जी शास्त्री ने अपने लेखों में किसी किसी भंडार पर प्रकाश भी डाला। लेकिन विद्वानों के समक्ष

उनके सम्बन्ध में जानकारी प्रस्तुत करने का कभी व्यवस्थित कार्य नहीं किया जा सका।

राजस्थान के इन भण्डारों को छानबीन के लिये प्रेरणा देने का सबसे अधिक श्रेय पं. चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ जयपुर को है। इस दिशा में श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी का साहित्य शोध विभाग की सेवाएँ उल्लेखनीय हैं इसका मुख्य उद्देश्य राजस्थान के जैन शास्त्र भंडारों की ग्रंथ सूचियाँ तैयार करने एवं उनमें अप्रकाशित साहित्य को प्रकाश में लाने का है। क्षेत्र के साहित्य शोध विभाग की ओर से इन भंडारों की ग्रंथ सूचियों के चार भाग छप चुके हैं जिनमें करीब २०,००० ग्रंथों की सूचियाँ हैं। मैंने अपना शोध प्रबन्ध भी 'जैन ग्रंथ भंडार इन राजस्थान' पर ही लिखा है। जिसमें राजस्थान के १०० ग्रंथ भंडारों पर ऐतिहासिक दृष्टि से प्रथम बार लिखने का अवसर मिला। मैंने अपने शोध निबन्ध में उनकी साहित्यिक समृद्धि एवं विशाल संग्रह के सम्बन्ध में व्यवस्थित रूप से प्रकाश डालने का प्रयास किया है।

राजस्थान के इन ग्रंथ भण्डारों में ताडपत्र की पाण्डुलिपियों की दृष्टि से जैसलमेर का वृहद ज्ञान भण्डार अत्यधिक महत्वपूर्ण है किन्तु कागज पत्र लिखित पाण्डुलिपियों की दृष्टि से नागौर, बीकानेर, जयपुर एवं अजमेर के शास्त्र भण्डार उल्लेखनीय हैं। अकेले नागौर के भट्टारकीय शास्त्र भण्डार में १२००० हस्तलिखित ग्रंथ एवं २००० गुटकों का संग्रह है। गुटकों में संग्रहीत ग्रंथों की संख्या की जावे तो वह भी १००० से कम नहीं होगी। इसी तरह जयपुर में २५ से भी अधिक ग्रंथ संग्रहालय हैं जिनमें ग्रामेर शास्त्र भण्डार, बड़ा दिगम्बर जैन मन्दिर तेरहपथियों का शास्त्र भंडार, पाटोदियों के मन्दिर का शास्त्र भंडार आदि का नाम उल्लेखनीय है। इन भंडारों में अपभ्रंश एवं हिन्दी ग्रंथों की पाण्डुलिपियों का अच्छा संग्रह है। इन शास्त्र भंडारों में जैन विद्वानों द्वारा लिखित ग्रंथों के अतिरिक्त जैनतर विद्वानों द्वारा निबद्ध ग्रंथों की भी प्राचीनतम एवं महत्वपूर्ण पाण्डुलिपियों का संग्रह मिलता है। इनमें महापण्डित मम्मट विरचित काव्य प्रकाश, राज-शेखर कृत काव्यमीमांसा, कुत्तककवि कृत वक्रोक्तिजीवित,

आचार्य धर्मकीर्ति कृत न्यायविन्दु, श्रीधर भट्टकृत न्याय-कदली आदि की पाण्डुलिपियों का अच्छा संग्रह है। नाटक साहित्य में विशाखदत्त का मुद्राराक्षस नाटक, भट्ट नारायण कृत वेशीसहार, मुरारी कृत अनघराघव नाटक एवं कृष्णमिश्र का प्रबोध चन्द्रोदय नाटक, मुबन्धु कृत वासव-दत्ता नाटक एवं अन्य सैकड़ों कृतियाँ भी इन भंडारों में सब मिलती हैं। हिन्दी राजस्थानी ग्रंथों की भी इन भंडारों में भारी संख्या में पाण्डुलिपियाँ मिलती हैं। अभी हाल में हिन्दी की एक प्राचीनतम कृति जिणदत्त चरित की एक पाण्डुलिपि उपलब्ध थी। इस काव्य का रचना काल संवत् १३५४ है। हिन्दी भाषा की सर्वोत्कृष्ट वाली कृति प्रथम बार प्राप्त हुई है। जो डा० माताप्रसाद जी गुप्त एवं मेरे द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हो चुकी है। इसी तरह १४वीं एवं १५वीं शताब्दियों में रचित ग्रंथ भी यहाँ कितनी ही संख्या में मिलते हैं। इन्हीं भंडारों में पृथ्वीराज रासो, कृष्णरुक्मिणी वेलि, मधुमानतो कथा सिंहासनवत्तीसी, रसिकप्रिया एवं विहारो सतसई की भी प्राचीनतम प्रतियाँ भी उपलब्ध हुई हैं।

अब मैं इतिहास की दृष्टि से इन शास्त्र भंडारों के महत्व पर प्रकाश डालना चाहूँगा। इन भंडारों में ऐतिहासिक कृतियों के अतिरिक्त जो अन्य पाण्डुलिपियाँ हैं उनमें जो प्रशस्तियाँ होती हैं वे इतिहास की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। ये प्रशस्ति ११वीं शताब्दी से लेकर १६वीं शताब्दी तक की हैं। वैसे प्रशस्तियाँ दो प्रकार की हैं एक स्वयं लेखक द्वारा लिखी हुई तथा दूसरी लिपिकारों द्वारा लिखी हुई होती हैं। ये दोनों ही प्रामाणिक होती हैं और जिनकी प्रामाणिकता में कभी शका नहीं की जा सकती। ऐसा मालूम पड़ता है कि इन ग्रंथकारों एवं लिपिकारों ने इतिहास के महत्त्व को बहुत पहिले ही समझ लिया था और इसीलिए ग्रंथ लिखवाने वाले शासकों का, उनकी गुरुपरम्परा तथा तत्कालीन सम्राट् अथवा शासक के नामोल्लेख के साथ-साथ उनके नगर का भी उल्लेख किया जाता था। राजस्थान के इन जैन भंडारों में संग्रहीत प्रतियों के मुख्य केन्द्र देहली, अजमेर, जैसलमेर, नागौर तक्षकगढ़ : टोडारामसिंह : चम्पावती : चाकसू : डूंगरपुर, सागवाड़ा, चित्तौड़, उदयपुर, आमेर, बूंदी, बीका-

नेर आदि हैं। इसलिए इनके शासकों एवं राजस्थान के नगरों एवं कस्बों के नाम खूब मिलते हैं जिनके आधार पर यहाँ के ग्राम और नगरों का इतिहास पर भी अच्छा प्रकाश डाला जा सकता है।

लेखक प्रशस्तियों के समान ही जो ग्रंथ प्रशस्तियाँ होती हैं वे और भी महत्त्वपूर्ण होती हैं उनमें लेखक, अथवा ग्रंथकार अपने इतिहास के साथ-साथ अपने ग्राम नगर का भी अच्छा वर्णन करता है। अपभ्रंश, हिन्दी, राजस्थानी ग्रंथों में इस तरह के वर्णन मिलते हैं। १७वीं शताब्दी में होने वाले एक कवि ने अपनी यशोधर चौपाई में बूंदी एवं उसके शासक का निम्न शब्दों में वर्णन किया है।

बूंदी इन्द्रपुरी जलपुरी कि कुबेरपुरी,
रिद्धि सिद्धि भरी द्वारिका सी घटी घर में।
धोलहर धाम घर घर में विचित्र वाम,
नर कामदेव जैसे सेवे सुखसर में।
वागी वाग वारुण बाजार वीथी विद्या वेर,
बिबुध विनोद बानी बोले सुखि नर में।
तहाँ करे राज राव भावस्थंघ महाराज,
हिन्दु धर्म लाज पातिसाहि बाज कर में।

इसी तरह १८वीं शताब्दी में होने वाले कवि दिलाराम ने अपने 'दिलाराम विलास' में बूंदी नगर का वर्णन किया है जो उक्त वर्णन के ही समान है। सन १७६८ में कवि श्रुतसागर ने भरतपुर नगर एवं उसके संस्थापक महाराजा सूरजमल का निम्न प्रकार वर्णन किया है।

वेस काठहड़ विरजि में, वदनस्थंघ राजान,
ताके पुत्र हैं भली, सूरजमल गुणधाम।
तेजपुंज रवि है मनो न्यायनीति गुणवान
ताको सुजस है जगत में नयो दूसरो भान
तिनहु जु नगर बसाइयो नाम भरतपुर तास
ता राजा समर्पिष्ट है पर विचार उपवास।

१७वीं शताब्दी में कविवर बनारसीदास हिन्दी के अच्छे कवि थे वे आध्यात्मिक कवि तो थे ही किन्तु वे पहिले कवि हैं जिन्होंने अपना स्वयं का आत्मचरित लिखा था और जिसका नाम अर्द्धकथानक है। कवि ने देहली पर तीन बादशाहों का शासन काल देखा था। बादशाह अकबर की मृत्यु के समाचार जब कवि को मिले तो

उन्होंने उसका इस प्रकार वर्णन किया है—

संवत् सोलहसे बासठा आयी कातिक पावस नठा ।

छत्रपति अकबर साहि जलाल नगर आगरे कीनो काल । २४६

आई खबर जोनपुर माँह प्रजा अनाथ आई विनु नाह ।

पुरजन लोग भए भयभीत हिरबं व्याकुलता मुख पीत । २४७

जयपुर नगर की १५वी, १६वी शताब्दी में रचित काव्यों में अच्छा वर्णन मिलता है। इनमें दो काव्य विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। एक बुद्धि विलास जिसमें जयपुर नगर की स्थापना का जो चित्र उपस्थित किया गया है वह अत्यधिक सुन्दर एवं प्रामाणिक है। बुद्धिविलास एक जैन विद्वान वस्तराम की कृति है जिसे उसने संवत् १८२७ में समाप्त किया था जिसका प्रकाशन कुछ वर्षों पूर्व राजस्थान पुरातत्त्व मन्दिर जोधपुर से हो चुका है। इसमें जयपुर नगर की स्थापना के अतिरिक्त वहाँ के राजवंश का भी अच्छा वर्णन किया गया है। इतिहास प्रेमी विद्वानों को इस ग्रंथ को अवश्य पढ़ना चाहिये।

इसी तरह जयपुर के ही एक शास्त्र भण्डार में संग्रहीत एक पट्टावाली में जयपुर राजवंश का विस्तृत वर्णन मिलता है। राजस्थान के शासकों के अतिरिक्त देहली के शासकों के सम्बन्ध में भी कितनी ही पट्टावलियाँ मिलती हैं जिनमें बादशाहों के राज्यकाल का घड़ी एवं पल तक का समय लिखा हुआ है। जयपुर के ही दिगम्बर जैन तेरहपथी मंदिर के शास्त्र भण्डार में एक संस्कृत की “राजवंश वर्णन” कृति है जिसमें पाण्डवों से लेकर बादशाह औरंगजेब तक होने वाले शासकों का पूरा समय लिखा हुआ है। हिन्दी में लिखित “पातिसाहि का व्यौरा” नामक कृति में पृथ्वीराज के सबंध में जो वर्णन किया गया है उसका भी एक अश निम्न प्रकार है।

तब राजा पृथ्वीराज संजोगता परणी । जहि राजा कैसा कुल सौला १६ सूरि का १०० हुआ । त्याके भरोसे

परणी त्याओ । लड़ाई सावता कही । पणी रावा जैचंद पंगलो पूज्यो नहीं । सजोगता सरूप हुई । तहि के बसी राजा हुआ । सौ म्हेला ही न रहे । महीना पंदरा वारा ने नीसरयो नहीं ।

इसी तरह इन शास्त्र भण्डारों में बीकानेर, जोधपुर, कोटा, अलवर करौली चेदिराजवंशी का जहाँ तहाँ अच्छा वर्णन मिलता है। और जिसके समुचित अध्ययन की आवश्यकता है। उदयपुर, डूंगरपुर, सागवाड़ा के ग्रंथ भंडारों में उदयपुर के शासकों का जो उल्लेख मिलता है उनसे कितनी ही इतिहास की विस्तृत कड़ियों को जोड़ा जा सकता है।

जैसलमेर के शास्त्र भंडार में जो सन् ११५६ में लिखित उपदेश पद प्रकरण की जो पाण्डुलिपि मिली है उसकी प्रशस्ति में अजमेर नगर एवं उसके शासक का निम्न प्रकार उल्लेख मिलता है।

संवत् १२१२ चैत्र सुदि १३ गुरी अछेह श्री अजय-मेरुदुर्ग समस्तराजावलि विराजित परम भट्टारक महा-राजाधिराज श्री विग्रहदेव विजयराजे उपदेश टीका लेखीति ।

राजस्थान के शासकों के अतिरिक्त यहाँ के नगरों का इतिहास, व्यापार का उतार चढ़ाव, विभिन्न जातियों की उत्पत्ति, यहाँ की सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन एवं विभिन्न मान्यताओं के संबंध में भी यहाँ प्रभूत साहित्य मिलता है। वास्तव में ये ज्ञान की विभिन्न धाराओं के भंडार हैं। ये भंडार ज्ञान के समुद्र हैं जिसके मन्यन से विभिन्न रत्न प्राप्त हो सकते हैं। इसलिए मुझे पूर्ण विश्वास है कि राजस्थान का इतिहास विशारद राजस्थान के इन ज्ञान भंडारों का उपयोग करेंगे और उनमें से राजस्थान के विस्तृत इतिहास के कण कण एकत्रित कर सकेंगे।

श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ वस्ती मंदिर तथा मूलनायक मूर्ति

श्री पं० नेमचन्द्र धन्नुसा जैन

(गतांक अक्टूबर १९६७ से आगे)

[यह पंच परमेष्ठी की प्रचीन प्रतिमा खंडित होने पर भी अखंड है। यह प्रतिमा एक ऐतिहासिक घटना को सूचित करने वाली है।]

इस प्राचीन मूर्ति का ऐतिहासिक महत्व:—

कहते हैं कि जब बादशाह औरंगजेब सवारी के लिए दक्षिण में आया था, तब उसका सरदार श्री देवाविदेव अंतरिक्षपार्श्वनाथ की कीर्ति सुन कर उसे नष्ट भ्रष्ट करने आया। इस गंध वार्ता को सुन कर यहां के कर्मचारियों ने उस मूर्ति का भोयरा बद कर ऊपर यह पंच-परमेष्ठी की प्राचीन प्रतिमा रख दी।

नियत समय पर सरदार वहां आया और उसने वह खंडित कर दी। बड़े संतोष से वह वापिस जा रहा था, तो फितुरो को इस बात का पता चला। उन्होंने सच बात सरदार को सुनाई। इससे यह सरदार द्वेष से बेभान बन कर फिर मंदिर में आया। उसको मालूम कर दिया गया था कि मूर्तिके ऊपर नाग का बड़ा व काला फणाकार है। इस लिये वह सोचने लगा कि मूर्तिके पहले मैं नाग को ही नष्ट कर दूंगा, बाद में मूर्तिको भ्रष्ट करूंगा नहीं तो...। वस इस द्विविध विचार से उसका भान चला गया। नगी तलवार हाथ में थी।

उसका वह रौद्र स्वरूप देख कर असली भोयरे का मार्ग खोला गया। वहां के अंधेरा के कारण मशालची पहले उतरा। बेभान रहने से या नागफणा को देखने से भोयरे में उतरते समय सरदार का चोला चला गया कोई कहते हैं किसी भुजंग ने उसी समय उस पर फुत्कार करने से सरदार घबराया, और वह गिरने वाला था कि वहां के मशालची ने उसे सम्हाला और ऊपर लाया। नहीं तो उसकी तलवार का वह ही शिकार बन जाता। उसकी धामधूम अवस्था घबड़ाया हुआ मुख देख कर साथी दारों

ने उसे पूछा, “क्यों क्या हुआ ?”

तब सरदार ने जवाब दिया, “नंगे से खुदा डरे।”

तात्पर्य यह मूर्ति नगी याने नग्न दिगंबर है यह सुस्पष्ट है। ऊपर की ऐतिहासिक घटना स्मृति देने वाली और मूल नायक मूर्ति को बचाने के लिये उसके आघात का स्वयं स्वीकार करने वाली दिगंबर जैन यह प्रतिमा भ्रष्ट प्रातिहार्य से युक्त है।

यहां यह बात ध्यान में लाने योग्य है कि, यह मंदिर अगर प्राग्भ से ही दिगंबरों का न होता तो, उस समय यह दिगंबरी मूर्ति वहां पर कैसे रखी जाती? इस मूर्ति की नग्नता और वीतरागता मूल नायक मूर्ति के याने श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ के मूर्ति के दिगंबर स्वरूप को ही सिद्ध करती है। आखे होने पर भी यह न देखने वालों के लिये और क्या लिखा जा सकता है। तथा यहां आने वाले यात्रियों से भीख मागने वाले भिखारी भी जोर-जोर से चिल्लाने हैं कि, “नंगे बाबा के नाम पर कुछ दान करो बाबा।” यह दोन गरीबों की पुकार भी जो सुन नहीं सकते, उनके लिये अधिक कहना कहां तक ठीक होगा?

तो आइये, इस दालान के पांचों वेदियों तथा समवसरणस्थिति सब दिगंबरी प्रतिमाओं का दर्शन पूजन कर, आगे बढ़िये। इस हालत के अंत में यह दिगंबर पेढी को ऊपर जाने का रास्ता है। तथा सामने यह प्राचीन भोयरे में उतरने के लिये व चौक में जाने के लिये स्वतंत्र मार्ग है। यह भोयरा तथा धर्मशाला नं० ३ गांव में के प्राचीन मंदिर का अवशेष भाग है। इसमें ही पहले श्री अंतरिक्षपार्श्वनाथ प्रभू की प्रसिद्ध मूर्ति विराजित थी।

दसवीं सदी में जहां मूर्ति स्थिर हो गयी थी, और मूर्ति पर ही जहां श्रावक लोगों ने जो मंदिर बंधवाया था वह यह ही स्थान है यह भोयरा जैसा आज दिखता है इससे

भी बड़ा व ऊँचा था ।

श्वेतांबर लोग इसी अपूर्ण भोयरों को संपूर्ण प्राचीन मंदिर बताते हैं और उसमें स्थित क्षेत्रपाल की एक वेदी पर श्री अंतरिक्षपार्श्व प्रभू पश्चिमाभिमुख विराजमान थे, ऐसा कहते हैं । यह उनका कथन झूठा और काल्पनिक है इसके तीन कारण हैं—

(१) श्रीपाल एक राजा मूर्ति को एलिचपूर ले जा रहा था, याने इस मूर्ति का मुख पूरब के तरफ ही होगा । (२) मूर्ति जगह से नहीं हटी यानी मूर्ति पर ही मन्दिर बाँधा गया । (३) तब मूर्ति के नीचे से अश्व सवार जाता था इतनी वह ऊँची थी । यानी जमीन से ऊपर का छत कम से कम (जमीन से मूर्ति की ऊँचाई ८' + मूर्ति की ऊँचाई ३॥' + मूर्ति से छत की ऊँचाई ३॥' = १६') १६ फिट ऊँचा होना ही चाहिए । आज इस भोयरे की ऊँचाई सिर्फ ७ फुट ही है । इतने बड़े और सातशय प्रतिमा के लिए आज है इतना ही छोटा (भोयरा) मन्दिर निर्माण करना उचित नहीं लगता ।

अतः यह स्थान अधिक ऊँचा तथा बड़ा ही होगा । इसके पश्चिम दिशा में अधिक जगह होगी । वहाँ त्रिलोकी नाथ के लिये निदान ८ फुट ऊँचाई पर पूर्वाभिमुख वेदी बनाई गयी होगी । अथवा प्रतिमा के दोनों बाजू ८ फुट ऊँचाई पर ऐसे स्थान बनाये होंगे जहाँ खड़े होकर भगवान का अभिषेक पूजन कर सके । वेदी की ऊँचाई ८ फुट बताने का कारण यह है कि १४वीं सदी से ऐसे साहित्य में उल्लेख मिलते हैं कि—‘मूर्ति उस समय सिर्फ एक अगुल ही अधर थी । इसका कारण कलियुग है ।’ तबसे यह मूर्ति आज तक एक अगुल ही अधर है । और ८ फुट ऊँची वेदी पर खड़ा होने के लिए छत निदान ७ फुट ऊँचा रखना पड़ता ही है ।

इसी कारण से आज है उतना ही पूरा मन्दिर पहले से होगा इस मत का समर्थन नहीं होता ।

तब यह नया मंदिर कब और कैसे हुआ ?—

पुराने मन्दिर से नया मन्दिर क्यों बना इसके प्रायः दो कारण जान पड़ते हैं—(१) मन्दिर पुराना यानी जीर्ण होना तथा (२) जब औरंगजेब का सरदार यहाँ आया था तब उसने जैसा पंच परमेष्ठी के मूर्ति को भ्रष्ट

किया वैसा मन्दिर के भी सुनहरी शिखर व कुछ भाग को नष्ट किया होगा^१ । इसी कारण इस नये मन्दिर का निर्माण हुआ । अब प्रश्न यह उठता है कि यह कार्य कब बना ?

ऊपर के विवेचन से इतना तो स्पष्ट हुआ कि इस नये मन्दिर का पुनर्गठन औरंगजेब की सवारी के बाद ही हुआ है । औरंगजेब की मृत्यु ई० सन् १७०७ में हुई । अतः इसके पहले इस मन्दिर का निर्माण नहीं हो सकता ।

श्वेताम्बर लोग वि. स. १७१५ यानी ई. सन् १६५८-५९ में इस मन्दिर का निर्माण और प्रतिष्ठा बताते हैं । ऊपर के विवेचन से यह काल निश्चित ही भ्रामक सिद्ध होता है । सच तो यह है कि उनके जिस साहित्य में इसका उल्लेख है वह साहित्य ही पूरा काल्पनिक है । और किसी आधुनिक अनभिज्ञ व्यक्ति ने बनाकर प्राचीन भाव-विजय के नाम पर प्रकाशित किया है ।

दूसरा कारण ऐसा है कि पवली मन्दिर के बाहरी खुदाई में शिलालेख-स्तम्भ प्राप्त हुआ है उससे यह स्पष्ट हुआ कि, विक्रम संवत् १८११ ई. स. १७५४-५५ में उस मन्दिर का जीर्णोद्धार हो गया था । इसके कुछ साल बाद फिर इस पर आक्रमण हुआ, जिसमें—यह शील स्तम्भ जहाँ लगा हुआ था वह सामने का सभामंडप यानी मन्दिर का दर्शनी भाग नष्ट किया गया । शायद इस समय में ही वस्ती मन्दिर पर भी कुछ आघात हुआ होगा । जिस कारण यह प्राचीन मन्दिर नष्ट किया गया उस पर चक्र का भव नष्ट होने में या राज्य में स्थिरता शांति आने में ४०-५० साल और भी निकल सकते हैं । क्योंकि ऐसे समय पर तो लोगो द्वारा मूर्ति कूप में डालने का या जमीन में रख देनेके अनेक उल्लेख मिलते हैं । खुद यहाँ के पवली मन्दिर में ई. सन् १७५५ की प्रतिष्ठित मूर्ति हाल ही में जमीन की खुदाई में प्राप्त हुई है । अतः ऐसे स्थान पर निदान ई० सन् १७५५ के पहले इस नये मन्दिर का निर्माण कदापि शक्य नहीं है ।

१. ई० सन् १९६४ में जब मन्दिर के चौक के नीचे का भाग अन्दर से खोदकर देखा गया तब वह जगह पोकल जान पड़ी तथा इस जगह दिगम्बर जैन प्रतिमा के खंडित अवशेष प्राप्त हुए थे ।

अतः ई. स. १८०० के बाद ही इस नये मन्दिर का निर्माण शक्य है। अकोला जिले के ईनाम साटिफिकेट बुक में इस नये मन्दिर की बाबत जो उल्लेख है उसकी जानकारी इस लेख में प्रारम्भ में ही दी गई है। उसके आधार से इतना तो निश्चित है कि इस नये मन्दिर का निर्माण ई. सन् १८२५ के पहले ही हुआ है तब इसमें मूल-नाथक मूर्ति का स्थानांतर किया गया था। ई. स. १८६८ में शिरपुर में जो वृद्ध लोग थे उनको इतना स्पष्ट स्मरण था कि, मूर्ति का जूने मन्दिर से नये मन्दिर में स्थानांतर उनके ही आखों के सामने हुआ था तथा जो पुराना मन्दिर खाली था उसका भी जीर्णोद्धार (ई. स. १८६८ से) कम से कम ४० साल पहले हुआ था। निश्चित तथा तिथि, प्रतिष्ठाकार या प्रतिष्ठापक इनका स्मरण न रहना स्पष्ट करता है कि ४० साल से भी ज्यादा यानी उनके वचन के समय की वह घटना होगी। इससे यह सिद्ध होता है कि ई. स. १८०० के दरम्यान ही इस नये मन्दिर का निर्माण हुआ है।

इस समय मन्दिर के संरक्षण के लिये कुछ मराठा लोगो को (जिनको आज पीलकर कहते हैं) मन्दिर के आवास में ही रहने के लिए जगह दी तथा उनका भी यह श्रद्धास्थान बने इस लिए मन्दिर के बाहर पश्चिम के कोने में शिवपिंड स्थापन कर दी गई। मतलब यह था कि मन्दिर का संरक्षण यानी शिवपिंड का संरक्षण ऐसा ये लोग मानेंगे।

इसके साथ मन्दिर के पश्चिम में बड़ी धर्मशाला भी निर्माण की गई। इस कार्य में भट्टारक पद्मनंदी का (ई. स. १८२०) बहुत योगदान था। इनको पीलकर लोग मालिक मानते थे। इनका गुरु पीठ भी इस मन्दिर में है। इस नये मन्दिर व धर्मशाला के निर्माण में कारंजा के सेनगण परम्परा के भट्टारकों ने भी तन-मन-धन से पूरा सहयोग दिया। भट्टारक जिनसेन ने (ई. स. १८५५ से १७५४) अपने जीवन के अंतिम ४०-५० साल यहाँ रह कर यानी औरंगजेब की सवारी के बाद यहाँ रहकर ध्वराये श्रावकों को दिलासा दिया था। उनकी, उनके शिष्य की भी समाधि यहाँ हुई है। इन सेनगण भट्टारकों के स्मृति हेतु इस नये मन्दिर के ऊपर के (दर्शनी) मजिल

में सेनगण की वेदी और गुरुपीठ भी निर्माण कराया है। इसमें लक्ष्मीसेन भट्टारक बहुत सक्रिय थे।

इस कार्य के समाप्त होते ही मन्दिर के दक्षिण बाजू में धर्मशाला बंधाने का कार्य श्री पद्मनंदी के शिष्य देवेद्रकीर्ति ने किया। यह समय ई. स. १८४०-४५ होगा। इस धर्मशाला में चार कमरे बनाये गये थे, उसमें से २ में बरतन तथा पूजा की भांडी आदि साहित्य रहता था। और दो में श्री पद्मावती माता के तथा इंद्रों के आभूषण आदि रहते थे। इनको भंडार के कमरे भी कहते थे। इन भण्डार की जाच ई. स. १८५७-५८ में भट्टारक लक्ष्मीसेन ने स्वयं की थी। उनके निजी बही खाते में उन सब चीजों की याद मौजूद है।

इसके बाद मन्दिर का कपाउड वॉल तथा गेट (महा-द्वार) बनाने का कार्य चालू हुआ जो ई. स. १८६८ में चल रहा था। वह पूर्ण होते ही फिर दक्षिण की धर्म-शाला न० २ की गच्ची पर तथा मन्दिर के गर्भागार में चुने का गिलावा डलवाकर ई. स. १८८० में भट्टारक देवेद्रकीर्ति जी ने ही मरम्मत करवाई थी।

इस नए मंदिर की रचना और शिल्प—कारंजा के बालात्कारगण जैन मन्दिर की रचना और इस मन्दिर की रचना में बहुत साम्य है। छोटा प्रवेश द्वार, भगवान से कम ऊँचाई पर अलग जगह क्षेत्रपालों की रचना आदि बातें एक ही वैशिष्ट्य या एक ही शिल्पकार की देन मान्य पड़ती है। यहाँ के और वहाँ के शिल्प में भी खड़ी तथा बैठी नग्न प्रतिमाएँ उत्कीर्ण या अंकित की गई हैं। कारंजा के इस मन्दिर के भट्टारक और पंच ही इस मन्दिर के मालिक या पंच रहे हैं।

स्मरण रहे कि जैसा इस मन्दिर में दिगम्बर जैन भट्टारकों के गुरुपीठ है और प्राचीन दि० मूर्ति तथा फोटो है उसी तरह यहाँ एक भी श्वेतावरी गुरुपीठ नहीं है या श्वेताम्बरी कोई स्वतंत्र वेदी नहीं है।

इस प्रकार यह मन्दिर की भूमि और इस गांव की जनता चाहे वह जैन हो या अर्जन, बाल हो या वृद्ध—कहती है कि यह तीर्थ सम्पूर्णतया दि० जैनों का ही है।

फिर भी इस मन्दिर की बाबत या यहाँ के ऐतिहासिक धार्मिक जानकारी के लिए यहाँ प्रतिष्ठित और स्थापित

दिगम्बर जैन मूर्ति-यंत्र आदि लेखसंग्रह देखिए। वह अनेकान्त के पिछले अंकों में प्रकाशित हैं।

मूलनायक मूर्ति बाबत लोकमत—देवाधिदेव १००८ श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ प्रभु की मूर्ति श्रीपाल एल (ईल) राजा को कहां से प्राप्त हुई इस बाबत दिगम्बर जैन साहित्य में पबली मन्दिर के नजदीक का कुवां ही बताया जाता है। तो भी श्वेताम्बर व अन्य साहित्य में इस बाबत भिन्न-भिन्न दो मत नजर आते हैं :—

(१) पहला मत—१४वीं सदी के श्वेताम्बर मुनि जिनप्रभसूरि अंतरिक्ष पार्श्वनाथ कल्प में लिखते हैं कि 'राजा को यह रत्नमयी प्रतिमा जहां प्राप्त हुई वहां ही उसने मन्दिर बनवा कर अपने नाम का उल्लेख करने वाला नगर बसाया'। यानी मूर्ति प्राप्त होने का और राजा के मन्दिर बनवाने का एक ही स्थान है।

(२) दूसरा मत यह है कि—मूलनायक मूर्ति एल राजा को एलोरा के एक झरे में मिली, जहां उसका कुष्ठ रोग गया। वहां राजा ने कुछ बनवाया और यह प्रतिमा एलिचपुर से जाने को उद्यत हुई। लेकिन शिरपुर के स्थान पर राजा ने शक्ति भाव से पीछे देखा तो, प्रतिमा वहां ही रुक गई। देखो—(१) श्वेताम्बर मुनि जिनचंद्र सूरि (वि. स. १८३६ ता० ३१ मार्च १७९९) सिद्धपुर पट्टण में जब थे तब उन्होंने एक काव्य रचा था। उसमें वे बताते हैं, "अंतरिक्ष प्रभु मेरे हृदय में वास करते हैं। ये त्रिलोकीनाथ हैं। यह मूर्ति खरदूषण राजा की पूजा के लिए बनायी गई थी। बाद में यह मूर्ति जल में ११ लाख साल रहकर प्रगट हुई।

जब एलिचपुर के एक राजा को कुष्ठ रोग हुआ था तब जहाँ यह मूर्ति थी वहाँ के जल से स्नान करने से राजा का रोग दूर हो गया था। राजा का शरीर सुवर्ण समान कातिमान हुआ था। वह स्थान एलोरा है। राजा यह मूर्ति एलोरा से आकाश में से एलिचपुर ले जा रहा था। लेकिन मूर्ति रास्ते में शिरपुर की जगह रुक गई। यह भगवान पार्श्वनाथ सबके लिए आकर्षण है।" आदि।

(२) मि. फर्ग्युसन साहेब; 'दि हिस्ट्री ऑफ इण्डियन

१. रत्ना पडिमा अदृष्टूण अधिर्द्धि गते तत्थेव सिरीपुरं नाम नयरं निअनामो वलक्खिअं निवेशिअं।

अँड इस्टर्न आर्चिटेक्टर।' इस किताब में एलोरा के जैन लेणी के बारे में लिखते हैं—'यहाँ के चैत्यालय और अन्य भी एलिचपुर के राजा एडु (एल) ने निर्माण की है। उसने एलोरा यह गाँव देणगी खातिर निर्माण किया था। क्योंकि यहाँ के एक झरे के जल से उसका रोग दूर हो गया था।

(३) श्री यादव माधव काले, 'कहाडचा इतिहास' इस मराठी किताब में लिखते हैं—पृ० ४६० पर 'शिरपुर—यहाँ जैनो के दो प्रसिद्ध प्राचीन मन्दिर हैं। मुक्तागिरि जैसे ये भी जैनो के गतवैभव की साक्षी देते हैं। इस जगह अंतरिक्ष पार्श्वनाथ की मूर्ति इस तरह बिटाई है कि आकाश में ही है, जमीन का स्पर्श भी नहीं ऐसा मानने में आता है। इसलिए अंतरिक्ष कहते हैं। यह प्रतिमा राजा एल ने एलोरा से लाई और वह इसको एलिचपुर ले जा रहा था। मगर भगवान की आज्ञा के खिलाफ राजा ने पीछे देखा, इसलिए रास्ते में शिरपुर की जगह वह रुक गई। राजा ने वहां ही मन्दिर बनवाया।

वही किताब पृ० ४६४ पर लिखा है—'अंतरिक्ष पार्श्वनाथ शिरपुर का मन्दिर जैनो के गत वैभव की साक्षी देते हैं। राजा एल ने यह प्रतिमा एलोरा से लायी थी और वह इसको एलिचपुर ले जा रहा था। आदि।"

इस तरह अनेक उल्लेख दिये जा सकते हैं। मुक्तागिरि यह स्थान दिगम्बर जैन संस्कृति का और इतिहास का जैसा स्थान है वैसा ही एलोरा यह दिगम्बर जैन संस्कृति का केन्द्र स्थान है। खुद श्वेताम्बर मुनि जयसिंह सूरि (शके ९१५) लिखते हैं—'एलउर में (एलोरा में) दिगम्बर बसही है'।

जिस ईल (एल) राजा ने अनंत द्रव्य खर्चा कर एलोरा में दिगंबर जैन संस्कृति सम्पन्न मन्दिर निर्माण किया, उसी श्रीपाल एल राजा द्वारा यहाँ स्थापना की हुई यह प्रतिमा दिगंबर ही है, यहाँ और कहने की आवश्यकता नहीं।

सन् १९०८ में श्वेताम्बरी लोगो ने इस मूर्ति को लेप

१. इस मूर्ति के कारण एलोरा से एल राज्य का सम्बन्ध नहीं तो, वहाँ मूल लेण्या (गुफा) निर्माण करने से वहाँ का नाम एल उर पड़ा है।

करने की दिगंबरों से सम्मति ली, और लेप करते समय कारीगरों के हाथ से लेप में कटिसूत्र तथा लंगोट के चिह्न बनाने की कोशिश की। यह नजर में आते ही दिगंबरियों ने काम बन्द कराया। तो भी उन्होंने चोरी से लेप का काम कर लिया। ४।१६१० के केस में उन्होंने मूर्ति का मूल स्वरूप कोर्ट के सामने नहीं आने दिया। लेप में बताये चिह्न के अनुसार कोर्ट को 'कटिसूत्र तथा लंगोट' की मान्यता देनी पड़ी। लेकिन हाल ही १६५६ में जब उन्होंने मूर्ति पर का लेप उतार दिया था और इस स्वयंभू प्रतिष्ठित मूर्ति पर टांकी के धाव देकर कटिसूत्र निकालना प्रारम्भ किया। यह कृष्ण कृत्य प्रगट होने में देर नहीं लगी। स्थानीय अधिकारी तथा पुरातत्त्व विभाग को इसकी सूचना तुरन्त दी गयी। उस समय के पचनामा तथा स्पॉट इन्स्पेक्शन से स्पष्ट घोषित हुआ कि मूर्ति मजबूत पाषाण की है तथा मूर्ति पर कटिसूत्र या लंगोट के कोई चिह्न नहीं है। यानी मूर्ति मूलतः दिगंबरी है।

यह मूर्ति ऊपर के साहित्य में बताये मुताबिक मान भी लिया जाय कि, एलोरा से लाई है तो भी रास्ते में जो देवगिरि स्थान आता है, उस समय वहाँ होने वाले १०८

श्री मलघारी पद्मप्रभ देव को इस मूर्ति की प्रतिष्ठा में एलिचपुर पधारने का आमंत्रण दिया होगा। एलिचपुर की जगह इस प्रतिमा की प्रतिष्ठा शिरपुर में ही हो गई। राजा के मन्दिर में मूर्ति ने प्रवेश न करने से बाद में गुरु को बुलाया गया, यह बात बराबर नहीं लगती। स्वाभाविक तो यह है कि ऐसे मंगल प्रसंग में चतुःसंघ को पहले से ही निमंत्रित किया जाता है। इसी कारण मूर्ति यहाँ ही निकलकर दो फलींग के अन्तर पर रुकने में एलोरा से आकर यहाँ रुकने में तथा उसकी प्रतिष्ठा में चतुःसंघ उपस्थित रहने में बाधा नहीं आती। अतः यह पद्मप्रभदेवाचार्य यहाँ तब उपस्थित थे और उनके तत्त्वाधान में गाँव में ही मन्दिर बनवा कर प्रतिष्ठित महोत्सव हुआ था।

आइये, जाते समय बाहर से इस मन्दिर को और एक दफे देख लें। मन्दिर के ऊपर हवा में लहराने वाला भडा सदेश दे रहा है :—

“झंडा यह केशरिया करे पुकार,

दिगंबर जैन धर्म का जय जयकार।”

—:०:—

भारतीय वास्तुशास्त्र में जैन प्रतिमा संबंधी ज्ञातव्य

अगरचन्द नाहुटा

जैनधर्म में स्तूप, अयागपट्ट, मूर्तियों, मन्दिरों के निर्माण की प्राचीन एवं उल्लेखनीय परम्परा रही है जैन मन्दिरों एवं मूर्तियों के सम्बन्ध में मध्यकालीन वास्तुशास्त्र सम्बन्धी अनेकों ग्रन्थों में ज्ञातव्य विवरण मिलता है यद्यपि उपलब्ध जैन मूर्तियों की विविधता का समावेश इन विवरणों में पूर्ण रूप से नहीं हो पाता। शिल्पियों ने अपनी परम्परागत जानकारी को लिपिबद्ध नहीं करके बस परम्परागत रखा। वैसे सभी शिल्पी शिक्षित भी नहीं होते। अपनी वंश परम्परा से अपनी आजीविकागत

विषयों की जानकारी तो उनके पास होती है पर वे न तो स्वयं किसी ग्रन्थ को पढ़ते हैं और न अपनी जानकारी लिपिबद्ध ही करते हैं। थोड़े से शिल्पी ऐसे जरूर हुये हैं जिन्होंने वास्तुशास्त्र संबंधी ग्रन्थ बताये हैं।

जैनधर्म में मूर्ति पूजा जितनी प्राचीन है इस संबंधी ग्रन्थ उतने प्राचीन नहीं मिलते। प्राचीन जैन ग्रामों के अनुसार तो जैन मूर्तियों की पूजा अनादिकाल से देवलोकादि में परम्परागत चली आ रही है। नंदीश्वर द्वीपादि के मन्दिर व जैन मूर्तियों को भी शाश्वत माना गया है।

उपलब्ध जैन मूर्ति तो मौर्यकाल से पहले की नहीं मिलती यद्यपि मोहनजोदड़ो, हड़प्पा की खुदाई में जैन तीर्थकरों जैसी ध्यानावस्थित मूर्तियां प्राप्त हुई हैं। पर वे जैन तीर्थकरों की ही हैं, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, सम्भावना अवश्य है। मथुरा का जैन स्तूप तो बहुत ही प्राचीन है। विविध तीर्थ कल्प आदि ग्रन्थों के अनुसार वह सातवें तीर्थकर श्री सुपाश्वनाथ का स्तूप है जिन्हें जैन मान्यता के अनुसार तो करोड़ों वर्ष हो गये। पाश्चात्य विद्वानों ने उस देवनिर्मित स्तूप के सबध में यह अनुमान किया है कि जिस समय इसके सबध में उसके देवनिर्मित होने की बात कही गई उस समय वह इतना पुराना अवश्य था कि लोग उसके निर्माता के संबंध में कुछ भी जानकारी नहीं रखते थे ! अर्थात् काफी पुराने समय में वह बना था।

भारतीय वास्तुशास्त्र के संबंध में इतने अधिक ग्रन्थ लिखे गये कि उनकी विवरणात्मक सूची प्रकाशित की जाय तो भी एक बहुत बड़ा ग्रन्थ बन जायगा। कई वर्ष पूर्व नागरी प्रचारिणी पत्रिका में मैंने एक वास्तुशास्त्र सबध ग्रन्थों की सूची प्रकाशित की थी। उसमें शताधिक ग्रन्थ थे पर उसके बाद पूना से प्रकाशित शिल्प ससार नामक पत्रिका में शिल्प संबंधी ग्रन्थों की सूची देखने को मिली जिसमें ७५० के करीब ग्रन्थों के नाम थे। वास्तुशास्त्र संबंधी ग्रन्थों में कई बहुत छोटे से हैं और कई बहुत बड़े। कईयों में मूर्ति निर्माण या लक्षण संबंधी ही संक्षिप्त विवरण है तो कईयों में मन्दिर आदि संबंधी विस्तृत प्रकाश डाला गया है। अभी तक वास्तु शिल्प संबंधी बहुत थोड़े से ग्रन्थ प्रकाशित हुये हैं। प्राचीन ग्रन्थों के साथ साथ कई ऐसे ग्रन्थ भी निकले हैं जो अनेक ग्रन्थों के आधार से तैयार किये गये हैं। हिन्दी भाषा में लिखे गये इस विषय के ग्रन्थों में डा० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल का भारतीय वास्तुशास्त्र नामक ग्रन्थ बहुत ही महत्वपूर्ण है। यह ग्रन्थ पांच भागों में प्रकाशित करने की योजना डा० शुक्ल ने बनाई यथा—

(१) वास्तु विद्या एवं पुरनिवेश (२) भवन वास्तु (३) प्रासाद (४) प्रतिमा विज्ञान (५) चित्रकला, यंत्र कला और वास्तुकोष। इसमें से प्रथम और चतुर्थ भाग

प्रकाशित हो चुके हैं। द्वितीय और पंचम को सन् १९५६ में प्रकाशार्थ लिखा गया अतः सम्भव है अब प्रकाशित हो गये हों। तदनंतर तृतीय भाग के प्रकाशन की योजना थी पता नहीं उसकी क्या स्थिति अंग्रेजी में Hindu Science of Architecture के नाम ग्रन्थ तैयार होने और शीघ्र प्रकाशित होने की सूचना सन् १९५६ में चतुर्थ भाग में दी गई थी। अर्थात् डा० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल की वर्षों की साधना तथा विशाल और गम्भीर अध्ययन इस भारतीय वास्तुशास्त्र नामक ग्रन्थ से भलीभांति स्पष्ट हो जाता है डा० शुक्ल लखनऊ विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में हैं एम. ए. पी.एच. डी. के साथ साहित्यरत्न और काव्यतीर्थ जैसी उच्चतम उपाधियां उन्हें प्राप्त हैं।

भारतीय वास्तुशास्त्र के चतुर्थ भाग का नाम है प्रतिमा विज्ञान। इसमें ब्राह्मण बौद्ध और जैन प्रतिमा के लक्षण आदि की महत्वपूर्ण चर्चा है। प्रारम्भ में पूजा परम्परा पर प्रकाश डालते हुये ग्रन्थ के पृष्ठ १३८ से १४० के बीच में जैनधर्म—जिन पूजा सबधों विवरण दिया है फिर स्थापत्यात्मक-मन्दिर नामक प्रकरण में जैन मन्दिर के संबंध में संक्षेप में लिखा गया है जिसमें आबू, पालिताना, गिरनार, मैसूर, मथुरा, एलोरा, खजुराहो, देवगड, का उल्लेख किया गया है। इस ग्रन्थ में लिखा है कि “गुहा मंदिरों का निर्माण परम्परा इस देश में इतनी वृद्धिगत हुई कि समस्त देश में १२०० गुहा मंदिर बने जिनमें ६०० बौद्ध, २०० जैन और १०० हिन्दू हैं।”

ग्रन्थ के उत्तर पीठिका नामक भाग में जैन प्रतिमा लक्षण पृष्ठ ३१३ से ३१८ में दिया गया है। परिशिष्ट में अपराजित पृच्छा से उद्धृत जैन प्रतिमा लक्षण सम्बन्धी संस्कृत श्लोक पृ० ३३३ से ३३६ में दिये गये हैं जिनकी संख्या ५५ है।

ब्राह्मण और बौद्ध की पूजा, परम्परा और प्रतिमा लक्षण के सबध में जितना अधिक प्रकाश डाला गया है उसे देखते हुये जैन सबधों विवरण बहुत संक्षिप्त मालूम होता है। पर इसका एक मुख्य कारण तो यही है कि इस संबंध में सामग्री भी बहुत कम मिलती है और वह इतनी सुलभ भी नहीं है

‘अनेकान्त’ के अग्रस्त अंक में रायपुर म्युजियम के

ब्यूरेटर श्री बालचन्द जैन का एक लेख 'जैन प्रतिमा लक्षण' नामक बहुत ही महत्वपूर्ण प्रकाशित हुआ है। उसके बाद महाराणा कुभा के शिल्पी मंडल रचित रूप मंडन ग्रन्थ में इस सबंधी जो ज्ञातव्य विवरण था वह मैंने 'अनेकान्त' में प्रकाशनार्थ भेज दिया और अब उमी मिलसिले में डा० द्विजेन्द्रनाथ शर्मा के 'प्रतिमा विज्ञान' ग्रन्थ में जैन सबंधी जो विवरण है उसे प्रकाशित किया जा रहा है।

जैन वास्तुशास्त्र सबंधी ग्रन्थ में ठक्कुर फेरू का प्राकृत भाषा का वास्तुशास्त्र ग्रन्थ विशेष रूप से उल्लेखनीय है जो गुजराती और हिन्दी अनुवाद और विवेचन के साथ प. भगवानदास जैन, जयपुर ने प्रकाशित किया है उन्होंने हाल ही में मथल रचित 'प्रासादमंडन' का सानुवाद और सयन्त्र विशेष सम्करण प्रकाशित किया है दूसरे महत्वपूर्ण वास्तुशास्त्र सबंधी ग्रन्थ मुनि कल्याण विजयजी रचित 'कल्याण कनिका' दो भागों में जालौर में प्रकाशित हो चुका है। जैन शिल्प के मुनि कल्याण विजयजी एवं भगवानदाम जैन विशेष अभ्यासी व जानकार हैं कतिपय अन्य जैनचार्य, मुनि और पंडित भी इस विषय की अच्छी जानकारी रखते हैं पर अभी तक उनका कोई ग्रन्थ प्रकाशित हुआ देखने में नहीं आया।

डा० द्विजेन्द्रनाथशर्मा के प्रतिमा विज्ञान ग्रन्थ से जैन सबंधी विवरण नीचे दिया जा रहा है।

जैन-धर्म—जिन-पूजा

जैन-धर्म को बौद्ध-धर्म का समकालिक अथवा उससे कुछ ही प्रचीनतर मनना सगत नहीं नवीन गवेषणाओं एवं अनुसन्धान से (दे० ज्योति-प्रसाद जैन Jainism the oldest Living Religion) जैन-धर्म कालक्रम से बहुत प्राचीन है। भले ही श्रियुक्त ज्योति प्रसाद जी के जैन धर्म के प्रचीनता-विषयक अनेक आकृत न भी मान्य हो तब भी वह निर्विवाद है कि जैनों के २४ तीर्थङ्करों में केवल महावीर ही ऐतिहासिक महापुरुष नहीं थे उनके पहले के भी कतिपय तीर्थङ्कर ऐतिहासिक हैं जो ख्रीष्टपूर्व एक हजार वर्ष से भी प्राचीनतर हैं पार्श्वनाथ (डे० पू० ६वीं शताब्दी) के पूर्व के तीर्थङ्करों में भगवान् नेमिनाथ एक ऐतिहासिक महापुरुष थे म. भा. अनु. पर्व

य १४८ इलो० ५०,८०-में नेमिनाथ को जिनेश्वर कहा गया है ज्योतिप्रसाद जी ने नेमिनाथ के सम्बन्ध में एक बड़ा ही अद्भुत संकेत ऋग्वेद से भी निकाला है :—

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्वदेवाः।

स्वस्ति नस्तारुण्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्बन्धुः॥

ऋ० १-१-१६, यजु० २५०१६, सा० ३०८।

अस्तु, जैन-धर्म की प्राचीनता के प्रबल अथवा निर्बल प्रमाणों की अवतारणा यहाँ अभिप्रेत नहीं है इस विषय की विशद समीक्षा उपर्युक्त प्रबन्ध में द्रष्टव्य है हा इतना हमारा भी आकृत है कि इस धर्म का नाम 'जैन-धर्म' वर्धमान महावीर से भी पहले प्रचलित था यह सन्दिग्ध है इस धर्म की प्राचीनतम सजा सम्भवतः 'श्रामण धर्म' थी जो कर्मकाण्डमय ब्राह्मण धर्म का विरोधी था इस श्रामण धर्म के प्रचारक 'अर्हत' थे जो सर्वज्ञ रागद्वेष के विजयी, त्रैलोक्य-विजयी सिद्ध पुरुष थे अतएव इसकी दूसरी सजा 'अर्हत-धर्म' भी थी, दीर्घनिकाय में जैन-धर्म के अन्तिम तीर्थङ्कर वर्धमान महावीर का उल्लेख तत्कालीन विख्यात-नामा ६ तीर्थङ्करों के साथ निगण्ठनातपुत्र के नाम से किया गया है निगण्ठ अर्थात् 'निग्रन्थ' यह उपाधि महावीर को उनकी भव-बन्धन की ग्रथियों के खुल जान के कारण दी गई थी रागद्वेष-रूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लेने के कारण वर्धमान 'जिन' के नाम भी विख्यात हुए, अतएव वर्धमान महावीर के द्वारा प्रचारित यह धर्म जैन-धर्म कह लाया।

जैन-धर्म में ईश्वर की कोई आस्था नहीं धर्म प्रचारक तीर्थङ्कर ही उनके आराध्य हैं 'तीर्थङ्कर' का अर्थ 'मार्गस्त्र-पटा' तथा संघ व्यापक भी है।

महावीर के पहले पार्श्वनाथ जी ने इस धर्म का विपुल प्रचार किया उनके मूल सिद्धांत थे अहिंसा, सत्य, अस्तेय तथा अपरिग्रह जो ब्राह्मण-योगियों (दे० योग-सूत्र) की ही सनातन दिव्य दृष्टि थी। पार्श्वनाथ ने इसका चार महाव्रतों के नाम से पुकारा है। महावीर ने इन चारों में पांचवा महाव्रत ब्रह्मचर्य जोड़ा है पार्श्वनाथ जी वस्त्र धारण के पक्षपाती थे परन्तु महावीर ने अपरिग्रह-व्रत की पूर्णता सम्पादनार्थ वस्त्र परिधान को भी त्याज्य समझा १-२. श्वेताम्बरी मान्यता है।

इस प्रकार जैनियों के श्वेताम्बर तथा दिगम्बर सम्प्रदायों का भेद अत्यन्त प्राचीनकाल से चला आ रहा है।

जैनियों का भी बड़ा ही पृथुल धार्मिक साहित्य है बौद्धों ने पानी और जैनियों ने प्राकृत अपनाई। महावीर ने भी तत्कालीन-लोक भाषा अर्घमागधी या आर्ष-प्राकृत में अपना उपदेश दिया था। महावीर के प्रधान गणधर (शिष्य) गौतम इन्द्रभूति ने उनके उपदेशों को १२ 'अंग' तथा १४ 'पूर्व' के रूप में निबद्ध किया इनको जैनी लोग 'आगम' के नाम से पुकारते हैं। श्वेताम्बरों का सम्पूर्ण जैनागम ६ भागों में विभाजित है। अंग, उपाग, प्रकीर्णक, छेदसूत्र, सूत्र तथा मूलसूत्र-जिसके पृथक्-पृथक् अनेक ग्रन्थ हैं। दिगम्बरों के आगम षट्खण्डागम एवं कसाय-पाहुड विशेष उल्लेख्य हैं। जैनियों के पुराण हैं जिनमें २४ तीर्थंकर १२ चक्रवर्ती, ६ बलदेव, ६ वासुदेव, ६ प्रतिवासुदेव के वर्णन हैं। इन सब की संख्या ६३ है जो 'शलाका-पुरुष' के नाम से उल्लेखित किये गये हैं।

जैन-धर्म की भी अपनी दर्शन-ज्योति है परन्तु इस धर्म की मौलिक भित्ति आचार है। आचार-प्रधान इस धर्म में परम्परागत उन सभी आचारों (आचार-प्रथमो धर्मः) का अनुगमन है जिससे जीवन सरल, सच्चा और साधु बन सके।

जैन-धर्म धर्मियो एवं श्रावको दोनों के लिए सामान्य एवं विशिष्ट आदेश देता है। अतएव भाव-पूजा एवं उपचार-पूजा दोनों का ही इस धर्म में स्थान है। प्रतीक-पूजा मानव-सभ्यता का एक अभिन्न अंग होने के कारण सभी धर्मों एवं संस्कृतियों ने अपनाया, अतः जैनियों में भी यह परम्परा प्रचलित थी।

उपचारात्मक पूजा-प्रणाली के लिए मन्दिर-निर्माण एवं प्रतिमा-प्रतिष्ठा अनिवार्य है। अतएव जैनियों ने भी श्रावको के लिए दैनिक मन्दिराभिगमन एवं देव-दर्शन अनिवार्य बताया। समस्त धार्मिक कृत्यों एवं उपासनाओं के लिए मन्दिर ही जैनियों के केन्द्र है। देव-पूजा के उपचारों में जल-पूजा, चन्दन-पूजा, अक्षत-पूजा, आरातिक और सामायिक (पाठ) आदि विशेष विहित हैं। प्रतीक-पूजा का सर्वप्रबल निदर्शन जैनियों की सिद्ध-चक्र-पूजा है जो तीर्थंकरों की प्रतिमाओं के साथ-साथ मन्दिर में

महत्त्वपूर्ण स्थान का अधिकारी है। श्वेताम्बरों और दिगम्बरों की पूजा-प्रणाली में भेद है—श्वेताम्बर पुष्पादि द्रव्यों का प्रयोग करते हैं, दिगम्बर उनके स्थान पर अक्षत आदि ही चढ़ाते हैं। दूसरे दिगम्बर प्रचुर जल का (मूर्तियों के स्नान में) प्रयोग करते हैं; परन्तु श्वेताम्बर बहुत थोड़े जल से काम निकालते हैं। तीसरे दिगम्बर रात्रि में मूर्ति-पूजा कर सकते हैं परन्तु श्वेताम्बर तो अपने मन्दिरों में दीपक भी नहीं जलाते—सम्भवतः हिंसा न हो जाये।

जिस प्रकार ब्राह्मणों के शाक-धर्म में शक्ति-पूजा (देवी-पूजा) का देव-पूजा में प्रमुख स्थान है। बौद्धों ने भी एक विलक्षण शक्ति-पूजा अपनाई उसी प्रकार जैनियों में भी शक्ति-पूजा की मान्यता स्वीकार हुई। जैन-धर्म तीर्थंकर-वादी है, ईश्वरवादी नहीं है यह हम पहले ही कह आये हैं। जैनियों के मन्दिर एवं तीर्थ-स्थानों में देवी-स्थान प्रमुख स्थान रखता है। जैन-शासन की पूर्णता शाक्त-शासन पर है। जैन-यति तान्त्रिक उपासना के पक्ष-पाती थे। ककाली, काची आदि तान्त्रिक देवियों का जैन ग्रन्थों में महत्त्वपूर्ण प्रतिष्ठा एवं सकीर्तन है। श्वेताम्बरों ने महायान बौद्धों के सदृश तान्त्रिक-परम्परा पल्लवित की। जैन-शासन में तीर्थंकर-विषयक ध्यानयोग का विधान है। इस योग के धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान दो मुख्य विभाग हैं। धर्म-ध्यान के ध्येय स्वरूप के पुनः चार विभाग हैं। पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूप-वर्जित। इनमें मन्त्र-विद्या का संयोग स्वाभाविक था—हेमचन्द्र के योग-शास्त्र में ऐसा प्रतिपादन किया है। इस मन्त्र-विद्या के कालान्तर पाकर दो स्वरूप विकसित हुए—मलिन-विद्या और शुद्ध-विद्या जैसा कि ब्राह्मण धर्म में वामाचार और दक्षिणाचार की गाथा है। शुद्ध-विद्या की अधिष्ठातृ देवी सरस्वती की पूजा जैनियों में विशेष मान्य है। सरस्वती-पूजा के अतिरिक्त जैन-धर्म में प्रत्येक तीर्थंकर का एक-एक शासन देवता का भी यही रहस्य है। श्वेताम्बरमतानुसार ये चौबीस देवता आगे जैन-प्रतिमा लक्षण में चौबीस तीर्थंकर के साथ-साथ स्थापित किये जायेंगे। सरस्वती के षोडश विद्या-व्यूहों का हम आगे ही उसी अवसर पर सकीर्तन करेंगे। इस प्रकार जैनधर्म में

प्रसाद-देवता, कुल-देवता और सम्प्रदाय-देवता इन तीनों देव-वर्गों का अमृदुय हुआ। इन सभी में हिन्दुओं के देवों और देवियों का ही विशेष प्रभाव है। बौद्धों की अपेक्षा जैन हिन्दू-धर्म के विशेष निकट है। जैन-देव वृन्द के इस संकेत में यक्षों को नहीं भुलाया जा सकता। तीर्थंकरों के प्रतिमा-लक्षण में देवी साहचर्य के साथ-साथ यक्ष-साहचर्य भी एक अभिन्न अंग है। प्राचीन हिन्दू-साहित्य में यक्षों की परम्परा, उनका स्थान एक उनके गौरव और मर्यादा के विपुल संकेत मिलते हैं। जैन-धर्म में यक्षों का तीर्थंकर साहचर्य तथा जैन-शासन में यक्षों और यक्षणियों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान का क्या मर्म है? यक्षाधिप कुबेर देवों के धनाधिप संकीर्तित हैं। यक्षों का भोग एवं ऐश्वर्य सनातन से प्रसिद्ध है। जैन-धर्म का संरक्षण सम्पन्न श्रेष्ठ-कुलों एवं ऐश्वर्यशाली वर्णिक-वृन्द में विशेष रूप से पाया गया है। अतएव यक्ष और यक्षिणी प्राचीन स्मृद्ध जैन-धर्मानुयायी श्रावकगणों का प्रतिनिधित्व करते हैं, ऐसा भट्टाचार्य जी का (See Jain Econography) आकलन है। हमारी समझ में यक्ष और यक्षिणी तांत्रिक-विद्या तन्त्र-मन्त्रसमन्विता रहस्यात्मिका शक्ति-उपासना का प्रतिनिधित्व करते हैं। हिन्दुओं के दिग्पाल और नवग्रह-देवों को भी जैनियों ने अपनाया। क्षेत्रपाल, श्री (लक्ष्मी) शान्ति देवी और ६४ योगिनियों का विपुल वृन्द जैन-देव वृन्द में सम्मिलित है। अन्त में जैन तीर्थों पर थोड़ा संकेत आवश्यक है। जैन-तीर्थंकरों की जन्म-भूमि अथवा कार्य कैवल्य भूमि जैन-तीर्थ कहलाये। लिखा भी है —

जन्म-निष्क्रमणस्थान-ज्ञान-निर्वाण भूमिषु ।

अन्येषु पुण्यदेशेषु नदीकूले नगरेषु च ॥

ग्रामादिसन्निवेशेषु समुद्रपुलिनेषु च ।

अन्येषु वा मनोज्ञेषु कारायेज्जिनमन्दिरम् ॥

जैन प्रतिमा-लक्षण

जैन प्रतिमाओं का आविर्भाव—जैन प्रतिमाओं का आविर्भाव जैनो के तीर्थंकरों से हुआ। तीर्थंकरों की प्रतिमाओं का प्रयोजन जिज्ञासु जैनो में न केवल तीर्थंकरों के पावन-जीवन, धर्म-प्रचार और कैवल्य-प्राप्ति की स्मृति ही दिलाना था, बरन् तीर्थंकरों के द्वारा परिवर्तित पथ के पथिक बनने की प्रेरणा भी। जिनपूजा में कल्याण-पाठ

(जिनो के कल्याणमय कार्य एवं काल की गाथाओं) का भी तो यही रहस्य है। तीर्थंकरों के अतिरिक्त जैनो के जिन-जिन देवों की कल्पना परम्परित हुई उसका संकेत पीछे भी कर चुके हैं (दे० जैनधर्म-जिनपूजा) तथा कुछ चर्चा आगे भी होगी।

जैनियों की प्रतिमा-पूजा परम्परा की प्राचीनता पर हम संकेत कर चुके हैं। इस परम्परा के पोषक साहित्यिक एवं स्थापत्यत्मक प्रमाणों में एक दो तथ्यों पर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है। हाथी गुम्फा—अभिलेख से जैन प्रतिमा पूजा शिशुनाग और नन्द राजाओं के काल में विद्यमान थी—ऐसा प्रमाणित किया जाता है। श्रीशुन वृन्दावन भट्टाचार्य (See Jain Econography P. 33) ने कौटिल्य के अर्थशास्त्र में निदिष्ट जयन्त वैजयन्त, अपराजित आदि जिन-देवों को जैन देवता माना है वह ठीक नहीं। हाँ जैन साहित्य की एक प्राचीन कृति—‘अन्तगढ-दामो’ में ‘हरिनेगमेश’ का जो संकेत, उन्होंने उल्लिखित किया है, उससे जिन-पूजा परम्परा ईसा से लगभग ६०० वर्ष पूर्व तो प्रमाणित अवश्य होती है। मथुरा के पुरा-तत्त्वान्वेषणों से भी यही निष्कर्ष दृढ़ होता है। जैनो के ७वें तीर्थंकर की जिससे प्रतीकोपामना एवं प्रतिमा-पूजा दोनों की प्राचीनता सिद्ध होती है।

जैन प्रतिमाओं की विशेषताएँ—

(अ) प्रतीक-लाञ्छन—जैन-प्रतिमाएँ ही क्या अखिल भारतीय प्रतिमाएँ—प्रतीकवाद (Symbolism) से अनु-प्राणित हैं। भारतीय स्थापत्य की प्रमुख विशेषता प्रतीकत्व है। इस प्रतीकत्व के नाना कलेवरों में धर्म एवं दर्शन की ज्योति ने प्राण संचार किया है। तीर्थंकरों की प्रतिमाद्-भावना में वराहमिहिर की—वृहत्संहिता के निम्न प्रवचन में जैन-प्रतिमाओं की विशेषताओं का सुन्दर आभास मिलता है :—

आजानुलम्बाहुः श्रीवत्साङ्कः प्रशान्तमूर्तिश्च ।

दिग्वासास्तरुणो रूपवाञ्च कार्योऽर्हता देवः ॥

अर्थात् तीर्थंकर-विशेष की प्रतिमा प्रकल्पन में लम्बे लटकने हुए हाथ (आजानुलम्बाहुः), श्रीवत्स-लाञ्छन प्रशान्त-मूर्ति, नग्न-शरीर, तरुणावस्था—ये पाँच सामान्य विशेषताएँ हैं। इनके अतिरिक्त दक्षिण एवं वाम पार्श्व में

क्रमशः एक यक्ष और एक यक्षिणी का भी प्रदर्शन आवश्यक है। तीसरे अशोक (आम्र वृक्ष जिसके नीचे बैठकर जिन-विशेष ने ज्ञान प्राप्त किया) वृक्ष के साथ अष्ट-प्रातिहार्यों (दिव्यतरु, आसन, सिंहासन तथा आतपत्र, चामर, भामण्डल, दिव्य-कुण्डुभि, सुरपुष्पवृष्टि एवं दिव्य-ध्वनि) में से किसी एक का प्रदर्शन भी विहित है। तीर्थङ्कर-विशेष की प्रतिमा में इन सभी प्रतीकों का प्रकल्पन अनिवार्य है। जिन प्रतिमा में शासन-देवताओं—यक्षों एवं यक्षिणियों का प्रदर्शन गौडरूप से ही अभिप्रेत है हाँ उनकी निजी प्रतिमाओं में जिनमूर्ति गौड हो जाती है और उसको आविर्भूत बौद्धदेव वृन्द में आविर्भावक-देव की प्रतिमा के सदृश, शीर्ष पर अथवा अन्य किसी ऊर्ध्व पद पर प्रतिष्ठापित किया जाता है।

(ब) जैन-देवों के विभिन्न वर्ग—

‘आचार दिनकर के अनुसार जैनो के देव एवं देवियों की ३ श्रेणियाँ हैं। १. प्रासाद देवियाँ, २. कुल देवियाँ (तांत्रिक देवियाँ) तथा ६. साम्प्रदाय देवियाँ। यहाँ पर यह स्मरण रहे कि जैनो के दो प्रधान सम्प्रदायो दिगम्बर एवं श्वेताम्बर-देवो एवं देवियों की एक परम्परा नहीं है। तांत्रिक देवियाँ श्वेताम्बरों की विशेषता है। महायानी तथा वज्रयानी बौद्धों के सदृश श्वेताम्बरों ने भी नाना देवों की परिकल्पना की।

जैनो के प्राचीन देववाद में चार प्रधान वर्ग हैं— १ ज्योतिषी, २ विमानवासी, ३ भवनपति ४ व्यन्तर। ज्योतिषी में नवग्रहों का सकीर्तन है। विमानवासी दो उपसर्गों में विभाजित है। उत्तर कल्प तथा अनुत्तर कल्प। प्रथम में सुधर्म, ईशान, सनत्कुमार, ब्रह्मा आदि १२ देव परिगणित हैं तथा दूसरे में पाँच स्थानों के अधिष्ठातृकदेव इन्द्र के पाँच रूप—विजय, विजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध। भवन-पतियों में अमुर नाग, विद्युत् सपुर्ण आदि १० श्रेणियाँ हैं। व्यन्तरों में पिशाच, राक्षस, यक्ष, गधर्व आदि आठ श्रेणियाँ हैं। इन चार देव वर्गों के अतिरिक्त षोडश श्रुत अथवा विद्या देवियाँ और अष्ट मातृकाएँ भी जैनियों में पूज्य हैं। जैनियों में वास्तु देवी की भी परिकल्पना है। इस संक्षिप्त समीक्षा से यह निष्कर्ष निकलने में देर न लगेगी कि तीर्थङ्करों के अति-

रिक्त जैनियों का देव वृन्द ब्राह्मण देव वृन्द ही है।

(स) तीर्थङ्कर—

जैनधर्म में सभी तीर्थङ्करों की समान महिमा है। बौद्ध गौतमबुद्ध की ही जिस प्रकार में सर्वतिशायी प्रतिष्ठित करते हैं, वैसा जैनियों में नहीं। तीर्थङ्कर प्रतिमा निदर्शनों में इस तथ्य का पोषण पाया जाता है। जैन प्रतिमाओं की दूसरी विशेषता यह है कि जिनों के चित्रण में तीर्थङ्करों का सर्वश्रेष्ठ पद प्रकल्पित होता है। ब्रह्मादि देव भी गौड-पद के ही अधिकारी हैं। इसी दृष्टि से हेमचंद्र के ‘अभिधान-चिन्तामणि’ में जैन देवों का ‘देवादि देव’ और देव इन दो श्रेणियों में जो विभाजन है, वह समझ में आ सकता है। देवादिदेव तीर्थङ्कर तथा देव अन्य सहायक देव, श्री वृन्दावन भट्टाचार्य ने ठीक ही लिखा है। In iconography also this idea of the relative superiority of the Jains has manifested itself. In the earliest of Jainism, the Tirthankaras prominently occupy about the what really of the stone

जैन-मंदिरों की मूर्ति-प्रतिष्ठा में मूलनायक अर्थात् प्रमुख जिन प्रधान पद का अधिकारी होता है। और अन्य तीर्थङ्करों का अपेक्षाकृत गौड पद होता है। इस परम्परा में स्थान विशेष का महत्त्व अन्तर्दित है। तीर्थङ्कर-विशेष से सम्बन्धित स्थान के मन्दिर में उसी की प्रबलता देखी गयी है। उदाहरणार्थ मारनाथ के जैन-मन्दिर में जो तीर्थङ्कर मूलनालकके पद पर प्रतिष्ठित है वह (अर्थात् श्रेयाशनाथ) मारनाथ में उत्पन्न हुआ था।—ऐसा माना जाता है।

तीर्थङ्कर राग द्वेष से रहित हैं। साथ तपस्विता के अनुसार जिनों की मूर्तियाँ योगी रूप में चित्रित की जाती हैं। प्रतिमा निदर्शनों में प्राप्त इस तथ्य का निदर्शन है। पद्मासन अथवा कायोत्सर्ग मुद्रा में नग्न जिन मूर्तियाँ सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। तीर्थङ्करों की प्रतिमाएँ एवं जिन मूर्तियों में इतना अधिक सादृश्य है कि साधारण जैनो के लिए कभी-कभी उनकी पारस्परिक अभिज्ञा दुष्कर हो जाती है। कतिपय लाछनो—श्री वत्स आदि से दोनों का पारस्परिक पार्यव्य प्रकट होता है। कुशान-काल की मूर्तियों में प्रतीक संयोजना के अतिरिक्त यक्ष दक्षिणी अनुगामित्व नहीं प्राप्त

होता है। यह विशिष्टता गुप्त काल से प्रारम्भ होती है, जब से तीर्थंकरों की प्रतिमाओं में यक्ष-यक्षिणियों का अनिवार्य साहचर्य बन गया।

जैन-प्रतिमा की तीसरी विशेषता गन्धर्व साहचर्य है। यद्यपि प्राचीनतम प्रतिमाओं (मथुरा, गांधार) में यक्षों का निवेश नहीं; परन्तु गन्धर्वों के उन में दर्शन अवश्य होते हैं। मथुरा की जैन मूर्तियों में एक प्रमुख विशिष्टता उनकी नग्नता है। गुप्त कालीन जैन प्रतिमाएँ एक नवीन-परम्परा की उन्नायिका है। यक्षों के अनिरिक्त शासन देवताओं का भी उनमें समावेश किया गया, धर्म-व्रत-मुद्रा का भी यही से श्री गणेश हुआ।

जैन प्रतिमाओं के विकास में सर्वप्रथम प्रतीक परम्परा का मूलाधार है। आयाग पटो पर चित्रित जिन प्रतिमा इसका प्रबल निदर्शन है। आयाग पट्ट एक प्रकार के प्रगल्भ पत्र अथवा गुणानुकीर्तन पत्र (Tables of hamage) है। इनमें जिन प्रतिमाएँ लौछन शून्य है। कुशान कालीन जैन प्रतिमाएँ प्राचीनतम निदर्शन है। इनके तीन वर्ग हैं—स्तूपादि मध्य प्रतिमा, पूज्य प्रतिमा, तथा आयाग पट्टीय प्रतिमा। हिन्दू त्रिमूर्ति के सदृश। चौमुखी या सर्वतोभद्र प्रतिमा में चारों कोणों पर चार 'जिन' चित्रित किए जाते हैं। प्रत्येक तीर्थंकर का प्रथक्-प्रथक् चिन्ह है। जिसमें तीर्थंकर विशेष की अभिज्ञा (पहिचान) सम्पन्न होती है। आपाततः जिन प्रतिमा भी बौद्ध प्रतिमा के सदृश ही प्रतीत होती है परन्तु जिन प्रतिमा की पहचान आभरण लक्षण के वैशिष्ट्य से बुद्ध प्रतिमा से पृथक् की जा सकती है। इन आभरण लक्षणों के प्रतीकों में स्वस्तिक स्तूप, दर्पण वेतशासन, दो मत्स्य, पुष्पमाला और पुस्तक विशेष उल्लेख्य हैं। सभी तीर्थंकरों की समान मुद्रा नहीं। ऋषभ, नेमिनाथ और महावीर—इन तीनों की आमन मुद्रा में कैवल्य प्राप्ति की सूचक है अतः इन तीनों की प्रतिमा अभिज्ञ में वह तथ्य सदैव स्मरणीय है। अन्य दोष तीर्थंकरों की प्रतिमा का कायोत्सर्ग मुद्रा में प्रदर्शन आवश्यक है क्योंकि उन्हें इसी मुद्रा में निर्वाण प्राप्त हुआ था।

अस्तु संक्षेप में निम्न तालिका तीर्थंकरों के लक्षण एवं शासन-देव तथा शासन देवियों का क्रम प्रस्तुत करती है—

२४ तीर्थंकर	शासन-देवियाँ	(यक्षिणियाँ)
१ आदिनाथ (ऋषभ)	वृषभ चक्रेश्वरी	च०
२ अजितनाथ	गज	रोहिणी अजितबला
३ सम्भवनाथ	अश्व	प्रजावती दुरितारि
४ अभिनन्दननाथ	बानर	यक्षशंखला काली
५ सुमतिनाथ	क्रोच	नरदत्ता महाकाली
६ पद्मप्रभु	पद्म	मनोवेगा श्यामा
७ सुपार्श्वनाथ	स्वस्तिक	कालिका शान्ता
८ चन्द्रप्रभु	चन्द्र	ज्वालामालिनी ज्वाला
९ सुविधिनाथ	मकर	महाकाली सतारा
१० शीलनाथ	श्रीवत्स	मानवी अशोका
११ श्रेयशनाथ	गण्डक	गौरी मानवी
१२ वामपूज्य	महीप	गंधारी प्रचण्डा
१३ विमलनाथ	वराह	विराट विदिता
१४ अनन्तनाथ	श्येन	अनन्तमती अकुश
१५ धर्मनाथ	वज्र	मानसी कदर्पा
१६ शानिनाथ	मृग	महामानसी निर्वाणी
१७ कथु	छाग	घया बला
१८ अग्रनाथ	नन्द्यावर्त	विजया धारिणी
१९ मल्लिनाथ	कलश	अपराजिता वैराट्या
२० मुनिमुब्रत	कूर्म	वहुरूपा नरदत्ता
२१ नमिनाथ	नीलोत्पल	चामुण्डा गावारी
२२ नेमिनाथ	शङ्ख	अम्बिका अम्बिका
२३ पार्श्वनाथ	सर्प	पद्मावती पद्मावती
२४ महावीर	मिह	सिद्धायिका सिद्धायिका

शासन देव :—

१ वृषवज्र	११ यक्षेश
२ महायक्ष	१२ कुमार
३ त्रिमुख	१३ षण्मुख
४ चतुरानन	१४ पाताल
५ तुम्बुरू	१५ किन्नर
६ कुमुम	१६ गरुड
७ मातंग	१७ गंधर्व]
८ विजय	१८ यक्षेश
९ जय	१९ कुबेर
१० ब्रह्मा	२० वरुण

२१ भृकुटि

२३ पार्श्व

२२ गोमेष

२४ मातंग

टि० १ 'अपराजिता-पृच्छा' के अनुसार, चद्रप्रभ, पुष्पदन्त (१) श्वेत-वर्ण पद्मप्रभ, धर्मनाथ रक्त वर्ण; सुपार्श्व, पार्श्वनाथ हरिद्वर्ण और शेष सब काञ्चनवर्ण चित्र्य है।

टि० २ तीर्थङ्करों के अन्य लाञ्छनों के विवरण परिशिष्ट स मे उद्धृत अपराजित पृच्छा के अवतरणों मे द्रष्टव्य है।

प्रतिमा-स्थापत्य मे २४ तीर्थङ्करों के अतिरिक्त २४ यक्षों एवं यक्षिणियों के रूप, १६ श्रुतदेवियों (विद्या-देवियों) १० दिग्पालों, ६ ग्रहों तथा क्षेत्रपाल, सरस्वति, गणेश, श्री (लक्ष्मी) तथा शान्ती देवी के भी रूप प्राप्त है। अतः सक्षेप मे इनके लक्षणों की अवतारणा की जाती है।

यक्ष-यक्षिणियां—तीर्थङ्कर-तानिका मे इनकी संज्ञा एवं संख्या सूचित है। अतः यहां पर इस तालिका मे सख्यानु-रूप इनके विशेष लाछन दिए गए है। आधार-वस्तुसार तथा अपराजित पृच्छा; विशेष विवरण परिशिष्ट मे उद्धृत अपराजित के अवतरणों मे द्रष्टव्य है।

२४ यक्षों के वाहन-लाञ्छन २४ यक्षिणियों के वाहन लाञ्छन

अपराजित	वास्तुसार	अपराजिता	वस्तुसार
१ वृष	गज	१ गरुण	गरुण
२ गज	गज	२ रथ	लाहासन गोवाहन
३ मयूर	मयूर	३ १	मेघ
४ हंस	गज	४ हंस	पद्म
५ गरुण	गरुण	५ श्वेतहस्ति	,,
६ मृग	मृग	६ अश्व	नर
७ मेघ	गज	७ महिष	गज
८ कपोत	हंस	८ वृष	हंस
९ कूर्म	कूर्म	९ कूर्म	वृष
१० हंस	कमलासन	१० शूकर	पद्म
११ वृष	वृषभ	११ कृष्ण हरिण	सिंह
१२ शिखि	हंस	१२ नरक	अश्व
१३ १	शिखि	१३ विमान	पद्म
१४ १	मकर	१४ हंस	,,
१५ १	कूर्म	१५ व्याघ्र	मत्स्य

१६ शुक

वराह

१६ पक्षिराज

पद्म

१७ ,,

हंस

१७ कृष्ण शूकर

शिखि

१८ खर

शख

१८ सिंह

पद्म

१९ सिंह

गज

१९ अप्टापद

,,

२० १

वृष

२० सर्प

भद्रासन

२१ १

वृष

२१ मर्कट

हंस

२२ १

पुरुष

२२ सिंह

सिंह

२३ १

कूर्म

२३ कुक्कुट

सर्प

२४ हस्ति

गज

२४ भद्रासन

सिंह

दश-दिग्पाल—दिग्पालों की संख्या आठ ही है परन्तु जैनो ने दश दिग्पाल माने है—

१. इन्द्र—तप्तकाञ्चनवर्ण, पीताम्बर, एरावण-वाहन, वज्रहस्त, पूर्वदिग्धीश।
२. अग्नि—कापलवर्ण, वागवाहन, नीलाम्बर, धनुर्वाणहस्त, आग्नेय, दिग्धीश।
३. यम—कृष्णवर्ण, चर्मावर्ण, महिषवाहन, दण्डहस्त, दक्षिण दिग्धीश।
४. निऋति—धूम्रवर्ण, व्याघ्रचर्मावृत, मुद्गरहस्त, प्रेत-वाहन, नैऋत्यदिग्धीश।
५. वरुण—मेघवर्ण, पीताम्बर, पाशहस्त, मत्स्य वाहन, पश्चिम दिग्धीश।
६. वायु—धूसरवर्ण, रक्ताम्बर, हरिणवाहन, ध्वजप्रहरण, वायव्य दिग्धीश।
७. कुबेर—शक्र कोशाध्यक्ष, कनकवर्ण, श्वेताम्बर, नर-वाहन, रत्नहस्त, उत्तरदिग्धीश।
८. ईशान—श्वेतवर्ण, गाजाजिनावृत, वृषभ वाहन, पिनाक शूलधर, ईशानादिग्धीश।
९. नागदेव—कृष्णवर्ण, पद्मवाहन, उरगहस्त, पाताला-धीश्वर।
१०. ब्रह्मदेव—कञ्चनवर्ण, चतुर्मुख, श्वेताम्बर, हंसवाहन, कमलासन, पुस्तक कमलहस्त, उर्ध्वलाकाधीश।

नवग्रह—

१. सूर्य—रक्तवस्त्र, कमलहस्त, सप्ताश्वरथवाहन।
२. चन्द्र—श्वेत-वस्त्र, श्वेतदशबाजिवाहन, सुधाकुम्भहस्त।
३. मंगल—विद्रुमवर्ण, रक्ताम्बर, भूमिस्थिति, कुदालहस्त।
४. बुध—हरितवस्त्र, कलहंसवाहन, पुस्तकहस्त।

५. बृहस्पति—काञ्चनवर्ण, पीताम्बर, पुस्तकहस्त, हसवाहन ।
६. शुक्र—स्फटिकोज्ज्वल, श्वेताम्बर, कुम्भहस्त, तुरग-वहन ।
७. शनैश्चर—नीलदेह, नीलाम्बर, पशुहस्त, कमठवाहन ।
८. राहु—कज्जलश्यामल, श्यामवस्त्र, परशुहस्त, मिहवाहन ।
९. केतु—श्यामाङ्ग, श्यामवस्त्र, पन्नगवाहन, पन्नगहस्त ।

क्षेत्रपाल—एक प्रकार का भैरव है जो योगिनियों का अधिपति है । आचार दिनकर में क्षेत्रपाल का लक्षण है—कृष्णगौर काञ्चनधूसर—कापलवर्ण, विंशान भुजदंड, वरंरकेश, जटाजूट-मण्डित, वामुकी कृतनिजोपवीत, लक्षक-कृतमेखल, शेषकृतहार, नानायुधहस्त, मिहाचर्नावृत, प्रेता-सन, कुक्कुर-वाहन, त्रिलोचन ।

श्रुतदेवियां विद्यादेवियां—

१. रोहिणी, २. प्रज्ञप्ति, ३. वज्रशृंगला, ४. वज्रा-कुशी, ५. अग्रतिचक्रा, ६. पुरुषदत्ता, ७. काशीदेवी, ८. महाकाली, ९. गौरी, १०. गान्धारी, ११. महाज्वाला, १२. मानवी, १३. बैरोटद्या, १४. अच्छुता, १५. मानसी, १६. महामानसी ।

टि० १ इनके लक्षण यक्षणियों से मिलते-जुलते हैं ।

टि० २ श्री (लक्ष्मी), सरस्वती और गणेश का भी जैनियों में प्रचार है । आचार-दिनकर में इनके लक्षण ब्राह्मण-प्रतिमा लक्षण से मिलते-जुलते हैं । शांति-देवी के नाम से भी श्वेताम्बरों के ग्रंथों में एक देवी है जो जैनियों की एक नवीन उद्भावना कही जा सकती है ।

टि० ३ योगिनिया—जैनो को ६४ योगिनियों में ब्राह्मणों से बलक्षय है । अहिंसक एवं परम वैष्णव जैनियों में योगिनियों का आविर्भाव उन पर तान्त्रिक आचार एवं तान्त्रिकी पूजा का प्रभाव है । जैनो की शाक्तवा पर हम पीछे संकेत कर चुके हैं ।

स्थापत्य-निर्देशनों में—महेत (गोंडा) की ऋषभनाथ मूर्ति; देवगढ की अजितनाथ-मूर्ति और चन्द्र-प्रभा-प्रतिमा; फैजाबाद संग्रहालय की शान्तिनाथ-मूर्ति; ग्वालियर-राज्य की नेमिनाथ मूर्ति, जोगिन का मठ, (रोहतक) में प्राप्त पार्श्वनाथीय मूर्ति—जिन-मूर्तियों में उल्लेख है । महावीर की मूर्ति भारतीय संग्रहालय में प्रायः सर्वत्र दृष्टव्य है । ग्वालियर राज्य में प्राप्त कुबेर, चक्रेश्वरी और गोमुख की प्रतिमाएँ दर्शनीय हैं । देवगढ की चक्रेश्वरी मूर्ति बड़ी सुन्दर है । उसी राज्य (गंडवल) में प्राप्त क्षेत्रपाल, देव-गढ की महामानसी अम्बिका और श्रुत-देवी; भर्सी की रोहिणी, लखनऊ संग्रहालय की सरस्वती, बीकानेर की श्रुत-देवी आदि प्रतिमाएँ भी उल्लेखनीय हैं ।

जैन मन्दिर—

आबू पर्वत पर जैन-मन्दिर बने हैं जिनमें मन्दिर-नगर के रूप में अंकित किया जा सकता है । इन मन्दिरों के निर्माण में मगमर पत्थर का प्रयोग हुआ है । एक मन्दिर विमलशाह का बनवाया हुआ है और दूसरा तेज-पाल तथा वस्तुपाल बन्धुओं का । इन मन्दिरों में चित्रकारी एवं स्थापत्य-भूषण-विन्यास बड़ा ही दर्शनीय है ।

काठियावाड़ प्रान्त में पालीताणा राज्य में शत्रुजय नामक पहाड़ी जैन मन्दिरों से भरी पड़ी है । जैनी लोगों का आबू के समान यह भी परम पावन तीर्थ-स्थान है । काठियावाड़ के गिरनार पर्वत पर भी जैन-मन्दिरों की भग्मार है । जैनो के इन मन्दिर-नगरों के अतिरिक्त अन्य बहुत से मन्दिर भी लब्धप्रतिष्ठ हैं जिनमें आदिनाथ का चौमुख-मन्दिर (मारवाड़) तथा मंसूर का जैन-मन्दिर विशेष उल्लेखनीय है । अन्य जैन-मन्दिर पीठो में मथुरा, काठियावाड़ (जूनागढ) में गिरनार, इलौरा के गुहा-मन्दिरों में इन्द्र-सभा और जगन्नाथ-सभा, खजुराहो, देवगढ आदि विशेष विभूत हैं ।

—०—

स्वावलम्बन—जिन्होंने अपनी इन्द्रियों तथा मन पर नियन्त्रण कर लिया है, वे मानव इस संसार में स्वतन्त्र हैं । जो इन्द्रियों के दास हैं, वे परतन्त्र हैं । स्वतन्त्रता मुक्ति है । परतन्त्रता बन्धन है । स्वतन्त्रता विकास का मार्ग है, परतन्त्रता ह्रास का मार्ग है । अपने जीवन-निर्माण में वे ही सफल होते हैं, जो प्रत्येक क्रिया में स्वावलम्बी होते हैं, परमुखापेक्षी नहीं होते ।

भगवान महावीर और बुद्ध का परिनिर्वाण

अणुव्रत परामर्शक मुनि श्री नगराज

बुद्ध

अन्तिम वर्षावास

बुद्ध राजगृह से वैशाली आये। वहाँ कुछ दिन रहे। वर्षावास के लिए समीपस्थ वेलुव-ग्राम (वेणु-ग्राम) में आये। अन्य भिक्षुओं को कहा—“तुम वैशाली के चारों ओर मित्र, परिचित आदि देखकर वर्षावास करो।” यह बुद्ध का अन्तिम वर्षावास था।

वर्षावास में मरणान्तक रोग उत्पन्न हुआ। बुद्ध ने सोचा, मेरे लिए यह उचित नहीं कि मैं उपस्थाको और भिक्षु-सभ को बिना जतलाये ही परिनिर्वाण प्राप्त करूँ। यह सोच उन्होंने जीवन-संस्कार को दृढ़तापूर्वक धारण किया। रोग शान्त हो गया। शास्ता का निरोग देखकर आनन्द ने प्रसन्नता व्यक्त की और कहा—“भन्ते ! आपकी अवस्था से मेरा शरीर शून्य हो गया था। मुझे दिखाएँ भी नहीं देख रही थी। मुझे धर्म का भी भान नहीं होता था।” बुद्ध ने कहा—“आनन्द ! मैं जीर्ण, वृद्ध, महल्लक, अध्वगत, वयः प्राप्त हूँ। अस्सी वर्ष की मेरी अवस्था है। जैसे पुराने शकट को बांध-बूध कर चलाना पड़ता है, वैसे ही मैं अपने आप को चला रहा हूँ। मैं अब अधिक दिन कैसे चलूँगा ? इसलिए आनन्द आत्मदीप, आत्मशरण, अनन्यशरण, धर्मदीप, धर्मशरण अनन्यशरण होकर विहार करो।”

आनन्द की भूल

एक दिन भगवान् चापाल-चैत्य में विश्राम कर रहे थे। आयुष्मान् उनके पास बैठे थे। आनन्द से भगवान् ने कहा—“आनन्द ! मैंने चार ऋद्धिपाद साधे हैं। यदि चाहूँ तो मैं कल्प भर ठहर सकता हूँ।” इतने स्थूल संकेत पर भी आनन्द ने समझ सके। उन्होंने प्रार्थना नहीं की—

१. अन्तदीया विहरथ, अन्तसरणा, अनञ्जसरणा, धम्मदीपा, धम्मसरणा, अनञ्जसरणा।

“भगवन् ! बहुत लोगों के हित के लिए, बहुत लोगों के सुख के लिए आप कल्प भर ठहरे।” दूसरी बार और तीसरी बार भी भगवान् ने ऐसा कहा, पर आनन्द नहीं समझे। मार ने उनके मन को प्रभावित कर रखा था। अन्त में भगवान् ने बात को तोड़ते हुए कहा—“जाओ आनन्द ! जिसका तुम काल समझते हो।”

मार द्वारा निवेदन

आनन्द के पृथक् होने ही पापी मार भगवान् के पास आया और बोला—“भन्ते ! आप यह बात कह चुके हैं—‘मैं तब तक परिनिर्वाण को प्राप्त नहीं करूँगा, जब तक मेरे भिक्षु-भिक्षुणियाँ, उपासक-उपाशिकाएँ आदि सम्यक् प्रकार से धम्मरूढ, धर्मपथिक और आक्षेप-निवारक नहीं हो जाएंगे तथा यह ब्रह्मचर्य (बुद्ध-धर्म) सम्यक् प्रकार से ऋद्ध, स्फीत व बहुजन-गृहीत नहीं हो जायेगा।’ भन्ते ! अब यह सब हो चुका है। आप शीघ्र निर्वाण को प्राप्त करें।” भगवान् ने उत्तर दिया—“पापी ! निश्चित हो आज से तीन मास पश्चात् मैं निर्वाण करूँगा।”

भूकम्प

तब बुद्ध ने चापाल-चैत्य में स्मृति-सप्रजन्य के साथ आयु-संस्कार को छोड़ दिया। उस समय भयंकर भूकम्प हुआ। देव-दुन्दुभियाँ बजी। आनन्द भगवान् के पास आये और बोले “आश्चर्य भन्ते ! अद्भुत भन्ते ! ! इस महान् भूकम्प का क्या हेतु है ? क्या प्रत्यय है ? भगवान् ने कहा—भूकम्प के आठ हेतु होते हैं। उनमें से एक हेतु तथागत के द्वारा जीवन-शक्ति का छोड़ा जाना है। उसी जीवन-शक्ति का विसर्जन मैंने अभी-अभी चापाल-चैत्य में किया है। यही कारण है, भूकम्प आया, देव-दुन्दुभियाँ बजी।”

यह सब सुनते ही आनन्द को समझ आई, कहा—“भन्ते ! बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय आप कल्प-भर ठहरे।” बुद्ध ने कहा—“अब मत तथागत से प्रार्थना

करो। अब प्रार्थना करने का समय नहीं रहा।” आनन्द ने क्रमशः तीन बार अपनी प्रार्थना को दुहराया। बुद्ध ने कहा—“क्यों तथागत को विवश करते हो? रहने दो इस बात को। आनन्द मैं कल्प भर नहीं ठहरता, इसमें तुम्हारा ही दोष है। मैंने अनेक बार तथागत की क्षमता का उल्लेख तुम्हारे सामने किया। पर तुम मूक ही बने रहे।”

वहाँ से उठकर भगवान् महावन, कूटागार शाला में आये। वहाँ आकर आनन्द को आदेश दिया—“वैशाली के पास जितने भिक्षु विहार करते हैं, उन्हें उपस्थान-शाला में एकत्रित करो।” भिक्षु एकत्रित हुए। बुद्ध ने कहा—“हन्त भिक्षुओ! तुम्हें कहता हूँ, सस्कार (कृत-वस्तु) नाशमान् है। प्रभाद-रहित हो, आदेश का सम्पादन करो। अचिरकाल में ही तथागत का परिनिर्वाण होगा, आज से तीन मास पश्चात्।”

अन्तिम यात्रा

तब भगवान् वैशाली में कुसिनारा की ओर चले। योगनगर के आनन्द चैत्य में बुद्ध ने कहा—“भिक्षुओ कोई भिक्षु यह कहे—‘आवुसो! मैंने इसे भगवान् के मुख से सुना; यह धर्म है, यह विनय है, यह शास्ता का उपदेश है।’ भिक्षुओ! उस कथन का पहिले न अभिनन्दन करना न निन्दा करना। उस कथन की सूत्र और विनय में गवेषणा करना। वहाँ वह न हो तो समझना यह इस भिक्षु का ही दुर्गुहीत है। सूत्र और विनय में यह कथन मिले, तो समझना, अवश्य यह तथागत का वचन है।”

भगवान् विहार करते क्रमशः पावा पहुँचे। चुन्द कर्मार-पुत्र के आम्र वन में ठहरे। चुन्द कर्मार पुत्र ने भिक्षु-सघ-सहित बुद्ध को अपने यहाँ भोजन के लिए आमंत्रित किया पहली रात को भोजन की विशेष तैयारियाँ की। बहुत सारा ‘सूकर-मद्व’ तैयार किया। यथासमय

१. बुद्धघोष ने (उदान-अट्ठकथा, ८।५) ‘सूकर-मद्व’ शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है—“नातितरुणस्स नातिजिण्णस्स एक जेटुकसूकरस्स पवत्तमंस” अर्थात् न अति तरुण, न अति वृद्ध एक (वर्ष) ज्येष्ठ सूअर का मांस। ‘सूकर-मद्व’ के अनन्य अस्मासपरक अर्थ भी किये जाते हैं, अर मांसपरक में अर्थ भी कोई

भगवान् पात्र-चीवर ले चुन्द कर्मार-पुत्र के घर आये और भोजन किया। भोजन करते भगवान् ने चुन्द को कहा—“अन्य भिक्षुओं को मत दो यह सूकर-मद्व। ये इसे नहीं पचा सकेंगे।” भोजन के उपरान्त भगवान् को असीम वेदना हुई। विरेचन पर विरेचन होने लगा और वह भी रवतमय।

इतना होने पर भी भगवान् पावा से कुसिनारा की ओर चल पड़े। बलान्त हो रास्ते में बैठे। आनन्द से कहा—“निकट की नदी से पानी लाओ। मुझे बहुत प्यास लगी है।” आनन्द ने कहा—“भगवान् अभी-अभी १०० गाडे इस निकट की नदी में निकले हैं। यह छोटी नदी है। सारा पानी मटमैला हो रहा है। कुछ ही आगे ककुत्था नदी है, वह स्वच्छ और रमणीय है। वहाँ पहुँच कर भगवान् पानी पीएँ।” भगवान् ने दूसरी बार और तीसरी बार वैसे ही कहा, तो आनन्द उठकर गये। देखा, पानी अत्यन्त स्वच्छ और शान्त है। आनन्द भगवान् के इस ऋद्धि-बल से आनन्द-विभोर्न हुए। पात्र में पानी ला भगवान् को पिलाया।

आलार-कालाम के शिष्य से भेंट

भगवान् के वहाँ बैठे आलार-कालाम का शिष्य पुवकुस मल्ल-पुत्र मार्ग चलते आया। एक ओर बैठकर बोला—“भन्ते! प्रव्रजित लोग शास्त्रतर विहार से विहरते हैं। एक बार आलार-कालाम मार्ग के समीपस्थ वृक्ष की छाया में विहार करते थे। ५०० गाड़ियाँ उनके पीछे से गईं। कुछ देर पश्चात् उसी साथ का एक आदमी आया। उसने आलार-कालाम से पूछा—

‘भन्ते! गाड़ियों को जान देखा?’

‘नहीं आवुस!’

‘भन्ते! शब्द सुना?’

‘नहीं आवुस!’

‘भन्ते! सो गये थे?’

‘नहीं आवुस!’

विरोधाभास नहीं लगता। अन्य किसी प्रसंग पर उग्न गृहपति के अनुरोध पर बुद्ध ने सूकर का मांस ग्रहण किया, ऐसा अगुत्तरनिकाय (पञ्चक निपात) में उल्लेख है।

‘भन्ते ! आपकी सघाटी पर गर्द पड़ी है ?’

‘हाँ आवुस !’

तब उस पुष्प को हुआ—‘आश्चर्य है ! अद्भुत है ! प्रव्रजित लोग आत्मस्थ होकर कितने शान्त विहार से विहरते हैं !’

भगवान् ने कहा—“पुक्कुस ! एक बार मैं आतुमा के भुसागार में विहार करता था । उस समय जोंरों से पानी बरसा । बिजली कड़की । उसके गिरने से दो किसान चार बैल मरे । उस समय एक आदमी मेरे पास आया और बोला —‘भन्ते ! मेघ बरसा, बिजली कड़की, किसान और बैल मरे । आपको मालूम पड़ा भन्ते ?’

‘नहीं आवुस !’

‘आप कहाँ थे ?’

‘यही था ।’

‘बिजली कड़कने का शब्द सुना, भन्ते ?’

‘नहीं आवुस !’

‘क्या आप सोये थे ?’

‘आप सचेतन थे ?’

‘हाँ आवुस !’

पुक्कुस ! तब उस आदमी को हुआ—‘आश्चर्य है, अद्भुत है, यह शान्त विहार ।’

पुक्कुस मल्ल-पुत्र यह बात सुनकर बहुत प्रभावित हुआ और बोला—“भन्ते ! यह बात तो पाँच सौ गाडियो हजार गाडियो और पाँच हजार गाडियो के निकल जाने से भी बड़ी है । आलार-कालाम में मेरी जो श्रद्धा थी, उसे आज मैं हवा में उड़ा देता हूँ, शीघ्र घाग्वाली नदी में बहा देता हूँ । आज से मुझे शरणागत उपासक धारण करे ।” तब पुक्कुस ने चाकचिक्यपूर्ण दो सुनहरे शाल भगवान् को भेंट किये, एक भगवान् के लिए और एक आनन्द के लिए ।

पुक्कुस मल्ल-पुत्र चला गया । आनन्द ने अपना शाल भी भगवान् को ओढ़ा दिया । भगवान् के शरीर से ज्योति उद्भूत हुई । शालों का चाकचिक्य मन्द हो गया । आनन्द के पूछने पर भगवान् ने कहा—“तथागत की ऐसी वर्ण-शुद्धि बोधि-लाभ और निर्वाण; इन दो अवसरों पर होती है । आज के अन्तिम प्रहर कूसिनारा के मल्लों के शाल-

वन में शाल-वृक्षों के बीच तथागत का परिनिर्वाण होगा ।”

ककुत्था नदी पर

भगवान् भिक्षु-सघ-सहित ककुत्था नदी पर आये । स्नान किया । नदी को पार कर तटवर्ती आम्रवन में पहुँचे । विश्राम करते भगवान् ने कहा—“आनन्द ! चुन्द कर्मार-पुत्र को कोई कहे—‘आवुस चुन्द ! अलाभ है तुम्हें दुर्लभ है तुम्हें, तथागत तेरे पिण्डपात को खाकर परिनिर्वाण को प्राप्त हुए’; तो तू चुन्द के इस अपवाद को दूर करना उसे कहना—आवुस चुन्द ! लाभ है तुम्हें, सुलाभ है तुम्हें, तथागत तेरे पिण्डपात को खाकर परिनिर्वाण को प्राप्त हुए हैं’ और उसे बताना—‘दो पिण्डपात समान फल वाले होते हैं : जिस पिण्डपात को खाकर तथागत अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि प्राप्त करते हैं तथा जिस पिण्डपात को खाकर तथागत निर्वाण-धर्म को प्राप्त करते हैं’ ।”

कूसिनारा में

ककुत्था के आम्रवन में विहार कर भगवान् कूसिनारा की ओर चले । हिरण्यवती नदी को पार कर कूसिनारा में जहाँ मल्लों का “उपवत्तन” शालवन है, वहाँ आये । जुड़वे शाल-वृक्षों के बीच भगवान् मच्छक (चारपाई) पर लेटे । उनका सिरहाना उत्तर की ओर था ।

उस समय आयुष्मान् उपवान भगवान् पर पखा हिलाते भगवान् के सामने खड़े थे । भगवान् ने अकस्मात् कहा—“हट जाओ भिक्षु ! मेरे सामने से हट जाओ ।” आनन्द ने तत्काल पूछा—“ऐसा क्यों भगवन् ?” भगवान् ने कहा—“आनन्द ! दशों लोकों के देवता तथागत के दर्शन के लिए एकत्रित हुए हैं । इस शालवन के चारों ओर बारह योजन तक बाल की नोक गडाने-भर के लिए भी स्थान खाली नहीं है । देवता खिन्न हो रहे हैं कि यह पखा झलने वाले भिक्षु हमारे अन्तरायभूत हो रहा है । आनन्द ने कहा—“देवता आपको किस स्थिति में दिखा-लाई दे रहे हैं ?”

“आनन्द ! कुछ बाल खोलकर रो रहे हैं, कुछ हाथ पकड़ कर चिल्ला रहे हैं, कुछ कटे वृक्ष की भाँति भूमि पर गिर रहे हैं । वे विलापात कर रहे हैं—‘बहुत शीघ्र सुगत निर्वाण को प्राप्त हो रहे हैं, बहुत शीघ्र चक्षुष्मान् लोक से अन्तर्धान हो रहे हैं’ ।”

आनन्द के प्रश्न

आनन्द ने पूछा—“भगवन् ! अब तक अनेक दिशाओं में वर्षावास कर भिक्षु आपके दर्शनार्थ आते थे । उनका सत्संग हमे मिलता था । भगवन् ! भविष्य में किसका सत्संग करेगे, किसके दर्शन करेंगे ?”

“आनन्द ! भविष्य में चार स्थान सवेजनीय (वैराग्यप्रद) होंगे—

१. जहाँ तथागत उत्पन्न हुए (लुम्बिनी) ।
२. जहाँ तथागत ने सम्बोधि-लाभ किया (बोधि-गया)
३. जहाँ तथागत ने धर्मचक्र का प्रवर्तन किया (सारनाथ) ।
४. जहाँ तथागत ने निर्वाण प्राप्त किया (कुसिनारा)

“भन्ते ! स्त्रियो के साथ कैसा व्यवहार हो ?”

“अदर्शन ।”

“दर्शन होने पर भगवन् !”

“अनालाप ।”

“आलाप आवश्यक हो, वहाँ भन्ते !”

“स्मृति को सँभाल कर अर्थात् सजग होकर आलाप करे ।”

“भन्ते ! तथागत के शरीरकी अन्त्येष्टि कैसे होगी ?”

“जैसे चक्रवर्ती के शरीर की अन्त्येष्टि होती है ।”

“वह कैसे होती है भगवन् !”

“आनन्द ! चक्रवर्ती के शरीर को नये वस्त्र से लपेटते हैं । फिर रुई से लपेटते हैं । फिर नये वस्त्र से लपेटते हैं । फिर तेल की लोह-श्रेणी में रखते हैं । फिर सुगन्धित काष्ठ की चिता बना कर चक्रवर्ती के शरीर को प्रज्वलित करते हैं । तदनन्तर चौराहे पर चक्रवर्ती का स्तूप बनाने हैं ।”

आनन्द का रुदन

तब आयुष्मान् आनन्द विहार में जाकर कपिशोष (खूटी) को पकड़ कर रोने लगे—“हाय ! मैं शैक्ष्य हूँ । मेरे शास्ता का परिनिर्वाण हो रहा है ।” भगवान् ने भिक्षुओं से पूछा—“आनन्द कहाँ है ?”

भगवन् ! वे विहार के कक्ष में रो रहे हैं ।”

“उसे यहाँ लाओ ?”

तब आयुष्मान् आनन्द वहाँ आये । भगवान् ने कहा—

“मत् आनन्द ! शोक करो, मत् आनन्द ! रोओ । मैंने कल ही कहा था, सभी प्रियो का वियोग अवश्यम्भावी है । आनन्द ! तूने चिरकाल तक तथागत की सेवा की है । तू कृतपुण्य है । निर्वाण-साधन में लग । शीघ्र अनाश्रव हो ।”

कुसिनारा ही क्यों ?

आनन्द ने कहा—“भन्ते ! मत् इस क्षुद्र-नगरक में शाखा नगरक में, जगली नगरक में आप परिनिर्वाण की प्राप्त हों । अनेक महानगर हैं—चम्पा, राजगृह, आबस्ती, साकेत, कौशाम्बी, वाराणसी, वहाँ आप परिनिर्वाण की प्राप्त करें ।” वहाँ बहुत से घनिक क्षत्रिय, घनिक ब्राह्मण तथा अन्य बहुत से घनिक गृहपति भगवान् के भक्त हैं । वे तथागत के शरीर की पूजा करेंगे ।

आनन्द ! मत् ऐसा कहो । कुसिनारा का इतिहास बहुत बड़ा है । किसी समय यह नगर महासुदर्शन चक्रवर्ती की कुशावती नामक राजधानी था । आनन्द ! कुसिनारा में जाकर मल्लों को कह—‘वाशिष्ठो ! आज रात के अन्तिम प्रहर तथागत का परिनिर्वाण होगा । चलो वाशिष्ठो ! चलो वाशिष्ठो ! नहीं तो फिर अनुताप करोगे कि हम तथागत के बिना दर्शन के रह गये’ ।”

आनन्द ने ऐसा ही किया । मल्ल वह सवाद पा चिन्तित व दुःखित हुए । सब के सब भगवान् के बन्दन के लिए आये । आनन्द ने समय की स्वल्पता को समझ कर एक-एक परिवार को क्रमशः भगवान् के दर्शन कराये ।

इस प्रकार प्रथम याम में मल्लों का अभिवादन सम्पन्न हुआ । द्वितीय याम में मुभद्रा की प्रव्रज्या सम्पन्न हुई ।

अन्तिम आदेश

१. तब भगवान् ने कहा—“आनन्द ! सम्भव है, तुम्हें लगे कि शास्ता चले गये, अब उनका उपदेश है, शास्ता नहीं हैं । आनन्द ! ऐसे समझना, “मैंने जो धर्म कहा है, मेरे बाद वही तुम्हारा शास्ता है । मैंने जो विनय कहा है मेरे बाद वही तुम्हारा शास्ता है ।

२. “आनन्द ! अब तक भिक्षु एक-दूसरे को ‘आवुस’ कहकर पुकारते रहे हैं । मेरे पश्चात् अनुदीक्षित को

१. पूरे विवरण के लिये देखें,

‘आवुस कहा जाये और पूर्व-दीक्षित को ‘भन्ते’ या ‘आयुष्मान्’ कहा जाये।

३. “आनन्द ! मेरे पश्चात् चाहे तो संघ छोटे और साधारण भिक्षु-नियमो को छोड़ दे।

४. “आनन्द ! मेरे पश्चात् छल्ल-भिक्षु को ब्रह्म-दण्ड करना चाहिए।”

तब भगवान् ने उपस्थित भिक्षुओं से कहा—“बुद्ध, धर्म और सघ मे किसी को आशका हो, तो पूछ ले। नही तो फिर अनुताप होगा कि मैं पूछ न सका।” भगवान् के एक बार, दो बार और तीन बार कहने पर भी सब भिक्षु चुप रहे।

तब आनन्द ने कहा—“भगवन् ! इन पाँच सौ भिक्षुओं मे कोई सन्देहशील नही है। सब बुद्ध, धर्म और सघ मे आश्वस्त है।”

तब आनन्द ने कहा—“हन्त ! भिक्षुओं। अब तुम्हे कहता हूँ। सस्कार (कृत-वस्तु) व्ययधर्मा है। अप्रमाद से जीवन के लक्ष्य का संपादन करें। यह तथागत का अंतिम वचन है।”

निर्वाण-नामन

तब भगवान् प्रथम ध्यान को प्राप्त हुए। प्रथम ध्यान से उठकर द्वितीय ध्यान को प्राप्त हुए। इसी प्रकार क्रमशः तृतीय व चतुर्थ ध्यान को। तब भगवान् आकाशान्त्या यतन को प्राप्त हुए, तदनन्तर विज्ञानानन्त्यायतन को, सज्ञावेदयित-निरोध को प्राप्त हुए। आयुष्मान् आनन्द ने आयुष्मान् आनन्द से कहा—“क्या भगवान् परिनिर्वृत्त हो गये?” अनुरुद्ध ने कहा—“नही आनन्द ! भगवान् सज्ञावेदयित-निरोध को प्राप्त हुए हैं।” तब भगवान् सज्ञावेदयित-निरोध-समापत्ति (चारो ध्यानों के ऊपर की समाधि) से उठकर नैवभजावामजायतन को प्राप्त हुए। तब क्रमशः प्रतिलोम से पुनः सब श्रेणियों को पार कर प्रथम ध्यान को प्राप्त हुए। तदनन्तर क्रमशः चतुर्थ ध्यान मे आये और उसे पार कर भगवान् परिनिर्वाण को प्राप्त हुए। उस समय भयंकर भूचाल आया, देव-दुन्दुभियों बजी।

१. “हृद दानि, भिक्खवे, आमतयामि वो—वयधम्मा, सङ्काया, अप्पमादेन सम्पादेथा” त्ति।

निर्वाण के अनन्तर सहस्रपति ब्रह्मा ने, देवेन्द्र शक्र ने, आयुष्मान् अनुरुद्ध ने तथा आयुष्मान् आनन्द ने स्तुति-गाथाएँ कही।

उस समय अवीतराग भिक्षु क्रन्दन करने लगे, रोने लगे, कटे वृक्ष की तरह भूमि पर गिरने लगे। अनुरुद्ध ने उनका मोह-निवारण किया।

तब आयुष्मान् आनन्द कुसिनारा मे गये, सस्थागार मे एकत्रित मल्लो को उन्होंने कहा—“भगवान् परिनिर्वृत्ति हो गये हैं, अब जिसका तुम काल समझो।” इस दुःखद सवाद से साग कुसिनारा शोक-सतप्त हुआ।

तब कुसिनारा के मल्लो ने ६ दिन तक निर्वाणोत्सव मनाया। अन्त्येष्टि की तैयारियों की। सातवे दिन आठ मल्ल-प्रमुखो ने भगवान् के शरीर को उठाया। देवता और मनुष्य नृत्य करते साथ चले। जहाँ मुकुट-बधन नामक मल्लो का चैत्य था, वहाँ सब आये। आनन्द के मार्ग-दर्शन पाकर चक्रवर्ती की तरह भगवान् का अन्त्येष्टि कार्य सम्पन्न करने लगे। उसी क्रम से भगवान् के शरीर को चिता पर रखा।

महाकाश्यप का आगमन

उस समय मल्लो ने चिता को प्रज्वलित करना चाहा। पर वे वैसा न कर सके। आयुष्मान् अनुरुद्ध ने इसका कारण बताया—“वाशिष्ठो ! तुम्हारा अभिप्राय कुछ और है और देवताओं का अभिप्राय कुछ और। देवता चाहते हैं, भगवान् की चिता तब जले, जब आयुष्मान् महाकाश्यप भगवान् का चरण-स्पर्श कर ले।”

“कहाँ है भन्ते ! आयुष्मान् महाकाश्यप ?”

अनुरुद्ध ने उत्तर दिया—“पाँचसौ भिक्षुओं के साथ वे पावा और कुसिनारा के बीच रास्ते मे आ रहे हैं।” मल्लो ने कहा—“भन्ते ! जैसा देवताओं का अभिप्राय हो वैसा ही हो।”

आयुष्मान् महाकाश्यप मुकुट-बधन चैत्य मे पहुँचे। तब उन्होंने चीवर को एक कंधे पर कर, अजलि जोड़, तीन बार चिता की परिक्रमा की। वस्त्र हटा कर अपने शिर से चरण-स्पर्श किया। सार्धवर्ती पाचसौ भिक्षुओं ने भी वैसा किया। यह सब होते ही चिता स्वयं जल उठी।

जैसे घी और तेल के जलने पर कुछ शेष नहीं रहता, वैसे भगवान् के शरीर में जो चर्म, मांस आदि थे, उनकी न राख बनी, न कोयला बना। केवल अस्थिया ही शेष रही। भगवान् के शरीर के दग्ध हो जाने पर आकाश में मेघ प्रादुर्भूत हुआ और उसने चिता को शांत किया।

उस समय मल्लो ने भगवान् की अस्थिया अपने सस्थागार में स्थापित की। सुरक्षा के लिए शक्ति-पजर^१ बनवाया। धनुष-प्राकार^२ बनवाया। अस्थियों के सम्मान में नृत्य, गीत आदि प्रारम्भ किये।

धातु-विभाजन

उस समय मगधराज अजातशत्रु ने दूत भेज कर मल्लो को कहलाया—“भगवान् क्षत्रिय थे, मैं भी क्षत्रिय हूँ। भगवान् की अस्थियों का एक भाग मुझे मिले। मैं स्तूप बनवाऊँगा और पूजा करूँगा। इसी प्रकार वैशाली के लिच्छवियों ने, कपिलवस्तु के शाक्यों ने, मल्लकाय के वुलियों ने, राम-गाम के कोलियों ने, वेठ-द्वीप के ब्राह्मणों ने, तथा पावा के मल्लो ने भी अपने पृथक्-पृथक् अधिकार वनलाकर अस्थियों की मांग की। कुसिनारा के मल्लो ने निर्णय किया—“भगवान् हमारे यहाँ परिनिर्वाण हुए हैं, अतः हम किसी को अस्थियों का भाग नहीं देंगे।”

१ हाथ में भाला लिए पुरुषों का घेरा।

२ हाथ में धनुष लिए पुरुषों का घेरा।

द्रोण ब्राह्मण ने मल्लो में कहा—“यह निर्णय ठीक नहीं। भगवान् क्षमावादी थे, हमें भी क्षमा से काम लेना चाहिए। अस्थियों के लिए झगडा हो, यह ठीक नहीं। आठ स्थानों पर भगवान् की अस्थियाँ होगी, तो आठ स्तूप होंगे और अधिक लोग बुद्ध के प्रति आस्थाशील बनेंगे।”

मल्लो ने इस प्रस्ताव को पास किया। तदनन्तर द्रोण ब्राह्मण ने अस्थियों के आठ विभाग कर सबको एक-एक भाग दिया। जिस कुम्भ में अस्थियाँ रखी थी, वह अपने पास रखा। पिण्णलीवन के मोर्य आये। अस्थियाँ बट चुकी थी, वे चिता से अगार (कोयला) ले गये। सभी ने अपने-अपने प्राप्त अवशेषों पर स्तूप बनवाये।

भगवान् की एक दाढ़ स्वर्गलोक में पूजित है और एक गधार्गपुर में। एक कलिंग राजा के देश में और एक को नागराज पूजते हैं। चालीस कंश, रोम आदि को एक-एक करके नाना चक्रवालों में देवता ले गये।

१ एका हि दाठा निदिवेहि पूजिता.

एका पन गधार्गपुरे मत्तीयनि।

कालिङ्गरञ्जो विजिते पुनेक.

एक पन नागराजा महेनि ॥.....

चत्तालीस समा दत्ता, केसा लोमा च मव्वमो।

देवा हरिमु एकेव, चक्कवापरम्परा ति ॥

अनेकान्त के ग्राहक बनें

‘अनेकान्त’ पुराना ख्यातिप्राप्त शोध-पत्र है। अनेक विद्वानों और समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों का अभिमत है कि वह निरन्तर प्रकाशित होता रहे। ऐसा तभी हो सकता है जब उसमें घाटा न हो और इसके लिए ग्राहक संख्या का बढ़ाना अनिवार्य है। हम विद्वानों, प्रोफेसरों, विद्यापियों, लेखियों, शिक्षा-संस्थाओं, संस्कृत विद्यालयों, कालेजों विश्वविद्यालयों और अनंशुत की प्रभावना में अड्डा रखने वालों से निवेदन करते हैं कि वे ‘अनेकान्त’ के ग्राहक स्वयं बनें और दूसरों को बनायें। और इस तरह जैन सस्कृति के प्रचार एवं प्रसार में सहयोग प्रदान करें।

व्यवस्थापक ‘अनेकान्त’

अखिल भारतीय जैन शिक्षा-परिषद के सप्तम अधिवेशन में

यशपाल जैन का अध्यक्षीय भाषण

प्रिय बहनो और भाइयो,

अखिल भारतीय जैन शिक्षा परिषद के इस अधिवेशन के सभापति-पद पर आपने मुझे बिठाने का अनुग्रह किया, इसके लिए मैं आपका अत्यन्त आभारी हूँ, लेकिन इस चुनाव पर मैं आपको बधाई नहीं दे सकता। वस्तुतः इस स्थान पर आपको किसी शिक्षा-शास्त्री को आसीन करना चाहिए था, अथवा किसी ऐसे व्यक्ति को, जिसे शिक्षा के क्षेत्र का व्यावहारिक अनुभव होता। ऐसे महानुभावों की हमारे समाज में और देश में कमी नहीं थी। पर मैं तो अपने को इन योग्यताओं से शून्य पाता हूँ। फिर भी आपने मुझे सम्मान प्रदान किया, इसे मैं आपका स्नेह तथा सौजन्य मानता हूँ और आप सबके प्रति बड़े विनम्र भाव से अपनी कृतज्ञता अर्पित करता हूँ।

जिस संस्था के विशाल प्रांगण में आज हम सब इकट्ठे हुए हैं, वह मुझे पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी का स्मरण दिलाती है। वर्णीजी का समूचा जीवन त्याग-तपस्या का जीवन था। वह मानव-जाति के एक अमूल्य रत्न थे। मैं उनकी स्मृतिको अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

मुझे इस बात का बहुत ही हर्ष है कि आप यहाँ विभिन्न जैन शिक्षा-संस्थाओं के गण्यमान्य प्रतिनिधि तथा समाज-सेवी इतनी बड़ी संख्या में इकट्ठे हुए हैं। मैं आशा करता हूँ कि आप सब मिलकर शिक्षा-सम्बन्धी वर्तमान समस्याओं पर विचार करेंगे और ऐसा मार्ग निकालेंगे, जिससे जैन-धर्म तथा जैनदर्शन का अध्ययन अधिक-से-अधिक फलदायक हो और जैन शिक्षा-संस्थाएँ पूरी उपयोगिता से काम कर सकें।

आज तो देखने में आता है कि जैन समाज द्वारा लाखों रुपये व्यय करके जिन संस्थाओं का संचालन किया जा रहा है, उनमें से अधिकांश नाममात्र को जैन हैं। उनका पाठ्य-क्रम वही है, जो जैनतर संस्थाओं का है। कुछ में जैन-धर्म तथा जैन-दर्शनकी शिक्षा की व्यवस्था है। पर उसकी संख्या

नगण्य है। शिक्षा-संस्थाएँ सम्भवतः जैन इसलिए कही जाती हैं, क्योंकि उनका प्रबन्ध जैन करते हैं। इन संस्थाओं द्वारा जैन-धर्म, संस्कृति अथवा तत्त्वज्ञान को कितना बल मिलता है, यह एक विचारणीय बात है। जहाँ तक मेरी जानकारी है, इन जैन शिक्षा-संस्थाओं में अध्यापक और छात्र अधिकतर जैनतर हैं। फिर एक कठिनाई यह भी है कि शिक्षा-संस्थाओं पर सर्वैधानिक प्रतिबन्ध है। वर्तमान धर्म-निर्गपेक्ष राज्य में आप किसी भी संस्था को धर्म की शिक्षा देने के लिए विवश नहीं कर सकते। यदि इन स्कूलों और कालेजों में बहुसंख्या जैनो की हो, तो कुछ बाते विशेष रूप से चालू की जा सकती हैं, लेकिन मौजूदा परिस्थितियों में यह कहा सम्भव है !

मेरी निश्चित धारणा है कि धार्मिक शिक्षा को जब तक अनिवार्य विषय के रूप में स्थान नहीं दिया जाता तब तक वह पूरी तरह फलदायक नहीं हो सकती।

बन्धुओं, जबसे हमारा देश स्वतन्त्र हुआ है, बहुत-सी बड़ी-बड़ी योजनाएँ बनी हैं। उनमें से कुछ कार्यान्वित भी हुई हैं, लेकिन सबसे अधिक उपेक्षा शिक्षा की हुई है। विदेशी सत्ता ने शासनकाल में एक ऐसी शिक्षा-पद्धति चालू की थी, जो देश की मौलिक प्रतिभा पर कुठाराघात करे और उसके शासन-तन्त्र में काम करने के लिए बाबू लोगो की जमात खड़ी कर दे। स्वराज्य के बाद बहुत-सी कमेटियाँ बैठी, कमीशन बने, लेकिन दुर्भाग्य से थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ आज भी हम उसी पुरानी, देश-हित-विरोधी, शिक्षा पद्धति से चिपके हुए हैं।

इसका दुष्परिणाम आज आप स्वयं अपनी आँखों में देख रहे हैं। देश का नैतिक स्तर बराबर गिरता जा रहा है और चरित्र एवं नैतिक आस्थाओं के अभाव में आज सरस्वती के मन्दिर सत्तात्मक राजनीति के अखाड़े बन रहे हैं। छात्र-छात्राएँ उनमें निष्ठापूर्वक अध्ययन न करके बात-

बात पर आन्दोलन करते हैं और उनके हिंसात्मक उपद्रवों को दबाने के लिए सरकार को गोली का सहारा लेना पड़ता है।

शिक्षा-संस्थाओं की इस दुरवस्था के लिए शिक्षा-पद्धति तो दोषी है ही, अध्यापकों की अयोग्यता भी कम जिम्मेदार नहीं है। ठीक ही कहा जाता है कि जिन्हें और किसी क्षेत्र में काम नहीं मिलता, वे अध्यापक बनते हैं। मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि सब-के-सब अध्यापक अयोग्य हैं, लेकिन मेरी पक्की धारणा है कि बहुसंख्यक वा अध्यापक ऐसे हैं, जिनका शिक्षा में न रस है, न गति। वे बेतन-भोगी के रूप में काम करते हैं।

तीसरी एक बात और भी है और वह यह कि आज शिक्षा पुस्तकीय ज्ञान तक सीमित रह गई है, आचरण से उसका सम्बन्ध नहीं रहा। किसी महापुरुष ने कहा है कि विचारों के अनुकूल आचरण न हो तो वह गर्भपात के समान है।

हमारे देश का अतीत गौरवशाली रहा तो इसीलिए, क्योंकि ज्ञान के अनुरूप आचरण होता था और शिक्षा का मुख्य ध्येय जीवन का सुन्दर, निर्दोष, निष्काम तथा निरुपाधि बनाना था। जो विद्या इसमें सहायक होती थी वही सर्वोत्तम मानी जाती थी और इसे सिखानेवाला सद्गुरु अर्थात् आचार्यकी संज्ञा से विभूषित किया जाता था। आचार्य का अर्थ ही है आचारवान। स्वयं आदर्श जीवन का आचरण करते हुए राष्ट्र से उसका आचरण करा लेनेवाला ही आचार्य कहलाता था।

शिक्षा और जीवन समन्वय के सम्बन्ध में यहाँ मुझे महाभारत का एक प्रसंग याद आता है। पाण्डव अपने गुरु द्रोणाचार्य से शिक्षा प्राप्त करते थे। एक दिन द्रोण ने उन्हें पढ़ाया, सत्य बोलो। पढ़ाकर उन्होंने बारी-बारी से पाँचों भाइयों से पूछा कि पाठ याद हो गया? सबने उत्तर दिया कि हाँ, हो गया अगले दिन उन्होंने पढ़ाया, क्रोध को जीतो पढ़ाकर उन्होंने सबसे बड़े भाई युधिष्ठिर से पूछा कि पाठ याद हुआ तो उन्होंने कहा, नहीं। द्रोण ने और भाइयों से पूछा तो सबने कह दिया कि हाँ गया। द्रोण की युधिष्ठिर पर भुल्लाहट हुई। उन्होंने कहा कि तुम्हारी बुद्धि कैसी है, जो यह मामूली सा पाठ तुम्हें याद नहीं हुआ

अच्छा कल याद करके आना। नहीं तो खैर नहीं है अगले दिन युधिष्ठिर आये तो गुरुके पूछने पर उन्होंने कहा कि पाठ याद नहीं हुआ। इस पर द्रोण ने बहुत खरी-खोटी सुनाई। कहा कि तुम्हारे मस्तिष्क में भूसा भरा है और तुम अपने जीवन में कुछ नहीं कर सकते बुरा-भला कहने के बाद उन्हें एक दिन का अवसर और दिया तीसरे दिन पाठशाला के आरम्भ होते ही गुरुजी ने युधिष्ठिर से पाठ की बात पूछी और जब युधिष्ठिर ने इन्कार किया तो द्रोण को ताव आ गया। उन्होंने युधिष्ठिर को पास बुलाया और बड़े जोर से एक चाटा उसके गाल पर मारा। चाटा लगते ही युधिष्ठिर ने कहा, पाठ याद हो गया। द्रोण बोले, “मुझे मालूम नहीं था कि चाटा खाकर तुम्हें पाठ याद होगा, अन्यथा दो दिन का समय मैं क्यों खराब करता,” युधिष्ठिर ने कहा, “गुरुजी ऐसी बात नहीं है। पहले दिन जब आपने पूछा था कि पाठ याद हुआ तो मुझे अपने पर विश्वास नहीं कि मैंने क्रोध को जीत लिया है। सम्भव है, कोई बुरा-भला कहे तो मुझे गुस्सा आ जाय। दूसरे दिन जब आपने मुझ से कठोर बातें कही तब भी मुझे गुस्सा नहीं आया। फिर भी मैंने सोचा कि हो सकता है कि कोई मांगे तो मुझे क्रोध आ जाय। लेकिन आज जब आपने मारा और मेरे मनमें जग भी गुस्सा नहीं आया, तब मैं समझा कि मुझे पाठ याद हो गया।”

बधुओं, यह दृष्टान्त मैंने यह बताने के लिए दिया है कि सच्चा ज्ञान वही है, जो जीवन में उतरे। आज विज्ञान की प्रगति से ज्ञान का क्षेत्र तो बहुत व्यापक हो गया है लेकिन उसका सम्बन्ध जीवन से टूट गया है। इसलिए आज बार-बार कहा जा रहा है कि विज्ञान और अध्यात्म का समन्वय होना चाहिए। आज यही समन्वय हमें नहीं दिखाई दे रहा।

पूज्य मुनि श्री विद्यानन्दजी ने अपने हाल ही के एक पत्र में मुझे लिखा है, “आज धर्म और संस्कृति पर निष्ठा रखने की सर्वाधिक आवश्यकता है यह एक महान प्रयत्न है जिसके लिए विशाल तथा उच्चकोटि का बहुमुखी प्रयत्न अपेक्षित है। सोमदेव सूरि ने कहा है—‘लोकव्यवहारज्ञो हि सर्वज्ञः। अन्यस्तु प्राज्ञोऽप्यवज्ञागत एव’—इसलिए लोक-व्यवहार को जानना अत्यावश्यक है और उसमें अपनी

मूल निधि को भुलाना नहीं चाहिए ।'

मुनिश्री ने कुछ उपयोगी सुझाव भी दिये हैं, जो हम सबके लिए शिक्षा-दर्शक हो सकते हैं। उनके सुझावों को यहाँ देने का लोभ मैं सवरण नहीं कर सकता। वह लिखते हैं :

“युग के साथ चलना चाहिए, परन्तु क्षमतावान तो वही है जो युग को अपने साथ ले चलने की योग्यता उपा-जित करे। अपने सांस्कृतिक मूल्यों का यदि हम स्वयं अवमूल्यन नहीं करते तो दूसरा कौन उन्हें गिरा सकता है? समाज और देश के साथ समझौता करना उत्तम बात है, परन्तु अपनी आत्मिक और धार्मिक सम्पत्ति का क्षय करके कोई समझौता नहीं किया जा सकता। आचार्य सोमदेव सूरि ने कहा है—“जैनों के लिए उन सब लौकिक विधियों का पालन करना सुगम है, जिनमें सम्यक्त्व की हानि न हो तथा व्रतों में दोष नहीं आये।” मद्य, मधु, मांस तथा अण्डा सर्वथा त्याज्य है—इस धार्मिक सत्य को जैन बालकों को अच्छी प्रकार समझा देना चाहिए।

सब एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधि ।

न यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र व्रत दूषणम् ॥

२ यह युग सहचरिता का है। भावात्मक एकता की गहनी आवश्यकता है। एक राष्ट्रीयता तथा मानवीय पक्ष के लिए यथाशक्ति बाल्यन्य निर्माण करने जाने से आत्मबल बढ़ता है। आत्मीयों की अधिकता होती है। ऐसा न करने से द्वेष-बुद्धि को प्रश्रय मिलता है। कबीर का दोहा आज भी इस दृष्टि से अनुपेक्षणीय है

पड़ोसी सँ रूसणा तिल-तिल सुख की हानि ।

पंडित भये सगवगी पानी पीवे छानि ॥

३ शिक्षा-संस्थाएँ पृथक् पाठ्य-क्रम बनाकर नहीं चल सकती, परन्तु ऐसा वातावरण अवश्य उत्पन्न कर सकती है जिससे छात्र-वर्ग सत्प्रेरणा ले सके। अपने सांस्कृतिक आयोजन, श्रुति-प्रार्थना, नाटक-रूपक, उपदेश-वाक्य इत्यादि द्वारा बड़ा अनुकूलता निर्माण की जा सकती है। प्रदर्शन न करते हुए प्रयोगात्मकता अपनाना श्रेयस्कर है। संस्थाओं का अन्तरंग किसी प्रीड, धार्मिक व्यक्तित्व से परिचालित होना चाहिए।

लोक में जैनों का आदर्श जीवन पुनः लोक साहित्य में

प्रतिष्ठा हो तथा उनकी पवित्रता के गीत सभाषोषों में सुनाई दे, यही जैनों का लौकिक पुरुषार्थ होना चाहिए। अकाल-स्तुति में (जपुजी १५० वाणी गुटका में) लिखा है—‘स्वावग सुद्ध समूह सिद्धान के देखि’—ऐसे नवीन गीतों की रचना जैन-आचार पर निर्मित हो।’

मुनिश्री की यह सत्प्रेरणा वर्तमान जैन-शिक्षा-संस्थाओं के विचार तथा दिशा-निर्देश के लिए बड़ी महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करती है।

मज्जनो, मैं मानता हूँ कि जैन-समाज भारतीय जीवन का अभिन्न अंग है। इसलिए आज जो सकट देश के सामने उपस्थित है। वह उसका भी है और उसे दूर करने में जैन-समाज को अपना योगदान देना चाहिए। सकट से मेरा आशय भौतिक वस्तुओं के सकट से नहीं है, हालांकि दैनिक जीवन में उसका भी अपना महत्व है। मेरा आशय तो मूल्यों के सकट से है, उस आस्था के अभाव से, जिसके कारण आज चांगे और अनैतिकता का साम्राज्य फैला हुआ दिखाई देता है।

जैन धर्म में अहिंसा को परमधर्म माना है। उसके अनुयायियों का कर्तव्य है कि वे अहिंसा की तेजस्विता को विरव के सामने प्रगट करें। आज सारा समार अणु-शक्ति के विकास में लगा है। उसके विनाशकारी प्रयोग को हम हीरोशिमा तथा नागासाकी में देख चुके हैं। अन्य अनेकों देशों में आज देख रहे हैं। सच बात यह है कि आज बड़े-से-बड़े राष्ट्र भयभीत हो रहे हैं कि यदि दूसरे राष्ट्र के पास आणविक शक्ति अधिक हो गई तो उसका अस्तित्व खतरे में पड़ जायगा दो महायुद्ध हम देख चुके हैं। तीसरे महायुद्ध की घटाएँ जब-तब आकाश में घिर आती हैं जब समार इतना त्रस्त हो रहा है तो अहिंसा के प्रचार के लिए इसमें बढ़कर और कौन-सा उपयुक्त समय हो सकता है? लेकिन किम अहिंसा का? उस अहिंसा का नहीं, जिसे कायर अपनाता है, बल्कि उस अहिंसा का, जो वीर का भूषण है और जिसकी तेजस्विता के आगे शक्तिशाली पाशविक बल स्वतः ही पराभूत हो जाता है।

अहिंसा के पुजारी होने के नाते जैन-समाज पर इस दिशा में भारी जिम्मेदारी आती है। वर्तमान परिस्थितियों में इस जिम्मेदारी का निर्वाह किस प्रकार किया जा सकता

है इस पर गम्भीरता से विचार करना आवश्यक है।

एक बन्धु ने सुझाव दिया है कि शिक्षा का स्थान अब यूनिवर्सिटी या कालेज ही हो सकते हैं। छोटी-छोटी पाठशालाओं या गुरुकुलों का अब शिक्षा के क्षेत्र में कोई स्थान रहनेवाला नहीं है उसकी धारणा है कि अपने स्वतन्त्र गुरुकुल अथवा पाठशाला चलाने की अपेक्षा शिक्षा केन्द्रों में जैन-छात्रवासों की सुविधा कर देने से जो परिणाम निकल सकते हैं, वे स्वतन्त्र संस्थाएं चलाकर नहीं।

मेरी मान्यता है कि धार्मिक संस्कार देना और धार्मिक विषयों का ज्ञान देना, ये दो भिन्न बातें हैं। जहां तक संस्कार का सम्बन्ध है, वे घरों में और छोटी-छोटी पाठशालाओं के द्वारा ही दिये जा सकते हैं। लेकिन जहां तक ज्ञान का सम्बन्ध है, उसके लिए महाविद्यालय तथा विश्व-विद्यालय स्तर पर शिक्षा तथा अन्वेषण की व्यवस्था करनी होगी।

शिक्षा किसी भी राष्ट्र की रीढ़ होती है। बिना शिक्षा के कोई भी देश आगे नहीं बढ़ सकता। ससार का इतिहास साक्षी है कि जिन देशों में देश-कालके अनुसार शिक्षा द्वारा देशवासियों का चरित्र उच्चा किया गया है, उन देशों ने कुछ समय में ही बड़ी भारी उन्नति की है। वे कहीं-कहीं पहुंच गये हैं।

लेकिन स्मरण रहे कि सही ढंग की शिक्षा जितना लाभ पहुंचाती है, गलत शिक्षा उससे कहीं अधिक हानि पहुंचाती है। हमारे देश की जो हानि हुई है और हो रही है वह इसलिए कि हमने अभी तक अपनी शिक्षा को पुरानी लकीर से हटाकर नये सांचे में नहीं ढाला।

अखिल भारतीय जैन शिक्षा-परिषद का मुख्य उद्देश्य जैन शिक्षा तथा शिक्षा-संस्थाओं को अधिकाधिक व्यापक एवं उपयोगी बनाना है। इस सम्बन्ध में मैं कुछ सुझाव आपके विचारार्थ प्रस्तुत करता हूँ।

१. आज जैन-समाज द्वारा जितनी शिक्षा-संस्थाओं का संचालन हो रहा है, उनके साथ एक-एक छात्रवास की व्यवस्था हो, विशेषकर बड़े-बड़े नगरों में तो शीघ्रातिशीघ्र हो जानी चाहिए, जहां युवकों में चरित्र का ह्रास बड़ी तेजी से हो रहा है। इन छात्रवासों के संचालन का दायित्व उन व्यक्तियों पर हो, जो धर्म में गहरी आस्था

रखते हों और जिनका व्यक्तित्व प्रभावशाली हो। इन छात्रवासों में आचार-विचार की शुद्धता पर सबसे अधिक बल दिया जाय। प्रार्थना, स्वाध्याय आदि उनके दैनिक जीवन के अनिवार्य अंग हों। ऐसा प्रयत्न भी किया जाय, जिससे छात्रों की दृष्टि व्यापक बने और उनमें मौलिक चिन्तन की प्रवृत्ति उत्पन्न हो।

२. देश की वर्तमान स्थिति में यह तो संभव नहीं है कि किसी धर्म विशेष की शिक्षा को पाठ्यक्रम में सम्मिलित कराया जा सके, लेकिन भारतीय धर्मों के सामान्य आचार-विचार की शिक्षा की व्यवस्था तो हो ही सकती है और उनके लिए प्रयत्न होने चाहिए। बिना पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किये, जन सामान्य की भाषा शैली में, ऐसे पाठ तैयार करने चाहिए, जो जैन तथा जैनतर सभी छात्रों को नैतिक जीवन की शिक्षा दे सकें।

३. जैन शिक्षा-संस्थाओं में ऐसे केन्द्र बनने चाहिए, जिनमें जैन-धर्म तथा दर्शन का अध्ययन एवं शोध की जा सके। मृयोग्य एवं क्षमतावान छात्रों को छात्र-वृत्तियां देकर उस दिशा में विशेष प्रेरणा देनी चाहिए।

४. महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालय में जहां संस्कृत पढ़ाई जाती है, वहां विकल्प रूप में प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं के अध्ययन का भी प्रबन्ध होना चाहिए। आज भी बहुत-से विद्यानुरागी युवक हैं, जो प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं के ग्रन्थों के अध्ययन में विशेष रुचि रखते हैं उन्हें इन भाषाओं के सीखने तथा ग्रन्थों के अध्ययन की सुविधा मिलनी चाहिए।

५. जैन शिक्षा-संस्थाओं में जैन संस्कृति तथा दर्शन के सम्बन्ध में समय-समय पर विद्वानों के भाषणों का आयोजन होना चाहिए। इन भाषणों में यह दृष्टि रहनी आवश्यक है कि हम अपने धर्म तथा संस्कृति को तो जानें, लेकिन हमारी वृत्ति सर्व-धर्म-समभाव की हो, यानी हमारे अन्दर सब धर्मों के लिए समान आदर-भाव जाग्रत हो।

६. भारत की राजधानी में एक ऐसे संग्रहालय की स्थापना होनी चाहिए, जिनमें जैन-धर्म के प्रमुख मुद्रित एवं हस्तलिखित ग्रन्थोंका संग्रह हो। ऐसे संग्रहालय कुछ स्थानों पर हैं, लेकिन दिल्ली एशिया का महत्वपूर्ण केन्द्र है अतः एक बड़ा संग्रहालय वहाँ होना चाहिए। संग्रहालय की

शाखाएं विभिन्न स्थानों पर खोली जा सकती है।

७. जैनधर्म के हस्तलिखित ग्रंथ जगह-जगह जैन-भण्डारों में भरे पड़े हैं। उनकी एक सूची सक्षिप्त परिचय के साथ शीघ्र ही तैयार हो जानी चाहिए।

८. मुझे संसार के अनेक देशों में घूमने का अवसर मिला है। यूरोप, दक्षिण-पूर्वी एशिया, अफ्रीका प्रशान्त महासागर के देश, सब जगह मुझे ऐसे व्यक्ति मिले हैं, जिन्होंने जैन-धर्म के प्रति बड़ी जिज्ञासा व्यक्त की है और ऐसे साहित्य की मांग की है, जो उन्हें सरल भाषा में जैन-धर्म के बुनियादी सिद्धांतों की जानकारी दे सके। विदेशियों के लिए हमारे कुछ विद्वानों ने साहित्य तैयार किया था, लेकिन तब से अब तो संसार बहुत आगे बढ़ गया है। नए लोग धर्म का इसलिए अध्ययन करना चाहते हैं कि उन्हें अपने दैनिक जीवन की समस्याओं को सुलझाने में सहायता मिले। उनका धरातल बौद्धिक है और वे उसी साहित्य को अंगीकार कर सकते हैं, जो बुद्धि की कसौटी पर कसा जा सके।

९. इसके लिए ऐसे प्रकाशन-गृह की आवश्यकता है, जो विद्वान लेखकों से ग्रंथ तैयार कराकर उसका प्रकाशन करे। यह प्रकाशन-गृह उन हस्तलिखित ग्रंथों का भी प्रकाशन कर सकता है, जो अत्यन्त उपयोगी हैं और जो भण्डारों में बन्द पड़े हैं।

१०. जैन साधु तथा साध्वियाँ देश में धूम-धूमकर धर्म-प्रभावना प्रसारित करती हैं, लेकिन उनके दायरे सीमित हैं, अतः उनकी उपयोगिता भी सीमित है। जैन समाज के चुने हुए विद्वानों के, जो अच्छे वक्ता भी हों, छोटे-छोटे शिष्टमण्डल देश के विभिन्न भागों में जा सकें, ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए। कुछ शिष्टमण्डल विदेशों में भी जाने आवश्यक हैं। वहाँ के निवासी हिंसा से तग आकर अहिंसा की ओर आकर्षित हो रहे हैं और वे मानते हैं कि उस दिशा में जैन-धर्म की विशेष देन है।

११. दिल्ली तथा अन्य केन्द्रीय स्थानों पर समय-समय पर गोष्ठियों का आयोजन भी उपयोगी होगा। ये गोष्ठियाँ जैनतर व्यक्तियों को जैन-धर्म की ओर आकर्षित करने में सहायक हो सकती हैं, ऐसा मेरा विश्वास है।

१२. आचार्य विनोबा के आह्वान पर बहुत-से भाई-

बहनों ने उनकी अहिंसक क्रान्ति को सफल बनाने के लिए अपना जीवन समर्पित कर दिया है। वे 'जीवनदानी' कहलाते हैं। ऐसे ही कुछ सेवा-भावी व्यक्ति जैन-समाज में भी आने चाहिए। वे समाज-सेवा के लिए अपने जीवनको अर्पित कर दें और अपने-अपने क्षेत्र में समाज-सेवा का कार्य करें। वे अपना पूरा समय समाज-सेवा को दे और समाज का दायित्व हो कि वह उनकी जीविका की व्यवस्था करे।

१३. ऐसे पारितोषिकों की भी सुविधा होनी चाहिए, जो सदाचार, निर्भीकता, भ्रातृभाव आदि की दृष्टि से उच्च कोटि के छात्रों को दिये जा सकें। ऐसे पारितोषिकों से छात्र-छात्राओं में स्वास्थ प्रतिस्पर्धा उत्पन्न होगी।

१४. हमारी शिक्षा बहुत-कुछ एकांगी है। वह पुस्तक-कीय ज्ञान कराने का तो प्रयत्न करती है, लेकिन वह युवकों में स्वावलम्बन की भावना और आत्मविश्वास पैदा नहीं कर सकता है जवाके हसारी शिक्षा-संस्थाओं में उद्योग के शिक्षण की भी व्यवस्था हो। गांधीजी ने बुनियादी शिक्षा का प्रचलन इसीलिए किया था। श्रम के बिना ज्ञान अधूरा है और बिना शिक्षा खरी मेहनत के धर्म भी अपंगु है। इसलिए हमारी शिक्षा-संस्थाओं में उद्योग का शिक्षण अनिवार्य होना चाहिए।

ऐसे और भी बहुत-से कार्य हो सकते हैं मैं उन सब को यहाँ गिनाना नहीं चाहता। मैंने तो केवल सकेत किया है। आप सब विज्ञ है। गम्भीरता से विचार करके व्यावहारिक योजनाएँ बनाये और उन्हें क्रियान्वित करें।

जैन धर्म की बड़ी व्यापकता है और जैन-समाज की बड़ी उपयोगिता भी हो सकती है, लेकिन यह तभी संभव है, जबकि सारा समाज सगठित हो और उन आदर्शों को अपने आचरण से संसार के सामने रखे, जो सबके लिए कल्याणकारी हैं।

जैन-दर्शन का सम्यक् ज्ञान वास्तव में अद्भुत है मन का ज्ञान सदा अहं की एकांगी अहता से निर्धारित तथा विकृत होता है। वह कभी सम्यक् भी नहीं होता। उसकी उपयोगिता सामाजिक व्यवहार की है। उसमें यथार्थता नहीं होती और तभी 'शिव' और 'सुन्दर' के साथ एकत्व भी उसमें नहीं होता। हमारा वर्तमान ज्ञान एकांगी, आशिक है। उसमें 'शिव' और 'सुन्दर' का समन्वय नहीं है।

जैनधर्म में सम्यक् ज्ञान की कितनी महिमा है, यह बताने की आवश्यकता नहीं। यह ज्ञान तटस्थ आत्मा का समग्रभाव युक्त ज्ञान है। वही ज्ञान हमारे ज्ञान और कर्म को एकत्व भाव प्रदान करता है। आज इसी की आवश्यकता है और हमारी शिक्षा-संस्थाओं को अब आगे इसी दिशा में निष्ठापूर्वक प्रयास करना चाहिए।

आचार्य विनोबा के शब्दों में, “अग्नि की दो शक्तियाँ मानी गई हैं। एक ‘स्वाहा’, दूसरी ‘स्वधा’। ये दोनों शक्तियाँ जहाँ हैं, वहाँ अग्नि है। ‘स्वाहा’ के मायने हैं। आत्माहुति देने की, आत्म-त्याग की शक्ति और ‘स्वधा’ के मायने हैं ‘आत्मधारण करने की शक्ति।’ ये दोनों शक्तियाँ हमारे शिक्षण में जाग्रत होनी चाहिए।

जो संस्थाएं इस दिशा में प्रयत्नशील हैं, उन्हें मैं बधाई देता हूँ। पर वे मेरी इस बात से सहमत होगी कि अब समय तेजी से आगे बढ़ने को आ गया है। अब जबकि चन्द्रलोक में जाने और वहाँ बसने की चेष्टाएँ हो रही हैं, हमें अपने वर्तमान प्रयत्नों से संतुष्ट नहीं रहना चाहिए। ‘चरैवेति’ के मूलमंत्र को सामने रखकर गतिपूर्वक आगे बढ़ना चाहिए।

बहनो और भाइयो, मैंने आपका बहुत समय ले लिया क्षमा करे। मैं नहीं जानता कि ये विचार आपके लिए कितने उपयोगी होंगे। मैं मानता हूँ कि अब समय कहने से अधिक करने का है। मैं एक बार पुनः आपका आभार मानता हूँ और आपने मेरी बात ध्यानपूर्वक सुनी, उसके लिए आपको धन्यवाद देता हूँ।

शिरपुरका जैनमन्दिर दिगम्बर जैनियों का ही है

सुप्रसिद्ध इतिहासकार डा० देशपांडे का अभिमत

नागपुर बुधवार। “उपलब्ध सभी ऐतिहासिक प्रमाणों से शिरपुर का अतरिक्ष पार्श्वनाथ जी का मन्दिर और अतरिक्ष पार्श्वनाथ जी की प्रतिमा, ये दोनों पूर्ण निम्नस्थ व दिगम्बर जैनों के हैं। इसमें किञ्चित् मात्र भी शका नहीं” ऐसा वक्तव्य भारत के मान्यवर ८६ वर्षीय इतिहासकार डा० य. खु. देशपांडे ने दिया है।

डा० देशपांडे ने इतवारी स्थित श्री दि. जैन सेनगण मन्दिर के प्रांगण में, नागपुर दि. जैन बघेरवाल मडल के तत्वावधान में आयोजित परिचय समारोह की जाहिर सभा में भाषण देते हुए उक्त रहस्योद्घाटन किया। अध्यक्षता नागपुर दि. जैन बघेरवाल मडल के अध्यक्ष श्री व. क. गरीब ने की।

डा० देशपांडे ने कहा की सभी ऐतिहासिक प्रमाणों से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि करीब २००० साल पहले भारत में केवल दिगम्बर जैन धर्म और उसके मन्दिर (प्रतिमायें) अस्तित्व में थे, और भगवान महावीर के महानिर्वाण के बाद ५००—६०० साल तक भारतवर्ष में

केवल दिगम्बर जैन ही थे। उस समय श्वेतावरी पथ अस्तित्व में नहीं था, गत २०० साल से श्वेतावरियों ने व्यापार के बहाने विदर्भ में प्रवेश किया।

करीब २०० साल पहले तक विदर्भ में एक भी श्वेतावरी मन्दिर अथवा प्रतिमाये नहीं थीं, तदुपरांत श्वेतावरियों ने योजनायें बनाकर दिगम्बर जैन मन्दिरों और मूर्तियों पर पूजा का हक स्थापित करने का प्रयास किया। इस प्रयास द्वारा ही उन्होंने श्री अतरिक्ष पार्श्वनाथ जी मन्दिर पर कुछ अंशों में हक स्थापित किया। डा० देशपांडे ने अपील की कि दोनों सम्प्रदायों के लोगों को धर्म का प्रचार कर हिंसा को तिलाजली देना चाहिये। मन्दिर और प्रतिमाये किसकी हैं, यह निश्चित करने का कार्य ऐतिहासिक प्रमाणों पर छोड़ देना चाहिए।

प्रारंभ में प्रो. मधुकर जी बाबगांवकर ने डा० देशपांडे का परिचय कराया। इस अवसर पर प्रो. ब्रम्हानंद जी देशपांडे, नेमचंद डोणघावकर, मनोहर आग्नेकर के समयोचित भाषण हुए। अंत में सचिव अरविंद जोहरापुरकर ने आभार प्रदर्शन किया।

केशि-गौतम-संवाद

श्री पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री

इवेताम्बर सम्प्रदाय में एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ उत्तरा-ध्ययन प्रसिद्ध है। उसकी गणना मूल-सूत्र आगमो में प्रथम मूलसूत्र के रूप में की जाती है। इसमें विनय व परीषद् आदि ३६ अध्यायन हैं। उनमें तेईसवा अध्यायन 'केशि-गौतमीय' है जो विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसमें भगवान् पार्श्व जिनके एक शिष्य केशिकुमार श्रमण और वर्धमान स्वामी के प्रमुख गणधर का मधुर मिलन होने पर जो दोनों के मध्य में प्रश्नोत्तर हुए उनका रोचक वर्णन है, जो बहुत उपयोगी है। अपने को स्याद्वादी स्थापित करने वाले जैन महानुभाव यदि इस अध्यायन को पढ़ें, मनन करें, और जीवन में उतारें तो वर्तमान कलुषित वातावरण सर्वथा समाप्त हो जाय। इसमें पारस्परिक द्वैविध्य के विषय में जो एक दूसरे को सम्मान देने हुए^१ सौजन्यपूर्ण

१ पारस्परिक सम्मान का पता इससे सहज में लगता है कि गौतम प्रमुख गणधर होकर भी ज्येष्ठ कुल का विचार करके केशिकुमार श्रमण से मिलने के लिए स्वयं उनके स्थान पर जाते हैं। यथा—

गौतमे पडिरूवण्णु सीससघसमाउले ।

जेडुं कुलमवेक्खतो तेदुय वणमागमो ॥१५॥

उधर उनको आता हुआ देखकर केशिकुमार भी शीघ्रतापूर्वक स्वागत करते हुए उन्हें समुचित आसन आदि देते हैं। यथा—

केसीकुमारसमणो गोयम दिस्समागय ।

पडिरूव पडिवर्त्त सम्म सपडिवज्जती ॥१६॥

पलाल फामुय तत्थ पचम कुसतणणि य ।

गोयमस्स णिसिज्जाए खिप्प सपणामए ॥१७॥

इसी प्रकार केशिकुमार के द्वारा पूछे गये प्रत्येक प्रश्न का गौतम के द्वारा समाधान करने पर बार बार केशिकुमार के श्रीमुख से गौतम की बुद्धिचातुर्य की प्रशंसा में निम्न सूत्र कहलाया जाता है—

समन्वयात्मक दृष्टिकोण से विचार किया गया है वह बहुत ही आकर्षक है।

इस अध्यायन में ८६ सूत्र हैं जो अनुष्टुप् वृत्त में हैं। प्रथम सूत्र द्वारा भगवान् पार्श्व जिनेन्द्र का स्मरण करते हुए उन्हें अर्हन्त, लोकपूजित, सम्बुद्धात्मा, सर्वज्ञ और धर्म-तीर्थकर कहा गया है।

इस प्रसंग को लेकर प्रस्तुत ग्रन्थ के एक वृत्तिकार श्री नेमिचन्द्र ने अपनी सुखबोधा वृत्ति में^२ इस प्रथम सूत्र की टीका में भ. पार्श्व जिन के चरित्र का चित्रण किया है (पृ. २८५-६५) जो किसी अन्य ग्रन्थ से जैसे का तैसा लिया गया प्रतीत होता है।

आगे (सू. २-४) कहा गया है कि भ. पार्श्व जिनेन्द्र के एक महायशस्वी शिष्य केशिकुमार श्रमण—जो ज्ञान और चरित्र के पारगामी होते हुए अर्वाविज्ञान और श्रुतज्ञान से बुद्ध (तत्त्ववेत्ता) थे—ग्रामानुषाम विहार करते हुए अपने शिष्यसमुदाय के साथ श्रावस्ती पुरी में आये और नगरी के समीप तिन्दुक उद्यान में प्रामुक शय्या-सस्तारक (वसतिगत शिलापट्ट आदि) पर ठहर गये।

इसी समय लोकविश्रुत भगवान् वर्धमान धर्म-तीर्थकर के महायशस्वी शिष्य गौतम भी—जो ज्ञान व चरित्र के पारगामी, बारह अंगों के वेत्ता व बुद्ध थे—ग्रामानुषाम विहार करते हुए अपने शिष्यवर्ग से वेष्टित होकर उप-र्युक्त पुरी में आये और नगर के समीप कोष्ठक उद्यान में

साहु गोयम पन्ना ते छिन्नो मे ससओ इमो ।

अन्नोऽवि संसओ मज्झंत मे कहसु गोयमा ॥

(२८ व ३४ आदि)

१ प्रकृत ग्रन्थ के कितने ही संस्करण विविध टीका-टिप्पणों के साथ निकल चुके हैं। किन्तु हमारे सामने वह श्री नेमिचन्द्र की इस संक्षिप्त सुखबोधा वृत्ति सहित है।

प्रासुक शय्या-सस्तारक पर स्थित हो गये । (५-८)

इस प्रकार जब वे दोनों महर्षि अपने-अपने शिष्य-सघ के साथ आकर एक ही पुगी में प्रतिष्ठित हुए तब दोनों के शिष्यसमुदाय में यह चिन्ता प्रादुर्भूत हुई—यह हमारा धर्म कैसा और गौतम गणधर के शिष्यों का धर्म कैसा है ? म. पार्श्व जिन ने जहा चातुर्याम—ब्रह्मचर्य-विहीन चार ही महाव्रत रूप—धर्म का उपदेश दिया वहां वर्धमान तीर्थकर ने पचशिक्षित—अहिंसादि पाच महाव्रत स्वरूप—उसी धर्म का उपदेश दिया । इसी प्रकार आचारधर्मप्रणिधि—लिगादिरूप बाह्य क्रियाकलाप—के विषय में जहा वर्धमान तीर्थकर ने अचेलक (दिगम्बरत्व—वस्त्रविहीनता) धर्म का उपदेश दिया वहा पार्श्व जिन ने सान्तरौत्तर—प्रमाण आदि में सविशेष व महामूल्यवान् होने से प्रधान ऐसे वस्त्र से युक्त—उस धर्म का उपदेश दिया । जब उक्त दोनों ही तीर्थकर मुक्तिरूप एक ही कार्य में सलग्न रहे हैं तब उनके द्वारा उपदिष्ट इस धर्म-भेद का क्या कारण है ? (६-१३)

शिष्यसघों की इस चिन्ता को जानकर दोनों महर्षियों ने आपस में मिलने का विचार किया । तदनुसार यथा-योग्य विनय के वेत्ता गौतम गणधर ज्येष्ठ कुलका विचार करते हुए तिन्दुक वन में केशिकुमार श्रमण के पास आये । उन्हें आता हुआ देखकर केशिकुमार ने समुचित आतिथ्य में प्रवृत्त होते हुए उनके बैठने के लिए शीघ्रता से प्रानुक पलाल में पचम कुश तृणों को—डाभ के आसन को—दिया । (१४-१७)

इस प्रकार एक साथ बैठे हुए वे दोनों महर्षि चन्द्र-सूर्य के समान सुशोभित हुए । (१८)

उनके इस मधुर मिलन के समय कौतुकवश मृगों के समान बहुत-से पाखण्डी—इतर व्रती जन—और हजारों

गृहस्थ आये । इनके अतिरिक्त वहां देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर ये दृश्य तथा अदृश्य भूत व्यन्तर भी आये । (१९-२०)

तत्पश्चात् केशिकुमार गौतम से बोले कि हे महा-भाग ! मैं आप से कुछ पूछना चाहता हूँ । इस पर गौतम बोले कि भने ! जो कुछ भी पूछना हो, अवश्य पूछिये । तब अनुज्ञा पाकर केशिकुमार बोले । (२१-२२)

१ केशि—चातुर्याम जो धर्म है उसका उपदेश तो पार्श्व जिनने दिया, और जो पचशिक्षित धर्म है उसका उपदेश वर्धमान जिनने दिया है । एक ही कार्य (मुक्ति) में प्रवृत्त उक्त दोनों तीर्थङ्करों के इस दां प्रकार धर्म की प्ररूपणा का क्या कारण है तथा इसमें आपको सन्देह क्यों नहीं होता ?

गौतम—तत्त्वनिश्चय से संयुक्त इस धर्मतत्त्व का रहस्य बुद्धि के बल से जाना जाता है । वाक्य के श्रवण मात्र से कभी वाक्यार्थ का निर्णय नहीं होता—वह तो बुद्धि के बल पर ही हुआ करना है । प्रथम तीर्थकर के समय में साधु जन ऋजु-जड—सरल होते हुए भी दु प्रति-पाद्य थे, अन्तिम तीर्थकर के समय के साधु वक्र-जड—कुटिल होकर जड थे, और मध्य के बाईस तीर्थकरों के समय के साधु ऋजुप्रज्ञ—सरल होते हुए बुद्धिमान् थे, उनको समझना कठिन न था । इससे धर्म की प्ररूपणा दो प्रकार से की गई है । प्रथम तीर्थकर के समय के साधुओं को कल्प—साधु के आचार—का समझना कठिन था तो अन्तिम तीर्थकर के साधुओं को उसका पालन करना कठिन था । किन्तु मध्य के बाईस तीर्थकरों के समय के साधु उस कल्प को सुखपूर्वक समझ भी सकते थे और पालन भी कर सकते थे । (२३-२७)

२ केशि—भगवान् वर्धमान ने तो अचेलक धर्मका

१ तपणणं पुण भणिय जिणेहि कम्मट्ठ-गठिमहणेहि ।
साली वीही कोद्व रालग रन्ने तणाइ च ॥

शालि, ब्रीहि, कोद्व, रालक और अरण्यतृण, ये पाच पलाल के भेद हैं । इनमें पाचवा चूकि अरण्य-तृण (कुश) है, अतः उसका उल्लेख 'पचम' के रूप किया गया है ।

१ पुरिमा उज्जु-जडा उ वक्क-जडा य पच्छिमा ।
मज्झिमा उज्जु-पन्ना उ तेण धम्मो दुहा कए ॥२६
पुरिमाण दुव्विसोज्झो उ चरिमाण दुरणुपालओ ।
कप्पो मज्झिमगाणं तु सुविमुज्झो सुपालओ ॥२७

उपदेश दिया, पर पार्श्व जिनेन्द्र ने सान्तरोत्तर^१—सान्तर अर्थात् वर्धमान स्वामी के समयकी अपेक्षा प्रमाण में विशेष और उत्तर अर्थात् महामूल्यवान् होने से प्रधान वस्त्रयुक्त—धर्म का उपदेश दिया। मुक्तिरूप एक कार्य में संलग्न दोनों तीर्थकरी के मध्य में इस बाह्य आचार विषयक उपदेश की विशेषता का कारण क्या है ?

गौतम—उक्त दोनों तीर्थकरी ने विज्ञान से—विशिष्ट ज्ञान स्वरूप केवलज्ञान से—ज्ञानकर धर्मसाधन को अभीष्ट माना है। फिर भी लोगो को संयत होने का बोध कराने के लिए उस धर्मसाधनविषयक अनेक प्रकार का विकल्प किया गया है। लिंग का प्रयोजन यात्रा—सयम का निर्वाह—और ग्रहण (ज्ञान) रहा है। वस्तुतः मोक्ष के सद्भूत (यथार्थ) साधन तो ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य है; यह दोनों ही तीर्थकरी की प्रतिज्ञा रही है—इस विषय में दोनों के मध्य में कुछ भी मतभेद नहीं रहा। (२८-३३)

३ केशि—हे गौतम ! तुम उन कई हजार शत्रुओ के मध्य में स्थित हो जो तुम्हें प्राप्त करना चाहते हैं। उन सबको तुमने कैसे जीता है ?

गौतम—एक शत्रु के जीत लेने से पाँच, पाँच के जीत लेने से दस, और दसके जीत लेने से सभी शत्रु विजित होते हैं। इस प्रकार से मैंने उन सबको जीत लिया है।

केशि—वे शत्रु कौन-से कहे गये हैं ?

गौतम—एक आत्मा—आत्मा से अभिन्न प्रतीत होने वाला मन—अजित (दुर्जय) शत्रु है, क्योंकि, समस्त अनर्थों का कारण वही है। फिर कषाय (४) अजित शत्रु है, ये उस आत्मा के साथ पाँच (४+१) हो जाते हैं। फिर इन्द्रिया अजित शत्रु है, पूर्वोक्त पाँच के साथ इन्द्रियों (५)

१ यश्चायं सान्तराणि—वर्द्धमानस्वामित्यपेक्षया मान-वर्णविशेषतः सविशेषाणि, उत्तराणि—महामूल्यतया प्रधानानि प्रक्रमान् वस्त्राणि यस्मिन्नसौ सान्तरोत्तरौ धर्मः पार्श्वेन देशितः इतीहापेक्ष्यते।

(नेमिचन्द्र वृत्ति २३, ६-१३)

समीक्षात्मक विचार के लिए देखिये श्री पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री का 'जैन साहित्य का इतिहास—पूर्व पीठिका' पृ. ३६४-६६।

मिलकर दस हो जाते हैं। इनको जीतकर मैं न्याय्य मार्ग से विहार कर रहा हूँ—यथायोग्य संयम के साधने में उद्यत हूँ। (३४-३८)

४ केशि—लोक में बहुत-से प्राणी पाशबद्ध देखे जाते हैं। फिर हे मुने ! तुम उस पाश से मुक्त होकर लघुभूत होते हुए कैसे विहार करते हो ?

गौतम—उन सब पाशो को छेदकर व फिर से वह बन्धन प्राप्त न हो, इस प्रकार के सद्भूत भावना के अभ्यासरूप उपाय से उन्हें नष्ट करके लघुभूत होता हुआ मैं हे मुने ! विहार कर रहा हूँ—साधना में प्रवृत्त हूँ।

केशि—वे पाश कौन-से हैं ?

गौतम—राग-द्वेष आदि तीव्र व स्नेहपाश—स्त्री-पुत्रादि सम्बन्ध—भयंकर हैं। उनको छेदकर मैं यथान्याय—सूत्रोक्त विधि के अनुसार—क्रमपूर्वक विहार कर रहा हूँ। (३९-४३)

५ केशि—हे गौतम ! हृदय के भीतर प्रादुर्भूत होकर वह लता स्थित है जो विषफलों को उत्पन्न करती है। तुमने उसे कैसे उखाड़ा ?

गौतम—मैंने उस पूरी लता को काटकर समूल—राग-द्वेषरूप जड़ के साथ—नष्ट कर दिया है। इसलिए मैं विषभक्षण से—विष जैसे दुखद दुष्ट कर्म से—मुक्त होकर न्यायानुसार विहार कर रहा हूँ ॥

केशि—वह लता कौन-सी कही गई है ?

गौतम—वह लता भवतृष्णा—लोभ—कहा गया है। वह स्वभावतः भयानक होकर भयकर फलों को—क्लिष्ट कर्मों को—उत्पन्न करने वाली है। उसको उखाड़ कर मैं यथान्याय विहार कर रहा हूँ। (४४-४८)

६ केशि—भीषण ज्वालाओं वाली वे भयानक अग्निया स्थित है जो प्राणियों को जलाती है। तुमने उन्हें कैसे बुझाया है ?

गौतम—जिनेन्द्ररूप महामेष से प्रादुर्भूत आगमान्तर्गत सब प्रकार के जल में श्रेष्ठ सदुपदेशरूप जल को लेकर मैं उससे उन्हें निरन्तर सींचा करता हूँ। इस प्रकार से सिक्त होकर—शान्त होती हुई—वे अग्नियां मुझे नहीं जलाती हैं।

केशि—वे अग्नियां कौन-सी कही गई है ?

गौतम—कषाये अग्नि कही गई है और श्रुत—तद्गत सदुपदेश, शील (महाव्रत) एव तप—को जल कहा गया है। इस प्रकार श्रुतधारा से अभिहत होकर विनाश को प्राप्त होती हुई वे अग्नियां मुझे नहीं जलाती है। (४६-५३)

७ केशि—सहसा प्रवर्तमान यह भयानक दुष्ट घोडा तुम्हारे अभिमुख दौड रहा है। उसके ऊपर सवार होकर तुम उसके द्वारा कैसे अपहृत नहीं किये जाते हों ?

गौतम—उस दौडते हुए दुष्ट घोडे का मैं श्रुतरूप रश्मि (लगाम) को लगाकर निग्रह करता हूँ। इससे वह उन्मार्ग में न जाकर समीचीन मार्ग को प्राप्त होता है।

केशि—वह घोडा कौन-सा कहा गया है ?

गौतम—सहसा प्रवृत्त होने वाला वह दुष्ट भयानक घोडा मन है जो मेरे अभिमुख दौडता है—राग-द्वेष में प्रवृत्त करना चाहता है। मैं जात्य अश्व के समान उस घोडे का धर्मशिक्षा के द्वारा निग्रह किया करता हूँ। (५४-५८)

८ केशि—लोक में कुमार्ग बहुत-से हैं, जिनके आश्रय से प्राणी नष्ट होने हैं। हे गौतम ! ऐसे मार्ग में स्थित रहकर भी तुम क्यों नहीं विनष्ट होते हो ?

गौतम—जो मार्ग से जाते हैं, और जो कुमार्ग के पथिक (यात्री) हैं वे सब मुझे ज्ञात हैं; इसी से हे मुने ! मैं नष्ट नहीं होता हूँ।

केशि—मार्ग कौन-से कहे गये हैं और कुमार्ग कौन-से कहे गये हैं ?

गौतम—कुप्रवचन और पाखण्डी ये सब कुमार्ग में स्थित हैं और जो जिनोपदिष्ट सन्मार्ग हैं वही उत्तम मार्ग हैं। (५९-६३)

९ केशि—हे गौतम ! जल के प्रबल वेग से डूबते हुए प्राणियों की रक्षा करने वाला व उसकी गति को रोकने वाला द्वीप तुम किसे समझते हो ?

गौतम—जल के मध्य में विशाल भवनो से वेष्टित एक द्वीप है जहां उस प्रबल जल के वेग की गति (प्रवेश) नहीं है।

केशि—वह द्वीप कौन-सा कहा गया है ?

गौतम—जरार और मरण ही वह जल का वेग है। उससे डूबने वाले प्राणियों को धर्म ही द्वीप है, जो स्थिर अवस्थान का कारण होता हुआ उस वेग को रोककर प्राणियों की रक्षा करता है। वही द्वीप उत्तम है। (६४-६८)

१० केशि—विशाल जलप्रवाह से परिपूर्ण समुद्र में नाव, जिस पर तुम आरूढ हो, वेग से भाग रही है। उससे भला तुम कैसे पार पहुँचावे ?

गौतम—जो नाव आश्रययुक्त है—जल का सग्रह करने वाली है—वह पार जाने वाली नहीं है, परन्तु जो उस आश्रय से रहित है वह तो पार जाने वाली है।

केशि—वह नाव कौन-सी कही गई है ?

गौतम—शरीर नाव और जीव नाविक—उस नाव पर आरूढ—कहा जाता है; तथा ससार समुद्र है, जिसे महर्षि जन पार किया करते हैं।

अभिप्राय यह कि जो शरीर कर्माश्रय से मयुक्त होता है वह मुक्ति का साधक नहीं हो सकता है; मुक्ति का साधक तो वही शरीर होता है जो उस कर्माश्रय से रहित हो जाता है। (६९-७३)

११ केशि—बहुत-से प्राणी अन्धा कर देने वाले भयानक अन्धकार में स्थित हैं। उन प्राणियों को समस्त लोक में कौन प्रकाश करेगा ?

गौतम—जो निर्मल सूर्य उदित होकर सब लोक को प्रकाशयुक्त करने वाला है वह समस्त लोक में प्राणियों को प्रकाश करेगा।

केशि—वह भानु (सूर्य) कौन कहा गया है ?

गौतम—समस्त पदार्थों का ज्ञाता (सर्वज्ञ) जो जिन देवरूप सूर्य उदित होकर ससार का विनाश करने वाला है वह सभी लोक में प्राणियों को प्रकाश करेगा—उन्हे अपने सदुपदेश के द्वारा सन्मार्ग दिखलावेगा, जिसके आश्रय से वे ससार का विनाश कर सकेंगे। (७४-७८)

१२ केशि—हे मुने ! शारीरिक और मानसिक दुःखों के द्वारा बांधे जाने वाले—उनसे पीड़ित—प्राणियों के लिए तुम क्षेम—व्याधिविहीन, शिव—समस्त उपद्रवों से

रहित होनेके कारण कल्याणरूप—और अनाबाध—निर्वाध—स्थान कौन-सा मानते हो ?

गौतम—लोक के अग्र भाग में दुरारोह—कठिनाता से प्राप्त होने वाला—एक शाश्वत स्थान (मोक्ष) है जहा न जरा है, न मृत्यु है, न व्याधियाँ हैं, और न वेदना भी है ।

केशि—वह स्थान कौन-सा कहा गया है ?

गौतम—वह स्थान निर्वाण, अबाध, सिद्धि, लोकाग्र, क्षेम, शिव और अनाबाध है; जिसे महर्षि जन प्राप्त करते हैं । वह शाश्वत निवासभूत स्थान लोकशिखर पर दुरारोह है, जिसे पाकर हे मुने ! ससार को विनष्ट करने वाले सिद्ध परमात्मा कभी शोकाकुल नहीं होते । (७६-८४)

इस प्रकार गौतम के द्वारा किये गये अपने प्रश्नों के समाधान से सन्तुष्ट हो अन्त में केशिकुमार उनकी प्रशंसा में कहते हैं कि हे गौतम ! तुम्हारी बुद्धि उत्कृष्ट है, हे सशयातीत व सर्वमूत्र-महोदधे ! तुम्हारे लिए नमस्कार है' ।

१ साहु गोयम पन्ना ते छिन्नो मे ससओ इमो ।
नमो ते संसयाईय सव्वमुत्त-महोयदी ॥८५॥

इस प्रकार संशय के विलीन हो जाने पर केशिकुमार ने महायशस्वी गौतम को शिर झुकाकर नमस्कार किया और पूर्व तीर्थंकर को अभीष्ट व अन्तिम तीर्थंकर प्ररूपित शुभावह—शुभोत्पादक—अथवा सुखावह—सुखप्रद—मार्ग में भावतः पाँच महाव्रत रूप धर्म को स्वीकार किया^२ ।

केशिकुमार और गौतम के इस संमिलन में श्रुत व शील का—ज्ञान-चारित्र्य का—उत्कर्ष और अतिशय प्रयोजनीभूत पदार्थों का निर्णय हुआ । समस्त परिषद—श्रोतृवर्ग—सन्तुष्ट होकर सन्मार्ग पर चलने के लिए उद्यत हुआ—मोक्षमार्ग में प्रवृत्त हुआ । अन्त में ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार से संस्तुत—वर्णित—वे भगवान् केशिकुमार श्रमण और गौतम गणधर प्रसन्नता को प्राप्त हो । (८८-८९)

२ एव तु ससए छिन्ने केसी घोरपरक्कमे ।
अभिवदित्ता सिरसा गोयम तु महायस ॥८६॥
पचमहव्वय धम्म पडिवज्जति भावओ ।
पुग्गिमिस्स पच्छिमम्मी मग्गे नत्थ सुहावहे ॥८७॥

आत्म-निरीक्षण

मुमुक्षु को आत्म-निरीक्षण करना अत्यन्त आवश्यक है, जैसे व्यापारी को हिसाब द्वारा लाभ अलाभ का जानना आवश्यक होता है । उसी तरह आत्म-निरीक्षण के बिना आत्मशोधन में सफलता नहीं मिल सकती । जब ज्ञानी अपने जीवन में आत्म-निरीक्षण का सकल्प कर लेता है, तब वह जीवन को समुन्नत बनाने में असाधारण सहायक बनता है । आत्म-निरीक्षण आत्मोन्नयन का अमोघ उपाय है । सम्यग्दृष्टि अपना आत्म-निरीक्षण करना है, और गहरी निन्दा द्वारा आत्म परिणति को निर्मल बनाने का उपक्रम करता रहता है । तभी वह आत्म-शोधन में सफलता प्राप्त करता है । क्योंकि स्वयं का दोष ध्यान में आये बिना उसका परिमार्जन करना अशक्य है । आत्मनिरीक्षण से अपराध सामने आ जाता है । और तब ज्ञानी आसानी से उसका शमन या परिमार्जन कर लेता है ।

जब तक व्यक्ति आत्मनिरीक्षक नहीं बनता, तब तक दोषों का परिमार्जन नहीं कर पाता और इसी लिए वह साध्य की सफलता के लिए सद्विधावस्था में ही भूलता रहता है । ऊँचे नहीं उठ पाता । जिस प्रकार उत्साही कृषक अनेक श्रेष्ठ, श्रेष्ठतम बीजों को उपलब्ध करके सफलता नहीं प्राप्त कर सकता, उसी प्रकार जीवात्मा आत्म-भूमि में आत्मान्वेषण और परिमार्जन के बिना समता एवं आनन्द का पादप पल्लवित पुष्पित और फलित नहीं कर सकता । उसकी अपरिमित अभिलाषाएँ स्वप्निल मात्र रह जाती हैं ।

दूसरों का दोष देखना सुगम है, पर अपने दोष पर दृष्टिपात करना दुःसाध्य है । जो मानव ठोकरें खाकर संभल जाता है और आत्मान्वेषण में निष्णात या परिपक्व हो जाता है वह साध्य की सफलता प्राप्त करने में सक्षम हो जाता है । आत्मनिरीक्षण से योग्यता, अयोग्यता, पात्रता, अपात्रता, पवित्रता और अपवित्रता का सहज ही आभास हो जाता है । अतएव मुमुक्षु को चाहिए कि वह आत्मनिरीक्षण द्वारा अपने को निर्दोष साधक बनाता हुआ स्वरस में मग्न होने का प्रयत्न करे ।

—परमानन्द शास्त्री

अग्रवालों का जैन संस्कृति में योगदान

परमानन्द जैन शास्त्री

छव्वीसवें कवि वासीलाल है। यह दिल्ली निवासी थे, इनके माता-पिता के सम्बन्ध में कुछ ज्ञात नहीं हो सका। सेठ सुगुनचन्द के पुत्र पं० गिरधारीलाल ने, जो प्राकृत संस्कृत के अच्छे विद्वान थे, और धर्मपुरा के नये मन्दिर में शास्त्र प्रवचन किया करते थे।

वैराग्यशतक १०१ पद्योका प्राकृत ग्रंथ है जिसमें ससार की दशा का चित्रण करते हुए वैराग्य का स्वरूप और उसकी महत्ता का वर्णन किया गया है। उक्त प० गिरधारीलालजी ने प्राकृत वैराग्यशतक का हिन्दी में अर्थ बतलाया और कवि वासीलाल ने जीवमुखराय के पढ़ने के लिये उन्हीं की प्रेरणा से स० १७८४ में पौष शुक्ला द्वितिया के दिन पद्यानुवाद बनाकर समाप्त किया था^१। पद्यानुवाद दोहों में किया गया है। पाठकों की जानकारी के लिये दो तीन दोहे नीचे दिये जाते हैं। :—

सुख नाहीं संसार में, कंसा है संसार ।
सार रहित बाधा सहित, और वेदना लार ॥
आज काल परसूं करूँ, और अंतरसों जेय ।
ऐसे पुरुष विचार है, सो भटकें जग तेय ॥८
अरथ सम्पदा चित्तवें, आजू ख्यों नहि जेय ।
अंजलि में जल क्षीण है, तसैं देह समोय ॥९
रे जिय जो कल की करे, सो ही आज करेय ।
ढील न करि यामें कछूँ, निश्चैं उर धर लेय ॥१०

१ मूल ग्रन्थ का मर्म खोलिकें,
अर्थ कियो गिरधारीलाल ।
ता अनुसार करी सुभ भाषा,
लखि मन पुनि कवि वासीलाल ॥

... ..
पौष सुकल दोयज धिति संवत विक्रम जान ।
ठारासैं चौरासिया, वारगुरु शुभमान ॥१४७
पढ़ने कारण प्रेरणा करी जीवमुखराय ।
यातैं यह भाषा करी, मनवचकाय लगाय ॥१४१

सत्ताईसवें कवि सतलाल है, जो तहसील नकुड़ जिला सहारनपुरके निवासी थे। इनका जन्म सन् १८३४ में अग्रवाल कुल में हुआ था। इनके पिता का नाम शीलचन्द था। सतलाल अंग्रेजी के अच्छे विद्वान थे, उसकी शिक्षा रुडकी कालेज में हुई थी, और बी. ए. की डिग्री प्राप्त की थी। आपकी बुद्धि तीक्ष्ण थी, और तर्क-वितर्क में आप दक्ष थे। जैन दर्शन का परीक्षामुख और प्रमाण परीक्षा आदि दार्शनिक ग्रन्थों का अध्ययन किया था। धार्मिक रुचि में दृढ़ता होने के कारण आपने नौकरी नहीं की। आर्य समाजियों से भी आपका शास्त्रार्थ हुआ था परन्तु वे आप की मुक्तिपूर्ण बातों का उत्तर नहीं दे सके। आप समाज और कुरीतियों के निवारण में अग्रसर थे। आपके बनाये हुए अनेक पद और पूजन मौजूद हैं। आपकी कविता सरल और भावपूर्ण है। आपकी सूझ-बूझ निराली थी। आप प० ऋषभदास जी चिलकाना के नजदीकी गिस्तेदार थे। आपके सहयोग से ऋषभदासजी को दार्शनिक ग्रन्थों के अभ्यास करने का शौक हुआ था। कवि सतलाल जी ने सिद्ध चक्र का पाठ बनाने के बाद अपनी शक्ति धर्मध्यान की ओर लगाई थी। आपके स्वभाव में सरलता थी। आपने सन् १८८६ के जून महीने में ५२ वर्ष की वय में इस नख्खर शरीर का परित्याग किया था।

कवि ने सिद्ध चक्र पाठ की रचना ४० वर्ष की अवस्था के बाद की है। इसमें दोहा, चौपाई, पदद्विया, घत्ता, सोरठा, अडिल्ल, छप्पय, माला, गीता, चक्रांर, मोदक, गोला और लावनी आदि छन्द दिये गए हैं। कविता भावपूर्ण और सरस है। एक पूजा का पद देखिये, कितना सरल है।

है परिणाम अभिन्न परिणामी, सो तुम साधु भए शिवगामी ।
साधु भए शिव साधन हारे, सो सब साधु हरो अघ म्हारे ॥

सिद्ध च० प० १०६

पढ़ड़ी छन्द में लिखी जयमाला, स्तुति पढिए कितनी सुन्दर है :—

जय मदन-कदन-मन करणनाश,
जय शातिरूप निजसुख विलास
जय कपट सुभट पट करन चूर,
जय लोभ क्षोभमद-दम्भसूर ।
पर परिणतियों अत्यन्त भिन्न,
निजपरिणति है अति ही अभिन्न ।
अत्यन्त विमल सब ही विशेष,
मल्लेश शोष राखो न लेश ॥”

अट्टाईसवे कवि पंडित ऋषभदासजी है । जो चिल-काना जिला सहारनपुर के निवासी थे । चिलकाना सहारन-पुर से ६ मील की दूरी पर वसा हुआ है । यह भी अग्रवाल जैन थे । इनके पिता का नाम कवि मंगलसैनजी और बाबा का नाम सुखदेवजी था । पिता सम्पन्न थे जमींदारी और साहूकारी का कार्य करते थे । ऋषभदासजी ने चिलकाना में किसी मुसलमान मियां से ३-४ वर्ष तक उर्दू का अभ्यास किया था । हिन्दीका लिखना पढ़ना उन्होंने अपने पिताजी से सीखा था । और उन्हीं के साथ स्वाध्याय द्वारा जैन सिद्धान्त का ज्ञानप्राप्त किया था । ऋषभदासजी सतलाल जी नकुड़ के नजदीकी रिश्तेदार थे । इनकी बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण थी और वह स्वभावतः तर्क की ओर अग्रसर होती थी । उनके सहयोग से जैन दार्शनिक ग्रंथों के अध्ययन करने की जिज्ञासा हुई और परिणाम स्वरूप, परीक्षामुख, प्रमाण परीक्षा । और आप्तपरीक्षादि ग्रंथों का अध्ययन किया । जिसमें बुद्धि के विकास में और भी विशदता आई ।

मंगलसैनजी ने अपने दोनों बेटों को अलग-अलग साहू-कारी की दुकान करादी थी । ऋषभदासजी उर्दू फारसी और हिन्दी संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे और हिन्दी में अच्छी कविता भी करते थे । उनके अन्तर्मानस में ज्ञानकी पिपासा और धार्मिक लगन थी, और हृदय में जैन ग्रन्थों के अभ्यास की उमंग थी । वे अच्छे सभाचतुर थे और प्रवचन करने में दक्ष थे । ऋषभदासजी ने ५० भीमसेनजी आर्य समाजी के नवीन प्रश्नों का ऐसा तर्क सगत उत्तर दिया था जिसे बाबू सूरजभानजी ने अन्य विद्वानों को दिखलाया तब वे चकित रह गये और आर्य समाजी सदा के लिये चुप हो गए । उनकी बुद्धि विलक्षण थी और लेखनी सरस एवं

गंभीर थी । ऋषभदासजी प्रकृतिः भद्रपरिणामी और परीक्षा प्रंधानी थे । जब वे किसी वस्तु का विवेचन करते थे, तब उसे तर्क की कसीटी पर कसकर परखते थे । आप का लिखा हुआ मिथ्यात्वनाशक नाटक उर्दू भाषा में लिखा गया था ‘जो मनो रंजक ज्ञान वर्धक मूल्यवान् कृति है । उससे कवि के क्षयोपशम और प्रतिभा का पता चलता है उसके एक दो भाग ही छपे हैं । परन्तु खेद है कि वह नाटक पूरा नहीं छप सका । उसकी एक मात्र प्रति कर्ता के हाथ की लिखी हुई है । इनकी दूसरी कृति पंच ‘बालयति पूजापाठ’ है जिसे कवि ने विबुध सतलाल के अनुरोध से वि० स० १९४३ में माघशुक्ला अष्टमी के दिन समाप्त किया था । “पूजा राग समाज, तातै जैनिय योग किम्” प्रश्नों के समाधान को लिये हुए है । यह बीसवीं सदी के एक प्रतिभासम्पन्न कवि थे । आपका २९ वर्ष की लघुवय में ही स्वर्गवास हो गया था । यदि वे अधिक दिन जीवित रहते तो किसी अनमोल साहित्य की सौरभ से समाज को सुवासित करते ।

उनतीसवे कवि मेहरचन्द है । जो ‘श्वनिपद’ वर्तमान सोनिपत नगर के निवासी थे और ५० मथुरादास के लघु भ्राता थे । यह संस्कृत और फारसी के अच्छे विद्वान् थे । आपने शेख सादी के सुप्रसिद्ध काव्यद्वय ‘गुलिस्ता और वोस्ता’ का हिन्दी में अनुवाद किया था, जो छप चुका है । कवि ने आचार्य मिल्लिबेण के ‘सज्जिनचित्तवल्लभ’ का हिन्दी अनुवाद और पद्यानुवाद किया था, यह पद्यानुवाद छप चुका है । पाठकों की जानकारी के लिए दो पद्य नीचे दिये जाते हैं । पद्यानुवाद भावपूर्ण और सुन्दर है :—

“औरत का मरना अविचारत, तू अपना अमरत्व बिचारै ।
इंद्रिय रूप महागज के, वशिभूत भया भव-भ्रांति निवारै ।
आजहि आवत वाकल के बिन, काल न तू यह रंच बिचारै ॥
तौ गह धर्म जिनेश्वरभाषित, जो भवसंतति बेग निवारै ॥१४
चाहत है सुख क्या पिछले भव, दान दिया ग्रह संयम लीना ।
नातर या भव में सुख प्रापति हो न, भई सो पुराकृत कीना ।
जो नहि डारत बीज मही पर, ध्यान लहै न कृषी मतिहीना ।
कीटक भक्षित ईल समान, शरीर खूब तज मोह प्रवीना ॥१५

१ देखो, अनेकान्त वर्ष १३, किरण ६ पृ. १६५

कविने अन्त में अपना परिचय निम्न प्रकार दिया है—
 भारत वर्ष अंसार, देश पंजाब सुविस्तृत ।
 ता मध दिल्ली जिला, सकल जनको आनंदकृत ॥
 ताके उत्तर मध्य नगर सुनपत भयभंजन ।
 ता मध चार जिनेश भवन भविजन मन रंजन ॥
 तिस नगर वास मम वास है मिहरचंद मम नाम वर
 हूं पंडित मथुरादास को, लघुधाता लघुज्ञान धर ।

इससे कवि मेहरचन्द की काव्य-कला का सहज ही पता चला जाता है ।

तीसवें विद्वान कवि हरगुलाल जी हैं । जो खतौली जिला मुजफ्फरनगर के निवासी थे । आपके पिता का नाम प्रीतमदास था । उस समय खतौली में ब्राह्मण विद्वान बालमुकुन्द जी थे, जो संस्कृत के अच्छे विद्वान समझे जाते थे । इनमें ही हरगुलाल जी ने शिक्षा पाई थी । और फारसी का अध्ययन करने के लिए खतौली से मसूरपुर प्रति दिन जाया करते थे । गर्मी, जाड़ा और वर्षा की उन्होंने कभी परवाह नहीं की । वहाँ अरबी फारसी के आना विद्वान एक शय्यद साहब थे, जो विद्वान, सहृदय और सम्पन्न थे । वे हरगुलाल की जानागहन लगन को देखकर बहुत खुश होते थे । एक दिन उन्होंने वर्षा से सगाबोर भीगते हुए हरगुलाल को आते हुए देखा, तब उन्होंने उनसे कह दिया कि अब आप यहाँ न आया करें, आपको बहुत तकलीफ होती है, मैं स्वयं खतौली आकर आपको अध्ययन कराया करूँगा । चुनाचे वे खतौली आकर उन्हें पढ़ाते थे । कुछ समय बाद वे उस भापा के निष्णात विद्वान बन गये । जैन शास्त्रों के अध्ययन में उन्होंने विशेष परिश्रम किया था, और अच्छी जानकारी हासिल कर ली थी । इस तरह से पं० हरगुलाल अरबी, फारसी और संस्कृत के अच्छे विद्वान हो गए थे । आपकी प्रवचन करने की अच्छी शक्ति थी, साथ में सभा-चतुर भी थे । आप खतौली से सहारनपुर चले गए । उस समय सहारनपुर में राजा हरमुखराय दिल्ली की शैली चलती थी । और वहाँ नन्दलाल, जमुनादास, संतलाल, जो वहाँ के वैश्यो में प्रधान और प्रतिष्ठित थे, इनके भाई वारुमल जी थे । वहाँ के मन्दिरों में आपका प्रवचन होता था और श्रोताजन मन्त्रमुग्ध हो सुनते थे ।

एक दिन हरगुलाल जी ने वहाँ की सभा में ईश्वर-सृष्टिकर्ता पर पूर्वपक्ष के रूप में ऐसा सम्बद्ध भाषण दिया कि जनसमूह आपकी निर्भीक वक्तृत्व कला और युक्तिबल को सुन कर अत्यन्त प्रभावित हुआ । अन्त में आपने कहा कि कल इस भाषण का उत्तरपक्ष होगा । तब जनता में चर्चा होने लगी कि इस विद्वान ने ईश्वर सृष्टिकर्ता पर इतना महत्त्वपूर्ण भाषण दिया, अब इसके उत्तर पक्ष में कहा ही क्या जा सकता है । इससे हरगुलाल जी के पांडित्य का पता चलता है ।

आपके बनाए हुए अनेक भावपूर्ण पद हैं । उनमें से एक पद पाठकों की जानकारी के लिए नीचे दिया जाता है जिसमें शैली की महत्ता का दिग्दर्शन कराया गया है—
 सैली के परसाव हमारे जिनमत की प्रतीति उर आई ॥
 करणलडिध बलगह समरसता से अनंतानंत वहीं छिटकाई ।
 मिथ्याभाव विभाव नश्यो प्रगट्यो मम शान्त भाव मुखवाई ।१

५. हेय ज्ञेय अरु उपादेय लखि,
 चलि निज रस भ्रम-भूलि मिटाई ।
 आनमीक अनुभूति विभूति,
 मिल तत्त्वारथ की रचि लाई ॥२
 वीतराग विज्ञान भाव मम,
 निज परिणति अबही झलकाई ।
 भ्रमत अनादि कबहू न तिरियो,
 तैसें निजनिधि सहज प्रगटाई ॥३
 सैली से हितकर बहुते नर,
 सम्यक्ज्ञान कला उपजाई ।
 पर परिणति हर आप आप में,
 पाय लई अपनी ठकुराई ॥४
 यासैं हित न कियो बहुते नर,
 जनम भ्रमोलक रतन गुमाई ।
 भ्रम हरणी मुख की धरणी,
 यह 'हरगुलाल' घट मांहि समाई ॥५
 आपके सभी पद प्रकाशन के योग्य हैं ।

कवि ने मल्लिषेणाचार्य के सज्जनचिन्त वल्लभ ग्रन्थ की एक टीका स० १९०३ में बनाई है, जो ज्ञानभण्डारो में उपलब्ध होती है । आपका अवसान कब और कहाँ हुआ, यह अभी ज्ञात नहीं हुआ ।

इकतीसवें कवि हीरालाल हैं, जो बड़ौत जिला मेरठ के निवासी थे। आपकी जाति अग्रवाल और गोत्र गोयल था। इस वंश में जिनदास और मुहकमसिंह या महोकम सिंह हुए। उनके चार पुत्र हुए। जयकुमार, धनसिंह, रामसहाय और रामजस। इनमें पंडित हीरालाल धनसिंह के पुत्र थे। इनके गुरु पं० ठंडीराम थे, जो प्राकृत और संस्कृत के अच्छे विद्वान थे। और गोम्मटसारादि सिद्धान्त ग्रन्थों का पठन-पाठन करते थे। उनसे कवि ने अक्षराभ्यास किया था और स्वाध्याय द्वारा जैनधर्म का परिज्ञान किया था। कवि ने जैनियों के आठवे तीर्थंकर चन्द्रप्रभ का पुराण पद्य में बनाकर वि० स० १९१३ में समाप्त किया था। कविता साधारण है। ग्रंथमे विविध छन्दों का उपयोग किया है। ग्रंथ सूरत से प्रकाशित हो चुका है।

बत्तीसवे कवि पं० तुलसीराम हैं, जो दिल्ली-निवासी थे। आपका जन्म सन् १९१६ में अग्रवाल वंश और गोयल गोत्र में हुआ था। आपके पिता का नाम बाँकेलाल था। आपके दो छोटे भाई और थे जिनका नाम छोटेलाल और शीतलदास था, वे भी यथाशक्ति धर्मसाधन करते थे। बाल्य काल से ही आपकी रुचि जैन ग्रन्थों के पढ़ने-सुनने की थी। आपको पं० ज्ञानचन्द जी का सम्पर्क मिला, उन्हीं के पास आपने व्याकरण और जैन सिद्धान्त के ग्रंथों का अध्ययन किया और थोड़े ही समय में सारस्वत व्याकरण, श्रुतबोध रत्नकरण्डश्रावकाचार, गोम्मटसार, सर्वार्थसिद्धि, चर्चाशतक और सागारधर्माभूत आदि ग्रन्थों का अध्ययन किया। पश्चात् शास्त्र, सभा एव सत्संगति से अपने ज्ञान को बढ़ाने का प्रयत्न किया। आपका व्यवसाय सराफा का था। आपकी फर्म तुलसीराम सागरचन्द के नाम से पहले चादनी चौक में चलती थी। बाद में दरीवा कला में थी।

आपने भ० सकलकीर्ति के आदिपुराण का पद्यानुवाद किया है। जिसे कवि ने स० १९३४ में कार्तिक कृष्ण दौज के दिन मेरु मन्दिर में पूरा किया है। ग्रन्थ में दोहा, चौपाई, पढ़डिया, भजगप्रताप, मोतियदाम, नाराच, गीता, सबैया २३ सा, सोरठा, जोगीरासा, त्रोटक छंद, अञ्जलि गाहा, इन्द्रवज्रा, त्रिभगी, सुंदरी मरहटो सबैया ३१ सा गाहा, आदि छन्द निहित हैं। रचना साधारण है

तो भी कविता भावपूर्ण है, और कहीं कहीं पर कोई कोई पद चुभता हुआ सा है। चूंकि कवि का ४० वर्ष की लघु वय में ही स० १९५३ में स्वर्गवास हो गया। ग्रंथ सूरत से प्रकाशित हो गया है। ग्रंथ के अंत में कवि ने अपना परिचय निम्न प्रकार से दिया है —

प्रथम लाला ग्यानचन्द सुधी सु मोहि पढ़ाइयो,
मम पिता बांकेराय गुण निधि तिन मुझे सिखलाइयो।
लखि अग्रवाल जु वंश मेरो गोत गोयल जानियों,
रिषभेश गुण वर्णनि कियो अभिमान चित नहि ठानियो। १४०
गिन वेद इन्द्रो अंक आतम, यही संवत् सुन्दरी।
कार्तिक सुकृष्ण दूज भौम सुवार को पूरन करी,
नक्षत्र अश्वनि ज्ञानचन्द्र सुमेखो मन आवनौ।
ता दिन विषं पूरण कियो यह शास्त्र जो अति पावनौ। १४१
—आदिपुराण प्रशस्ति

तेतीसवे और चौतीसवे कवि बख्तावर मल और रतन लाल हैं। दोनों अग्रवाल वंश में उत्पन्न हुए थे। ये काष्ठासंधी लोहाचार्य की अम्नाय के विद्वान थे। इनमें बख्तावरमल मित्तलगोत्री और रतनलाल का गोत्र सिंहल (मिगल) था। इन दोनों का निवास दिल्ली के कूचा सुखानन्द में था। दोनों मित्र परस्पर 'तत्त्वचर्चा' किया करते थे। और दोनों ने ही स्वाध्याय द्वारा अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था। इन दोनों की मित्रता अन्त समय तक अटूट बनी रही, उसमें कभी कोई विकृति नहीं आई। दोनों की धार्मिक लगन और उत्साह देखते ही बनता था। रतनलाल ने अपने लघु भ्राता रामप्रसाद से अक्षर विद्या और छन्दों का ज्ञान प्राप्त किया था। इन्होंने आराधना कथाकोष की प्रशस्ति में अपना परिचय निम्न प्रकार दिया है :—

अग्रवाल बर अंश है काष्ठासंधी जान।
श्री लोहाचारज तनी आम्नाय परमान ॥४६
पुस्तक गण गछ शारदा मित्तल सिंहल गोत।
मित्र जुगल मिलके कियो ग्रन्थ यही जगपोत ॥४७
प्रथम नाम बख्तावरमल जानिये,
रतनलाल दूजे का परमानिये।
भ्राता रामप्रसाद तनी लघु है सहो,
सुच्छ बुद्धि तें करी ग्रन्थ रचना यही ॥४८ (क्रमशः)

स्वर्गीय नरेन्द्रसिंह सिंघी का संक्षिप्त परिचय

स्वर्गीय नरेन्द्र सिंह सिंघी आत्मज स्वर्गीय बहादुर सिंह सिंघी का जन्म ४ जुलाई सन १९१० में हुआ था। उन्होंने अपने जीवन काल में जैन सस्कृति एवं साहित्य की जो निष्काम सेवा की उसे भूलना कठिन है। वे ईर्ष्या-द्वेष से रहित अत्यन्त सौम्य एवं धर्मनिष्ठ व्यक्ति थे। पिता ने अपने दूरदर्शी एवं अनुभवी पुत्र को परखा था और अपना समस्त कार्यभार उन्हें ही सौंप गए थे। जिसे उन्होंने जीवन भर सुयोग्यता में निभाया। प्रगति एवं एकता के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने दूसरों को उपदेश नहीं दिया वरन् स्वयं प्रगति के पथपर चलकर दिखाया। वे सरस्वती के वरद पुत्र तो थे ही लक्ष्मी की भी उन पर असीम अनुकम्पा थी। लक्ष्मी एवं सरस्वती का ऐसा सुयोग विरल ही देखने को मिलता है।

सिंघी जी एक होनहार विद्यार्थी थे। प्रेसीडेन्सी कालेज कलकत्ता से बी० ए० सी० तथा एम० ए० सी० की परीक्षाओं में सर्वप्रथम रहे और स्वर्णपदक भी प्राप्त किया। सन १९३४ ई० में उन्होंने वकालत की डिग्री भी प्राप्त की।

नरेन्द्र सिंह जी सन् १९३६ से १९४५ तक जियागंज एडवर्ड कारोणेशन (जिसका नाम आजकल राजा विजय सिंह विद्यामन्दिर है) अवैतनिक मन्त्री रहे। सन् १९४६ से १९५५ तक श्रीपति सिंह कालेज मुशिदाबाद के भी अवैतनिक सचिव रहे तथा लालबाग में उन्होंने अवैतनिक मजिस्ट्रेट के रूप में कार्य किया। सन् १९४६ में वे बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के कोर्ट के सदस्य रहे। सिंघी हाई स्कूल लालबाग, केशरकुमारी बालिका विद्यालय अजीमगंज तथा अन्य शिक्षा संस्थाओं, जिनमें भारतीय विद्या भवन भी शामिल है आपने पूर्ण रूप से आर्थिक सहायता की। आपने लन्दन मिशनरी अस्पताल में एक वार्ड भी बनवाया।

सिंघी जी अपने प्रेम के कारण सर्वविदित थे। सन् १९४२ के बंगाल दुर्भिक्ष में आपने लाखों रुपये व्यय

करके अकाल पीड़ितों की सहायता की। आपने लागत से कम मूल्य पर दल खोल कर चावल का वितरण किया।

इन लोकहितकर प्रवृत्तियों के अलावा राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं शिक्षा सम्बन्धी कार्यों में भी आप भाग लेते थे। अपनी उदार दृष्टि के कारण सन् १९४५ में आप बंगाल लेजिस्लेटिव एसेम्बली के सदस्य चुने गए। आप अखिल भारतीय ओसवाल महामम्मेलन के मंत्री, मुद्रासिद्ध सिंघी पार्क मेला के कोषाध्यक्ष तथा जियागंज सिविल इवाक्युएशन रिलीफ कमिटी के मंत्री रहे।

श्री सिंघी जी जैन समाज के एक अग्रणी नेता थे। आपने “श्री जैन भवन” कलकत्ता को १० हजार रुपये की सहायता दी थी। आप उसके स्थायी ट्रस्टी थे। अनेक वर्षों तक मंत्री तथा कोषाध्यक्ष के पद पर भी रहे। आप कुछ दिनों तक इसके सभापति भी रहे। सम्मेलन शिखर तीर्थधाम के मन्दिरों के जीर्णोद्धार का कार्य एवं प्रतिष्ठा महोत्सव की सुव्यवस्था आपके अत्यन्त प्रशंसनीय कार्य है। आपकी इस सेवा के लिए समस्त जैन समाज आपका आभारी है। जीर्णोद्धार समिति को आपने ११००१ रुपये की धनराशि भेंट की थी। आप भारत के जैन महामंडल के उपाध्यक्ष भी थे।

स्व० बाबू बहादुरसिंह जी सिंघी ने जिस सिंघी ग्रंथमाला की स्थापना “भारतीय विद्या भवन” बम्बई में की थी उस कार्य को भी नरेन्द्रसिंह जी सिंघी ने आगे बढ़ाया। इसका व्यय अपने ज्येष्ठ भ्राता के सहयोग से पूरा किया। बाबू बहादुरसिंह जी की मृत्यु के बाद भी ग्रंथमाला का कार्य (प्रकाशन) आगे की ही भाँति हो रहा है। इस ग्रंथमाला के तत्वावधान में अब तक ४५ ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें कई सामयिक, दार्शनिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक, वैज्ञानिक एवं कथात्मक इत्यादि विषयों से संबंधित हैं। प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों का नूतन संशोधनात्मक साहित्यिक प्रकाशन भी हुआ है।

आपने इसके अतिरिक्त अनेक लोकहितकारी, धार्मिक

एव शिक्षा संबंधी संस्थाओं को उदारतापूर्वक दान दिया है। अपने निवास स्थान "सिधी पार्क" में श्री बहादुर-सिंह जी सिधी भारतीय स्थापत्य शिल्प-निकेतन की स्थापना की है। पूर्वी बंगाल से आए हुए उद्वासितों के लिए अन्न, वस्त्र तथा जल के लिए भी आपने खर्च किया।

सन् १९६० में लुधियाना में सम्पन्न अखिल भारतीय श्वे० जैन सम्मेलन के आप सभापति थे। इसके अनतिरिक्त अनेक जैन संस्थाओं से, अध्यक्ष, कोषाध्यक्ष तथा सदस्य होने के नाते आपका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। आप मुंशिदाबाद सघ के प्रथम सभापति थे।

नरेन्द्रसिंह जी एक प्रमुख उद्योगपति थे। आप फाबडालखण्ड कोलरीज प्रा० लि०, मेसर्स मिदनापुर मिनरल प्रा० लि० के डाइरेक्टर तथा दालचन्द बहादुरसिंह के मालिक और न्यू इण्डिया टूल्स लि० के बोर्ड आफ डाइरेक्टर्स के चेयरमैन थे।

सन् १९५६ में आप "इण्डिया माइनिंग फंडेशन" के चेयरमैन, सन् १९६२ में "जियोलाजिकल माइनिंग एण्ड मैटलर्जिकल सोसाइटी आफ इण्डिया" के सभापति तथा कोल कौन्सिल आफ इण्डिया के सदस्य थे। स्व० सिधी जी "मैनेजमेण्ट कमेटी आफ इण्डियन चैम्बर आफ कामर्स कलकत्ता के और मध्यप्रदेश गवर्नमेण्ट इलेक्ट्रिसिटी बोर्ड के भी सदस्य थे।

सिधी जी कलकत्ता ही नहीं भारत भर में अपनी कला विद्वत्ता एवं सुरुचिपूर्ण कला संग्रह के लिए विख्यात थे। इण्डियन म्यूजियम कलकत्ता के बोर्ड आफ ट्रस्टीज के तो वे अपने जीवन काल तक आनरेरी सचिव थे।

आपका निवासस्थान "सिधी पार्क" पुरातन हस्त-लिखित पुस्तकों, विरल चित्रों, उत्कृष्ट मूर्तियों, हाथीदांत की बनी हुई वस्तुओं, भारतीय टिकटो (खासतौर से भारतीय सिक्कों जो कि भारत के व्यक्तिगत संग्रहों में सर्वोत्तम माने जाते हैं) के ही कारण नहीं बरन शानदार बगीचों, मुगलकालीन रीति से निर्मित भव्य फव्वारों के कारण भी भारतीय तथा विदेशी पर्यटकों के लिए आकर्षक केन्द्र बना रहा है।

अनमोल हाथीदांत की पुरानी मूर्तियाँ भी इस संग्रह में

हैं। अन्यत्र अप्राप्य पश्चियन, मुगल, राजपूत, कांगडा तथा पहाड़ी आदि शैली के प्राचीन चित्रों का संग्रह भी इस संग्रहालय में है। प्राचीन चित्रित ग्रंथों में कई पश्चियन ग्रंथ ऐसे हैं जिनमें शाहजहाँ, औरंगजेब आदि बादशाहों के हस्ताक्षर तथा मुहर हैं। बादशाह औरंगजेब जिस कुरान को पढ़ते थे वह भी इस संग्रह में है। जैन चित्रित ग्रंथों में एक श्री शालिग्राम चरित्र है जिसमें सम्राट् अकबर व जहाँगीर की सभा के प्रसिद्ध चित्रकार शालिग्राम द्वारा अंकित ३२ चित्र हैं। इस ग्रंथ का लेखन व चित्रण विक्रमी सं० १६८१ द्वितीया चैत्र सुदि शुक्रवार तदनुसार अप्रैल १ सन् १६२६ ई० को सम्राट् जहाँगीर के राज्य में समाप्त किया था। संग्रह में कई ताम्रपत्र भी हैं।

यह संग्रह विश्व के नामी संग्रहों में से एक है। दूर देशान्तर विद्वान तथा सुप्रसिद्ध लोग इस संग्रह का अवलोकन करने आते हैं और सभी इसकी हार्दिक प्रशंसा करते हैं। श्री सिधी जी की तरफ से भी विद्वानों एवं विदेशियों को इस संग्रह की वस्तुओं का अध्ययन करने के लिए पूर्ण सहयोग एवं सुविधाएँ दी जाती थी।

अपने स्व० पिता के निकट मित्र प्रसिद्ध जैन विद्वानों को अपनी विद्वत्ता एवं विद्याप्रेम से श्री नरेन्द्रसिंह जी ने आकृष्ट किया। पिता जी के बहुमूल्य सिक्के, चित्र, मूर्ति तथा हस्तलिखित ग्रंथ आदि का सारा संग्रह आपको मिला था। उस संग्रह को आपने बढ़ाया। इस संग्रह को प्रकाश में लाने तथा इन विषयों को विद्वानों को उसे अध्ययन करने के लिए अवसर देने का भी प्रवन्ध किया।

विज्ञान के विद्यार्थी होने पर भी श्री सिधी जी की कला में अपार रुचि थी। जल मन्दिर के श्रेष्ठ शिल्प, सौन्दर्य से परिपूर्ण तोरण, चारों ओर बाहरी दिवाल बुर्ज, काटन स्ट्रीट कलकत्ता का सगरमर निर्मित अनुभाग और श्री सम्मेद शिखर जी तथा अजीमगज के मन्दिरों के पुनर्निर्माण आपके सूक्ष्म सौन्दर्य बोध के कतिपय उदाहरण हैं।

कला तथा स्थापत्य शिल्प सबधी ज्ञान के क्षेत्र में आप अपने स्व० पिता से अनुप्रेरित हुए थे। श्री पावापुरी जल मन्दिर की चाहारदिवारी एवं श्री सम्मेद शिखर जी के मन्दिरों का जीर्णोद्धार और पुनर्निर्माण आपके इस तीव्र

कलात्मक ज्ञान का परिचायक है। काटन स्ट्रीट कलकत्ता के जैन मन्दिर का मकराने एवं कारीगरी के कार्य से सुन्दर रूप देने का भार आपको ही सौंपा गया था।

नरेन्द्र सिंह जी सिधी अपनी सौजन्यता, सहृदयता, कोमल स्वभाव, आकर्षक व्यक्तित्व के कारण सबके प्रिय थे। समाज सेवा में अदम्य उत्साह तथा लगन के कारण

सबके आदर के पात्र थे।

मध्यप्रदेश स्थित सरगुजा नामक स्थान पर अपनी कोलरीज से लौटते समय खडगपुर के निकट २३ दिसम्बर १९६७ को ट्रेन में उनका स्वर्गवास हो गया। काल के निर्मम हाथों ने अचानक ही जैन समाज से ही नहीं, भारत माता से भी उनका एक लाल रत्न छीन लिया।

साहित्य-समीक्षा

१. पुरदेव भक्तिगंगा—सम्पादक-मुनि श्रीविद्यानन्दजी, प्रकाशक-धूमिल विशालचन्द, चावड़ी बाजार, दिल्ली-६, पृष्ठ संख्या-८६, डिमाई आकार, मूल्य-अमूल्य।

उस दिन मेरठ में मुनिश्री ने 'पुरदेव भक्तिगंगा' पढ़ने के लिए दे दी, इसे मैं उनका अशीर्वाद मानता हूँ। न-जाने क्यों, भक्त न होने हुए भी भक्ति साहित्य में मन रमता है, फिर वह चाहे जैन परक हो या किसी अन्य सम्प्रदाय का। कालिज में आज वर्षों से बी० ए० और एम० ए० कक्षाओं को भक्ति काव्य पढ़ाते रहने से एक दृष्टि बन गई है, जिसे तुलनात्मक भी कहा जा सकता है। मैं सोच पाता हूँ कि भक्ति ही एक ऐसा तीर्थ है जहाँ सब घाटाएँ समान रूप से आसमाती हैं। जैन साधु का सर्वसमत्वकारी मन भी 'पुरदेव-भक्तिगंगा' में लग सका तो आश्चर्य नहीं है।

यह लघुकाय सकलन ठोस और सक्षिप्त है। इसमें "कविवर दौलतराम, भूधरदास, जिनहर्ष, भट्टारक रत्नकीर्ति, आनन्दधन, दानत राय, बुधजन, बनारसी दास, भागचन्द, कुंज तथा एक-दो गुर्जर कवियों की रचनाओं को सङ्ग्रहित किया गया है।" रचनाएँ भाव-भीनी हैं, भक्ति रस की तो निदर्शन ही है। किसी सूर और तुलसी से कम नहीं। कला पक्ष भी सहज स्वाभाविक है, न कम, न बढ़। सधा-नपा-तुला-सा। कुल मिलाकर सकलन किसी साधक की साधना-सा सन्तुलित है।

विशेषता है—उसका अनुवाद। हिन्दी तर भाषा-भाषी का यह हिन्दी अनुवाद मजा हुआ तो है ही, हिन्दी विरोध के खोखलेपन का स्पष्टीकरण भी है। जैन साधुओं

ने प्रत्येक युग में जन भाषा को अपनाया है। मुनिश्री का यह प्रयास उसी परम्परा की एक कड़ी है। दूसरी बात, मध्ययुगीन जैन हिन्दी काव्य का जब तक आज की भाषा में गद्यात्मक अनुवाद न होगा वह तदयुगीन अन्य काव्य के समान न आँका जा सकेगा। विश्वविद्यालयों और दूरभाषीयत्रों पर भी अग्राह्य ही होगा, यदि उसका तदनु रूप सम्पादन और प्रकाशन न हुआ। इस दृष्टि से मुनिश्री का यह प्रयास समादर-योग्य है। काश वे सस्थाएँ निष्पक्षता से इसको नापें और परखें।

सकलन का आकर्षक भाग है—'भगवान पुरदेव ऋषभदेव', मुनिश्री का लिखा हुआ 'प्राक्कथन'। इस छोटे-से निबन्ध का एक-एक वाक्य शोध की शिलाओं पर घिस-घिस कर रचा गया है। मुनिश्री को मैंने सदैव जैन शोध में निमग्न देखा। यह उसी का परिणाम है। भगवान ऋषभदेव ही पुरदेव थे, यह तथ्य ऋग्वेद आदि प्राचीन ग्रंथों और भारतीय पुरतत्त्व के आधार पर प्रमाणित किया गया उद्धरण प्रामाणिक और अकाट्य है। अनुसन्धान में लगे साधकों के लिए मुनिश्री ने एक समग्री प्रस्तुत की है, मेरी दृष्टि में वह प्रामाणिक है, निष्पक्ष है।

प्रकाशन ऐसा मनोमुग्धकारी है कि देखते ही बनता है। यदि किसी भौतिक अनुपूरित का लेशमात्र भी भाव सन्निहित नहीं है तो प्रकाशक की यह श्रद्धा अनुशसा-योग्य है। अन्य जैन प्रकाशन भी इसी स्तर को अपनाये ऐसा मैं चाहूँगा।

डा० प्रेमसागर जैन

२. देवागम अपरनाम आप्तभीमांसा—मूलकर्ता आचार्य समन्तभद्र, अनुवादक प० जुगल किशोर मुख्तार, प्रस्तावना

लेखक पं० दरबारी लाल जी न्यायाचार्य प्रकाशक दरबारी लाल जैन कोठिया मन्त्री, बीरसेवा मंदिर-ट्रस्ट, २१ दरिया गंज, दिल्ली ६। मूल्य १—२५ पैसा।

प्रस्तुत ग्रंथ विक्रम की दूसरी-तीसरी शताब्दी के तार्किकशिरोमणी अचार्य समन्तभद्र की महत्वपूर्ण दार्शनिक कृति है। इसमें अनेकांत मत की स्थापना करते हुए द्वैतैकान्त अद्वैतैकान्त, क्षणिकैकान्त, भेदैकान्त, अभेदैकान्त, नित्यैकान्त, पौरुषैकान्त और देवैकान्त आदि एकान्तों की समीक्षा की है। स्याद्वाद और सप्तभगी को समझाने की यह एक कुंजी है। ११४ कारिकाओं में वस्तुतत्त्व की गहन चर्चा को गागर में सागर के समान समाविष्ट किया गया है। इसके अनुवादक जैन समाज के ख्यात नाम ऐतिहासिक विद्वान पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार हैं। जिन्होंने ग्रंथ की गम्भीर कारिकाओं का आ० विद्यानन्द की अष्ट सहस्री का सहाय लेकर हिन्दी में सुन्दर और सरल अनुवाद किया है। अनुवाद मूलानुगामी है। मुख्तार सा० की लेखन शैली परिष्कृत है कि जब वे किसी ग्रंथ का अनुवाद करने का विचार करते हैं, तब उस ग्रंथ का केवल वाचन ही नहीं करते प्रत्युत उसका गहरा अभ्यास भी करते हैं। जब उसके रस का ठीक अनुभव हो जाता है तब उस पर लिखने का प्रयत्न करते हैं। मुख्तार साहब की इस कृति में पं० दरबारी लाल जी की महत्वपूर्ण प्रस्तावना ने चार चांद लगा दिये हैं। परिच्छेदी कारिकाओं के परिचय में ग्रंथकार की दृष्टि को अच्छी तरह से स्पष्ट किया गया है। इस तरह ग्रंथ एक महत्वपूर्ण कृति बन गया है। स्वाध्याय प्रेमियों और विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त उपयोगी हो गया है। यदि साथ में वसुनन्दी की संस्कृत वृत्ति भी दे दी जाती तो यह संस्करण विद्यार्थियों के लिए और भी महत्व का बन जाता। कारण कि वसुनन्दि वृत्ति भी अब मिलती नहीं है। ६१ वर्ष की इस वृद्धावस्था में इतने लगन से साहित्य-सेवा करना मुख्तार साहब की समाज को खास देन है। पुस्तक का मूल्य लागत से भी कम रक्खा गया है। अतः इसे मंगा कर अवश्य पढ़ना चाहिए।

३. राजस्थान के जैन सन्त व्यक्तित्व एवं कृतित्व — लेखक डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, प्रकाशक गैदी लाल साह एडवोकेट, मन्त्री श्री दि० जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीर जी जयपुर। पृ. संख्या ३००, सजिल्द प्रति का मूल्य ३) रुपया।

प्रस्तुत पुस्तक में राजस्थान में ५४ जैन सन्तों और उनकी कृतियों का परिचय कराया गया है। जैन सन्तों के परिचय में जैनियों का कोई ग्रंथ अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ था। डा० कस्तूरचन्द जी कासलीवाल ने इस कमी को महसूस किया और उसकी पूर्ति निमित्त इस पुस्तक का निर्माण किया है। आशा ही नहीं किन्तु विश्वास है कि इससे उसकी आशिक पूर्ति हो जाती है। परिशिष्टों में मूल रचनाएं देकर पुस्तक की महत्ता को बढ़ा दिया है।

प्रस्तुत कृति में भारतीय जैन सन्तों में से राजस्थान के १४५० से १७५० तक के ५४ सन्तों का उनकी रचनाओं सहित परिचय दिया गया है। उसमें कुछ ऐसे विद्वानों का भी परिचय निहित है जो स्वयं सन्त तो नहीं कहलाते थे परन्तु उन सन्तों के शिष्य-प्रशिष्यादि रूप में ख्यात थे और उनके सहवास से ज्ञानार्जन कर साहित्य-सेवा का श्री गणेश किया है। और जो ब्रह्मचारी के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं। उदाहरण के लिए ब्रह्म जिनदास को ही लीजिए, यह भट्टारक मकलकीर्ति के कनिष्ठ भ्राता और शिष्य थे, वे स्वयं भट्टारक नहीं थे। उन्होंने अपने जीवन में जैन साहित्य की महती सेवा की है। उसने अकेले ४५ रासा ग्रन्थ बनाये और अन्य संस्कृत के पुराण चरित एवं पूजा ग्रन्थ, स्तुति स्तोत्रादि, जिनकी संख्या साठ से अधिक है। उनका परिचय भी इस ग्रन्थ में दिया गया है। प्रस्तावना में सन्तों के स्वरूप के साथ उनकी महत्ता पर भी प्रकाश डाला है। पुस्तक की भूमिका राजस्थान विश्व-विद्यालय जयपुर के हिन्दी विभागाध्यक्ष डा० सत्येन्द्र ने लिखा है। पुस्तक की आवश्यकता और महत्ता पर भी प्रकाश डाला है, जो सुन्दर हैं। इस सुन्दर और सम्योपयोगी प्रकाशन के लिए महावीर तीर्थक्षेत्र कमेटी और डास कस्तूरचन्द जी धन्यवाद के पात्र हैं। आशा है डा० साहब अन्य पुस्तकों द्वारा साहित्य की श्री वृद्धि करते रहेंगे।

— परमानन्द शास्त्री

अनेकान्त की महत्त्वपूर्ण फाइलें

जैन समाज के प्रतिष्ठित पत्र अनेकान्त की कुछ महत्त्व की पुरानी फाइलें अवशिष्ट है। वर्ष आठ और दश की ४-५ फाइलें शेष रही है। और ११ से २०वें वर्ष की फाइलें, जिनमें साहित्यिक ऐतिहासिक और पुरातत्त्व विषयक महत्त्वपूर्ण सामग्री का सकलन है। फाइलें लागत मूल्य पर मिलेंगी। पोस्टेज खर्च अलग होगा। फाइलें थोड़ी ही हैं। अतः मंगाने में जल्दी करें।

व्यस्थापक

‘अनेकान्त’

वीरसेवामन्दिर २१ दरियागंज, दिल्ली।

वीर-सेवा-मन्दिर और “अनेकान्त” के सहायक

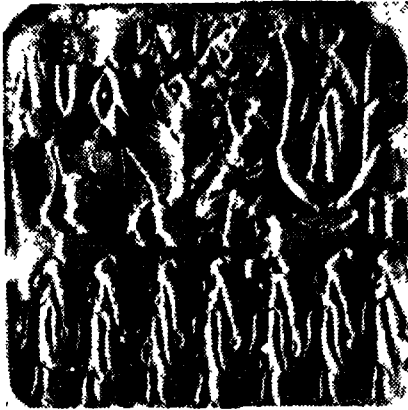
१०००) श्री मिथीलाल जी धर्मचन्द जी जैन, कलकत्ता	१५०) श्री जगमोहन जी सरावगी, कलकत्ता
१०००) श्री देवेन्द्रकुमार जैन, ट्रस्ट,	१५०) ,, कस्तूरचन्द जी आनन्दीलाल जी कलकत्ता
श्री साहु शीतलप्रसाद जी, कलकत्ता	१५०) ,, कन्हैयालाल जी सीताराम, कलकत्ता
५००) श्री रामजीवन सरावगी एण्ड संस, कलकत्ता	१५०) ,, पं० बाबूलाल जी जैन, कलकत्ता
५००) श्री गजराज जी सरावगी, कलकत्ता	१५०) ,, मालीराम जी सरावगी, कलकत्ता
५००) श्री नथमल जी सेठी, कलकत्ता	१५०) ,, प्रतापमल जी मदनलाल पांड्या, कलकत्ता
५००) श्री वैजनाथ जी धर्मचन्द जी, कलकत्ता	१५०) ,, भागचन्द जी पाटनी, कलकत्ता
५००) श्री रतनलाल जी भांभरी, कलकत्ता	१५०) ,, शिखरचन्द जी सरावगी, कलकत्ता
२५१) श्री रा० बा० हरखचन्द जी जैन, रांची	१५०) ,, गुरेन्द्रनाथ जी नरेन्द्रनाथ जी कलकत्ता
२५१) श्री अमरचन्द जी जैन (पहाड्या), कलकत्ता	१०१) ,, मारवाड़ी दि० जैन समाज, व्यावर
२५१) श्री स० सि० धन्यकुमार जी जैन, कटनी	१०१) ,, दिगम्बर जैन समाज, केकड़ी
२५१) श्री सेठ सोहनलाल जी जैन,	१०१) ,, सेठ चन्दूलाल कस्तूरचन्दजी, बम्बई नं० २
मैसर्स मुन्नालाल द्वारकादास, कलकत्ता	१०१) ,, लाला शान्तिलाल कागजी, दरियागंज दिल्ली
२५१) श्री लाला जयप्रकाश जी जैन	१०१) ,, सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल, इम्फाल
स्वस्तिक मेटल वर्क्स, जगाधरी	१०१) ,, शान्तिप्रसाद जी जैन, जैन बुक एजेन्सी,
२५०) श्री मोतीलाल हीराचन्द गांधी, उस्मानाबाद	नई दिल्ली
२५०) श्री बन्शीधर जी जुगलकिशोर जी, कलकत्ता	१०१) ,, सेठ जगन्नाथजी पाण्ड्या भूमरीतलैया
२५०) श्री जुगमन्दिरदास जी जैन, कलकत्ता	१०१) ,, सेठ भगवानदास शोभाराम जी सागर
२५०) श्री सिधई कुन्दनलाल जी, कटनी	(म० प्र०)
२५०) श्री महावीरप्रसाद जी अग्रवाल, कलकत्ता	१०१) ,, बाबू नृपेन्द्रकुमार जी जैन, कलकत्ता
२५०) श्री बी० आर० सी० जैन, कलकत्ता	१००) ,, बट्टीप्रसाद जी आत्माराम जी, पटना
२५०) श्री रामस्वरूप जी नेमिचन्द्र जी, कलकत्ता	१००) ,, रूपचन्दजी जैन, कलकत्ता
१५०) श्री वजरंगलाल जी चन्द्रकुमार जी, कलकत्ता	१००) ,, जैन रत्न सेठ गुलाबचन्द जी टोंग्या
१५०) श्री चम्पालाल जी सरावगी, कलकत्ता	इन्दौर

- (१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेपणापूर्ण महत्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए. डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानों के लिए अनीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द १५-००
- (२) आटा परीक्षा—श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर, विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य प. दरवारीनालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८-००
- (३) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्व की गवेपणापूर्ण प्रस्तावना में सुशोभित। ... २-००
- (४) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, मटीक, सानुवाद और श्री जुगल-किशोर मुख्तार की महत्व की प्रस्तावनादि में अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १-५०
- (५) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिकरचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १-५०
- (६) युवयन्तुशामन—तत्त्वज्ञान में परिपूर्ण समन्तभद्र की अमाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... ७५
- (७) श्रीपुरपाश्वर्नाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ७५
- (८) शामनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वीं शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित ७५
- (९) समीचीन धर्मशास्त्र—स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेपणात्मक प्रस्तावना में युक्त, सजिल्द। ... ३-००
- (१०) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० १ मस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह उपयोगी ११ परिशिष्टों की और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक माहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना में अलंकृत, सजिल्द। ... ४-०५
- (११) समाधितन्त्र और इन्द्रोपदेश—ग्रन्थान्तरित परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ८-००
- (१२) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दीकी महत्वका रचना, मुख्तार श्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित २५
- (१३) तत्वाथसूत्र—(प्रभाचन्द्राय)—मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या में युक्त। ... २५
- (१४) श्रवणवेलगोल और दक्षिण के अन्य जैनतीर्थ। १-२५
- (१५) महावीर का गर्वादय तीर्थ १६ पैम, (५) समन्तभद्र विचार-दीपिका १६ पैम, (६) महावीर पूजा २५
- (१६) बाह्यली पूजा—जुगलकिशोर मुख्तार कृत (समाप्त) २५
- (१७) अभ्यात्म रहस्य—पं० आशाधर की सुन्दर कृति मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। १-००
- (१८) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा २ अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्वपूर्ण संग्रह। ५५ ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रन्थ-परिचय और परिशिष्टों सहित। स. पं० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द १२-००
- (१९) जैन माहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ संख्या ७४० सजिल्द (वीर-शामन-मण प्रकाशन ५-००
- (२०) कसायपाहुड मुत्त—मूलग्रन्थ की रचना आज में दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण जूणिपूष लिखे। सम्पादक प. हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। ... २०-००
- (२१) Reality आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द ६-००

द्वे मासिक

फरवरी १९६८

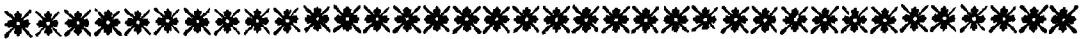
अनेकान्त



मोहनजोदड़ों से प्राप्त ध्यानस्थ योगियों
की मूर्तियां



देवगढ़ के प्राचीन मन्दिर के ऊपरी भाग का
एक दृश्य



समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का मुख पत्र

विषय-सूची

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
१	श्रेयो-जित-स्तुति—समन्तभद्राचार्य	२४१
२	काग्री तलाई की जैन मूर्तियाँ— प० गोपीलाल 'अमर' एम. ए.	२४२
३.	समर्पण और निष्ठुरता—मुनि कन्हैयालाल	२४६
४.	वादामी चालुक्य अभिलेखों में वर्णित जैन सम्प्रदाय तथा आचार्य—प्रो० दुर्गाप्रसाद दीक्षित एम. ए.	२४७
५.	एलिचपुर के राजा श्रीपाल उर्फ ईल-नेमचन्द धन्नुसा जैन	२५२
६.	वैधता और उपादेयता— डा० प्रद्युम्नकुमार जैन	२५५
७.	बुधजन के काव्य में नीति—गंगाधर 'गंग' एम. ए.	२५७
८.	मोक्षमार्ग प्रकाशक का प्रारूप— बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री—परमानन्द शास्त्री	२६१
९	श्रमण संस्कृति का प्राचीनत्व—मुनि श्री विद्यानन्द	२७१
१०.	यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन— डा० गोकुलचन्द्र जैन आचार्य एम.ए. पी-एच डी	२७३
११.	कविवर देवीदाम का पदपकट— डा० भाग-चन्द्र एम. ए. पी-एच डी.	२८०
१२.	साहित्य-समीक्षा—परमानन्द शास्त्री	२८६
१३	अनेकान्त के २०वें वर्ष की विषय-सूची	२८७

सम्पादक-मण्डल
डा० आ० ने० उपाध्य
डा० प्रेमसागर जैन
श्री यशपाल जैन

अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्पादक मण्डल उत्तरदायी नहीं हैं। — व्यवस्थापक अनेकान्त

प्राकृत भाषा एवं साहित्य पर परिसंवाद

शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापूर के तत्वावधान में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की सहायता से इसी ग्रीष्मा-वकाश में बुधवार दिनांक २२ मई से २५ मई तक प्राकृत भाषा एवं साहित्य, पर एक परिसंवाद आयोजित किया गया है, देश के प्रसिद्ध विद्वान विशेष कर प्राकृत भाषा और साहित्य के पंडित इस परिसंवाद में सम्मिलित हो रहे हैं,

प्राकृत भाषाओं के अध्ययन का महत्व सर्वविदित है, हिन्दी, मराठी, गुजराती आदि आधुनिक भारतीय भाषाओं की उत्पत्ति और विकास भिन्न-भिन्न प्राकृतों से हुआ है, इतना ही नहीं द्रविड कुल की कन्नड आदि भाषाओं का शब्द भंडार भी प्राकृतों की सहायता से ही समृद्ध हुआ है भारत के प्राचीन शिलालेख, नाटक, अलंकार ग्रंथ और मुक्तक साहित्य में प्राकृत भाषाओं का महत्व पूर्ण स्थान है पाली में लिखित त्रिपिटक के समान अर्धमागधी में रचित आगम साहित्य भी महत्वपूर्ण है, भारतीय विचारधारा तथा संस्कृति की समृद्धि में प्राकृतिक साहित्य का विशेष योगदान है, भारतीय विद्या विभिन्न क्षेत्रों में प्रसृत है। एतद्संबंधी शोध-कार्य प्राकृत भाषा एवं साहित्य के अध्ययन के बिना अधूरा ही रहेगा, प्राकृत भाषा और साहित्य में पाश्चिमात्य एवं पौराण्य पंडितों ने व्यक्तिगत रूप से अनुसंधान किया है और कर भी रहे हैं, जितना कार्य हुआ है उससे अधिक शोध कार्य शेष है, अपने देश में इसके लिए विपुल साहित्य और साधन उपलब्ध हैं, इस क्षेत्र में आज तक किए गये अनुसंधान के परिदेश में, भारतीय विद्याओं की समृद्धि के लिए भविष्य में जो कुछ कार्य करना है उसका दिशा-दर्शन इस परिसंवाद में किया जायगा।

प्राकृत के प्रसिद्ध पंडित डा० परशुराम लक्ष्मण वैद्य जी के नेतृत्व में इस परिसंवाद की तैयारी का प्रारम्भ हो चुका है। अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन के भूत-पूर्व अध्यक्ष, डा० आ. ने. उपाध्ये, डीन कला-सकाय शिवाजी विश्वविद्यालय, इस परिसंवाद के निर्देशक ह।

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपये
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैसे

ओम् अहम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमर्थनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २०
किरण ६

}

वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६
वीर निर्वाण सवत् २४६४, वि० स० २०२४

{ फरवरी
सन् १९६८

श्रेयो-जिन-स्तुतिः

अपराग समाश्रेयन्ननाम यमितोभियम् ।
विदार्य सहितावार्य समुत्सन्नज वाजितः ॥४६॥
अपराग स मा श्रेयन्ननामयमितोभियम् ।
विदार्यसहितावार्य समुत्सन्नजवाजितः ॥४७॥
— समन्तभद्राचार्य

अर्थ—हे वीतराग ! हे भवज्ञ ! आप सुर, असुर, किन्नर आदि सभी के लिए आश्रयणीय हैं—सेव्य हैं—सभी आपका ध्यान करते हैं, आप सबका हित करने वाले हैं अतः हिताभिलाषी जन सदा आपको घेरे रहते हैं—आपकी भक्ति वन्दना आदि किया करते हैं । आपकी शरण को प्राप्त हुए भक्त पुरुष भय को नष्ट कर—निर्भय हो, हर्ष से रोमाञ्चित हो जाते हैं । आप पराग से—कपाय रज से—रहित हैं । ज्ञानवान् श्रेष्ठ पुरुषों से सहित हैं, पूज्य हैं, तथा राग-द्वेष रूप सग्राम से आपका वेग नष्ट हो गया है—आप राग-द्वेष से रहित हैं । मैं आपके दर्शनमात्र से ही आरोग्यता और निर्भयता को प्राप्त हो गया हूँ । हे श्रेयान्त देव ! मेरी रक्षा कीजिए ॥४६॥४७॥

कारी तलाई को जैनमूर्तियाँ

श्री पं० गोपीलाल 'धम्मर' एम. ए.

स्थान-परिचय

कारी तलाई' का प्राचीन नाम कर्णपुर या कर्णपुरा है। यह कर्णपुर पर्वत श्रेणियों के पूर्व में, जबलपुर जिले की कटनी मुड़वारा तहसील में महियार से दक्षिण पूर्व में २२ मील और उच्चहरा से दक्षिण में ३१ मील पर स्थित है। पर्वत के किनारे यहाँ अनेक हिन्दू और जैन मन्दिरों के अवशेष विद्यमान हैं। इन अवशेषों के पूर्व में लगभग आधा मील लम्बा एक सागर नामक तालाब है—जिसके किनारे देशी पाषाण की अनेक अर्धनिर्मित जैन मूर्तियाँ बिखरी हैं। कारी तलाई के मन्दिरों की सामग्री और मूर्तियाँ बहुत बड़ी मात्रा में इसी स्थान पर बिखरी पड़ी हैं और कुछ जबलपुर तथा रायपुर के संग्रहालयों में सुरक्षित कर दी गई हैं। कहा जाता है कि विजयराघोगढ़ के किले का निर्माण कारी तलाई के प्राचीन पत्थरों से हुआ था। १८७४-७५ में श्री कनिष्क ने यहाँ का अत्यन्त सक्षिप्त सर्वेक्षण किया था। फिर श्री बालचन्द्र जैन ने १९५८ ई० के लगभग यहाँ का विस्तृत सर्वेक्षण किया और कई महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले।

स्थान की प्राचीनता

कारी तलाई की उत्पत्ति कलचुर-काल में सर्वाधिक हुई पर उसका इतिहास काफी प्राचीन है। यहाँ की कुछ गुफाओं में २००० वर्ष प्राचीन ब्राह्मी अभिलेख प्राप्त हुए हैं।

१. श्री कनिष्क ने इसका उच्चारण 'कारि-तालई' माना है। ए. आर. ए. एस. आई, जिल्द ६, पृ० ७।
२. वही।
३. जैन बालचन्द्र : कारी तलाई का कला वैभव : जैन सन्देश १९।११।१९५६।
४. श्री कनिष्क की उपर्युक्त जिल्द।
५. रायपुर संग्रहालय के पुरातत्त्व उपविभाग की प्रदर्शिका भाग १-२।
६. जैन बालचन्द्र : उपर्युक्त लेख।

लगभग १८५० ई० में यहाँ के वाराह मन्दिर में सं० १७४ का एक शिलालेख प्राप्त हुआ था। कलचुर-काल के तीन शिलालेख और प्राप्त हुए। इनमें से तीसरा रायपुर संग्रहालय में सुरक्षित है जिससे ज्ञात होता है कि कलचुर काल में कारी तलाई को सोमस्वामिपुर भी कहा जाता था। इनके अतिरिक्त दो अन्य शिलालेख भी यहाँ प्राप्त हुए हैं जिनमें से प्रथम शङ्कु लिपि में उत्कीर्ण है और दूसरे में महाराज वीर राजदेव का नाम तथा सं० १४१२ वि० उत्कीर्ण है। उत्तर-कलचुर काल में भी कारी तलाई का महत्त्व रहा, इसके प्रमाण हैं। स्थानीय पं० रामप्रपन्न जी के संग्रह में एक ताम्रपत्र है—जिसके अनुसार १८वीं शती में उनके पूर्वजों को मेहर राजा के भाई ने नौ ग्रामों के उपाध्याय (पुरोहित) का पद दिया था।

ध्वंसावशेष

यह स्थान कलचुर कालीन अवशेषों के लिए विशेष प्रसिद्ध है पर सूक्ष्म निरीक्षण करने पर प्रतीत होता है कि यहाँ ७वीं-८वीं शती के अवशेष भी विद्यमान हैं। विभिन्न स्थानों पर ग्रामवासियों ने ईटे और पत्थर प्राप्त करने के लिए खुदाई की है जिसमें कम से कम ८ फुट नीचे तक ईंटों की दीवालें प्राप्त हुई हैं। यदि इस स्थान का सिल-सिलेवार उत्खनन किया जाए तो आश्चर्य नहीं जो यहाँ मौर्यकालीन अवशेष भी प्राप्त हों।

मूर्तियाँ

कलचुर काल में कारी तलाई जैनों का महत्वपूर्ण केन्द्र तथा तीर्थ स्थान था। यहाँ कम से कम छह जैन मन्दिरों का निर्माण हुआ था। यहाँ तीर्थंकरों और शासन

७. श्री कनिष्क ने इसे गुप्त संवत् माना है। दे० वही।
८. १८७४-७५ ई० में यह शिलालेख भी कनिष्क के अधिकार में था।
९. जैन बालचन्द्र : उपर्युक्त लेख।

देवियों की प्रतिमाएँ अधिकांश में हैं। तीर्थंकरों में भी प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की प्रतिमाएँ सर्वाधिक हैं। विशेष प्रतिमाओं में द्विमूर्तिकाएँ, त्रिमूर्तिकाएँ, सर्वतोभद्रिकाएँ और सहस्रकूट जिन चैत्यालय की प्रतिकृति की प्रतिमाएँ उल्लेखनीय हैं। इनमें से कुछ प्रतिमाएँ स्थानीय लाल पत्थर की और कुछ सफेद बलुआ पत्थर की हैं। जैसा कि कहा जा चुका है, यहाँ की अधिकांश प्रतिमाएँ यही, अत्यन्त अस्त-व्यस्त एवं खण्डित स्थिति में बिखरी पड़ी हैं। कुछ प्रतिमाएँ आसपास के लोग उठा ले गये हैं^{१०}। यही की एक, बाइसवे तीर्थंकर नेमिनाथ की शासन देवी अम्बिका की प्रतिमा, कारी तलाई के समीपवर्ती ग्राम करनपुरा में एक वृक्ष के नीचे रख दी गई है जिसे स्थानीय गोड़ लोग खेरमाई के नाम से पूजते हैं। यहाँ की कुछ प्रतिमाएँ महन्त घासीदास स्मारक संग्रहालय, रायपुर में प्रदर्शित हैं जिनमें से कुछ का संक्षिप्त विवरण यह है—

१. ऋषभनाथ, (२५२७)”, १३५ से. मी.

तीर्थंकर ऊँची चौकी पर पद्मासन में ध्यानस्थ बैठे हैं। उनका मस्तक और दोनों हाथ खण्डित हैं। श्री वृक्ष, प्रभामण्डल, तीन छत्र, महावलयुक्त हाथी, दुन्दुभिक और पुष्प वृष्टि करता हुआ विद्याधर युगल तथा उनके नीचे चमरधारी इन्द्र अंकित हैं। चौकी अलंकृत है। उम पर पड़ी भूल पर ऋषभनाथ का चिह्न वृषभ है। वृषभ के नीचे चौकी के ठीक मध्य में धर्मचक्र बना है जिसके दोनों ओर एक-एक सिंह हैं। मिहासन के दाहिने छोर पर ऋषभनाथ का शासन देव गोमुख और बाएँ छोर पर उनकी शासन देवी चक्रेश्वरी की ललितासन में बैठी प्रतिमाएँ हैं।

२. ऋषभनाथ, (३५७६), १३२ से. मी.

यह उपर्युक्त प्रतिमा के समान है किन्तु इसका मस्तक अखण्डित है केश घुघराले हैं। चक्रेश्वरी अपने वाहन गरुड पर आसीन हैं।

३. ऋषभनाथ, (००३३), ७४ से. मी.

इस पद्मासन प्रतिमा का मस्तक और दोनों घुटने

१०. कटनी के पं० कुजीलाल जी ने कारी तलाई से एक सर्वतोभद्रिका प्रतिमा लाकर अपने बगीचे में रखी है।

जैन सन्देश, १२।११।१९५६, पृ० ६, कालम १।

११. कोण्टक के अन्दर के अंक रायपुर संग्रहालय के क्रमांक हैं

खण्डित हैं। इन्द्रो के ऊपरी भाग भी खण्डित हैं। चौकी के ऊपरी भाग पर दाएँ यक्ष गोमुख और बाएँ यक्षी अम्बिका की छोटी-छोटी प्रतिमाएँ हैं। सिंहों की पीठ आपस में सटी हुई है और उनके पास एक-एक पुजारी खड़ा है। शेष पूर्ववत्।

४. ऋषभनाथ (२५६४), ६८.५ से. मी.

इस सफेद बलुआ पत्थर की पद्मासन प्रतिमा का गले के ऊपर का भाग खण्डित है। कन्धों पर जटाएँ लटक रही हैं। इसे मूलनायक मानकर इसके दाएँ पद्मासन और बाएँ कायोत्सर्गासन तीर्थंकर उत्कीर्ण किए गये हैं। यक्षी चक्रेश्वरी है, अम्बिका नहीं। शेष पूर्ववत्।

५. ऋषभनाथ, (२५४८) ११२ से. मी.

यह प्रतिमा पद्मासन है और उसका मुख खण्डित है। सिंहों के जोड़े के साथ हाथियों का जोड़ा भी बनाया गया है। शेष पूर्ववत्।

६. ऋषभनाथ, (२५२५), १०२ से. मी.

सफेद बलुआ पत्थर की बनी यह प्रतिमा खण्डित होने के साथ ही प्रकृति के दुष्प्रभाव से गलकर भट्टी हो गयी है। श्री वृक्ष जटाएँ और वृषभ चिह्न अंकित हैं।

७. ऋषभनाथ और अजितनाथ, (२५८६), १०७ से. मी.

सफेद बलुआ पत्थर की इस द्विमूर्तिका में दोनों तीर्थंकर कायोत्सर्गासन में हैं। दोनों के प्रातिहार्य और परिकर पृथक् पृथक् हैं। चौकी के नीचे एक छोटा लेख उत्कीर्ण है पर वह अत्यन्त खण्डित हो गया है दोनों मूर्तियों के मुख तथा हाथ खण्डित हैं।

८. अजितनाथ और संभवनाथ, (२५५७), १३८ से. मी.

लाल बलुआ पत्थर की इस विशाल द्विमूर्तिका में द्वितीय और तृतीय तीर्थंकरों की कायोत्सर्गासन में स्थित प्रतिमाएँ हैं। दोनों के मस्तक और हाथ खण्डित हैं। प्रातिहार्य और परिकर हैं। तीर्थंकरों के चरणों के पास बैठे भक्तजन उनकी पूजा कर रहे हैं। कला अत्यन्त उच्चकोटि की है।

९. पुष्पदन्त और शीतलनाथ, (२५५६), १०७ से. मी.

यह द्विमूर्तिका प्रतिमा सफेद बलुआ पत्थर की है। इसमें नौवें और दसवें तीर्थंकर खड़े हैं। नौवें का दायाँ और दसवें का बायाँ हाथ खण्डित हैं। शेष पूर्ववत्।

उसके पैरों के नीचे बैठा है। आम्बिका पर बाइसवे तीर्थकार नेमिनाथ की छोटी-सी पद्मासन प्रतिमा है। वृक्ष के दोनों ओर खड़ी एक-एक विद्याधरी पुष्पवृष्टि करती हुई दिखाई गयी है। अम्बिका की पूजा करने वाली एक स्त्री उसके दाये ओर है। पूजा करने वाला पुरुष उसके बाये ओर हाथ जोड़े खड़ा है। स्त्री बहुत से आभूषण पहिने है और पुरुष की हल्की सी दाडी है।

३३. अम्बिका और पद्मावती, (२५८१), ४८ से.मी.

यह किसी जैन मन्दिर की चौखट का खण्ड है। इसके दाहिने ओर के आधे भाग में कोई तीर्थकार पद्मासन में आसीन है जिनके दोनों ओर एक-एक तीर्थकार कायोत्सर्ग-सन में ध्यानस्थ खड़े हैं। धुर-छोर पर मकर और पुरुष हैं। बायीं ओर के आधे भाग में ऊपर एक विद्याधर है। और नीचे प्रतिमास्थान में अम्बिका और पद्मावती एक साथ ललितासन में बैठी हैं। अम्बिका की गोद में बालक और पद्मावती के मस्तक पर सर्प दिखाया गया है।

३४. सरस्वती, (२५२४), ७६ से.मी.

इस अत्यन्त खण्डित प्रतिमा में चतुर्भुजी सरस्वती देवी ललितासन में बैठी है। उसके मस्तक और हाथ भी खण्डित हैं पर प्रभामण्डल पूर्णतः स्पष्ट है। उसके ऊपर

के दाये ओर नीचे के बाये हाथ में वीणा ले रखी है। वाहन अस्पष्ट है। नीचे एक भक्त उसकी पूजा कर रहा है और प्रतिमा के ऊपरी छोरों पर विद्याधर पुष्पमालाएँ लिए उड़ रहे हैं।

३५. महावतयुक्त हाथी, (००६६), २० से.मी.

यह किसी तीर्थकर—प्रतिमा का खण्डित ऊपरी भाग है। एक हाथी दाये बैठा हुआ है, उसकी पीठ पर घण्टा लटक रहा है। दो दिव्य पुरुष हाथी पर सवार हैं। हाथी के सामने भी एक पुरुष खड़ा है।

शैव और वैष्णव के अतिरिक्त अन्य हिन्दू देव-देवियों की मूर्तियाँ भी कारी तलाई में विपुल मात्रा में प्राप्त होती हैं। इनके कुछ अत्यन्त मनोरम नमूने रायपुर सग्र-हालय में देखे जा सकते हैं। खजुराहो की भाँति यहाँ भी अस्सराग्रों, नायिकाग्रों और शाल-भजिकाग्रों आदि की अधिकता है। यहाँ अश्लील प्रतिमाएँ भी प्राप्त होती हैं, यद्यपि उनकी संख्या अधिक नहीं है। मकर, नरशार्दूल, गजशार्दूल और कीर्तिमुख आदि अलकरण, लोकजीवन के विभिन्न दृश्य तथा दैनिक उपयोग की विविध वस्तुएँ भी कारी तलाई में मदिगों की दीवानों पर उत्कीर्ण की गयी थी।

समर्पण और निष्ठुरता

मुनि श्री कन्हैयालाल

लक्ष्मी ! तेरे जैसी सौभाग्यशालिनी ससार में कोई नहीं है। तेरी चरण रज पाने के लिए बड़े-बड़े राजा चक्रवर्ती आदि सभी प्रतिष्ठित लालायित रहते हैं। भला, इस वसुधा में तेरा स्वागत कौन नहीं करता। तेरी शुश्रूषा के लिए अमीर-गरीब सभी अपना सम्पूर्ण जीवन तेरे चरणों में समर्पित किए चलते हैं। तेरे लिए ठिठुरती हुई सर्दों, कड़कड़ाती हुई बिजली व चिलचिलाती गर्मी में भी मनुष्य भटकते रहते हैं। भूख और प्यास को भी भूल जाते हैं। खाते, पीते, सोते, जागते तेरा ही ध्यान करते हैं। तेरी रक्षा के लिए नगी तलवारों का पहरा लगता है। दो-दो तालों वाली तिजोरियाँ तेरे विश्रामार्थ शय्या बनती हैं। अपनी प्राण-रक्षा की अपेक्षा तेरी रक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण समझी जाती है। रहने के लिए अच्छे-से-अच्छा स्थान तुझे मिलता है। मौका आने पर तेरा स्वामी तेरे पर प्राण न्योछावर करने को भी तैयार रहता है और तुझे किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं होने देता।

चपले ! इतना होते हुए भी तू अपनी चंचलता का परित्याग नहीं करती। आज कही, तो कल कही ? लक्ष्मी ! तू क्यों भूल रही है ? क्या तुझे यह ज्ञात नहीं है कि अस्थिर मनुष्यों की ससार में क्या गति होती है और उनका सम्मान कैसे होता है ?

हन्त ! समय पर तू किसी की भी सहयोगिनी नहीं बन सकती है और न किसी के कण्ठों को भी दूर करने का प्रयत्न करती है। क्या यह तेरी कृतघ्नता और निष्ठुरता नहीं है ?

बादामी चालुक्य अभिलेखों में

वर्णित जैन सम्प्रदाय तथा आचार्य

प्रो० दुर्गाप्रसाद दीक्षित, एम. ए.

दक्षिण के उन स्वजवशो ने जिन्होंने सभी धर्मों को पुष्पित, पल्लवित और फलित होने के लिए समान अवसर दिया, बादामी के चालुक्य राजवंश का नाम विशेषोल्लेखनीय है। इस राजवंश के उपलब्ध अभिलेखों में करीब १२ अभिलेखों का सम्बन्ध, येन केन प्रकारेण जैन धर्म से है। इन अभिलेखों में राजपरिवार के सदस्यों तथा अन्य व्यक्तियों द्वारा जैन मुनियों तथा संस्थानों को दान देने का उल्लेख है। इसी प्रसंग में अनेक जैन सम्प्रदायों, आचार्यों तथा विद्वानों का उल्लेख है। इस लघु लेख का उद्देश्य बादामी के चालुक्य नरेशों के अभिलेखों में वर्णित विभिन्न जैन सघ, गण आचार्यों तथा मूनियों के विषय में चर्चा करना है। इन अभिलेखों के सूक्ष्म विश्लेषण से यह ध्वनित होता है कि इस राजवंश के दरबार में जैन आचार्यों और प्रसारकों की अच्छी प्रतिष्ठा थी। इतिहास प्रसिद्ध गेहोल प्रशस्ति^१ का लेखक रविकीर्ति, जो जैन धर्मावलम्बी था, सम्भवतः चालुक्यों के राजनैतिक अधिकारियों में से था। गेहोल प्रशस्ति में उसके द्वारा राजनैतिक घटनाओं का क्रमबद्ध एवम् चित्रात्मक वर्णन इस सम्भावना की पुष्टि करता है। जिन जैन सूचनाओं का इन अभिलेखों में वर्णन है उन्हीं का क्रमबद्ध विवेचन निम्न पक्तियों में प्रस्तुत है।

मूलसंघः—प्रायः बादामी चालुक्य राजवंश के सभी अभिलेखों में (जैन धर्म से सम्बन्धित) मूलसंघ से सम्बन्धित जैन मुनियों का उल्लेख है। केवल कुरताकांठि^२ से प्राप्त एक अभिलेख में एक अन्य संघ का उल्लेख है। सभी चालुक्य जैन अभिलेखों में केवल मूलसंघ के अनुयायियों का उल्लेख इस बात का द्योतक है कि बादामी चालुक्य साम्रा-

ज्य की सीमाओं में इस सघ के अनुयायियों का बाहुल्य था। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि इस सघ विशेष के ही अनुयायियों ने विशेष रूप से इस क्षेत्र में जैन धर्म का प्रचार किया था। जैन समुदाय के जो मुनि नग्नता के समर्थक थे और उसे ही महावीर का मूल आचार मानते थे वे दिगम्बर कहलाए^३। इनका श्वेताम्बरों से वैमन्य था। दिगम्बर सम्प्रदाय अपने को जैनो का मूल समुदाय मानता है फलतः उन्हें ही मूलसंघ नाम से जाना जाता है। विद्वानों के अनुसार मूल सघ नामकरण अधिक पुराना नहीं है^४। परन्तु नोणमगल के दानपत्र में इस नाम का उल्लेख इसकी प्राचीनता की प्रतिष्ठापना ४थी-पांचवीं शताब्दी में कर देता है^५। बादामी चालुक्य अभिलेखों में इसका उल्लेख इस नामकरण की प्राचीनता का संकेत देते हुए इस तथ्य को प्रकाशित करता है कि यह नामकरण उतना अर्वाचीन नहीं है जैसी कि कुछ विद्वानों की धारणा है। “अपने से अतिरिक्त दूसरों को अमूल—जिनका कोई मूल आधार नहीं—बनलाने के लिए ही यह नामकरण किया गया होगा।” इस सदर्भ में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि आज हम मूल सघ का जो अर्थ बताकर उसके उद्देश्य को स्पष्ट करते हैं वह अवश्य अर्वाचीन लगता है परन्तु स्वयं मूलसंघ नामकरण से किसी प्रकार की अप्राचीनता का आभास नहीं मिलता है। उसे प्राचीन मानने से किसी प्रकार से साक्ष्य सम्बन्धी भी कोई कठिनाई दृष्टिगोचर नहीं होती है।

३. कैलाशचन्द्र शास्त्री “जैनधर्म” पृ० २८६-३०३।

एवम् जैन साहित्य तथा इतिहास पृ० ४८५।

४. कैलाशचन्द्र शास्त्री “जैनधर्म” पृ० २८६-३०३ एवम् जैन साहित्य तथा इतिहास पृ० ४८५।

५. जैन शिलालेख संग्रह भाग २ पृ० ६०-६१।

१. एपीग्राफिया इण्डिका जिल्द ६ पृष्ठ १-१२।

२. इण्डियन एन्टिक्वेरी जिल्द ७ पृ० २१७-२०।

अन्तेम से प्राप्त चालुक्य ताम्रपत्र में मूलगण का उल्लेख है।^१ इस अभिलेख में मूलगण परम्परा रूपी वृक्ष को कनकोपल पर्वत पर उत्पन्न बताया गया है।

“कनकोपलसम्भूतवृक्षमूलगुणान्वये।

भूतस्समप्रशङ्कान्तस्सिद्धनन्दि मुनीश्वरः ॥”

श्री राईस ने इस पर्वत की पहिचान मैसूर के चामराज नगर तालुका में स्थित मलेयूर पर्वत में की है।^२ कुछ अन्य अभिलेखों में इसे कनकगिरि कहा गया है।^३ एक अन्य अभिलेख में इसे कनकाचल भी कहा गया है।^४ अन्तेम अभिलेख की सत्यता के विषय में विद्वानों में मतभेद है।^५ परन्तु डम आश्रम में वर्णित मूलगण का तात्पर्य मूल-सघ से है अथवा किसी अन्य प्राचीन जैन सम्प्रदाय में यह कहना कठिन है। सम्भव है कि गण शब्द सघ के लिए त्रुटि हो।

बसुरिसंघः—कुरताकोटि से प्राप्त अभिलेख में इस संघ का उल्लेख है। इस सघ के एक व्यक्ति रविशर्मा का अभिलेख में उल्लेख है, जो मामवेद पारगत माधवशर्मा का गोत्र तथा जयशर्मा का पुत्र था। उसने अग्रस्थि (स्त्य) गोत्र (गात्र) का बनाया गया है।^६ उपलब्ध जैन साहित्य सामग्री में इस प्रकार के किसी सघ का उल्लेख नहीं मिलता है। गोत्र तथा सामवेद का नाम के साथ उल्लेख इस सघ के जैन न होने का संकेत करता है परन्तु सामवेद और गोत्र का उल्लेख पितामह के विशेषणा के रूप में है। सम्भवत कि रविशर्मा के पितामह एवम पूर्वज वैदिक धर्मावलम्बी रहे हों परन्तु स्वयम् उनकी आस्था जैन मत में ही रही हो। इस विषय में निश्चित रूप में कुछ कहना तो कठिन है परन्तु यह सम्भवत, कोई जैन सघ ही था जो अनुयायियों के अभाव में विशेष प्रसिद्ध न हो सका।

मूल संघ के कई गणों का भी उल्लेख चालुक्य जैन

६. ड० ए० जि० ७ पृ० २०६-२१७।

७. इपीग्राफिका कर्नाटिका जिल्द ४ पृ० १४०।

८. ए० कर्मा० जिल्द ४ Ch. No. १४४, १५०, १५३ इत्यादि।

९. ए. पी. कर्मा० जिल्द ४ Ch. No. १५८।

१०. ड० ए० जि० ७ पृ० २०६-२१७ एवम जिल्द ३० पृ. २१८ नं० ३५।

११. ड० ए० जि० ७ पृ० २१७-२०।

अभिलेखों में आया है। इस सन्दर्भ में देवगण को प्रधानता मिली है। यद्यपि इस सन्दर्भ में एकाध स्थानीय गणों का भी उल्लेख है। विशेष महत्वपूर्ण बात यह है कि इन अभिलेखों में गच्छों का उल्लेख नहीं मिलता है।

देवगणः—लक्ष्मेश्वर से प्राप्त वादामी चालुक्य जैन अभिलेखों में मूलसघ की शाखा के रूप में इस गण का उल्लेख है। लक्ष्मेश्वर से प्राप्त अधिकांश चालुक्य अभिलेखों को पलीट तथा अन्य कुछ विद्वानों ने जाली करार दिया है।^७ परन्तु इस तथ्य से मुख मोड़ा नहीं जा सकता है कि इसमें उल्लिखित संघ संप्रदाय तथा अन्य जैनधर्म सम्बन्धी सामग्री की प्रामाणिकता अन्य आधारों पर निश्चित है। हाल ही में कुछ विद्वानों ने यह मत व्यक्त किया है कि लक्ष्मेश्वर के अभिलेख केवल प्राचीन ताम्रपत्रों की पापाणों पर प्रति लिपियों हैं तथा उनकी सत्यता को सशक्ति दृष्टि से नहीं देखा है। अतः इन अभिलेखों में प्राप्त सामग्री प्रामाणिक प्रतीत होती है। आचार्य टन्दनन्दि ने अपने ‘श्रुतावतार’ में आचार्य अर्हद-बलि का उल्लेख किया है और उन्हीं के द्वारा अशोक वाटिका में आये जैन मुनियों में कुछ को ‘अपराजित’ तथा कुछ को “देव” नाम से अभिहित किया है। इन्हीं मुनियों के जिन्य प्रजिन्य तथा अनुयायी देवगण में सम्बन्धित हुए।^८ इस प्रकार “देवगण” मूलसघ की शाखा मात्र है। अन्य कुछ विद्वानों का मत है कि अशोक वन से आने वाले मुनियों को “देवगण” के अन्तर्गत रखा गया था।^९ चालुक्य साम्राज्य के धारवाड क्षेत्र में इस गण के अनुयायियों का विशेष बाहुल्य था। जिन जैन आचार्यों अथवा विद्वानों का उल्लेख चालुक्य अभिलेखों में मिलता है उनमें से अधिकांश देवगण शाखा के थे अतएव यह अनुमान स्वाभाविक ही प्रतीत होता है कि देवगण शाखा के अनुयायियों का चालुक्य साम्राज्य में विशेष बोलबाला था।

पर तूर गणः—अडूर से प्राप्त दो अभिलेखों में इस

१२. ड० ए० जि० ३० पृ० २१८-२१९ नं० ३७, ३८।

१३. साउथ इण्डियन इन्स्ट्रिप्सन्स जिल्द २०, (बाम्बे कर्नाटक इन्स्ट्रिप्सन्स जिल्द ४) भूमिका पृ० ७, ८।

१४. कैलाशचन्द्र शास्त्री “जैनधर्म” पृ० ३००।

१५. कैलाशचन्द्र शास्त्री “जैनधर्म” पृ० ३०१।

गण का उल्लेख मिलता है^{१६}। अभिलेखों में इस प्रकार का अन्य कोई सूत्र उपलब्ध नहीं है जिसके आधार पर यह पता लग सके कि यह गण किस सघ में सम्बन्धित था।

(अ) “आसीव विनय नन्वीति परलूरगणाप्रणीरिन्द्रभूतिरिब”

(ब) “किडिप्पोरवर्त्तपापम परलूराचेदि यदबकि प्रभाचन्द्र गुरावंपडेदार।”

प्रभाचन्द्र नाम के अनेक आचार्य हों गये हैं अतएव इस आधार पर गण के विषय में अनुमान लगाना कठिन है। अभिलेख की लिपि तथा ऐतिहासिक उल्लेख के आधार पर वह छठी शताब्दी ई० का है। फलतः उसमें उल्लिखित प्रभाचन्द्र की पहिचान चन्द्रगिरि पर्वत पर उपलब्ध लगभग शक ५२२ में उल्लिखित प्रभाचन्द्र से की जा सकती है^{१७}। परलूरगण सम्भवतः एक स्थानीय गण था तथा परलूर चेडिय में रहने वाले जैन मुनि सम्भवतः परलूर गण के ही रहे होंगे। इस सन्दर्भ में विशेष मामग्री उपलब्ध नहीं है। परलूरगण के जैन अनुयायियों का कार्य-स्थल भी सम्भवतः धारवाड जिले के अन्तर्गत ही था।

बादामी-चालुक्य अभिलेखों में उल्लिखित जैन आचार्य

बादामी चालुक्य जैन अभिलेखों में अनेक जैन आचार्यों गुरुओं और पण्डितों का उल्लेख मिलता है। अल्लेम में प्राप्त अभिलेख में चार जैन आचार्यों का उल्लेख है जो मूलसंघ परम्परा के थे।

१ **सिद्धनन्दि**—त्रिभुवन तिलक जिनालय के जिननन्दि के पूर्व आचार्यों के वर्णन में सर्वप्रथम इन मुनि का उल्लेख है।

“भूतस्तस्यपराद्वान्तस्सिद्धनन्दि मुनीश्वरः”

श्री नम्रथूराम प्रेमी ने इनके यापनीय होने का अनुमान लगाया है। “ग्रडुकट्टे (चन्द्रगिरि पर्वत पर) वस्ति मे आदीश्वर की मूर्ति के सिहपीठ पर उपलब्ध अभिलेख में शुभचन्द्र मुनीन्द्र को सिद्धान्त परम्पराओं में एक सिद्धनन्दि का उल्लेख है जो सम्भवतः मूलसंघ के देसिग गण और

१६. इ० ए० जिल्द ११ पृ. ६८-७१ एवम कर्नाटक अभिलेख भाग १ पृ. ४-८।

१७ जैन शिलालेख भाग १ पृ. १-२१।

१८ श्री प्रेमी जी, जैन साहित्य और इतिहास पृष्ठ १६७।

पुस्तकान्वय उपशाखा के थे। यह अभिलेख लगभग शक १०४० ई० है^{१८}।

२ **चितकाचार्य**—इन आचार्य का उल्लेख भी अल्लेम ताम्रपत्र में है। वह आचार्य सिद्धनन्दि के शिष्य थे।

तस्यासीत प्रथमदिश्या देवताविनूतकम्।

शिष्यः पञ्चशतैर्युक्तचितकाचार्य संज्ञितः॥

अल्लेम दानपत्र में उनके ५०० शिष्य सख्या का उल्लेख है। उनके विषय में अधिक जानकारी प्रकाशित मामग्री में उपलब्ध नहीं है।

३ **नागदेव**—यह चितकाचार्य के शिष्यों में से थे। अल्लेम दानपत्र में उल्लिखित दान के ग्रहणकर्ता जिननन्दि आपके ही शिष्य थे। नागदेव नामक एक व्यक्ति का उल्लेख महानवमी मण्डप (चन्द्रगिरि पर्वत) स्तम्भलेख (शक १०६६) में है जो किसी राजा का मन्त्री था और जैनगुरु नयकीनि का शिष्य था। “परन्तु यह उपरोक्त नागदेव आचार्य नहीं हो सकते। क्योंकि वह चितकाचार्य के शिष्य थे तथा उनका समय इतने बाद का नहीं हो सकता है। इसके अनिश्चित इस सन्दर्भ में अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है।

४ **जिननन्दि**—आचार्य जिननन्दि अलकतक नगर में स्थित त्रिभुवन तिलक जिनालय के अधिष्ठाता थे। आप नागदेव आचार्य के शिष्य तथा सेन्द्रक सामन्त सामिया के विशेष कृपापात्र थे। आचार्य जिननन्दि का उल्लेख शिवार्य के गुरुओं में आता है। इन्हीं के चरणों में अच्छी तरह सूत्र और उनका अर्थ समझकर शिवार्य ने “भगवती आराधना” की रचना की थी। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि जिननन्दि सम्भवतः यापनीय सम्प्रदाय के थे और शिवार्य उनके प्रमुख शिष्यों में रहे होंगे।

५ **रामदेवाचार्य**—लक्ष्मेश्वर से उपलब्ध शक ६५६ के विक्रमादित्य द्वितीय के पाषाण अभिलेख^{१९} में इन आचार्य का उल्लेख मिलता है। यह मूलसंघ की देवगण शाखा के आचार्य थे। इनके शिष्य का नाम जयदेव पण्डित था।

१९ जै० शि० सं० भाग १ पृष्ठ १४७-१४८।

२० जै० शि० सं० भाग १ पृष्ठ ३३।

२१ जैन साहित्य और इतिहास (प्रेमी) पृष्ठ ६८।

२२ इ० ए० जि० ७ पृ० १०६-७।

अन्तेम से प्राप्त चालुक्य ताम्रपत्र में मूलगण का उल्लेख है।^१ इस अभिलेख में मूलगण परम्परा रूपी वृक्ष को कनकोपल पर्वत पर उत्पन्न बताया गया है।

“कनकोपलसम्भूतवृक्षमूलगुणान्वये ।

भूतस्समप्रशङ्कान्तस्सिद्धनन्दि मुनीश्वरः ॥”

श्री राईस ने इस पर्वत की पहिचान मैसूर के चामराज नगर तालुका में स्थित मलेयूर पर्वत में की है।^२ कुछ अन्य अभिलेखों में इसे कनकगिरि कहा गया है।^३ एक अन्य अभिलेख में इसे कनकाचल भी कहा गया है।^४ अन्तेम अभिलेख की सत्यता के विषय में विद्वानों में मतभेद है।^५ परन्तु इस अभिलेख में वर्णित मूलगण का तात्पर्य मूल-मध से है अथवा किसी अन्य प्राचीन जैन सम्प्रदाय में यह कहना कठिन है। सम्भव है कि गण शब्द सघ के लिए चूटि हो।

बसुरिसंघः—कुरताकोटि से प्राप्त अभिलेख में इस संघ का उल्लेख है। इस सघ के एक व्यक्ति रविशर्मा का अभिलेख में उल्लेख है, जो मामवेद पारंगत माववशर्मा का पुत्र तथा जयशर्मा का पुत्र था। उसे अगस्थि (मृत्यु) गोत्र (गात्र) का बताया गया है।^६ उपलब्ध जैन साहित्य सामग्री में इस प्रकार के किसी सघ का उल्लेख नहीं मिलता है। गोत्र तथा मामवेद का नाम के साथ उल्लेख इस सघ के जैन होने का संकेत करता है परन्तु मामवेद और गोत्र का उल्लेख पितामह के विशेषणों के रूप में है। सम्भवतः कि रविशर्मा के पितामह एवम् पूर्वज वैदिक धर्मावलम्बी रहे हों परन्तु स्वयम् उनकी आस्था जैन मत में ही रही हो। इस विषय में निश्चित रूप में कुछ कहना तो कठिन है परन्तु यह सम्भवतः कोई जैन सघ ही था जो अनुयायियों के अभाव में विशेष प्रसिद्ध न हो सका।

मूल सघ के कई गणों का भी उल्लेख चालुक्य जैन

६. ड० ए० जि० ७ पृ० २०६-२१७।

७. इपीग्राफिका कर्नाटिका जिल्द ४ पृ० १४०।

८. ए० कर्ना० जिल्द ४ Ch. No १४४, १५०, १५३ इत्यादि।

९. ए. पी. कर्ना. जिल्द ४ Ch. No. १५८।

१०. ड० ए० जि० ७ पृ० २०६-२१७ एवम् जिल्द ३० पृ. २१८ नं० ३५।

११. ड० ए० जि० ७ पृ० २१७-२०।

अभिलेखों में आया है। इस सन्दर्भ में देवगण को प्रधानता मिली है। यद्यपि इस सन्दर्भ में एकाग्र स्थानीय गणों का भी उल्लेख है। विशेष महत्वपूर्ण बात यह है कि इन अभिलेखों में गच्छों का उल्लेख नहीं मिलता है।

देवगणः—लक्ष्मेश्वर से प्राप्त बादामी चालुक्य जैन अभिलेखों में मूलसघ की शाखा के रूप में इस गण का उल्लेख है। लक्ष्मेश्वर से प्राप्त अधिकांश चालुक्य अभिलेखों को पलीट तथा अन्य कुछ विद्वानों ने जाली करार दिया है।^{१२} परन्तु इस तथ्य से मुख मोड़ा नहीं जा सकता है कि इसमें उल्लिखित संघ संप्रदाय तथा अन्य जैनधर्म सम्बन्धी सामग्री की प्रामाणिकता अन्य आधारे पर निश्चित है। हाल ही में कुछ विद्वानों ने यह मत व्यक्त किया है कि लक्ष्मेश्वर के अभिलेख केवल प्राचीन ताम्रपत्रों की पापाणों पर प्रति लिपियाँ हैं तथा उनकी मत्तना को मशकित दृष्टि से नहीं देखा है। अतः इन अभिलेखों में प्राप्त सामग्री प्रामाणिक प्रतीत होती है। आचार्य इन्द्रनन्दि ने अपने ‘श्रुतावतार’ में आचार्य अर्हद-बलि का उल्लेख किया है और उन्हीं के द्वारा अशोक वाटिका से आये जैन मुनियों में कुछ को ‘अपराजित’ तथा कुछ को ‘देव’ नाम से अभिहित किया है। इन्हीं मुनियों के शिष्य प्रशिष्य तथा अनुयायी देवगण से सम्बन्धित हुए।^{१३} इस प्रकार ‘देवगण’ मूलसघ की शाखा मात्र है। अन्य कुछ विद्वानों का मत है कि अशोक वन से आने वाले मुनियों को ‘देवगण’ के अन्तर्गत रखा गया था।^{१४} चालुक्य साम्राज्य के धारवाड क्षेत्र में इस गण के अनुयायियों का विशेष बाहुल्य था। जिन जैन आचार्यों अथवा विद्वानों का उल्लेख चालुक्य अभिलेखों में मिलता है उनमें से अधिकांश देवगण शाखा के थे अतएव यह अनुमान स्वाभाविक ही प्रतीत होता है कि देवगण शाखा के अनुयायियों का चालुक्य साम्राज्य में विशेष बोलबाला था।

पर लूर गणः—अदूर से प्राप्त दो अभिलेखों में इस

१२. ड० ए० जि० ३० पृ० २१८-२१९ नं० ३७, ३८।

१३. माउथ इण्डियन इन्स्ट्रिप्सन्स जिल्द २०, (बाम्बे कर्नाटक इन्स्ट्रिप्सन्स जिल्द ४) भूमिका पृ० ७, ८।

१४. कैलाशचन्द्र शास्त्री ‘जैनधर्म’ पृ० ३००।

१५. कैलाशचन्द्र शास्त्री ‘जैनधर्म’ पृ० ३०१।

गण का उल्लेख मिलता है^{१६}। अभिलेखों में इस प्रकार का अन्य कोई सूत्र उपलब्ध नहीं है जिसके आधार पर यह पता लग सके कि यह गण किस सघ से सम्बन्धित था।

(अ) “आसीद विनय नन्दीति परलूरगणागणोरिन्द्रभूतिरिव”

(ब) “किडिप्पोरवत्तेपापम परलूराचेदि यदबकि प्रभाचन्द्र गुरार्वपडेदार।”

प्रभाचन्द्र नाम के अनेक आचार्य हो गये हैं अतएव इस आधार पर गण के विषय में अनुमान लगाना कठिन है। अभिलेख की लिपि तथा ऐतिहासिक उल्लेख के आधार पर वह छठी शताब्दी ई० का है। फलतः उसमें उल्लिखित प्रभाचन्द्र की पहिचान चन्द्रगिरि पर्वत पर उपलब्ध लगभग शक ५२२ में उल्लिखित प्रभाचन्द्र से की जा सकती है^{१७}। परलूरगण सम्भवतः एक स्थानीय गण था तथा परलूर चेडिय में रहने वाले जैन मुनि सम्भवतः परलूर गण के ही रहे होंगे। इस सन्दर्भ में विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं है। परलूरगण के जैन अनुयायियों का कार्य-स्थल भी सम्भवतः धारवाड जिले के अन्तर्गत ही है।

बादामी-चालुक्य अभिलेखों में उल्लिखित जैन आचार्य

बादामी चालुक्य जैन अभिलेखों में अनेक जैन आचार्यों गुरुओं और पण्डितों का उल्लेख मिलता है। अन्तेम से प्राप्त अभिलेख में चार जैन आचार्यों का उल्लेख है जो मूलसघ परम्परा के थे।

१ सिद्धनन्दि—त्रिभुवन तिलक जिनालय, जिननन्दि के पूर्व आचार्यों के वर्णन में सर्वप्रथम इन मुनि का उल्लेख है।

“भूतस्समप्रराद्धान्तस्सिद्धनन्दि मुनीश्वरः”

श्री नम्रथूराम प्रेमी ने इनके यापनीय होने का अनुमान लगाया है। “परडुकट्टे (चन्द्रगिरि पर्वत पर) वस्ति मे

वर की मूर्ति के सहिपीठ पर उपलब्ध अभिलेख में शुभचन्द्र मुनीन्द्र की सिद्धान्त परम्पराओं में एक सिद्धनन्दि का उल्लेख है जो सम्भवतः मूलसघ के देसिग गण और

१६ इ० ए० जिल्द ११ पृ ६८-७१ एवम कर्नाटक अभिलेख भाग १ पृ. ४-८।

१७ जैन शिलालेख भाग १ पृ. १-२१।

१८ श्री प्रेमी जी, जैन साहित्य और इतिहास पृष्ठ १६७।

पुस्तकान्वय उपशाखा के थे। यह अभिलेख लगभग शक १०४० ई० है^{१८}।

२ चितकाचार्यः—इन आचार्यों का उल्लेख भी अन्तेम ताम्रपत्र में है। वह आचार्य सिद्धनन्दि के शिष्य थे।

तस्यासीत प्रथमशिष्यो देवताविनुतकम्।

शिष्यः पञ्चशतयुक्तचित्तकाचार्य संश्रितः॥

अन्तेम दानपत्र में उनके ५०० शिष्य सख्या का उल्लेख है। उनके विषय में अधिक जानकारी प्रकाशित सामग्री में उपलब्ध नहीं है।

३ नागदेव—यह चितकाचार्यों के शिष्यों में से थे। अन्तेम दानपत्र में उल्लिखित दान के ग्रहणकर्ता जिननन्दि आपके ही शिष्य थे। नागदेव नामक एक व्यक्ति का उल्लेख महानवमी मण्डप (चन्द्रगिरि पर्वत) स्तम्भलेख (शक १०६६) में है जो किसी राजा का मन्त्री था और जैनगुरु नयकीर्ति का शिष्य था। “परन्तु यह उपरोक्त नागदेव आचार्य नहीं हो सकते। क्योंकि वह चितकाचार्यों के शिष्य थे तथा उनका समय इतने बाद का नहीं हो सकता है। इसके अनिश्चित इस सन्दर्भ में अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है।

४ जिननन्दि—आचार्य जिननन्दि अलक्तक नगर में स्थित त्रिभुवन तिलक जिनालय के अधिष्ठाता थे। आप नागदेव आचार्य के शिष्य तथा सेन्द्रक सामन्त सामिया के विशेष कृपापात्र थे। आचार्य जिननन्दि का उल्लेख शिवार्य के गुरुओं में आता है। इन्हीं के चरणों में अच्छी तरह सूत्र और उनका अर्थ समझकर शिवार्य ने “भगवती आराधना” की रचना की थी। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि जिननन्दि सम्भवतः यापनीय सम्प्रदाय के थे और शिवार्य उनके प्रमुख शिष्यों में रहे होंगे।

५ रामदेवाचार्य—लक्ष्मेश्वर से उपलब्ध शक ६५६ के विक्रमादित्य द्वितीय के पाषाण अभिलेख^{१९} में इन आचार्यों का उल्लेख मिलता है। यह मूलसघ की देवगण शाखा के आचार्य थे। इनके शिष्य का नाम जयदेव पण्डित था।

१६ जै० शि० सं० भाग १ पृष्ठ १४७-१४८।

२० जै० शि० सं० भाग १ पृष्ठ ३३।

२१ जैन साहित्य और इतिहास (प्रेमी) पृष्ठ ६८।

२२ इ० ए० जि० ७ पृ० १०६-७।

अधिक सामग्री इस सन्दर्भ में उपलब्ध नहीं है।

६ जयदेव पण्डित—शक ६५६ के लक्ष्मेश्वर अभिलेख में विजयदेव पण्डित के गुरु के रूप में इस जैन पण्डित का उल्लेख है। वे मूल संघ की देवगण शाखा की गुरु परम्परा के थे। हेमचन्द्र ने अपने “छन्दोनुशासन” (१३वीं शताब्दी) में अनेक छन्द प्रणेताओं तथा पूर्वाचार्यों का उल्लेख किया है।^{११} उसमें जयदेव का भी नाम आता है बहुत सम्भव है कि यह जयदेव वही हो। उनकी पण्डित उपाधि से उनके व्याकरणाचार्य होने की सम्भावना का पता लगता है।

७ विजयदेव पण्डित :—यह जयदेव पण्डित के शिष्य तथा रामदेवाचार्य के प्रशिष्य थे। वे मूलसंघ की देवगण शाखा के आचार्य थे। विक्रमादित्य ने शक तीर्थ वनति के धवल जिनालय के जीर्णोद्धार के निमित्त तथा जिन पूजा की वृद्धि के लिए कुछ भूमिदान बाहुबलि श्रेष्ठी के आग्रह पर विजयदेव पण्डित को प्रदान किया था।

८ पूज्यपाद :—चालुक्य राजा विक्रमादित्य के शक ६५१ के लक्ष्मेश्वर अभिलेख में^{१२} इनका उल्लेख है आप चालुक्य सम्राट् विनयादित्य के पुरोहित श्री उदयदेव पण्डित के गुरु थे। मूलसंघ की देवगण शाखा के आचार्यों में उनका अपना विशिष्ट स्थान है सम्भवतः आप वही पूज्यपाद हैं जिनका वास्तविक नाम देवनन्दि था तथा अपनी बुद्धिमत्ता के कारण जो जिनेन्द्र बुद्धिकहलाये। तथा देवों ने उनके चरणों की पूजा की इस कारण उनका नाम पूज्यपाद पड़ा।

यो देवनन्दि प्रथमाभिधानो बुद्ध्या महत्या स जिनेन्द्र बुद्धिः।

श्री पूज्यपादो ऽजनिदेवताभिर्यत्पूजित पादयुग यदीयम् ॥^{१३}

इनके जीवन काल के विषय में विद्वानों में मतभेद है। बहुसंख्यक विद्वान इनका समय ५वीं-६ठी शताब्दी

२३ जैन साहित्य और इतिहास (प्रेमी) पृष्ठ ४।

२४ ई० ए० जि० ७ पृ० ११२।

२५ जैन साहित्य और इतिहास (प्रेमी) पृष्ठ २५ और आगे।

मानते हैं,^{१४} और वह यथार्थ ही प्रतीत होता है। इनके द्वारा लिखा गया जैनेन्द्र व्याकरण जैनो का सर्वप्रथम व्याकरण है। इसके अतिरिक्त सवार्थसिद्धि, समाधितत्र इष्टोपदेश तथा दशभक्ति आदि ग्रन्थों के भी वह कर्ता माने जाते हैं।

९ उदयदेव पण्डित—यह पूज्यपाद के शिष्य तथा मूलसंघ की देवगण शाखा से सम्बन्धित थे। वह चालुक्य सम्राट् विनयादित्य के पुरोहित थे जैसा कि शक ६५१ के लक्ष्मेश्वर अभिलेख से स्पष्ट है। वे निरवद्य पण्डित, इस उपाधि से भी जाने जाते थे। सम्भवतः इनका जीवनकाल ६७५ ई० से ७३० ई० के बीच में रहा होगा।

१० प्रभाचन्द्र :—अडूर से प्राप्त दोनों वादामी चालुक्य अभिलेखों में आप का उल्लेख है। वह सम्भवतः गुरुगुरु वासुदेव आचार्य के शिष्य थे। धर्मः, पुण्ड पुत्रज श्रीगाल जिसने अडूर में पच्छिलापट्ट स्थापित किया था, इनका गण्य था। प्रभाचन्द्र नाम के अनेक जैन आचार्यों और गुरुओं का उल्लेख, प्राचीन जैन साहित्य और अभिलेखों में मिलता है। सम्भवतः यह वही आचार्य हैं जिनका उल्लेख श्री प्रेमी जी ने भी किया है।^{१५} साक्ष्यों के अभाव में अधिक विस्तार में न जाकर इनका निसन्देहात्मक रूप से कहा जा सकता है कि इन प्रभाचन्द्र की पहचान ६ठी-७वीं शताब्दी में हुए आचार्य प्रभाचन्द्र से ही की जानी चाहिए, क्योंकि अडूर से प्राप्त अभिलेख पूर्णतः प्रामाणिक है तथा ऊपर बताए गए समय के हैं।

११ वासुदेव :—अडूर से प्राप्त अभिलेखों में प्रभाचन्द्र के गुरु के रूप में गुरुगुरु वासुदेव आचार्य का भी उल्लेख है। इनके गुरु का नाम विनयनन्दि था जो परलूगण के थे। सम्भवतः यह वही आचार्य हैं जिनका उल्लेख ‘वासुदेव-ह्रिडि’ के दूसरे खण्ड में गणितानुयोग के कर्त्ता के रूप में धर्मसेन गणी ने किया है।

“अरहंत-चविक-वासुदेव-गणितानुयोग-क्रमणि दिदु वसुदेव चरित ति।” इस सन्दर्भ में अभिलेख में अन्य सूत्रों के अभाव में विशेष दृढ़ता के साथ यह मत प्रस्तावित नहीं

२६ जैन साहित्य और इतिहास (प्रेमी) पृष्ठ २५ और आगे।

२७ जैन साहित्य तथा इतिहास (प्रेमी) पृष्ठ ६५।

किया जा सकता है।

१२ विनयनन्दि :—आचार्य विनयनन्दि का उल्लेख अडूर अभिलेख में मिलता है। इन्हें परलूरगण का अग्रणी बताया गया है। परलूरगण सम्भवतः एक अप्रचलित गण था। अतः इन आचार्य के विषय में अधिक सामग्री और परम्पराओं का अभाव है। अभिलेख के आधार पर इनका समय ६ठी-७वीं शताब्दी के बीच में रखा जा सकता है।

उपर्युक्त आचार्यों के अलावा कुछ अन्य नामों का उल्लेख इन अभिलेखों में मिलता है, उदाहरणार्थ—इन्द्र-भूति तथा रविशर्मा इत्यादि। उपलब्ध साक्ष्यों में इनके विषय में सामग्री का अभाव है अतः इस सन्दर्भ की कोई निश्चित धारणा बनाना कठिन है। इस प्रकार यह स्पष्ट

है कि चालुक्य साम्राज्य में जैनधर्म का पर्याप्त प्रचार था। राजाओं की ओर से भी उन्हें उत्साह तथा सहयोग मिलता था। इसी धर्म निरपेक्ष दृष्टिकोण के कारण जैन धर्म के परिश्रमी प्रचारक इस क्षेत्र में जैनधर्म का अनेक शताब्दियों पूर्व प्रचार कर सके थे। इस विषय के मनीषियों को चिन्तन तथा अध्ययन की पर्याप्त सुविधाएं प्राप्त थीं फलतः वे अपने विश्वास का पूर्ण निष्ठा के साथ प्रचार कर सके। राजवंश के अनेक सदस्य उनके सात्विक विचारों से पर्याप्त प्रभावित थे। चालुक्य सम्राट् विनयादित्य का पुरोहित स्वयम् एक जैन आचार्य था। इससे राज दरबार में जैन सिद्धान्तों के सम्मान और प्रतिष्ठा का आभास मिलता है।



‘अनेकान्त’ के स्वामित्व तथा अन्य व्योरे के विषय में

प्रकाशन का स्थान

प्रकाशन की अवधि

मुद्रक का नाम

राष्ट्रीयता

पता

प्रकाशक का नाम

राष्ट्रीयता

पता

सम्पादक का नाम

राष्ट्रीयता

पता

स्वामिनी संस्था

वीर सेवा मन्दिर भवन, २१ दरियागज, दिल्ली

द्विमासिक

प्रेमचन्द

भारतीय

२१, दरियागज, दिल्ली

प्रेमचन्द, मन्त्री वीर सेवा मन्दिर

भारतीय

२१, दरियागज, दिल्ली

डा० आ. ने. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट्, कोल्हापुर

डा० प्रेमसागर, बड़ौत

यशपाल जैन, दिल्ली

भारतीय

मार्फत वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागज दिल्ली

वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागज, दिल्ली

मैं प्रेमचन्द घोषित करता हूँ कि उपरोक्त विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सही है।

१७-२-६४

ह० प्रेमचन्द

(प्रेमचन्द)

एलिचपुर के राजा श्रीपाल उर्फ ईल

नमचन्द धनुसा जैन

(१) अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ के बस्ती मन्दिर में जो सफेद पाषाण की पद्मावती माता की दिगम्बरी प्रतिमा है, उनके सामने वहाँ की सुवासिनी स्त्रिया यह मंगल आरती नित्य गाती हैं।

‘जाउ चला ग सखे, गाउ चला ग सखे, जाउ लवकरी ॥
घेउनी हाती दीपक ज्योती, रत्नखचित हिरं मणि क मार्ती
दैवाची पद्मावती, काय साधू साजणी ग जाउ लवकरी ॥१॥
भूपाल राजाची कन्या संगोनी, श्रीपाल राजाची ऐका कपाना
गधोद घे ग सखे, मन्त्रप्रभावना । ग जाउ लवकरी ॥२॥
(जसी) सूर्या सुन्दर सती, (तसी) श्रीपाल राजामती ।
प्रसन्न हो ग सखे, मन्त्रप्रभावना । ग जाउ लवकरी ॥३॥

इसमें दूसरा तथा तीसरा भाग ऐतिहासिक महत्व रखता है। जब श्रीपाल राजा को कुष्ठ रोग हुआ और विश्राम के लिये उसने श्रीपुर का आश्रय लिया था। तब उसके साथ भूपाल राजा की कन्या थी। जिसने राजा को मन्त्र साधना में साथ देकर तथा कूपजल यानि मूर्ति ससग से हुआ गधोदक उससे स्नान कराकर व्याधि से राजा को मुक्त किया था। वह कैसी थी? तो जैसी सूर्य को सती, वैसी वह श्रीपाल राजा की रानी थी। उसका नाम राजामती था। मन्त्र प्रभाव से माता पद्मावती ने राजा को साक्षात्कार देकर मूर्ति की प्राप्ति कराई थी।

श्रीपाल राजाकी रानीके उल्लेख तो अनेक साहित्य में है। उनके उतारे यहाँ देनेकी आवश्यकता नहीं है। तथा जब दूसरा प्रबल विरोधी प्रमाण हमारे सामने नहीं आता तब तक इसको ग्राह्य मानने में कोई आपत्ति नहीं आएगी।

तथापि इसके प्रामाण्य के लिए मुनि कनकामर रचित ‘करकडु चरित्र’ की प्रशस्ति में उल्लिखित ‘राजा भूपाल’ के काल और स्थल पर यदि उचित प्रकाश पड़े तो अच्छा होगा। उससे श्रीपाल राजा के समदी राजाओं की परंपरा का पता चल जाएगा। इसके लिए श्री प० परमानंदजी शास्त्री ‘जैन-ग्रंथ-प्रशस्ति-संग्रह’ द्वितीय भाग पृष्ठ

१३६ पर लिखते हैं—“करकडु चरित जिनके अनुराग वश बनाया गया था, ग्रन्थकार ने उनका नाम कही भी उल्लिखित नहीं किया। कवि ने उन्हें धर्मनिष्ठ और व्यवहार कुशल बतलाया है। वे विजयपाल नरेश के स्नेह पात्र थे। उन्होंने भूपाल नरेश के मन को मोहित कर लिया था। वे कर्णदेव के चित्त का मनोरजन किया करते थे।”

उक्त राजा गण कब और कहा हुआ इसी पर यहाँ विचार किया जाता है—एक लेख में लिखा है कि विजयपाल नरेश विश्वामित्र गोत्र के क्षत्रिय वंश में उत्पन्न हुए थे। उनके पुत्र भुवनपाल थे, उन्होंने कलचूरी, गुर्जर और दक्षिण को विजित किया था। यह लेख दमोह जिले के हटा तहसील में मिला था। जो आजकल नागपुर के अजायब घर में सुरक्षित है।

दूसरा लेख—बादा जिले के अतर्गत चंदेले की पुरानी राजधानी कालिंजर में मिला है। उसमें विजयपाल के पुत्र भूमिपाल का दक्षिण दिशा और राजा कर्ण से जीतने का उल्लेख है।

तीसरा लेख—जबलपुर जिले के अतर्गत ‘तीवर’ में मिला है, इसमें भूमिपाल के प्रसन्न होने का स्पष्ट उल्लेख है।

स० १०६७ के लगभग कालिंजर में विजयपाल नाम का राजा हुआ। यह प्रतापी कलचुरि नरेश कर्णदेव के समकालीन था। आदि।

मुनि कनकामर इन सबके समकालीन होने से अगर ये भूपाल और भूमिपाल एक ही व्यक्ति हो तो भूपाल नरेश का संबंध दक्षिण में आता है। अतः उसकी लड़की जिसका घरेलू नाम शायद ‘संगोनी’ हो और व्याह समय या व्यवहार में जिसे ‘राजा मती’ कहते थे, उसकी शादी हमारे राजा श्रीपाल से हुई हो तो कोई बाधा नहीं आती।

सिर्फ अभी उनके निश्चिन्त समय तथा स्थान और कार्यक्षेत्र पर अधिक प्रकाश पड़ना चाहिए।

(२) अब राजा श्रीपाल के गजब का धर्मप्रेम तथा वीर और अभिमानी मृत्यु प्रसंग का ज्ञान पाठक गण को कराने है। यह वार्ता अमरावती जिला गजेटीयर में उल्लेखित मुसलमानी कथा के अनुसार इस तरह है।

“किसी एक समय एक मुसलमानी फकीर एलिचपुर के राजा ईल के दरबार में पहुँचा, और उसने राजा को इस्लाम धर्म स्वीकारने को कहा तथा धर्म प्रचार की अनुमति माँगी। राजा ने उसको परत जाने को कहा। लेकिन उसके हठ के कारण उसके हाथ कटवा दिए।

फकीर ने भारत छोड़ा और अपनी दैन्यावस्था गाह अब्दुल रहमान के सामने रखी। रहमान उस समय गजनी में था, और वह वहाँ के राजा महमद का भाजा था। उस समय उसकी शादी का उत्सव मनाया जा रहा था। फकीर की वह करुण दशा देखकर उसका धर्मप्रेम जाग उठा और उसने वह समारंभ बाजू रखकर एकदम कित्येक हजार सैनिकों के साथ बेगर (विदर्भ) की ओर चल पड़ा। उसके साथ उसकी माना बीबी मालिकाई जहाँन भी थी।

उस समय उत्तर भारत में वकद (Vakad) (खेरला) गिलालेख के अनुसार जिमका नाम उल्लेखित बकल था। राजा राज्य करता था। इसको एक समय ईल राजा ने पराभूत किया था वह अब्दुल रहमान को मिल गया याने उसकी इस युद्ध में सहायता की। यह आक्रमण का हाल सुनते ही ईल राजा ने सेनापति को उसका प्रतिकार करने को सैन्य भेजा। दोनों सेनाओं की भेंट खेरला में हुई जो बैतूल जिले में है। प्रारम्भ में मुसलमानों की हार होने लगी। इतने में आकाशवाणी हुई, उसमें अब्दुल रहमान ने उत्तेजित होकर शिर कटा लिया और लड़ने लगा। इससे उसके सैनिक भी उत्तेजित होकर लड़ने लगे। उन्होंने हिन्दुओं को लूटा और एलिचपुर तक पीछे नहीं देखा।

वहाँ फिर खूद राजा ईल से सप्राप्त हुआ, वहाँ भी ईल पराभूत हुआ और उसने शहर का आश्रय लिया। उसको पकड़कर अब्दुल रहमान के सामने लाया गया। अब्दुल रहमान ने उसको इस्लाम धर्म स्वीकारने को कहा,

इसको राजा ने एकदम नकार दिया। बाद में राजा को पूछा गया कि आप अगर विजयी होते तो क्या करते ?

राजा ने उत्तर दिया कि “मैं अब्दुल रहमान को उड़ा देता। तीक्ष्ण शस्त्रों से उसकी चमड़ी (खाल) निकालकर उसको जला देता। किसी भी तरह का समय न लगाते हुए इसी तरह की शिक्षा राजा को देने की अब्दुल रहमान ने आज्ञा दी और उसको एक प्रमुख नरक में भेज दिया। घटना का समय हिजरी सन् ३६२ याने १००१—२ सन् ईस्वी है। अब्दुल रहमान गाजी के अनुयायी, जिन्होंने राजा ईल को पकड़ा था, साधारणतः पचपीर या पचपीर के नाम से प्रसिद्ध थे।” आदि।

गजेटीयर के अन्त में लिखा है कि, जनश्रुति के अनुसार इस गाजी का सिंग उड़ा दिया गया है।

यह है एक शहीद की पुण्य गाथा, जो खूद मुसलमान लेखक ने उसको अमर बनाने के लिए लिखी, कहा ? गजनी में। कहते हैं कि उस पर से ‘तवागीख-ई-अमजदया’ नाम की एक छोटी पुस्तिका पारसी में एलिचपुर के खतीफ ने प्रकाशित की थी।

यहाँ ऊपर की कथा में एक असम्भव बात बताई गई है कि अब्दुल रहमान ने अपना सिंग कटा लेने पर भी वह जीवित रहा, तथा उसने ईल राजा को भी हराया।

इसके सत्यामत्य के लिए श्री यादव माधव काल के— ‘कहाडचा इतिहास’ के लेख का उल्लेख देखना उचित है पृष्ठ ७१ पर— गाजी रहमान दुल की और ईल राजा की लड़ाई हुई। उसमें राजा ईल और शाह रहमान दोनों ही पड़े। इस लड़ाई में मुसलमानों के ग्यारह हजार सैनिक खर्ची पड़े। उन सबको एक जगह गाड़ दिया गया है। उस पर एक बड़ा इमारा बंधाया है। उनको ‘गजशहीदा’ कहते हैं। दुल रहमान की बड़ी कबर हाल में ही एलिचपुर में मौजूद है। उसके खर्चों के लिए ‘काडली’ यह गांव अभी तक जहागीर है। यह जहागीर एलिचपुर के नवाब ने दी है। दुल रहमान गाजी की कबर प्रथम अलाउद्दीन खिलजी ने बंधायी थी। हाल की इमारत बाद में की है। नजदीक ही ईल राजा का गाड़ दिया है।” आदि।

ऊपर के उल्लेख से यह तो स्पष्ट हुआ कि रहमान गाजी इस लड़ाई में मारा गया था। तथा खेरला के पास

रहमान गाजी के मुंड की कबर बताई जाती है, इससे और मुसलमानी कथा से रहमान दुल का सिर खेरला में ही काटा गया था और उससे उनकी हार हो रही थी। लेकिन ऐसा लगता है कि उसकी मा बीबी मलिका-ई-जहान ने उस समय धैर्य रख कर अपनी सैन्य को उत्तेजित करने हुए कहा होगा कि “अल्ला की आवाज आने से और अपने को विजय मिलने के लिए दुला रहमान ने अपना सिर कटा लिया है और वे दाद माँगने के लिए अल्ला के दरबार में पहुँच गये हैं। तब क्या आप भाग जाओगे? क्या काले मुह वहाँ बतायेंगे? क्या आपकी प्रतिज्ञा—जियेंगे तो इस्लाम के लिए, और मरेंगे तो इस्लाम के लिए—आप भूल गये? जय जिहाद की पुकार करो और लड़ो। अल्ला आपकी मदद करेगा।”

इस तरह आवाज सुन कर मुस्लिम सैन्य उत्तेजित हुई, और रहमान गाजी के गिरने से उनके सैन्य की घबड़ाहट देख कर राजा ईल के सैनिक गाफिल रहे होंगे। अचानक बीबी मलिका ने उनपर कडाके से हमला किया।

अबकी बार ईल राजा के सैनिक पीछे हटे। पीछे हटने से शायद राजा का सेनापति मारा गया होगा। इसलिए राजा के सैनिक नेतृत्व के अभाव के कारण एलिचपुर भाग आये। और इनका पीछा करते हुए मुसलमानों ने रास्ते में जो मिला उनको लूटा और नष्ट भ्रष्ट किया।

एलिचपुर में मुसलमानों के ग्यारह हजार सैनिक मारे गए, इसपर से ऐसा लगता है कि वहाँ ईलराजा का नेतृत्व उचित रहा। शायद इस युद्ध में ईल राजा ही विजयी हुआ होगा। क्योंकि लड़ाई में पराजित होनेवाला और आश्रय के लिए शहर में भागनेवाला राजा पकड़े जाने पर वीरश्री पूर्ण तथा स्वाभिमानी उत्तर नहीं दे सकता था। वीर युद्ध में ही मरण स्वीकार करते हैं। अतः युद्ध में सरलता से विजय न मिलती देख बीबी मलिका ने युद्ध को समाप्त होने की घोषणा कर कूटनीति अपनाई होगी।

एलिचपुर के कमानपुरे में एक देवड़ी में बाण की निशानी बताई है। यह स्थान मुसलमान पूज्य मानते हैं। बाण की निशानी गाँव में से बाहर की ओर बताई है। जनश्रुति तो यह है कि यहाँ ईल राजा की बाण लग कर

मृत्यु हुई। अगर बाण से राजा की मृत्यु होती, तो पंच पीरो से उसका पकड़े जाना और स्वाभिमानी मरण यह घटना झूठी ठहरती। लेकिन राजा के वैसे मरण का स्पष्ट उल्लेख होने से बाण से मृत्यु की कल्पना ठीक नहीं बैठती। जँचता तो ऐसा है कि जब पंचपीरो से राजा पकड़ा जा रहा था, तब एक पीर राजा से आए हुए तीर से घायल हो पड़ा हो, इसीलिए वह स्थान मुस्लिम लोग पूज्य मानते हैं।

इस बात पर विश्वास तो जरूर रखना पड़ता है कि उन पीरो के द्वारा राजा किसी भी तरह पकड़ा गया और इस गंधवार्ता को सुनते ही बीबी मलिका ने बचे हुए सैनिकों से फिर एकदम हमला कर नगर को कब्जे में कर लिया हो और विजय की पताका फहराई हो।

ऐसी असहाय स्थिति में ईल राजा को इस्लाम का उपदेश दिया गया। मगर उससे ऐसी स्थिति में भी स्पष्ट नकार आने से राजा को पूछा गया कि अगर आप विजयी होते और अब्दुल रहमान आपके हाथ पड़ता, तो आप क्या करते?

जवाब वही मिला, जो कि ऊपर दिया गया है। धन्य है वह राजा, जिमने शरीरपर की खाल उतारनेकी अनंत वेदना सहन की मगर सच्चे धर्म का परिस्थान नहीं किया। जिसने इस एक जीवन का नाश मान्य किया मगर अनंत भवों में दुःखदाई ऐसा भयावह परधर्म नहीं अपनाया। इसी का नाम धर्मप्रेम है और इसी का नाम सम्यक्त्व है। उस धर्मनिष्ठ और वीर राजा श्रीपाल उर्फ ईल को हमारा प्रणाम। उसके जीवन से हमें यही सदेश मिलता है कि, आत्महितेच्छु जीव किसी भी परिस्थिति में धर्म का त्याग नहीं करते। उलटा प्रसंग बीतने पर प्राण की बाजी लगा कर धर्म की रक्षा करते हैं। तो क्या अभी हम उसी ईल राजा के निर्माण किये हुए इस श्रीअतरीक्ष पार्वनाथ तीर्थ की रक्षा नहीं कर सकेंगे? करेंगे, करेंगे, अवश्य ही करेंगे।

१ दुला रहमान की कबर एलिचपुर में है, इसका अर्थ यही कि उसके शव को वहाँ गंज शहीदा के पास दफना दिया है।

‘वैधता और उपादेयता’

डा० प्रद्युम्नकुमार जैन

स्याद्वाद मिद्धान्त की आलोचना करने हुए, कतिपय समीक्षकों ने कुछ भौड़े आरोप भी लगाए, जिनमें से एक तो यही कि ‘जैन स्याद्वाद के अन्तर्गत ‘यह भी सत्य है’ कि रूट लगा कर यह प्रदर्शित करते हैं कि उन्हें किसी सत्य पर निश्चय नहीं। वे महा अनिश्चय के शिकार हैं। एवं जब उन्हें किसी कथन पर निश्चय ही नहीं, तो फिर वे कैसे निर्णय कर सकते हैं कि जीवन-विकास के लिए क्या उपादेय है। जब उपादेयता की उनके समक्ष कोई सम्बोधना नहीं, तो फिर सम्यक् जीवन-प्रणाली की सम्भावना कैसे, और कैसे सद्गर्भ की स्थापना भी। उनके मतानुसार जिन कथन में अनिश्चय है वह वैध नहीं हो सकता। जो वैध नहीं है वह उपादेय नहीं हो सकता अस्तु, स्याद्वाद उपादेय तत्त्व से रहित है।

अब, पूर्व पक्ष में जो तर्क प्रक्रिया प्रस्तुत की गई उसे यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए, तो उसमें दो भिन्न सम्बोधनाओं को एकाधिक समझन की भूल स्पष्ट दिखाई पड़ेगी। वे दो सम्बोधनाएँ हैं—वैधता और उपादेयता। क्या वैध है? क्या उपादेय है?—वे दोनों दो भिन्न-भिन्न प्रत्यय क्षेत्रों के प्रतिनिधि वाक्य हैं। वैधता का क्षेत्र है न्याय (Logic), और उपादेयता का क्षेत्र है नीति (Ethics)। दोनों सम्बोधनाएँ भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में रहती हुई भिन्न-रूप से अस्तित्वगत भी होती हैं। वैधता उस तार्किक स्थिति का दूसरा नाम है जो एक न्याय-प्रक्रिया में आधार (Premises) और निष्कर्ष (Conclusion) की पारम्परिक सगति में उपलब्ध होती है; यथा—

- (१) सब मनुष्य मरणशील है,
और गाँधी मनुष्य है;
अतः, गाँधी मरणशील है।

यहाँ ‘गाँधी मरणशील है’ वाक्य वैध है, क्योंकि वह ऊपर के दोनों आधार-वाक्यों से सगत है। इस प्रकार

निष्कर्ष की वैधता आधार की सापेक्षता का विषय है। वैधता आधार-निष्कर्ष सापेक्ष होती है। यहाँ ‘गाँधी भारतीय है’ वाक्य एक वैध निष्कर्ष के रूप में नहीं बिठाला जा सकता, जबकि वही निम्नलिखित तर्क में वैधरूप में कहा जा सकता है —

- (२) सब गुजराती भारतीय है,
और गाँधी गुजराती है,
अतः गाँधी भारतीय है।

इस प्रकार वैधता की एक निश्चित सीमा है। वह एक तार्किक इकाई में आबद्ध है। वह अपनी तार्किक इकाई में तदाकार है और उसकी आत्मा है। तार्किक इकाईया अनन्त हैं, अतः वैधता, साम्बोधनिक अस्तित्व में एक होते हुए भी अस्तित्वगतता के क्षेत्र में अनन्त है। इस प्रकार प्रत्येक अस्तित्वगत वैध इकाई अपने में मौलिक और यथार्थ है। उस मौलिक और यथार्थ का ही यह परिणाम है कि उपर्युक्त तर्क स० १ का निष्कर्ष केवल उसी तर्क में वैध है, दूसरे तर्क में नहीं। उसी प्रकार तर्क स० २ का निष्कर्ष उसी में वैध है, स० १ में नहीं। अस्तित्वगत इकाईयों की इसी मौलिक और यथार्थ वैधता की अभिव्यक्ति स्याद्वाद का मिद्धान्त करता है।

स्याद्वाद के अनुसार गाँधी मरणशील है’ कथन कथचित्त वैध या सत्य है, क्योंकि उसकी अपनी अस्तित्वगत सीमा है। उस सीमा के परे वह सत्य नहीं हो सकता। अब इसी वाक्य का विरोधी वाक्य भी निम्नलिखित तार्किक इकाई में कथचित्त सत्य की क्रांति में आता है —

- (३) सब यशस्वी आत्माएँ अमर हैं,
और, गाँधी एक यशस्वी आत्मा है,
अतः, गाँधी अमर है।

इस प्रकार स्याद्वाद के अनुसार ‘गाँधी मरणशील है’ और ‘गाँधी अमर है’ दोनों कथन, यद्यपि निरपेक्ष दृष्टि से विरोधी हैं किन्तु अपनी-अपनी सापेक्ष इकाईयों में कथ-

चित्त वैध हैं। इन कथनों को कथंचित्त वैध कहना अनिश्चय का द्योतक कहाँ हुआ ? इस कथंचित्तता में तो यह दृढ निश्चय निहित है कि अपने-अपने आधार की दृष्ट्या प्रत्येक निष्कर्ष निश्चयपूर्वक सत्य है। इस प्रकार वैधता सापेक्षता का उपसिद्धान्त (Corollary) है। कोई वैध वाक्य निरपेक्ष रीति से प्रकट किया ही नहीं जा सकता। साथ ही साथ कोई भी निरपेक्ष रीति से कथित वाक्य किसी दूसरे वाक्यकी वैधता, चाहे वह कितना ही विरोधी क्यों न लगे, बाधित नहीं कर सकता, क्योंकि निरपेक्ष रीति के वाक्य तर्कबुद्धि में अनुगत नहीं होते, बल्कि किसी आस्था के विषय होते हैं, जो वैध और अवैध की कोटि में नहीं आते। सार रूप में, वध कथन वह है जो अपने आधार से सगत हो और अवैध वह, जो अपने आधार से सगत न हो। 'गाँधी मरणशील हैं' वाक्य अपने आधार की दृष्ट्या वैध है तथा अन्य आधारों की अपेक्षा अवैध। ऐसे ही अन्य निष्कर्ष-वाक्यों के बारे में भी। इस प्रकार एक ही कथन कथंचित्त असत्य भी। यही स्याद्वाद सिद्धान्त का आशय है।

इस प्रकार वैधता शुद्ध रूपेण वैचारिक सगति का अभिज्ञान है। एक निर्णय में दूसरे निर्णय का रीतिबद्ध निगमन वैधता का प्रकाशन है। वैधता का क्षेत्र प्रत्यय जगत है। उपादेयता वैधता के क्षेत्र में कुछ विलग पड़ती है। उपादेयता का क्षेत्र मूल्य-जगत में है। मूल्य जीवन—व्यष्टि और समष्टि दोनों, की वह सापेक्ष वस्तुस्थिति है जो काम्य है। इसी काम्य वस्तुस्थिति की सापेक्षता में उपादेयता का निर्णय होता है। जैसे निर्वाण एक मूल्य, शायद चरम मूल्य है। निर्वाण की वस्तुस्थिति कामना का चरम अधिकरण है। उस निर्वाण की दिशा में प्रवर्तित यदि कोई कार्य-व्यापार है, तो उसे उपादेय कहा जाएगा। धार्मिक चारित्र उक्त मूल्य का सवाहक है। अतः वह उपादेय है। इसी प्रकार उपादेयता की अनेक कोटियाँ बन जाती हैं, क्योंकि मूल्यों की अनेकानेक कोटियाँ हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि उपादेयता मूल्य-सापेक्ष है।

उपादेयता इस प्रकार एक निष्कर्ष है जो मूल्यों के आधार से निगमित होता है। कौनसा कार्य-व्यापार उपादेय है—यह निरपेक्ष रीति से तय नहीं हो सकता। हमें

तुम्हें उनके आधारभूत मूल्य में जाना पड़ेगा और देखना होगा, कि उक्त निष्कर्ष अपने आधार से वैध रूपेण निगमित हुआ है। वैधता इस प्रकार उपादेयता की निर्णायिका है। दोनों तत्त्व सहजान हैं। अहिंसादि धर्म उपादेय हैं; क्योंकि वे निर्वाण नामक मूल्य में वैध रूपेण निगमित हैं किन्तु अहिंसादि को उपादेय उम हालत में नहीं कहेंगे जब उसे रण-विजय के सदर्थ में रखा जायगा। रण-विजय के आधारसे वैधरूपेण हिंसा को ही निगमित किया जा सकता है। अतः उपादेयता के लिए दो पूर्वपिकाएँ आवश्यक हैं। पहली—मूल्यगत सदर्थ, और दूसरी, सदर्थ से निगमित निष्कर्ष की सगति। अस्तु, उपादेयता स्याद्वाद का विषय है और उसमें कोई अनिश्चितता नहीं। स्याद्वाद प्रत्येक आचारिक कृत्य का तार्किक आधार है। वह प्रत्येक कृत्य का, चाहे वह कितना ही साधारण क्यों न हो, विवेक या 'क्यों' प्रस्तुत करता है। व्यक्ति उपवाम करता है; भक्ति करता है, उपासना करता है, आदि आदि—स्याद्वाद उन सभी पर पहले प्रश्न चिह्न खींचता है कि यह क्यों ? उत्तर में धार्मिक अतःकरण कहना है, कि यह सब मोक्ष के लिए। तो फिर स्याद्वाद विवेक का रचनात्मक स्वरूप प्रस्तुत करता है, कि क्या यह सारे क्रियाकलाप मोक्ष से वैधरूपेण सगत हैं ? तब प्रत्येक कार्य की वैधता निर्णीत कर वह उसे मूल्य सापेक्ष और उपादेय घोषित कर देता है। इस घोषणा में कहाँ अनिश्चितता है और कहाँ अनुपादेयता—यह समझ में नहीं आता।

कुछ का विचार है कि धर्म और आचार के लिए एक निश्चित और अपरिवर्तनीय दर्शन की आवश्यकता होती है। उसे चाहे तार्किक दृष्टि में निरपेक्ष कहा जाए या एकान्त, धर्म प्रवर्तन में है उसीकी आवश्यकता। जैन दार्शनिकों का यहाँ कुछ मतभेद है। उनकी निगाह में कोई निरपेक्ष (Absolute) कथन बुद्धि मम्मत् नहीं हो सकता। वह केवल किमी अनुभूति की ही अभिव्यक्ति हो सकती है। जैसे कि यदि हम 'गाँधी मरणशील हैं' वाक्य बिना किमी आधार का सदर्थ लिए व्यक्त करें, तो यह किसी व्यक्ति या समूह की अनुभूति का ही विषय होगा। इसे वैध या अवैध नहीं कहा जा सकता। वैध यह तभी होगा, जब इसे 'सब मनुष्य मरणशील हैं, आदि' वाक्यों

के संदर्भ में परखा जाए। और जब तक कोई कथन वैध नहीं होगा, वह उपादेय नहीं हो सकता; क्योंकि वैधता का तात्पर्य है निष्कर्षगत सत्य की आधारगत सत्य के साथ संगति; और जब तक ऐसी संगति उपलब्ध नहीं होगी, आधारगत सत्य की पृष्ठभूमि में निष्कर्षगत सत्य वस्तुतः काम नहीं कर सकता है। जब वह काम नहीं कर सकता, तो वह उपादेय भी नहीं कहा जा सकता। यह बात दूसरी है, कि कोई किसी कथन को सदभंगत आधार की पृष्ठभूमि में परखे ही नहीं और उसे सही मानकर आचरण का मानदण्ड बना ले; लेकिन यह निश्चित है, कि वह कथन आचरण में उपादेय तभी होगा जब वह वस्तुतः वैध होगा। उदाहरण स्वरूप अहिंसा को ही ले। अहिंसा नामक सत्य तभी उपादेय है जबकि वह चित्तशुद्धि और निर्वाण-प्राप्ति की भूमिका में आचरित होता है। चित्तशुद्धि की भूमिका में अहिंसा एक वैध निष्कर्ष है। अब यही पर कोई निर्वाण-प्राप्ति के संदर्भ में हिंसा का उपदेश करे, तो इस निर्णय को कोई कितना ही एकान्त या निरपेक्ष क्यों न माने, वह उपादेय निर्णय की कोटि में नहीं

आ सकता। आगे चलकर फिर ऐसे ही वास्तविक रूपमें हो गये अवैध निर्णय जब आचार के मन स्तम्भ बन जाते हैं तो वे अधविश्वास का रूप धारण कर लेते हैं। स्याद्वाद रूपी विवेक इसीलिए उपादेयता का अनन्य सहचर है। उसे धर्म से अलग नहीं किया जा सकता। धर्म अधविश्वास की नुमायश नहीं है। वह ज्ञान और विवेक का उन्नायक है। वह जीवन मूल्यों का सर्जक है। मोक्ष उन मूल्यों की शृंखला में सर्वोच्च मूल्य है। जैनधर्म और आचार का लक्ष्य-विन्दु वही सर्वोच्च मूल्य है जो स्याद्वादी विवेक के बिना सम्भव नहीं। अस्तु, स्याद्वाद सर्वोच्च उपादेयता का अधिकरण है।

सार रूप में :—

वैधता निष्कर्ष-आधार-सापेक्षता में अनुव्याप्त तात्त्विक संगति का दूसरा नाम है।

उपादेयता मूल्य-सापेक्षता में किता गया वैध निर्णय है।

उपादेयता वैधता के बिना सम्भव नहीं।

स्याद्वाद वैधता की एजेंसी है।

अस्तु, स्याद्वाद उपादेयता का अधिकरण है।

‘बुधजन के काव्य में नीति’

गंगाराम ‘गंग’ एम. ए.

कवि एक सामाजिक प्राणी है। वह केवल अपनी काल्पनिक दुनियाँ में ही उड़ान नहीं भर सकता; उसे लोकोन्नति की दृष्टि से भी अपनी कृति को उपादेय बनाना होता है। जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण जीवनोपयोगी बातें बतलाना उसकी कविता का प्रमुख लक्ष्य बन जाता है। कोरा उपदेश बुद्धि-ग्राह्य होने के कारण मनुष्य को सुधारने में सफल नहीं होता; क्योंकि काव्यगत नीति तत्त्व हृदय को स्पर्श करने के कारण व्यक्ति के कटु स्वभाव-परिवर्तन अथवा लोकोन्नति में अधिक प्रभावशाली सिद्ध होता है। काव्य-सागर में निमग्न व्यक्ति शनैः शनैः कवि की विचारधाराओं से प्रेरित होकर स्वतः जीवनोपयोगी पथ की ओर उन्मुख होता है। यही कारण है कि

पारस्परिक कलह, वैमनस्य, विद्रोह, शोषण व परतन्त्रता के काल में तुलसी और मैथिलीशरण जैसे भारती के अमर गायक ही मन में शान्ति व एकता तथा प्राणों में वीरता का मंत्र फूँक देने में समर्थ हुए हैं। उनका युग-युगीन साहित्य चिरकाल तक भारतीय जीवन का प्रतिनिधित्व करता रहेगा।

जैन-रचनाएँ भारतीय नीति-काव्य की अक्षय राशि हैं। जैन-धर्म की आचार-प्रधानता के कारण जैन साहित्य में भी नीति उक्तियाँ प्रधान लक्ष्य बन कर आई हैं। मध्यकालीन हिन्दी काव्याकाश में तुलसी, विहारी, रहीम व वृन्द के समान बनारसीदास, छानतराय, भूधरदास व बुधजन आदि जैन कवि भी उन नक्षत्रों में से हैं जो अपने

विवेक-आलोक से अज्ञानान्धकार में भूले बटोहियों का पथ प्रशस्त करते रहे हैं तथा आगे भी करते रहेगे।

बुधजन जैन-काव्य में सर्वाधिक सम्मानप्राप्त नीतिकार है। इन्होंने यद्यपि तत्त्वार्थबोध, योगसार भाषा, दर्शन पञ्चीसी आदि कई ग्रन्थों की रचना की किन्तु नैतिक उद्भाषना की दृष्टि से इनके 'पद-संग्रह' और 'बुधजन-सतसई' दो ग्रन्थ अधिक महत्वपूर्ण हैं। 'पद-संग्रह' में विभिन्न राग-रागिनियों में २४३ पद हैं। 'बुधजन-सतसई' में 'देवानुराग शतक' सुभाषित नीति, उपदेशान्धकार तथा विगण-भावना चार विभागों में ६६५ दोहे हैं। बुधजन ने दया, मित्र, विद्या, सतोष, धैर्य, कर्म-फल, मद, समता, लोभ, घन व्यय वचन, छूत, मास, मद्य, पर-नारी-गमन, वेश्या गमन, स्त्री आदि विषयों पर नीतिपरक उक्तियाँ कही हैं।

'दया'—नीतिकार नारद ने क्षुद्रतम जीवों की भी पुत्रवत् रक्षा अनिवार्य एवं सर्वोत्तम बतला कर दया का बड़ा महत्त्व दिया है।^१ बुधजन भी दया को षट्दर्शनों का सार तथा समस्त जप, तप की सार्थकता के लिए अनिवार्य मानते हैं।^२ उन्होंने दयालु व्यक्ति को अपना निकटतम व परम हितैषी तथा मन-वचन-काया से वन्दनीय समझा है।^३

मित्र—जैमिनि ने सुख-दुःख में समान स्नेह करनेवाले साथी को मित्र कहा है।^४ बुधजन मित्र के सम स्नेह से ही सतुष्ट नहीं हो जाते अपितु सुख-दुःख में उसका सम्यक् परामर्श भी चाहते हैं। उनकी दृष्टि में मित्र का परामर्श बिगड़े कामों को सुधारनेवाला, अनीति और व्यसनो से बचानेवाला तथा सशयो को दूर करनेवाला होता है।^५ बुधजन सर्व बाधाओं से अच्छे मित्र की सहायता तथा कुमित्र के परित्याग का उपदेश देते हैं :—

१ पं० मुन्दरलाल शास्त्री द्वारा अनूदित नीति वाक्यामृत पृ० १७।

२ बुधजन पद-संग्रह, पद १७४।

३ बुधजन सतसई, दो० १६४ तथा बुधजन पद-संग्रह, पद १७४।

४ अनु० सुन्दरलाल शास्त्री, नीति वाक्यामृत, पृ० ३०३।

५ बुधजन सतसई, दो० ४३६, ४४१, ४४२।

विपत्त मेंटिये मित्र की तन धन खरच मिजाज।

कबहूँ बकि बखत में करहे तेरी काज ॥४५०॥

मुख तें बोले मिष्ट जो उर में राखें घात।

मित्र नहीं वह बुष्ट है तुरत त्यागिये घात ॥४५१॥

बुधजन ने यति, लखपति, बालक, जुआरी, चुगलखोर, चोर तथा नशेवाज व्यक्ति को मित्र बनाना बुरा बतलाया है।^६

विद्या—परम्परागत नीतिकारों की तरह बुधजन भी विद्या को खर्च करने से बढ़नेवाला एवं श्रमूल्य धन तथा सम्मानदात्री वस्तु मानते हैं।^७ उन्होंने विद्यार्थी के अल्प भोजन व वस्त्र; कम निद्रा; आलस्य का परित्याग कर विद्या-चिन्तन करने रहना तथा खेल-तमाशे से दूर रहना चार लक्षण बतलाए हैं—

अल्प वसन निद्रा अल्प ख्याल न बेबं कोट।

आलस तजि घोखत रहै विद्यारथी सोइ ॥४३३॥

राजपुत्र के अनुसार विद्या की सार्थकता के लिए तदनुकूल आचरण करना व्यक्ति का धर्म है।^८ यही बुधजन कहते हैं—

जो पढ़ि करे न आचरण नहि करे सरधान।

ताकौ भणिवो बोलिवो काग वचन परमान ॥४३१॥

संतोष—अपनी विविध अभिलषित वस्तुओं को अप्राप्य देव कर दुःखी न होना तथा अपनी वर्तमान स्थिति में ही प्रमत्त रहना सतोष कहलाता है।^९ सतोष न होने देने का मूल कारण तृष्णा है। मुन्दर कवि ने तृष्णा को दुःख व सतोष को सुख का कारण कहा है।^{१०} यही बुधजन की भी धारणा है।^{११}

शोक कोई विपत्ति आ जाने पर दुःखी रहना शोक है। शोक को भारद्वाज ने शरीर-शोषक तथा कौशिक ने

६ वही, दो० ४४७।

७ वही, दो० ४२७, ४२४।

८ अनु० सुन्दरलाल शास्त्री, नीतिवाक्यामृतम् पृ० ३०।

९ गगाराम गर्ग : 'तुलसी का नीति-दर्शन' की पाण्डुलिपि, पृ० ४१।

१० अनु० सु० लाल शास्त्री : नीतिवाक्यामृत, पृ० ३४५।

११ बुधजन पद-संग्रह, पृ० ५२।

धर्म आदि को त्रिवर्ग का नाशक बतलाया है ।^{१२} शोक के विषय में लगभग यही विचार बुधजन के है—

सोक हरत है बुद्धि को सोक हरत है धीर ।

सोक हरत है धर्म को सोक न कीजै बीर ।२७१॥

विपत्ति को दूर करने का सबसे बड़ा उपाय है निर्विकल्प मन से उसके लिए यत्न करना । मन पर पड़ी दुःख की छाया मनुष्यको इस ओर प्रेरित नहीं होने देनी इस तरह विपत्ति सर्वदा बनी रहती है । अतः कवि का कहना है कि—

विपत्ति पर सोच न करौ कीजै जतन विचार ।३०८॥

धन—संस्कृत नीतिकारों ने स्थान-स्थान पर धन को सर्वगुणसम्पन्न कहलाने वाला बतलाते हुए उसकी महिमा गाई है । सोमदेव मूरि के अनुसार धनवान् व्यक्ति ही महान् और कुलीन है ।^{१३} बुधजन भी धन के आधिक्य को सौन्दर्य, बल, बुद्धि, धैर्य तथा हितैषियों को समाज में बढ़ाने वाला बतला कर उसका महत्त्व स्वीकार करने है ।^{१४} किन्तु वह अधर्म, क्लेश व दीनता के साथ लिए धन-समग्रह को बहुत अनुचित भी मानने है—

धर्म हानि संक्लेश अति शत्रु विनय करि होय ।

ऐसा धन नहि लीजिए भूखे रहिए सोय ।१७२॥

परम्परागत नीतिकारों की तरह बुधजन ने जहाँ धन के बहुत से लाभ गिनाये वहाँ दो बड़ी हानियों की ओर भी संकेत किया है । एक तो उसका अस्थिरता, दूसरी सर्वदा उसके अपहर्ण की चिन्ता का बने रहना ।^{१५}

बुधजन—भारतीय नीति-साहित्य में कटु वचन की बड़ी निन्दा की गई है । दशवैकालिक में कठोर, पर-पीड़क, सत्य-वचन कहना भी पाप के आश्रय का कारण बतला कर उसे वर्जित समझा गया है ।^{१६} बुधजन समस्त मनुष्यों को अपना परिजन मानने व उनसे कर्कश वचन कहने का परित्याग करने पर बड़ा बल देते है—

राम बिना हूँ मानुष जेतै भ्रात तात सम जान ।

कर्कश वचन बर्क मति भाई फूटत मेरे कान ।^{१७}

बुधजन की दृष्टि में अधिक बोलना भी उचित नहीं । वह तो कहते हैं कि जितने परिमित तथा हितकारी वचन कहे जाए उतना अच्छा ।^{१८} बुधजन अवसर बिना बोलने को मान का विनाशक बतला कर अवसर पर ही बोलना उचित समझते है ।^{१९}

झूत—भारतीय नीतिकारों ने झूत को भी वर्ज्य कहा है । शत्रु जुआरी के तिरस्कार की चर्चा करते हुए कहते हैं कि प्रेमपूर्वक नीवी खींचने पर पत्नी भी जुआरी पति से इमनिष्ठ दूर भागती है कि वह कहीं मेरे वस्त्रों को भी न छीन ले^{२०} व मुनिन्द के अनुसार जुआ में आसक्त मनुष्य खाने की परवाह नहीं करता, रात-दिन सोता भी नहीं, किसी भी काम में उसका मन भी नहीं लगता तथा सर्वदा चिन्ताकुल रहता है ।^{२१} उक्त नीतिकार-द्वय के समान बुधजन भी जुआरी के परिजनों द्वारा तिरस्कार तथा शारीरिक दुर्व्यवस्था की चर्चा इन पक्तियों में करके जुआ को हेय ठहराते है—

ज्वारी कौं जोरु तजै तजै मातु पितु भ्रात ।

ब्रह्म हरं बरजै लरै बोलै बात कुबात ।४५५॥

अनुचि असन की ग्लानि नहीं रहै हाल-बेहाल ।

तात भरत हूँ रत रहै तजै न झूझा स्थाल ।४५८॥

बुधजन के अनुसार जुआ से केवल परिजनों द्वारा तिरस्कार तथा खान, पान एवं परिधान की अशुचिता ही नहीं मिलती अपितु धन, धर्म यदा व सुवृत्तियों का विनाश भी देखा जाता है ।^{२२}

शिकार एवं मांस-भक्षण—प्राचीन नीति-ग्रन्थों में शिकार-विरोधिनी अनेक उक्तियाँ मिलती है । व्यास के अनुसार निरपराध प्राणियों के अधिक की समस्त पुण्य-क्रियाये क्षीण हो जाती है एवं उनकी आपात्तियाँ बढ़ जाती हैं ।^{२३} उत्तगयण में भय और बँर से उपगत हुए मनुष्य के जीवन के प्रति ममता रखनेवाले सभी प्राणियों को अपने

१८ बुधजन सनसई, दो० २१७ ।

१९ वही, दो० २२१ ।

२० अनु० सुन्दरलाल शास्त्री, नीतिवाक्यामृत, पृ० १८ ।

२१ उत्तगयण, ६-७ ।

२२ वही, दो० ४५४ ।

२३ अनु० सुन्दरलाल शास्त्री, नीतिवाक्यामृत, पृ० १८ ।

१२ अनु० सुन्दरलाल शास्त्री : नीतिवाक्यामृत, पृ० ३४१ ।

१३ अनु० सुन्दरलाल शास्त्री . नीतिवाक्यामृत, पृ० २६५ ।

१४ बुधजन सनसई, दो० १७० ।

१५ वही, दो० ५१६ व १०७ ।

१६ दशवै कालिक, पृ० ७-११ ।

१७ बुधजन उद-सग्रह, पद ५७ ।

समान जान कर उनकी हत्या के लिए मना किया है।^{१८}
बुधजन भी निर्जन वन में घूमते हुए भूखे-प्यासे तथा मूक
पशुओं के पेट में छुरी भोंक देने को बुरा कहते हैं—

निरजन वन घन में फिरं सरं भूख भय हान ।

बेखत ही घंसत छुरी निरबद्ध अधम अजान ॥४८०॥

उनका कहना है—

प्राण पोषना धर्म है, प्राण नासना पाप ॥४८४॥

दूध, घी, फल आदि मिष्ट तथा पौष्टिक पदार्थों को
त्याग कर अपने मांस की पुष्टि के लिए अन्य पशुओं का
मांस खानेवाले मनुष्यों को बुधजन 'अधम' की सजा
देते हैं।^{१९}

मद्य—मद्य एक नशीली वस्तु है। वसुनदि के विचार
से नशे में बेसुधि कारण शरावी अपने अपहृत धन के लिए
भटकता रहता है, उसे निन्दनीय काम करने में भी कोई
चूक नहीं होती।^{२०} शक्र के मतानुसार तो नशे में उन्मत्त
कुलीन पुरुष भी अपनी मा के सेवन को भी अनुचित नहीं
मानता।^{२१} मद्य के शरीर की बेसुधि व उचित-अनुचित
के ज्ञान की न्यूनता के विषय में बुधजन के भी उक्त
नीतिकारों जैसे ही विचार हैं—

दरु की मतवात में गोप बात कह देय ।

पीछे बाका दुःख सहै नृप सरबस हर लेय ॥४७०॥

मतवाला हूँ बावला खालें चाल कुचाल ।

जा तं जाबं कुगति मै सवा फिरं बेहाल ॥४७१॥

पर-नारी-गमन—भारतीय नीतिकारों में ऋषि पुत्रक
ने पर-नारी-गमन का दुष्परिणाम दरिद्रता व अपयश^{२२}
तथा गौतम ऋषि ने दुःख, बन्धन और मरण^{२३} कर कर
उसको वजित समझा है। कवि बुधजन भी उसे गुण,
सम्मान तथा यश का विनाशक बतलाकर सद्गोष ठहराते
हैं :—

२४ उत्तरायण, ६-७ ।

२५ वही, दो० ४६२ ।

२६ वसुनदि श्रावकाचार, ७३ ।

२७ अनु० सुन्दरलाल शास्त्री : नीतिवाक्यामृतं पृ० २४४ ।

२८ 'नीतिवाक्यामृत', पृ० ५६ ।

२९ वही, पृ० ५६ ।

निपट कठिन पर तिय मिलन मिले न पूरे होत ।

लोक सरं नृप बंड करं परे महत पुनि दोस ॥४६३॥

ऊंचा पद लोक न गिनं करे आवरु बूर ।

ग्रीगुन एक कुसीलतं नास होत गुन भूर ॥४६४॥

वेश्या-गमन—शक्र गुरु^{२४}, हारीत आदि अभी प्राचीन
नीतिकारों ने वेश्या-प्रेम की बड़ी भर्त्सना की है। गुरु के
अनुसार शील और परिजनों से परित्यक्त होकर ही वेश्या
की अभिलाषा सतुष्ट की जा सकती है।^{२५} हारीत ने
वेश्या-गमन को सुख और धन के क्षय का कारण कहा
है।^{२६} बुधजन ने भी वेश्या को सर्वस्वहीनता और दुःख
का मूल बतलाया है ।

हीन बीन तें लीन हूँ सेती ग्रंग मिलाय ।

लेती सरबस संपदा, बेती रोग लगाय ॥४७४॥

जे गनिका संग लीन हैं सर्व तरह से बीन ।

तिनके कर तें खाबना धर्म कर्म सब छीन ॥४७५॥

उक्त नीति-विषयों के अतिरिक्त बुधजन ने काम-क्रोध
को निर्लज्जता व अज्ञान का कारण^{२७}, ममता को दुःख
की नींव^{२८}, कुसंग को प्राणों का नाशक^{२९} बतलाकर अप्राप्त
कहा है। युवापन, जीवन व धन की क्षण-भंगुरता दिखला
कर मद की अ-यथार्थता भी प्रमाणित की है।^{३०}

सागश में कहा जा सकता है कि बुधजन ने जीवनके
विविध विषयों पर जहाँ वसुनदि, हारीत, शक्र, गुरु,
पुत्रक आदि प्राचीन नीतिकारों के समान विचार
प्रकट किए हैं वहाँ उन विषयों को अपनी मौलिक दृष्टि भी
प्रदान की है। 'पद-संग्रह' व 'बुधजन सतसई' में विवेचित
उनकी नीति-परक उक्तियाँ जीवन-पथ पर डगमगाते
मनुष्यों को सर्वदा सम्बल का काम करती रहेगी, अतः
कवि बुधजन सर्वथा प्रशंसा व कीर्ति के पात्र है ।

३० अनु० सुन्दरलाल शास्त्री : नीतिवाक्यामृत, पृ० ३६५ ।

३१ वही, पृ० ३५३ ।

३२ वही, पृ० ४६ ।

३३ बुधजन सतसई, दो० ६७२, ६७३ ।

३४ वही, दो० ५४४ ।

३५ बुधजन सतसई, दो० ३८३ ।

३६ बुधजन पद-संग्रह, पद १२७ ।

मोक्षमार्गप्रकाशकका प्रागरूप

बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री—परमानन्द शास्त्री

श्री प० टोडरमल जी के द्वारा विरचित मोक्षमार्ग-प्रकाशक यह एक बहुत उपयोगी ग्रन्थ है। ऐसा कोई विरला ही स्वाध्यायप्रेमी होगा जिसने इस ग्रन्थ का स्वाध्याय न किया हो। ग्रन्थ के नामानुसार ही इसमें मोक्षमार्ग को प्रकाशित करनेवाले तत्त्वों की चर्चा निश्चय और व्यवहार के आश्रय से बहुत ऊँड़पोह के साथ की गई है। इसकी रचना पण्डितजीने पचासो जैन-अर्जन ग्रन्थोंके गभीर अध्ययन के पश्चात् मौलिक रूपमें की है। दुर्भाग्य यह रहा है कि वे उसे पूरा नहीं कर सके और बीच में ही काल-कवलित हो गये। इससे उन्होंने यत्र तत्र जिन अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों के आगे विवेचन करने की जो मूचना की है तदनुसार उनका विवेचन हो नहीं सका।

इस ग्रन्थ के कितने ही संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। वर्तमान में (वी० नि० सं० २४६३) इसका एक नवीन संस्करण शुद्ध हिन्दी में अत्रिदिन होकर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट सोनगढ़ की ओर से प्रकाशित हुआ है। उसकी अप्रामाणिकता और प्रामाणिकता के सम्बन्ध में इधर समाचारपत्रों में परस्पर विरोधी कुछ लेख प्रगट हुए हैं। इसके पूर्व सस्ती ग्रन्थमाला कार्यालय दिल्ली से भी उसके चार संस्करण प्रगट हो चुके हैं। इसका सम्पादन^१ हम दोनोंमें से एक (परमानन्द शास्त्री)के द्वारा हुआ है। उसका आधार प० टोडरमलजी के द्वारा स्वयं लिखी गई प्रति को बनाया गया है। इसीलिए सम्पादनवश समाचारपत्रों के अतिरिक्त कुछ व्यक्तिगत पत्र भी सम्पादक को प्राप्त हुए हैं, जिनमें उसके स्पष्टीकरण की मांग की गई है।

उधर सोनगढ़ से जो प्रस्तुत संस्करण प्रकट हुआ है उसका आधार भी पूर्वोक्त प० टोडरमलजी द्वारा लिखित प्रति बतलाई गई है। (प्रकाशकीय पृ० ३)

१ नाम केवल प्रथम संस्करण में ही दिया गया है।

श्री प० टोडरमलजी द्वारा लिखित इस प्रति में काटा कूटी करके जहाँ-तहाँ पर्याप्त संशोधन किया गया है (इसके लिए सोनगढ़ संस्करण व दिल्ली संस्करण के प्रारम्भ में दिए गए उक्त प्रति के प्रारम्भिक व अन्तिम पत्रों को देखा जा सकता है)। साथ ही वह अपूर्ण भी है—जहाँ तहाँ उसमें अन्य लेखकों के द्वारा लिखित पत्र भी सम्मिलित किये गये हैं^१। प्रति की जो परिस्थिति है उसे देखते हुए यदि यह कहा जाय कि यह उस मोक्षमार्गप्रकाशक का अन्तिम रूप नहीं है, किन्तु प्रागरूप या कच्ची कापी जैसा है, तो यह अनुचित न होगा। बहुधा ऐसा हुआ भी करता है कि यदि कोई महत्त्वपूर्ण निबन्ध आदि लिखना है तो पहिले उसकी कच्ची कापी (Rough) करके उसे तैयार कर लिया जाता है और तत्पश्चात् उसे अन्तिम रूप (Fair) में लिख लिया जाता है। तदनुसार ही यह पंडित जी के द्वारा मोक्षमार्गप्रकाशक का पूर्व रूप तैयार किया गया है। इसपर से वे उसे अन्तिम रूप में लिखना चाहते थे। पर दुर्भाग्यवश या तो आकस्मिक निघन के कारण वे उसे लिख ही नहीं सके या फिर यदि लिखा गया है तो कदाचित् जयपुर में उसकी वह प्रति उपलब्ध

१ मूल प्रति के प्रारम्भ के ३५ पत्र (फोटो प्रिंट पृ० १०६) दूसरे लेखक के द्वारा लिखे गये हैं। इनमें प्रायः प्रत्येक पत्र में अक्षर-मात्राओं की अशुद्धियाँ हैं, शब्द भी यत्र तत्र कुछ स्वलिप्त हुए हैं। साथ ही वैसे संशोधन यहाँ नहीं है जैसे कि आगे के पत्रों में पण्डितजी के द्वारा किये गये हैं। पत्र ५५ पर केवल ६॥ पक्तियाँ हैं, आगे वहाँ कोष्ठक में 'इससे आगे पत्र सख्या ५६ पर देखें' यह किसी दूसरे के द्वारा पतले अक्षरों में लिखा गया है। पृ० १८७ को संबंधा रद्द किया गया है। पृ० ३३६-३७ और ४०८-९ भी किसी अन्य लेखक के द्वारा लिखे गये हैं।

भी हो सकती है' ।

जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट ने इस प्रति को जयपुरस्थ बघीचन्द्रजी दीवानजी-मंदिर के ग्रन्थभण्डार से प्राप्त करके उसके सब पत्रों की दो फोटो प्रिंट प्रतियाँ तैयार करा ली है । उनमें से एक प्रति को ट्रस्ट ने स्वयं अपने अधिकार में रख कर दूसरी प्रति को मूल प्रति के साथ जयपुर वापिस भेज दिया । इसी के आधार से ट्रस्ट द्वारा प्रस्तुत संस्करण तैयार कराया गया है' ।

जैसी कि उसके स्पष्टीकरणकी माँग की गई है तदनु-

१ कहा जाता है कि पण्डितजी के आकस्मिक निधन के समय उनका सामान जयपुर सरकार द्वारा जब्त किया गया था । उसकी लिस्ट भी रही मुनते है । सम्भव है उसमें ऐसी कोई मोक्षमार्गप्रकाशक की प्रति भी रही हो ।

२ दोनो संस्करणों में जो फोटो प्रिंट प्रति की अपेक्षा कुछ अधिक वाक्य देखे जाते हैं (देखिये सो० संस्करण पृ० ६३ व १०६ के पाठभेद और दिल्ली संस्करण के पृ० ८, २३, ३७, ६१, १५६ व ४३६ के पाठभेद) उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों ही संस्करणों के तैयार करने में प्रस्तुत प्रतिके अनिर्गुण अन्य हस्तलिखित व मुद्रित प्रतियों का भी आश्रय लिया गया है । कारण कि वे वाक्य अन्य हस्तलिखित प्रतियोंमें पाये जाते हैं । दिल्ली संस्करण पृ० ८ का वह अधिक पाठ नया मन्दिर दिल्लीकी ३ हस्तलिखित प्रतियों में भी है । जैन ग्रन्थ रत्नाकर द्वारा प्रकाशित प्रति में भी परिशिष्ट पृ० ४६० में किसी प्रति के आश्रय से ऐसे वाक्य ले लिये गये हैं । दि० सं० पृ० २३ का कोष्ठकस्थ मन्दभं नया मंदिर दिल्ली की प्रति (पत्र ११ प० १०) में भी नहीं है । इत्यादि । साथ ही कुछ दुरूह दृढ़ारी भाषा के शब्दों के स्पष्टीकरण के लिए भी अन्य प्रतियों का आश्रय लेना पड़ा है । जैसे—थानक (यह शब्द मूल प्रति में ही अशुद्ध रहा दिखता है, उसके स्थान में 'घातक' रहनासम्भव है—सो. स. पृ० ८६ = थानक (बाधक ?), सं० प्र० पृ० १२४ = कारण), गदा (= 'डला' सो० पृ० ६८, दि० पृ० १४१), औहटे (= 'लज्जित' सो० पृ० ११६, दि० पृ० १७२), झोल दिये बिना (= 'सच को मिलाये सो० बिना' पृ० १२४, दि० पृ० १८१) ।

सार उसकी पूर्ति के लिए यह आवश्यक समझा गया कि उपर्युक्त फोटो प्रिंट प्रति से दिल्ली व सोनगढ़ द्वारा प्रकाशित दोनों संस्करणों का मिलान कर लिया जाय । इसके लिए श्री पं० जैनसुखदासजी न्यायनीर्थ जयपुर की सत्कृपा से उस फोटो प्रिंट प्रति को प्राप्त करके हम दोनों ने उस पर से पूर्वोक्त दोनों संस्करणोंका सावधानी में क्रमशः मिलान कर लिया है' । उससे ज्ञात हुआ है कि सस्ती ग्रन्थमाला दिल्ली द्वारा प्रकाशित संस्करणमें जहाँ यत्र तत्र कुछ वाक्यों व शब्दों की हीनाधिकता या कुछ उनमें परिवर्तन भी रहा है वहाँ जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित संस्करण में भी उसी प्रकार कुछ वाक्यों व शब्दों की हीनाधिकता और परिवर्तन भी दृष्टिगोचर हुआ है । इसको स्पष्ट करने के लिए हम यहाँ उदाहरण के रूप में दोनों ही संस्करणों के ऐसे कुछ पाठभेद देते हैं :—

सोनगढ़ द्वारा प्रकाशित संस्करण के पाठभेद

प्रति	पृष्ठ	पंक्ति	पाठभेद
सोन.	३४	१२	पर्यायो को अत्यन्त स्पष्टरूप से जानता है ।
फो.	३६	१४	'स्पष्टरूप से' के स्थान में 'अस्पष्टपन' है ।
सो	४६-४७	२८, १	तथा मैंने नृत्य देखा, राग सुना, फूल सूँघे (पदार्थ का स्वाद लिया, पदार्थका स्पर्श किया), शास्त्र जाना ।
फो.	५४	२	कोष्ठगत पाठ वहाँ नहीं है ।
सो.	४७	२६-२७	इन्द्रियजनित
फो.	५५	४	इन्द्रियादिजनित
सो.	५०	१८	उस वस्त्रको अपना अंग जान कर अपने को और वस्त्र को एक मानता है ।
फो.	५८	११	तिस वस्त्र को अपना अंग जानि आपकों अंग शरीर को वस्त्रको एक माने ।
सो.	५४	१२-१३	कोई मारे तो भी नहीं छोड़ती, सो यहाँ कठिनता से प्राप्त होने के कारण तथा वियोग

फो.	६२	१४-१५	कोउ मारै तो भी न छोरै सो यहाँ नीठि पावना बहुरि वियोग (नीठि शब्द की दुरुहता के कारण पाठपरिवर्तन हुआ है, एक अन्य ह. लि. प्रतिमे 'सो यहाँ भी रोग पावना' ऐसा पाठ है; दूसरी एक प्रति मे हाशिये पर 'नीठि' का अर्थ रोग लिखा गया है) ।	सो.	५५	१२.१७-१८	ऐसा उसके स्थान में सशोधन किया गया है) । 'सम्यग्ज्ञान-मिथ्याज्ञान'
				फो.	६८	४-५, ८-९	'मिथ्याज्ञान-सम्यग्ज्ञान'
				सो.	६६	६-७, ९	इन्द्र, लोकपाल इत्यादि, तथा अद्वैत ब्रह्मा, राम, कृष्ण, महा- देव, बुद्ध, खुदा, पीर, पैगम्बर इत्यादि, तथा हनुमान, भैरव, ...तथा गाय सर्प इत्यादि
				फो	१११	९	इन्द्र लोकपाल इत्यादि खुदा पीर पैगम्बर इत्यादि बहुरि भैरव.....बहुरि सर्प इत्यादि
सो.	६३	२५	तथा ऐसा जानना कि जहा कपाय बहुत हो और शक्ति हीन (हो वहाँ बहुत दुख होता है और ज्यो-ज्यो कपाय कम होती जाए तथा शक्ति बढ़ती जाए त्यों-त्यों दुख कम होता है । परन्तु एकेन्द्रियों के कपाय बहुत और शक्तिहीन) इसलिए एकेन्द्रिय जीव महा- दुखी है ।	सो	६६	१७	एक कैसे माना जाये ? इन- का मानना तो
				फो	१११	१७	एक कैसे मानिये है एक मानना तो
				सो	६६	१९	वह ब्रह्म कोई भिन्न वस्तु तो सिद्ध नहीं हुई, कल्पना मात्र ही ठहरी । तथा एक प्रकार तो ब्रह्म कोई जुदा वस्तु तो
				फो	११२	४-५	न ठहरया बहुरि एक प्रकार
फो.	७३	१२	सो प्रति का कोण्टकगत पाठ यहाँ नहीं है ।	सो.	६८	२६	परन्तु सूक्ष्म विचार करने पर तो एक अग्र अपेक्षा से ब्रह्मके
सो.	६४	६	महादुखी होने है । वनस्पति है सो पवनसे टूटती है, शीत- उष्णता से	फो	११५	६	परन्तु सूक्ष्म विचार किए तो एक अग्र घट्या एक अग्र अपेक्षा ब्रह्म के
फो.	७४	२	महादुखी हो है पवनसे टूटै है बहुरि वनस्पति है सो शीत उष्णकरि	सो.	६९	१६	जहाँ न्याय नहीं होता
				फो	११६	७	सो न्याय होय है तहाँ
सो.	७३	१३	निन्दक स्वयमेव अनिष्ट को प्राप्त होता ही है, स्वयं क्रोध किस पर करे ?	सो.	१००	१०-११	जो समवाय सम्बन्ध है तो
				फो.	११७	६	जो संयोग सम्बन्ध है तो
				सो.	१००	२७	पीडा उत्पन्न करे तो उसे बावला कहने है,
फो.	८४	१४	निन्दक स्वयमेव अनिष्ट पावै नाहीं है क्रोध कौनसो करै । (फोटो प्रिंट प्रति मे 'पावै हो है' ऐसा पूर्व मे लिखा गया, तत्पश्चात् 'पावै नाही है'	फो.	११८	६	पीडा उपजावै तो ताको बाउला कहिये है ('तो ताको बाउला कहिये है' इस अग्रको लिखने के पश्चात् काट दिया गया है,

- सो. १०६ २२ यह महेश लोकका संहार कैसे करता है ? (अपने अंगों से ही संहार करता है कि इच्छा होने पर स्वयमेव ही संहार होता है ?) यदि अपने अंगों से संहार करता है
- फो. १३० २ सो प्रति का कोष्ठकगत पाठ यहाँ उपलब्ध नहीं होता सो १३४ ३ सो अपने अभावको ज्ञानी हित कैसे मानेगा ?
- सो. ११० १३ अचेतन हो जाते हैं
- फो. १३० १६ 'अचेतन' के स्थानमें वहाँ 'चेतन' है फो. १६२ ६ सो आपका अभावको ज्ञान हित कैसे मानें
- सो. ११५ १५-१६ तथा वे मोक्षमार्ग भक्तियोग और ज्ञानयोग द्वारा दो प्रकार से प्ररूपित करते हैं । अब, भक्तियोग द्वारा मोक्षमार्ग कहते हैं
- फो. १३७ ६ यहाँ 'बहुवि मोक्षमार्ग भक्तियोग' ज्ञानयोग' दो प्रकार प्ररूपित है ॥ तहाँ यह लिखकर 'पहिले आगे ज्ञानयोग का निरूपण करें है सो लिपि पीछें याको लिखना' ऐसी सूचना ऊपर की गई है । तदनुसार पहिले ज्ञानयोग का प्रकरण होना चाहिए था, तत्पश्चात् भक्तियोग का । परन्तु सोनगढ़ संस्करणमें इसके विपरीत पहिले भक्तियोगका (पृ. ११५-१८) और तत्पश्चात् (पृ. ११८-२०) ज्ञानयोगका प्रकरण दिया गया है ।
- सो. १२७ २७ फिर कहोगे—इनको जाने बिना प्रयोजनभूत तत्त्वों का निर्णय नहीं कर सकते, इसलिए यह तत्त्व कहे हैं;
- फो. १५५ १ बहुवि कहोगे उनको जानें
- प्रयोजनभूत तत्त्वनिर्णय कर सकें तातैं ए तत्त्व कहे हैं (पूर्वमें 'जाने' के स्थान में 'निर्णय भए' लिखा गया था तत्पश्चात् उसे काटकर 'जाने' सशोधन किया गया है, आगे भी ।)
- सो अपने अभावको ज्ञानी हित कैसे मानेगा ?
- सो आपका अभावको ज्ञान हित कैसे मानें
- तथा ऋषीश्वर भारत में बहुवि भारत विषे
- गणधर ने आचारागादिक बनाये हैं सो
- 'बनाये हैं' के स्थान में यहाँ कोई क्रियापद नहीं है
- अनुमानादिकमें नहीं आता
- उन्मानादिकमें आये नाही
- यदि पाप न होता तो इन्द्रादिक क्यों नहीं मारते ?
- सो पाप न होता तो क्यों न मारे
- तो प्रतिज्ञा भंगका पाप हुआ
- तो प्रतिज्ञा भंगका पाप न हुआ ।
- अर्थ :—
- अथ
- तथा जो इष्ट-अनिष्ट पदार्थ पाये जाते हैं
- बहुवि जो इष्ट अनिष्ट बुद्धि पाइये हैं
- कुगुरु के श्रद्धान सहित
- कुगुरुका श्रद्धान रहित
- अघःकर्म दोषों में रत है
- अघःकर्म आदि दोषनिविष्ट रत है

सो.	१८५	१७	तथापि अन्तरंग लोभी होता है इसलिए सर्वथा महत्ता नहीं हुई	फो.	३७५	६	अबहू त्रिकरण करि शुद्ध जीव
				सो.	२६५	१२	इसी प्रकार अन्यत्र जानना
				फो.	३७७	७	ऐसे ही अन्य जानना
फो.	२२८	७	तथापि अन्तरंग लोभी होइ सो दातारको ऊचा मानै अर दातार लोभीको नीचा मानै तातैं वाके सर्वथा महत्ता न भई	दिल्ली संस्करण के पाठभेद			
				दि.	८	११	जिनके दर्शनादिकतैं (स्वपर-भेदविज्ञान होय है कषाय मंद होय शान्तभाव हो है वा) एक धर्मोपदेश बिना
सो.	१८५	२२	इसलिए गुरुओं की अपेक्षा	फो.	७	३-५	यहां दिल्ली संस्करणका कोष्ठकगत पाठ नहीं है।
फो.	२२८	१२	तातैं गुणनिकी अपेक्षा				
सो.	१६०	४	जीवित मरण लेते हैं	दि.	२३	१०-१७	समाधान करै (जो आपके उत्तर देने की सामर्थ्य न होय तो या कहै याका मोकों ज्ञान नाही किसी विशेष ज्ञानीसे पूछकर तिहारे ताई उत्तर दूगा अथवा कोई समय पाय विशेष ज्ञानी तुमसी मिलै तो पूछकर अपना सन्देह दूर करना और भोक् हू बताय देना। जानै ऐसा न होय तो अभिमानके वशतैं अपनी पंडित-ताई जनावनेको प्रकरणविरुद्ध अर्थ उपदेश, तातैं श्रोतानका विरुद्ध श्रद्धान करनेतैं बुरा होय जैनधर्मकी निंदा होय।) जातैं जो ऐसा न होय
फो.	२२४	५	जीवित माटी ले हैं				
सो.	२२२	१०	इसलिए उसका कार्य मिद्ध नहीं हुआ				
फो.	२७७	१४	बहुनि तिनिका कार्य सिद्धि भया				
सो.	२३६	१२	ऐसी दशा होती है। जैनधर्म मे प्रतिज्ञा न लेने का दण्ड तो है नहीं				
फो.	३०२	१३	ऐसी इच्छा होय सो जैनधर्म विपै प्रतिज्ञा लेनेका दण्ड तो है नहीं				
सो.	२६५	८	बैसे अनेक प्रकार से उस यथार्थ श्रद्धानका अभाव होता है				
फो.	३३७	६-१०	तैसे अनेक प्रकार करि तिभ पर्यायार्थी(?) श्रद्धानका अभाव हो है				
सो.	२६०	१६	और करणानुयोगका अभ्यास करने पर	फो.	२०	७	यहां दि. संस्करणका कोष्ठक गत पाठ नहीं उपलब्ध होता।
फो.	३७०	१७	अर चरणानुयोगका अभ्यास किए	दि.	३७	१७	आप ही मिलै है (अर सूर्यास्त का निमित्त पाय आप ही विद्युरै है।) ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक बनि रह्या है।
सो.	२६३	११	वह सम्यक्त्व स्व-परका श्रद्धान होने पर होता है				
फो.	३७४	१	सो सम्यक्त्व स्वपरादिक का श्रद्धान भए होय	फो.	३१	१०	दि. सं. का कोष्ठकगत पाठ यहाँ नहीं है।
सो.	२६४	३	आज भी त्रिरत्नसे शुद्ध जीव				

दि.	७२	१६-२०	वह बाउला तिस वस्त्रकों अपना अंग जानि आपकूं अर शरीरकों एक मानै	फो.	११५	६	परन्तु सूक्ष्म विचार किए तो एक अंश घट्या एक अंश अपेक्षा ब्रह्मकै अन्यथापना भया
फो.	५८	११	...अपना अंग जानि आपका अर शरीरकूं वस्त्रकूं एक मानै	दि.	१४३	१४	सो जहाँ न्याय न होय है, तहाँ
दि.	७८	१-२	जैसे बिल्ली मूसाको पकरि आसक्त हो है। कोऊ मारै तो भी न छोरे। सो इहाँ इष्ट-पना है। बहुरि	फो.	११६	७	सो न्याय होय है तहाँ
फो.	६२	१५	यहाँ 'सो इहाँ इष्टपना है' के स्थानमे 'सो इहाँ नीठि पावना' पाठ है।	दि.	१५६	२-३	कैसे संहार करै है (अपने अंगनि ही करि संहार करै है कि इच्छा होते स्वयमेव ही संहार होय है ?) जो अपने अंगनि करि संहार करै है
दि.	६१	१७-२०	बहुरि ऐसा जानना, तहा कषाय बहुत होय अर शक्ति-हीन (होय तहाँ घना दुख हो है बहुरि जैसे कषाय घटता जाय शक्ति बघती जाय तैसे दुख घटता हो है। सो एके-न्द्रियनिक कषाय बहुत अर शक्तिहीन) तातें एकेन्द्रिय महादुखी है।	फो.	१३०	२	दि. स. का कोष्टकगत पाठ यहाँ नहीं है।
फो.	७३	१२	दि. स. का कोष्टकगत पाठ यहाँ नहीं है।	दि.	१६७	१५	फो. प्रि. प्रति (पृ. १३७ प. ६) मे की गई सूचना के अनुसार ही यहाँ प्रथमतः ज्ञान-योग का (पृ. १६७-७१) और तत्पश्चात् भक्तियोगका (पृ. १७१-७५) प्रकरण अप-नाया गया है।
दि.	१२४	१६	जेवरी सर्पादिकके अर्थार्थ ज्ञान का	दि.	१८६	१७	बहुरि कहोगे इनको जानै बिना प्रयोजनभूत तत्त्वनिका निर्णय न करि सकै,
फो.	६६	११	जेवरी सर्पादिकके यथार्थ अर्थ-ज्ञान का	फो.	२५५	१	बहुरि कहोगे इनको जानै प्रयोजनभूत तत्त्वनिका निर्णय करि सकै (देखो सो स. का मिलान)
दि.	१३८	१५	लोकपाल इत्यादि। अद्वैतब्रह्म खुदा	दि.	१६८	८	बहुरि एक शरीरविषे पृथ्वी आदि ती भिन्न भिन्न भासे है चेतना होय तो लोह उश्वा-सादिककै (बीचमे पाठ छूटा है)
फो.	१११	६	लोकपाल इत्यादि खुदा	फो.	१६४	५	बहुरि एक शरीरविषे पृथ्वी आदि ती भिन्न भिन्न भासे है चेतना एक भासे है जो पृथ्वी आदिकै आधार चेतना होय तो होउ (सो. सं. हाड़) लोही उश्वासादिक कै
दि.	१३८	१६	बहुरि गउ सर्प इत्यादि				
फो.	१११	६	बहुरि सर्प इत्यादि				
दि.	१३८	२०	बहुरि शास्त्र दवात				
फो.	१११	१२	बहुरि शस्त्र दवात				
दि.	१४२	१३	परन्तु सूक्ष्म विचार किए तो एक अंश अपेक्षा ब्रह्मकै अन्य-थापना भया				

दि.	२१०	१८	बहुति ऋषीश्वर भारतविषै	उदयके निमित्तकरि कबहूँ
फो.	१७२	५	बहुति भारतविषै	जानादिक धनै प्रगट हो हैं
दि.	२१२	३-४	सो उनको पूछिए है गणधरनै आचारांगदिक बनाए हैं सो तुम्हारै अवार पाइए है	कबहूँ थोरै प्रगट हो हैं
फो.	१७३	८	सो उनको पूछिए है गणधरनै आचारांगदिक तुम्हारै अवार पाइए है	दि. ४५६ १६-१६ तहाँ रागादिक का तीव्र उदय होतै ती विषयकषायादिकके कार्यनिविषै ही प्रवृत्ति बनै अर आप पुरुषार्थ करि तिन उपदेशादिकविषै उपयोगकौ लगावै, ती धर्मकार्यनिविषै प्रवृत्ति होय । अर निमित्त बनै, वा आप पुरुषार्थ न करै
दि.	४३६	१६-१८	वस्त्रादिकका कथनविषै मही- नका नाम सूक्ष्म, मोटाका नाम बादर, ऐसा अर्थ है । (करणानुयोग के कथनविषै पुद्गल स्कन्धके निमित्ततै रुकै नाही ताका नाम सूक्ष्म है अर रुक जाय ताका नाम बादर है)	फो. ४०३ ३-६ तहाँ रागादिक का तीव्र उदय होतै ती विषय कषायादिक के कार्यनिविषै भी प्रवृत्ति होइ ॥ बहुति रागादिक मंद उदय होतै बाह्य उपदेशादिक का निमित्त बनै अर आप पुरुषार्थ करि (यहाँ पाठ अव्यवस्थित अधिक है)
फा.	३८०	२	दि. म. का कोष्ठकगत पाठ यहा नही है ।	
दि.	४३६	२०	प्रमाणभेदनिविषै स्पष्ट व्यवहार प्रतिभासका नाम प्रत्यक्ष है	
फो.	३८०	३-४	प्रमाणभेदनिविषै स्पष्ट प्रति- भास का नाम प्रत्यक्ष है	
दि.	४५६	६-१०	उत्कर्षण अपकर्षण सक्रमणादि होतै तिनकी शक्तिहीन अधिक होय है कर्मउदयके निमित्त करि तिनका उदयभी मद तीव्र हो है । तिनके निमित्ततै नवीन बंधभी मद तीव्र हो है । तातै संसारी जीवनिर्क कबहूँ जानादिक धनै प्रगट हो है, कबहूँ थोरै प्रगट हो हैं ।	प्रस्तुत ग्रन्थ का महत्व उभय पक्षों द्वारा ही स्वीकार किया जाता है । पर जहां तक हम समझते है उसके अन्त- र्गत सब ही विषयों से वे शायद ही सहमत हो । उदाहर- णार्थ यहां हम ऐसे दो चार स्थलों को उद्धृत करते है जिनकी प्रतिकूलता का अनुभव पृथासम्भव दोनों ही पक्ष कर सकते है — १ अनेक उपाय करने पर भी कर्म के निमित्त बिना सामग्री नहीं मिलती । (सोन संस्करण पृ. ४८) २ अथवा बाह्य सामग्री से सुख-दुख मानते सो ही अम है । सुख-दुख तो साता-असाता का उदय होने पर मोह के निमित्त से होते है, ऐसा प्रत्यक्ष देखने मे आता है । (मो० पृ० ५६) ३ इसलिये सामग्री के अधीन सुख-दुख नहीं है । साता-असाता का उदय होने पर मोहपरिणमन के निमित्त से ही सुख-दुख मानते हैं । (सो० पृ० ६०)
फा.	४०२	१५-१७	उत्कर्षण अपकर्षण सक्रमणादि होतै तिनकी शक्ति हीन अधिक होइ है तातै तिनका उदय भी मद तीव्र हो है तिनके निमित्त- तै नवीन बंध भी मद तीव्र हो है तातै संसारी जीवनिर्क कर्म	

कुछ अनिष्ट भी प्रसंग

४ तथा वह कहता है कि—जिन शास्त्रों में अध्यात्म उपदेश है उनका अभ्यास करना, अन्य शास्त्रों के अभ्यास से कोई सिद्धि नहीं है ?

उससे कहते हैं—यदि तेरे सच्ची दृष्टि हुई है तो सभी जैन शास्त्र कार्यकारी हैं। वहां भी मुख्यतः अध्यात्म शास्त्रों में तो आत्मस्वरूप का मुख्य कथन है, सो सम्यग्-दृष्टि होनेपर आत्मस्वरूप का निर्णय तो हो चुका, तब तो ज्ञान की निर्मलता के अर्थ व उपयोग को मंद कषायरूप रखने के अर्थ अन्य शास्त्रों का अभ्यास मुख्य चाहिये। तथा आत्मस्वरूप का निर्णय हुआ है, उसे स्पष्ट रखने के अर्थ अध्यात्म शास्त्रों का भी अभ्यास चाहिये; परन्तु अन्य शास्त्रों में अरुचि तो नहीं होना चाहिये। (सो० पृ० २००-२०१)

५ तथा वह पूजनादि कार्य को शुभाशुभ जान कर हेय मानता है, यह सत्य ही है; परन्तु यदि इन कार्यों को छोड़ कर शुद्धोपयोग रूप हो तो भला ही है, और विषय-कषाय रूप—अशुभ रूप—प्रवर्तों तो अपना बुरा ही किया। शुभोपयोग से स्वर्गादि हों अथवा भली वासना से या भले निमित्तसे कर्म के स्थिति-अनुभाग घट जायें तो सम्यक्त्वादि की भी प्राप्ति हो जाये। (सो० पृ० २०५) आगे पृ. २०८ के दूसरे पैराग्राफ को (अब उनसे पूछते हैं.....) और पृ. २०९ के अन्तिम पैराग्राफ को भी देखिए।

६ फिर वह कहता है—जैसे, जो स्त्री प्रयोजन जानकर पितादिक के घर जाती है तो जाये, बिना प्रयोजन जिस-तिस के घर जाना तो योग्य नहीं है। उसी प्रकार परिणति को प्रयोजन जान कर सात तत्त्वों का विचार करना, बिना प्रयोजन गुणस्थानादिक का विचार करना योग्य नहीं है ?

समाधान :—जैसे स्त्री प्रयोजन जानकर पितादिक या मित्रादिक के भी घर जाये, उसी प्रकार परिणति तत्त्वों के विशेष जानने के कारण (कारणभूत) गुणस्थानादिक व कर्मादिक को भी जाने। तथा ऐसा जानना कि—जैसे शीलवती स्त्री उद्यमपूर्वक तो विट पुरुषों के स्थान पर न जाये, यदि परवश वहाँ जाना बन जाये, और वहाँ कुशील सेवन न करे तो स्त्री शीलवती ही है। उसी प्रकार वीतराग परिणति उपायपूर्वक तो रागादिक के कारणभूत पर-

द्रव्यों में न लगे, यदि स्वयमेव उनका जानना हो जाये और वहाँ रागादिक न करे तो परिणति शुद्ध ही है। (सो० सं० पृ० २१२)

७ यहाँ कोई निर्विचारी पुरुष ऐसा कहे कि तुम व्यवहार को असत्यार्थ—हेय कहते हो, तो हम व्रत, शील, संयमादिक व्यवहारकार्य किसलिए करे ? सबको छोड़ देगे।

उससे कहते हैं कि—कुछ व्रत, शील, संयमादिक का नाम व्यवहार नहीं है, इनको मोक्षमार्ग मानना व्यवहार है, उसे छोड़ दे। और ऐसा श्रद्धान कर कि इनको तो बाह्य सहाकारी जान कर उपचार से मोक्षमार्ग कहा है, यह तो परद्रव्याश्रित है, तथा सच्चा मोक्षमार्ग वीतरागभाव है, वह स्वद्रव्याश्रित है। इस प्रकार व्यवहार को असत्यार्थ—हेय जानना। व्रतादिक के छोड़नेसे तो व्यवहार का हेय-पना होता नहीं है। फिर हम पूछते हैं कि—व्रतादिक को छोड़कर क्या करेगा ? यदि हिसादिरूप प्रवर्तों तो वहाँ तो मोक्षमार्ग का उपचार भी संभव नहीं है—वह प्रवर्तने से क्या भला होगा ? (सो० पृ० २५३-५४)

८ तथा यदि बाह्य संयम से कुछ सिद्धि न हो तो सर्वार्थसिद्धिवासी देव सम्यग्दृष्टि बहुत जानी है, उनके तो चौथा गुणस्थान होता है और गृहस्थ श्रावक मनुष्यों के पंचम गुणस्थान होता है सो क्या कारण है ? तथा तीर्थ-करादिक गृहस्थपद छोड़ कर किसलिए संयम ग्रहण करे ? इसलिए यह नियम है कि बाह्य संयमसाधन बिना परिणाम निर्मल नहीं हो सकते; इसलिए बाह्य साधन का विधान जानने के लिये चरणानुयोग का अभ्यास अवश्य करना चाहिये। (सो पृ० २६२)

(प्रस्तुत संस्करण में जिस प्रकार अध्यात्म के पोषक कुछ वाक्यों को यत्र-तत्र—जैसे पृ० ५१, ५२, ५७ व १५८ आदि—काले टाइप में मुद्रित कराया गया है उसी प्रकार बाह्य संयम के पोषक उपयुक्त सदर्थों में से भी कुछ वाक्यों का मुद्रण यदि काले टाइप में करा दिया जाता तो बहुत अच्छा होता।)

... ..

१ किसी जीवकर अपना आत्मा ठग्या। सो कौन ?

जिह जीव जिनेवर का लिंग धीर्य अर राखकर भाषा का लींचकर समस्त परिग्रह छांडधा नाहीं। (सस्ती ग्रंथ माला प्रथम सं. पृ. २६६-७०)

२ बहुरि जहां मुनिके धात्री-दूत आदि छयालीस दोष आहारादिविषं कहे हैं, तहां गृहस्थनिके बालकनिकों प्रसन्न करना, समाचार कहना, मंत्र-श्रोषधि ज्योतिषादि कार्य बतावना इत्यादि, बहुरि किया कराया अनुमोद्या भोजन लेना इत्यादि क्रिया का निषेध किया है, सो अब कालदोषतें इन ही दोषनिकों लगाय आहारादि ग्रह है। (स. ग्र. पृ. २७०)

३ यहां कोउ कहै, ऐसे गुरु तो अबार नाही, तातें जैसे अरहत की स्थापना प्रतिमा है, तैसे गुरुनिकी स्थापना

१ मज्जण-मंडणधात्री खेलावण-खीर-अवधात्री य।

पचविधधादिकम्भेणुष्पादो धादिदोषो दु ॥

मूलाचार ६-२८)

धापयति दधातीति वा धात्री। मार्जनधात्री बाल स्नपयति या सा मार्जनधात्री। मण्डयति विभूषयति तिलकादिभिर्या सा मण्डनधात्री मण्डननिमित्त माता। बाल क्रीडयति रमयति क्रीडनधात्री क्रीडानिमित्त माता। क्षीर धारयति दधाति या सा क्षीरधात्री स्तनपायिनी। अम्ब-धात्री जननी, स्वपयति या साप्यम्बधात्री। एतासा पञ्च-विधानां धात्रीणां क्रियया कर्मणा य आहारादिरूपयते स धात्रीनामोत्पादनदोषः। बाल स्नापयानेन प्रकारेण बाल स्नाप्यते येन मुखी नीरोगी च भवतीत्येवम्, मार्जननिमित्त वा कर्म गृहस्थाय उपदिशति। तेन च कर्मणा गृहस्थो दानाय प्रवर्तते। तद्दानं यदि गृह्णाति साधुस्तस्य धात्रीनामोत्पादन-दोषः.....। (मूला. वसु. वृत्ति ६-२८)

२ उगम उपादन एमण च सजोणं पमाण च।

इगाल धूम कारण अट्टविहा पिडमुद्धी दु ॥

(मूला. ६-२)

१६ उद्गम दोष (६, ३-२५); १६ उत्पादन दोष (६, २६-४२), १० एषण (अशन) दोष (६, ४३-६२) तथा संयोजन आदि ५ अन्य दोष; इन सब दोषों की यहाँ विस्तार से प्ररूपणा की गई है।

ए भेषधारी है—

ताका उत्तर—जैसे राजकी स्थापना चित्रामादिक करि करे तो राजा का प्रतिपक्षी नाहीं; अर कोई सामान्य मनुष्य आपकी राजा मनावे, तो तिसका प्रतिपक्षी होइ। तैसे अरहतादिक की पाषाणादिविषं स्थापना बनावे, तो तिनका प्रतिपक्षी नाहीं, अर कोई सामान्य मनुष्य आपकी मुनि मनावे, तो वह मुनि का प्रतिपक्षी भया। ऐसे भी स्थापना होती होय, तो अरहत भी आपकी मनावो। (स. ग्र. पृ. २७३)

४ पद्मपुराणविषं यह कथा है—जो श्रेष्ठी धर्मात्मा चारण मुनिनको भ्रमते भ्रष्ट जानि आहार न दिया, तो प्रत्यक्ष भ्रष्ट तिनको दानादिक देना कैसे सभवै? (स. ग्र. पृ. २७४-७५)

५ बहुरि जिनमदिर तो धर्म का ठिकाना है। तहां नाना कुकथा करनी, सोवना इत्यादिक प्रमादरूप प्रवर्तें, वा तहां बाग वाडी इत्यादि बनाय विषय-कषाय पोषें, बहुरि लोभी पुरुषनिकों गुरु मानि दानादिक दें वा तिनकी असत्य स्तुति करि महनपनी मानें, इत्यादि प्रकार करि विषय-कषायनिको तो बधावें अर धर्म मानें सो जिनधर्म तो वीतरागभावरूप है, तिस विषं ऐसी प्रवृत्ति कालदोषतें ही देखिए है। (स. ग्र. पृ. २८०)

हमारा अपना अभिप्राय

प्रस्तुत मोक्षमार्गप्रकाशक की यथार्थ परिस्थिति क्या है, यह जानने की च्कि कुछ सज्जनों ने अपेक्षा की थी,

३ यथा पूज्य जिनेंद्राणा रूपं नेपादिनिमित्तम्।

तथा पूर्वमुनिच्छाया पूज्याः संप्रति सयताः ॥

(उपास. ७६७)

विन्यस्यैदयुगीनेषु प्रतिमासु जितानि च।

भक्त्या पूर्वमुनीनर्चन् कुतः श्रेयोऽतिचिन्ताम् ॥

(सा. घ २-६४)

४ देखिये पद्मपुराण पर्व ६२ श्लोक १५-३७।

५ सत्रमप्यनुकम्प्यानां मृजेदनुजिघृक्षया।

चिकित्साशालवद् द्रुष्यन्नेज्यार्यं वाटिकाग्रंभि ॥

(सा. घ. २-४०)

अत एव उसीसे प्रेरित होकर हमें जो उसकी स्थिति दिखी है उसे बिना किसी पक्षव्यामोह के स्पष्ट करने का प्रयत्न हमने यहां किया है। जहां तक हम समझ सके हैं उक्त दोनों संस्करणों में से किसी में भी बुद्धिपूर्वक अर्थ-विपर्यास या भावविपर्यास का प्रयत्न नहीं किया गया। मूल प्रति की अपेक्षा जो उनमें यत्र क्वचित् भेद दिखता है वह असावधानी—विशेष कर प्रूफ संशोधन की असावधानी—या अन्य हस्तलिखित व मुद्रित प्रतियों का आश्रय लेने से हुआ है। जैसे—

सोन. सं. पृ० ८५ पर मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान का क्रमवैपरीत्य, पृ० ११५-२० में जो ज्ञानयोग और भक्तियोग प्रकरणों में पौर्वापर्य की विपरीतता हुई है वह मूल प्रतिमें श्री पं. टोडरमल जी द्वारा की गई सूचना (फो० प्रि० पृ० १३७, पं० ६) को सावधानी से न पढ़ सकने के कारण हुई।

प्रूफ संशोधन की असावधानी में जैसे—

सो. ग. पृ. ६५—‘उसी प्रकार’ इत्यादि लगभग २ पंक्तियां दुवार छप गई हैं, पृ. १००—समवायसम्बन्ध (सयोगसम्बन्ध), पृ. १५५—मान (माया), पृ. १८२—इक्षुफल (इक्षुफूल), पृ. १८५ गुरुओं की (गुणन की), इत्यादि।

दिल्ली संस्करण में ऐसी-अशुद्धियों के लिए अन्त में २१ पृ. का लम्बा शुद्धिपत्र ही दे दिया गया है।

अन्य प्रतियों के आश्रय से जैसे—सो. स. पृ. ५४ पर मूल प्रतिगत (फो. पृ. ६२) ‘सो इहां नीति पावना’ का ‘सो यहा कठिनता से प्राप्त होने के कारण’ यह स्पष्टीकरण या तो किसी अन्य प्रति के आश्रय से किया गया है या

फिर अपनी समझ के अनुसार ही किया गया है। (सस्ती ग्रं. मा. संस्करण में पृ. ७८ पर जो उसका ‘सो इहां इष्ट-पना है’ ऐसा स्पष्टीकरण किया गया है वह जैन ग्रन्थ रत्नाकर द्वारा प्रकाशित संस्करण (पृ. ७५) के अनुसार किया गया है, नया मन्दिर दिल्ली की एक हस्तलिखित प्रति में ‘नीति’ को लिखकर तत्पश्चात् उसके स्थान में ‘रोग’ लिखा गया है।)

पृ. ६३ पं. २५ में जो फोटो प्रिंट प्रति (पृ. ७३) की अपेक्षा अधिक अंश पाया जाता है वह सम्भवतः सस्ती ग्रंथ माला संस्करण (पृ. ६१) से लिया गया है। जैन ग्रं. २. द्वारा प्रकाशित संस्करण (पृ. ८८) में भी वह अंश पाया जाता है।

पृ. १३५ पर फो. प्रि. प्रतिगत (पृ. १६४) ‘होउ(?) लोही’ का अनुवाद ‘हाड़, रक्त’ किया गया है। न. मं. दिल्ली की एक प्रति (पत्र ६१) में भी ‘हाड़’ पाया जाता है। स. ग्रं. संस्करण (पृ. १६८) में ‘होउ’ को छोड़ दिया गया व ‘लोही’ के स्थान में लोहू लिखा गया है। इत्यादि।

अन्त में ग्रंथ की इस परिस्थिति को लक्ष्य में रखते हुए हमारा उभय पक्षसे यही नम्र निवेदन है कि इस विवाद में कुछ तथ्य नहीं है, उसे समाप्त कर दिया जाय। भूल होना कुछ असम्भव नहीं है। पर भूल को भूल मान उसे परिमार्जित कर लेना कठिन होते हुए भी महत्वपूर्ण है। शान्ति व स्व-परहित भी उसी में है। भूल को पुष्ट करने रहने से वातावरण कभी शान्त नहीं बन सकता। कांश्चि वादीभक्ति की यह यथार्थ उक्ति बहुत ही महत्वपूर्ण है—

अन्यदीयमिवात्मीयमपि दोष प्रपश्यता।

कः समः खलु मुक्तोऽय युक्तः कायेन चिदापि।

अनेकान्त के ग्राहक बनें

‘अनेकान्त’ पुराना ख्यातिप्राप्त शोध-पत्र है। अनेक विद्वानों और समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों का अभिमत है कि वह निरन्तर प्रकाशित होता रहे। ऐसा तभी हो सकता है जब उसमें घाटा न हो और इसके लिए ग्राहक संख्या का बढ़ाना अनिवार्य है। हम विद्वानों, प्रोफेसरों, विद्यार्थियों, सेठियों, शिक्षा-संस्थाओं, संस्कृत विद्यालयों, कालेजों, विश्वविद्यालयों और जैन श्रुत की प्रभावना में श्रद्धा रखने वालों से निवेदन करते हैं कि वे ‘अनेकान्त’ के ग्राहक स्वयं बनें और दूसरों को बनावें। और इस तरह जैन संस्कृति के प्रचार एवं प्रसार में सहयोग प्रदान करें।

व्यवस्थापक ‘अनेकान्त’

श्रमण संस्कृति का प्राचीनत्व

मुनि श्री विद्यानन्द

मंगलाचरण—

सिरि एमो उसह समरणं ।

व्याकरण के अनुसार संस्कृति शब्द का अर्थ है संस्कार सम्पन्नता । संस्कार से वस्तु उत्कृष्ट बन जाती है अथवा कहना चाहिये कि वस्तु संस्कार किये जाने पर अपने में निहित उत्कर्ष को अभिव्यक्त करने का अवसर प्राप्त करती है । संस्कार किये जाने पर ही खनिज सुवर्ण शुद्ध स्वर्ण बनता है । मनुष्य भी संस्कृति के द्वारा ही अपने उच्चतम ध्येय और पवित्र संकल्पों को प्राप्त करने के लिए दिशा प्राप्त करता है । एक कलाकार अनगढ़ पाषाण में छेनी हथोड़े की सहायता से बीतराग प्रभु की मुद्रा अंकित कर देता है, एक चित्रकार रंगों और तूलिका की सहायता से केनवास पर सुन्दर चित्र बना देता है, इसी प्रकार संस्कृति भी मनुष्य के अन्तस्थ सौन्दर्य को प्रकट कर देती है । यही मनुष्यके आचार-विचार और व्यवहार को बनाती-संवारती है । ये आचार-विचार और व्यवहार ही संस्कृति के मूलस्रोत के साथ सम्बद्ध होकर उसका परिचय देते हैं ।

अतः जब हम संस्कृति का सम्बन्ध श्रमण शब्द के साथ करते हैं, तब हमारे सामने श्रमण धर्म और उसके आचार-विचार स्पष्ट हो उठते हैं । श्रमण का अर्थ है निर्गन्ध दिगम्बर जैन मुनि । अतः श्रमण-संस्कृति का अर्थ हुआ वह संस्कृति जिसके प्रवर्तक व प्रस्तोता दिगम्बर जैन मुनि हैं । इसको और भी स्पष्ट करके कहें तो जिन आचार-विचार और आदर्शों का आचरण और उपदेश दिगम्बर जैन मुनियों द्वारा किया गया है, वह श्रमण संस्कृति है । भगवान् ऋषभदेव प्रथम दिगम्बर मुनि हैं, वे ही प्रथम श्रमण हैं । अतः उनके द्वारा जिन आचार-विचार-व्यवहार और आदर्शों का आचरण और उपदेश के द्वारा प्रचार-प्रसार और प्रचलन हुआ, वही संस्कृति श्रमण संस्कृति के नाम से जानी पहचानी जाती है ।

अब हम श्रमणत्व और उसकी प्राचीनता के बारे में कुछ प्रमाण प्रस्तुत करेंगे ।

(“नाभेः प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्या धर्मान् दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमथिनां शुक्लया तनुवावतार” ॥ ५।३।२०)

महाराज नाभि का प्रिय करने के लिए उनके अन्तः-पुर में महारानी मेरुदेवी के गर्भ से दिगम्बर श्रमण ऊर्ध्व-गामियों का धर्म प्रगट करने के लिए वृषभदेव शुद्ध मत्त्वमय शरीर से प्रगट हुए ।

भागवतकार ने आद्य मनु स्वायम्भुव के प्रपौत्र नाभि के पुत्र ऋषभ को दिगम्बर श्रमणों और ऊर्ध्वगामी मुनियों के धर्म का आदि प्रतिष्ठाता माना है, उन्होंने ही श्रमण धर्म को प्रगट किया था । उनके सौ पुत्रों में से नौ पुत्र श्रमण मुनि बने, भागवत में यह ही उल्लेख मिलता है—

“नवाभवन् महाभागा मुनयोऽष्टमंशसिनः ।

श्रमणा वातरशना आत्मविद्या विशारवाः ॥

—भागवत ११।२।२०

ऋषभदेव के सौ पुत्रों में से नौ पुत्र बड़े भाग्यवान् थे, आत्मज्ञान में निगुण थे और परमार्थ के अभिलाषी थे । वे श्रमण-दिगम्बर मुनि हो गये, वे अतशन आदि तप करने थे ।

यहां श्रमण से अभिप्राय है (श्राम्यति तपः क्लेश

१ प्रियव्रतो नाम मुतो मनोः स्वायम्भुवस्य यः ।

तस्याग्नीध्रस्तनो नाभिः ऋषभस्तत्सुतः स्मृतः ॥

११।२।१५ भागवत पुराण ।

स्वायम्भुव मनु के प्रियव्रत नाम के पुत्र थे । प्रियव्रत के अग्नीध्र, अग्नीध्र के नाभि और नाभि के पुत्र ऋषभदेव हुए । वैदिक परम्परा के अनुसार स्वायम्भुव मनु मानवों के आद्य स्रष्टा और मन्वन्तर परम्परा के आद्य प्रवर्तक थे ।

सहते इति श्रमणः) अर्थात् जां स्वयं तपश्चरण करते है, वे श्रमण है।

“वातरशना ह वा ऋषयः श्रमणा ऊर्ध्वमंथिनी बभूवुः।”

—तैत्तिरीयारण्यक २।७

सायण—“वातरशनाख्या ऋषयः श्रमणास्तपस्विनः

ऊर्ध्वमंथिनः ऊर्ध्वरेतसः ॥”

—दिगम्बर श्रमण ऋषि तप से सम्पूर्ण कर्म नष्ट करके ऊर्ध्वगमन करनेवाले हुए।

सम्पूर्ण कर्म नष्ट होने पर जीव ऊर्ध्वगमन करता है और लोक के अन्त तक चला जाता है। जीव का स्वभाव ऊर्ध्वगमन करने का ही है, वह सदा से इसके लिए प्रयत्न करता रहा है। किन्तु कर्मों का भार होने के कारण वह उतना ही ऊर्ध्वगमन करता रहा, जितना कर्मों का भार कम था। किन्तु जब कर्मों का भार बिल्कुल हट गया और जीव कर्मों के बन्धन से मुक्त हो गया तो अपने स्वभाव के अनुसार वह लोक के अन्त तक ऊर्ध्व गमन करता है।

(“तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यलोकान्तात् ॥” तत्त्वार्थ सूत्र १०।५)

जैन शास्त्रों में जहा पर भी मोक्ष का वर्णन आया है, वहा पर इसका विस्तार से कथन मिलता है। सम्भवतः श्रमण वातरशना मुनियों के लिये ऊर्ध्वमथी ऊर्ध्वरेता करने में वैदिक ऋषियों को जैन-शास्त्र सम्मन ऊर्ध्वगमन ही अभीष्ट रहा है।

अब यहा बृहदारण्यकोपनिषद् का एक ओर स्पष्ट उद्धरण अवतरित करते है—

“श्रमणोऽश्रमणस्तापसोऽतापसोऽनन्वागतं पुण्येना नन्वागतं पापेन तीर्णो हि तवा सर्वाच्छोकान् हृदयस्य भवति।”

—बृहदा० ४।३।२२

श्रमण अश्रमण और तापस अतापस हो जाते है। उस समय तक पुरुष पुण्य से असम्बद्ध तथा पाप से भी असम्बद्ध होता है और हृदय के सम्पूर्ण शोकों को पार कर लेता है।

(श्रमणः परित्राट्-यत्कर्म निमित्तो भवति, स तेन विनिर्मुक्तत्वावश्रमणः।” —शांकर भाष्य

“श्रमण” अर्थात् जिस कर्म के कारण पुरुष परित्राट् होता है उससे मुक्त होने के कारण वह अश्रमण हो जाता है।

जैन शास्त्रों में गुणस्थान चर्चा में जो मुनि क्षपणक श्रेणी आरोहण करता है, उसके सम्बन्ध में भी लगभग ऐसा ही वर्णन आता है। श्रेणी आरोहण करनेवाला श्रमण मुनि पाप और पुण्य दोनों से रहित हो जाता है और कषाय तथा घातिचतुष्क का नाश करके कैवल्य की प्राप्ति कर लेता है।

श्रमण सतयुग में प्रायः होते हैं, ऐसी मान्यता भागवत-कार की है।

कृते प्रवर्तते धर्मश्चतुष्पात्सन्जनेर्धृतः।

सत्यं दया तपो दानमिति शब्दा विभोर्नृप ॥

सन्तुष्टाः करुणा मंत्राः शान्ताः शान्तास्तितिक्षवः।

आत्मारामाः समदृशः प्रायशः श्रमणा जनाः ॥

—भागवत १२-३-१८-१९

श्री शुकदेव जी कहते है— हे राजन ! कृतयुग में धर्म के चार चरण होते है—सत्य, दया, तप और दान। इस धर्म को उस समय के लोग निष्ठापूर्वक धारण करते है। सतयुग में मनुष्य सन्तुष्ट, करुणाशील, मित्रभाव रखने वाले, शान्त, उदार, सहनशील, आत्मा में रमण करने वाले और समानदृष्टि आदि प्रायः श्रमणों में ही होती है।

जैनाचार्य जिनसेन ने आदिपुराण में कृतयुग में ही ऋषभदेव का जन्म माना है। उस युग का नामकरण ही ऋषभदेव के कारण हुआ और वह कृतयुग कहलाया—

“युगादि ब्रह्मणा तेन यदित्थं स कृतो युगः।

ततः कृतयुगं नाम्ना तं पुराणविदो विदुः ॥

आषाढमासबहुलप्रतिपद्विसे कृती।

कृत्वा कृतयुगारम्भं प्रजापत्य मुपेयिवान् ॥”

(शेष पृष्ठ २८१) —आदि पु० १६।१८६-१९०

१ कृतयुग—१७२८०००। सतयुग का प्रारम्भ कालिक ६ से हुआ।

त्रेतायुग—१२९६०००।

द्वापर—८६४०००। (वैदिक काल-गणना)

कलियुग—४३२०००।

२ “सुसमद्रुसमम्मि णामे सेसे चउसीदिलक्खपुत्वाणि।

वासतए अडमासे इगिपक्खे उसह उप्पत्ती ॥ ४।५५३

—तिलोयपण्णत्ती भा० १

“सुषम दुःषमा नामक काल में चौरासी लाख पूर्व, तीन वर्ष आठ माह और एक पक्ष शेष रहने पर वृषभदेव का अवतार (जन्म) हुआ”। (यहां कृतयुग काल जैन गणना के अनुसार है) —

यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन

डा० गोकुलचन्द जैन, आचार्य, एम. ए., पी-एच. डी.

सोमदेव सूरिकृत यशस्तिलक महाराज यशोधर के जीवनचरित्र को आधार बनाकर गद्य और पद्य में लिखा गया एक महत्त्वपूर्ण संस्कृत ग्रंथ है। इसमें आठ आश्वास या ग्रन्थाय हैं। पूरे ग्रन्थ में दो हजार तीन सौ ग्यारह पद्य तथा शेष गद्य है। सोमदेव ने गद्य तथा पद्य दोनों को मिलाकर आठ हजार श्लोक प्रमाण बताया है।

यशस्तिलक का रचनाकाल निश्चित है, इसलिए इसके अनुशीलन में वे अनेक कठिनाइयाँ नहीं आती, जो समय की अनिश्चितता के कारण भारतीय साहित्य के अनुशीलन में साधारणतया उपस्थित होती हैं। सोमदेव ने यशस्तिलक के अन्त में स्वयं लिखा है कि चैत्र शुक्ल त्रयोदशी शक संवत् ८८१ (१५६ ई०) को जिस समय श्रीकृष्णराजदेव पाण्ड्य, मिहल, चोल, चेर आदि राजाओं का जीतकर मैलपाटी मेना शिविर में थे, उस समय उनके चरणकमल-पूज्यो, चालुक्य वशीय अरिकेमरी के प्रथम पुत्र सामंत वट्टिग (वट्टग) की राजधानी गंगघारा में यह काव्य रचा गया।

राष्ट्रकूट नरेश कृष्णराज तृतीय के एक दानपत्र में भी सोमदेव के विवरण के समानही कृष्णराजदेव की दिग्विजय का उल्लेख है। यह दानपत्र सोमदेव के यशस्तिलक की रचना के कुछ ही सप्ताह पूर्व फाल्गुन वृष्ण त्रयोदशी शक संवत् ८८० (६ मार्च सन् १५६ ई०) को मैलपाटी (वर्तमान मेलाडी जो उत्तर अर्काट की वादिवाय तहशील में है) लिखा गया था।

राष्ट्रकूट मध्ययुग में दक्षिण भारत के महाप्रतापी नरेश थे। धारवाड कर्नाटक तथा वर्तमान हैदराबाद प्रदेश पर राष्ट्रकूटों का अखण्ड राज्य था। लगभग आठवीं शती के मध्य में लेकर दशम शती के अन्त तक राष्ट्रकूट सम्राट् न केवल भारतवर्ष में, प्रत्युत पश्चिम के अरब साम्राज्य में भी अत्यन्त प्रसिद्ध थे। अरबों के साथ उन्होंने विशेष

मंत्री का व्यवहार रखा और उन्हें अपने यहाँ व्यापार की सुविधा दी। इस वग के राजाओं का विरुद्ध बल्लभराज प्रसिद्ध था जिसका रूप अरब लेखकों में बल्लहरा पाया जाता है।

राष्ट्रकूटों के राज्य में साहित्य, कला, धर्म और दर्शन की चतुर्मुखी उन्नति हुई। उस युग की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को आधार बनाकर अनेक ग्रन्थों की रचना की गई। यशस्तिलक उन्नीसवीं शती की एक विशिष्ट कृति है।

यशस्तिलक की रचना गद्य और पद्य में हुई है। साहित्य की इस विधा को समीक्षकों ने चम्पू कहा है। स्वयं सोमदेव ने इसे महाकाव्य कहा है। प्रत्येक आश्वास के अन्त में जो गुणिका वाक्य पाया जाता है, उसमें 'यशो-धर्ममहाराजचरिते यशस्तिलकापरनाम्नि महाकाव्ये' पद आया है। वास्तव में यह अपने प्रकार का एक विशिष्ट ग्रंथ है और अपने प्रकार की स्वतन्त्र विधा। एक उत्कृष्ट काव्य के सभी गुण उसमें विद्यमान हैं। कथा और आख्यायिका के शिल्प, रोमांचकारी और रोचक वर्णन, गद्य और पद्य के सम्मिश्रण का रुचि वैचित्र्य, रूपक के प्रभावकारी और हृदयग्राही मर्म कथनोपकथन, मन्त्रोक्त काव्य का वृत्तविधान रसमिद्धि, प्रलङ्घित चित्राकन तथा प्रमाद और माधुर्य युक्त सरस शैली, मुग्धपूर्ण कथावस्तु और साहित्यकार के दायित्व का कलापूर्ण निर्वाह, यह यशस्तिलक का साहित्यिक स्वरूप है। गद्य का पद्यों जैसा मर्मल विग्राम, प्राकृत छन्दों का संस्कृत में अभिनव प्रयोग तथा अनेक प्राचीन अप्रसिद्ध शब्दों का सकलन यशस्तिलक के साहित्यिक स्वरूप की अनिर्गुण विशेषताएँ हैं। संस्कृत साहित्य सृजन के लगभग एक सहस्र वर्षों में सुबन्धु बाण और दण्डि के ग्रन्थों में गद्य का, कालिदास, भवभूति और भारवि के महाकाव्यों में पद्य का तथा भास और शूद्रक के नाटकों में रूपक रचना का जो विकास हुआ, उसका और अधिक

परिष्कृत रूप यशस्तिलक में उपलब्ध होता है।

यशस्तिलक की यह अन्यतम विशेषता है कि प्राचीन भारतीय वाङ्मय में संभवतया यह प्रथम और अकेला ग्रन्थ है, जिसकी कथावस्तु को दुःखान्त माना जा सकता है।

काव्य के विवेक गुणों के अतिरिक्त यशस्तिलक में ऐसी प्रचुर सामग्री है, जो इसे प्राचीन भारत के सांस्कृतिक इतिहास की विभिन्न विधाओं से जोड़ती है। पुरातत्त्व, कला इतिहास और साहित्य की सामग्री के साथ तुलना करने पर इसकी प्रामाणिकता और उपयोगिता और भी परिपुष्ट होती है। एक बड़ी विशेषता यह भी है कि सोमदेव ने जिस विषय का स्पर्श भी किया उस विषय में पर्याप्त जानकारी दी। इतनी जानकारी कि यदि उसका विस्तार में विवेचन किया जाये तो प्रत्येक विषय एक लघुकाव्य स्वनन्त्र ग्रन्थ तैयार हो सकता है। यशस्तिलक पर श्रीदेव कृत यशस्तिलक पत्रिका नामक एक संक्षिप्त संस्कृत टीका है। इसे संस्कृत टिप्पण कहना अधिक उपयुक्त होगा। यद्यपि इनके समय का ठीक पता नहीं चलता फिर भी ये सोमदेव से अधिक बाद के नहीं लगते। सोलहवीं शती में श्रुतसागर मूरि ने यशस्तिलक चंद्रिका नामक संस्कृत टीका लिखी। यह लगभग साठे चार आध्वासों पर है। संभवतया वे इसे पूरा नहीं कर सके। श्रीदेव ने पंजिका में यशस्तिलक के विषयों को इस प्रकार गिनाया है—

१ छन्द, २ शब्द निघटु, ३ अलकार, ४ कला, ५ मिथ्यान्त, ६ सामुद्रिक ज्ञान, ७ ज्योतिष, ८ वैद्यक ९ वेद १० वाद, ११ नाट्य, १२ काम, १३ गज, १४ अश्व, १५ आयुध, २६ तर्क, १७ आख्यायन, १८ मन्त्र, १९ नीति, २० शकुन, २१ वनस्पति, २२ पुराण, २३ स्मृति, २४ मोक्ष, २५ अध्यात्म, २६ जगत्स्थिति और २७ प्रवचन।

यदि श्रीदेव के अनुसार ही यशस्तिलक के विषयों का वर्गीकरण किया जाये तो इस सूची में कई विषय और जोड़ने होंगे। जैसे—भूगोल, वास्तुशिल्प, यन्त्रशिल्प, चित्रकला, पाक विज्ञान, वस्त्र और वेशभूषा, प्रसाधन सामग्री और आभूषण, कला विनोद, शिक्षा और साहित्य, वाणिज्य और सार्ववाह, सुभाषित आदि।

इस सूची के कई विषयों का समावेश सोमदेव ने

यशस्तिलक में प्रयत्नपूर्वक किया है। उनका उद्देश्य था कि दशमी शताब्दि तक की अनेक साहित्यिक और सांस्कृतिक उपलब्धियों का मूल्यांकन तथा उस युग का सम्पूर्ण चित्र अपने ग्रन्थ में उतार दें। निमदेह सोमदेव को अपने इस उद्देश्य में पूर्ण सफलता मिली। यशस्तिलक जैसे महनीय ग्रन्थ की रचना दशमी शती की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। सामग्री की इस विविधता और प्रचुरता के कारण यशस्तिलक को स्वयं सोमदेव के शब्दों में एक महान् अभिधान कोश कहना चाहिए।

यशस्तिलक में सामग्री की जितनी विविधता और प्रचुरता है, उतनी ही उसकी शब्द सम्पत्ति और विवेचन शैली की दुरुहता भी। इसलिए जिस वैदुष्य और यत्न के साथ सोमदेव ने यशस्तिलक की रचना की शायद ही उससे कम वैदुष्य और प्रयत्न यशस्तिलक के हार्द को समझने में लगे। संभवतया इस दुरुहता के कारण ही यशस्तिलक माध्यागण पाठकों की पहुँच में दूर बना आया, पर दक्षिण भारत में लेकर उत्तर भारत, राजस्थान और गुजरात के शास्त्र भण्डारों में उपलब्ध यशस्तिलक की हस्तलिखित पाण्डुलिपियाँ उस बात की प्रमाण हैं कि पिछली शताब्दियों में भी यशस्तिलक का सम्पूर्ण भारतवर्ष में मूल्यांकन हुआ।

बीसवीं शती में पीटरसन और कीथ जैसे पाश्चात्य विद्वानों का ध्यान यशस्तिलक की महत्ता और उपयोगिता की ओर आकर्षित हुआ है। भारतीय विद्वानों ने भी अपनी इस निधि की ओर अग्र दृष्टि डाली है।

सम्पूर्ण यशस्तिलक श्रुतसागर मूर्ति की अपूर्ण संस्कृत टीका के साथ दो जिल्दों में अब तक केवल एक बार लगभग साठ वर्ष पूर्व निर्णयसागर प्रेम, बम्बई में प्रकाशित हुआ था। तीन आध्वासों का पूर्व खण्ड सन् १९०१ में और पाँच आध्वासों का उत्तर खण्ड सन् १९०२ में। पूर्व खण्ड सन् १९१६ में पुनर्मुद्रित भी हुआ था। इस संस्करण में पाठ की अशुद्धियाँ हैं। उत्तरखण्ड में तो अत्यधिक हैं। सन् १९४६ में बम्बई में केदल प्रथम आध्वास श्री जे० एन० क्षीरसागर द्वारा अंग्रेजी टिप्पण आदि के साथ सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ था। सन् १९४६ में शोला पुर से प्रो० कृष्णकान्त त्रिपुठी का 'यशस्तिलक एण्ड

इंडियन कल्चर' प्रकाश में आया। इसमें प्रो० हन्दिनी ने यशस्तिलक की सांस्कृतिक विशेषकर धार्मिक और दार्शनिक सामग्री का विद्वत्पूर्ण अध्ययन और विश्लेषण प्रस्तुत किया है।

सन् १९६० में वाराणसी में प० सुन्दरलाल शास्त्री ने हिन्दी अनुवाद के साथ प्रथम तीन आध्यात्मों का सम्पादन करके प्रकाशन किया है। अन्त में लगभग उतने ही श्रीदेव के टिप्पण भी दे दिये हैं। इस संस्करण में सम्पादक ने मूल पाठ को प्राचीन प्रतियों में बहुत कुछ शुद्ध किया है।

पिछले ५-६ दशकों में पत्र-पत्रिकाओं में भी सोमदेव और यशस्तिलक पर विद्वानों के कई लेख प्रकाशित हुए हैं, जिनमें स्व० प० नाथूराम प्रेमी, स्व० प० गोविंदराम शास्त्री, डॉ० वी० राघवन तथा डॉ० ई० डी० कुलकर्णी के लेख विशेष महत्वपूर्ण हैं।

यशस्तिलक के अन्तिम तीन आध्यात्मों का प० कैलाशचन्द्र शास्त्री ने संपादन और हिन्दी अनुवाद किया है, जो भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी द्वारा सन् १९६४ के अन्त में उपासकाध्ययन नाम से प्रकाशित हुआ है। सम्पादक ने मूलपाठ को प्राचीन प्रतियों से बहुत कुछ ठीक किया है। प्रारम्भ में संपादक ने छद्मान्वे पृष्ठों की हिन्दी प्रस्तावना भी दी है। प० जिनदाम शास्त्री, सोलापुर ने श्रुतमाग्य सूरि की टीका की पूर्ति स्वरूप मस्कृत टीका लिखी है, वह भी इसके अन्त में मुद्रित हुई है।

यशस्तिलक पिछले लगभग दस वर्षों में मेरे विशेष अध्ययन का विषय रहा है। हिन्दू विश्वविद्यालय की पी-एच. डी. उपाधि के लिए लिखे गये शोध प्रबन्ध में मैंने इसकी सांस्कृतिक सामग्री का विवेचन किया है। मैंने भ्रमरक उम्र सामग्री का विवेचन किया है जिसके विषय में इसके पूर्व किसी ने भी प्रकाश नहीं डाला किन्तु जिसका उपयोग भागवतवर्ष की नवीन उपलब्धियों में किया जाना चाहिए।

अपने शोध-निष्कर्षों को मैंने सब पाच अध्यायों में समेटा है—

१. यशस्तिलक के परिशीलन की पृष्ठभूमि।
२. यशस्तिलककालीन सामाजिक जीवन।

३. ललित कलायें और शिल्प विज्ञान।

४. यशस्तिलककालीन भूगोल।

५. यशस्तिलक की शब्द-सम्पत्ति।

प्रथम अध्यायमें वह सामग्री दी गई है जो यशस्तिलक के परिशीलन की पृष्ठभूमि के रूप में अनिवार्य है। इस अध्याय में तीन परिच्छेद हैं। पहले परिच्छेदमें यशस्तिलक का रचनाकार, यशस्तिलक का साहित्यिक और सांस्कृतिक स्वरूप, यशस्तिलक पर अब तक हुए कार्य का लेखा-जोखा, सोमदेव का जीवन और साहित्य, सोमदेव और कन्नौज के गुर्जर प्रतिहार तथा देवस्य के विषय में संक्षेप में आवश्यक जानकारी दी गई है।

सोमदेव के जीवन और साहित्य का जो परिचय उपलब्ध होता है, उससे उनके उज्ज्वल पक्ष का ही पता चलता है। नीतिवाक्यामृत और यशस्तिलक उनकी उपलब्ध रचनाएं हैं। पणवतिप्रकरण आदि चार अन्य ग्रंथ अनुपलब्ध हैं।

नीतिवाक्यामृत के मस्कृत टीकाकार ने सोमदेव को कन्नौज के गुर्जर प्रतिहार नरेश महेन्द्रदेव का अनुज बताया है। यशस्तिलक के दो पद्य भी महेन्द्रदेव और सोमदेव के सम्बन्धों की ओर संकेत करते हैं। उनका अनुपलब्ध ग्रन्थ महेन्द्रमार्तन्मजल्प और सोमदेव का देवातनाम भी शायद इस ओर इंगित हैं। महेन्द्रपाल देव द्वितीय तथा सोमदेव के सम्बन्धों में कालिक कठिनाई भी नहीं आती। यशस्तिलक में राजनीति और शासन का जो विशद वर्णन है, उससे सोमदेव का विशाल राज्यतन्त्र और शासन में परिचय स्पष्ट है। इतनी सब सामग्री होने हुए भी मेरी समझ में सोमदेव को प्रतिहार नरेश महेन्द्रपाल देव का अनुज मानने के लिए अभी और अधिक ठोस साध्यों की अपेक्षा बनी रहती है।

यशस्तिलक चालुक्यवंशीय अरिकेसरी के प्रथम पुत्र वरग की राजधानी गगधारा में रचा गया था। अरिकेसरी तृतीय के एक दानपत्र से सोमदेव और चालुक्यों के सम्बन्धों का और भी दृढ़ निश्चय हो जाता है। चालुक्य वंश दक्षिण के महाप्रतापी राष्ट्रकूटों के अधीन सामन्त पदवी धारी था। यशस्तिलक राष्ट्रकूट संस्कृति को एक

विशाल दर्पण की तरह प्रतिबिम्बित करना है जिस तरह बाणभट्ट ने हर्षचरित और कादम्बरी में गुप्त युग का चित्र उतारने का प्रयत्न किया, उसी तरह सोमदेव ने यशस्तिलक में राष्ट्रकूट युग का।

सोमदेव देवसंघ के साधु थे। अरिकेसरी के दान पत्र में उन्हें गौण सघ का कहा गया है। वास्तव में ये दोनों एक ही सघ के नाम थे। देवसंघ अपने युग का एक विभिन्न जैनसाधु संघ था। सोमदेव के गुरु, नेमिदेव ने सैकड़ों महावादियों को वाग्युद्ध में पराजित किया था। सोमदेव को यह सब विरासत में मिला। यही कारण है कि उनके लिए भी वादीभेषचानन, नाकिक चक्रवर्ती आदि विशेषण प्रयुक्त किये गये हैं।

इस सम्पूर्ण सामग्री को प्रमाणिक साध्यों के साथ पहले परिच्छेद में दिया गया है।

दूसरे परिच्छेद में यशस्तिलक की संक्षिप्त कथा दी गई है तथा उसकी साम्प्रतिक पृष्ठभूमि पर प्रकाश डाला गया है। महाराज यशोधर के आठ जन्मों की कहानी का मूल यशस्तिलक के प्रासंगिक विस्तृत वर्णनों में कहीं खो न जाये, इसलिए संक्षिप्त कथा का जान लेना आवश्यक है।

कथा के माध्यम से सिद्धान्त और नीति की शिक्षा की परम्परा प्राचीन है। यशस्तिलक की कथा का उद्देश्य हिंसा के दुष्प्रभाव को दिखाकर जनमानस में अहिंसा के उच्च आदर्श की प्रतिष्ठा करना था। यशोधर को आटे के मुर्गों की बलि देने के कारण छह जन्मों तक पशुयोनि में भटकना पड़ा तो पशु बलि या अन्य प्रकार की हिंसा का तो और भी दुष्परिणाम हो सकता है। सोमदेव ने बड़ी कुशलता के साथ यह भी दिखाया है कि सकल्प पूर्वक हिंसा करने का त्याग गृहस्थ को विशेष रूप से करना चाहिए। कथावस्तु की यही साम्प्रतिक पृष्ठभूमि है।

तीसरे परिच्छेद में यशोधरचरित्र की लोकप्रियता का सर्वेक्षण है। यशोधर की कथा मध्ययुग से लेकर बहुत बाद तक के साहित्यकारों के लिए एक प्रिय और प्रेरक विषय रहा है। कालिदास ने अवन्ति के उदयन-कथा कोविद ग्रामबुद्धों की बात कही थी, यशोधर कथा के विशेषज्ञ मनीषी आठवीं शती के भी बहुत पहले से लेकर

लगभग आज तक यशोधर की कथा कहते आये। उद्योतन सूरि (७७७ ई०) ने प्रभजन के यशोधरचरित्र का उल्लेख किया है। हरिभद्र की समराड्चकहा में यशोधर की कथा आयी है। बाद के साहित्यकारोंने प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, पुरानी हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी, तमिल और कन्नड़ भाषाओं में यशोधरचरित्र पर अनेक ग्रन्थों की रचना की। प्र० १० ल० वैद्य ने जसहरचरित की प्रस्तावना में उत्तीर्ण ग्रन्थों की जानकारी दी थी। मेरे सर्वेक्षण से यह सख्या चौवन तक पहुँची है। अनेक शास्त्र भण्डारों की सूचियाँ अभी भी नहीं बन पायी। इसलिए संभव है अभी और भी कई ग्रन्थ यशोधर कथा पर उपलब्ध हों।

द्वितीय अध्याय में यशस्तिलककालीन सामाजिक जीवन का विवेचन है। इसमें बारह परिच्छेद हैं। परिच्छेद एक में समाज गठन और यशस्तिलक में उल्लिखित सामाजिक व्यक्तियों के विषय में जानकारी दी गई है। सोमदेव कालीन समाज अनेक वर्गों में विभक्त था। वर्ण-व्यवस्था की प्राचीन धार्मिक मान्यतायें प्रचलित थीं। समाज और साहित्य दोनों पर इन मान्यताओं का प्रभाव था। ब्राह्मण के लिए यशस्तिलक में ब्राह्मण, द्विज, विप्र, भूदेव, श्रोत्रिय, वाडव, उपाध्याय, मौढूँतिक, देवभांगी, पुरोहित और त्रिवेदी शब्द आये हैं। ये नाम प्रायः उनके कार्यों के आधार पर थे।

क्षत्रिय के लिए क्षत्र और क्षत्रिय शब्द आये हैं। पौरुष सापेक्ष और राज्य संचालन आदि कार्य क्षत्रियोंचित माने जाते थे।

वैश्य के लिए वैश्य, वणिक, श्रेष्ठ और सार्थवाह शब्द आये हैं। ये देशी व्यापार के अतिरिक्त टांडा बाघ-कर विदेशी व्यापार के लिए भी जाते थे। श्रेष्ठ व्यापारी को राज्य की ओर से राजश्रेष्ठी पद दिया जाता था।

शूद्र के लिए यशस्तिलक में शूद्र, अन्त्यज और पामर शब्द आये हैं। प्राचीन मान्यताओं की तरह सोमदेव के समय भी अन्त्यजों का स्पर्श वर्जनीय माना जाता था और वे राज्य संचालन आदि के अयोग्य समझे जाते थे।

अन्य सामाजिक व्यक्तियों में सोमदेव ने हत्तापुत्रजीवि, गोप, ब्रजपाल, गोपाल, गोध, तक्षक, मालाकार, कौलिक

ध्वजिन्, निपाजीव, रजक, दिवाकीर्ति, आस्तरक, सवाहक, धीवर, चर्मकार, नट या शैलूष, चाण्डाल, शबर, किरात, वनेचर और मातंग का उल्लेख किया है। इस परिच्छेद में इन सब पर प्रकाश डाला गया है।

परिच्छेद दो में जैनाभिमत वर्णव्यवस्था और सोमदेव की मान्यताओं पर विचार किया गया है। सिद्धान्त रूप से जैनधर्म में वर्णव्यवस्था की श्रान्तस्मात् मान्यताये स्वीकृत नहीं है। कर्मग्रन्थों में वर्ण, जाति और गोत्र की व्याख्या प्रचलित व्याख्याओं से सर्वथा भिन्न है। इसी प्रकार जैन ग्रन्थों में चतुर्वर्ण की व्याख्या भी कर्मणा की गयी है। सिद्धान्त रूप से मान्यताओं का यह रूप होने हुए भी व्यवहार में जैन समाज में भी श्रान्त-स्मान् मान्यताये प्रचलित थीं। इसलिए सोमदेव ने चिन्तन दिया कि गृहस्थ के लौकिक और पारलौकिक दो धर्म हैं। लोक धर्म लौकिक मान्यताओं के अनुसार तथा पारलौकिक धर्म आगमों के अनुसार मानना चाहिए। प्राचीन कर्मग्रन्थों से लेकर सोमदेव तक के जैन साहित्य के परिप्रेक्ष्य में इस विषय पर विचार किया गया है।

परिच्छेद तीन में आश्रम व्यवस्था और सन्यस्त व्यक्तियों का विवेचन है। आश्रम व्यवस्था की प्राचीन मान्यताएं प्रचलित थीं। ब्रह्मचर्य आश्रम की समाप्ति पर सोमदेव ने गोदान का उल्लेख किया है। बाल्यावस्था में सन्यस्त होने का निषेध किया जाता रहा है। पर इसके भी पर्याप्त अपवाद रहे हैं। यशस्तिलक के प्रमुख पात्र अभय रजक और अभयमणि भी छोटी अवस्था में प्रव्रजित हो गये थे। सन्यस्त व्यक्तियों के लिए आजीवक, कर्मन्दी, कापालिक, कोल, कुमारश्रमण, चित्रगिखडि, ब्रह्मचारी, जटिल, देशयति, देशक, नास्तिक, परित्राजक, पागशर, ब्रह्मचारी, भविष्य, महावनी, महामाहसिक, मुनि, मुमुक्षु, यति, यागज, यागी, वैखानस, शमितव्रत, श्रमण, साधक, साधु, और सूर्यशब्दों का प्रयोग हुआ है। इनमें से अधिकांश नाम अपने-अपने सम्प्रदाय विशेष को व्यक्त करने हैं। इनके विषय में संक्षेप में जानकारी दी गयी है।

परिच्छेद चार में पारिवारिक जीवन और विवाह की प्रचलित मान्यताओं पर प्रकाश डाला गया है। सोमदेव-कालीन भारत में संयुक्त परिवार प्रणाली का प्रच-

लन था। सोमदेव ने चिरपरिचित पारिवारिक सम्बन्ध पति, पत्नि, पुत्र, आदि का सुन्दर वर्णन किया है। बाल-क्रीडाओं का जैसा हृदयग्राही वर्णन यशस्तिलक में है, वैसा अन्यत्र कम मिलता है। स्त्री के भगिनी, जर्ननी, दूतिका, सहचरी, महानसकी, धातृ भार्या आदि रूपों पर प्रकाश डाला गया है।

यशस्तिलक में विवाह के दो प्रकारों का उल्लेख है। प्राचीन राजे-महाराजे तथा बहुत बड़े लोगों में स्वयवर की प्रथा थी। स्वयवर के आयोजन की एक विशेष विधि थी। माता पिता द्वारा जा विवाह आयोजित होता था, उनमें भी अनेक बातों का ध्यान रखा जाता था। सोमदेव ने बारह वर्ष की कन्या तथा सोलह वर्ष के युवक को विवाह योग बताया है। बाल विवाह की परम्परा स्मृति-काल में चली आयी थी। स्मृति ग्रन्थों में अरजस्वला कन्या के ग्रहण का उल्लेख है। अलवरक्षी ने भी लिखा है कि शास्त्रवर्ष में बाल विवाह की प्रथा थी। इस परिच्छेद में उस सम्पूर्ण सामग्री का विवेचन किया गया है।

परिच्छेद पाच में यशस्तिलक में आयी खान-पान विषयक सामग्री का विवेचन है। सोमदेव की इस सामग्री की त्रिविध उपयोगिता है। एक तो इससे खाद्य और पदार्थों की लम्बी सूची प्राप्त होती है, दूसरे दशमांशों में भारतीय परिवारों—विशेषकर दक्षिण भारत के पारिवारिक जीवन की खान-पान व्यवस्था का पता चलता है। तीसरे ऋतुओं के अनुसार सतुलित और स्वास्थ्यकर भोजन की व्यवस्थित जानकारी प्राप्त होती है। शकविद्या का १५५५ में भी सोमदेव ने पर्याप्त जानकारी दी है। शुद्ध और मसृग भेद में त्रेमठ प्रकार के व्यंजन बनाये जा सकते थे। सूपशाम्भ विषेयज पोरंगव का भी उल्लेख है। १५५५ पकौड़ी गरी खाद्य सामग्री में गावूम, यथ, दीर्घा, १५५५, शालि, कलम, यवनाल, चाँपट, सूत, मुद्ग, मांस, १५५५ माल तथा द्विदल का उल्लेख है। भोजन के साथ-साथ किस अनुपात में पीना चाहिए, जल को समुचित मात्रा में क्यों कहा जाता है, ऋतुओं के अनुसार वापी, कूप, कुण्ड, कतों का जल पीना उपयुक्त है, जल को सफाई कैसे करनी चाहिए, इसकी जानकारी विस्तार से दी गयी है।

मसालों में दरद, क्षपारस, मरिच, पिप्पली, ...

तथा लवण का उल्लेख है। स्निग्ध पदार्थ, गौरस तथा अन्य पेय सामग्री में घृत, आज्य, तेल, दधि, दुग्ध, नवनीत, तक्र, कलि, या अवन्ति, सोम, नारिकेलफलांभ पानक तथा शर्कराद्वय पेय का उल्लेख है। घृत, दुग्ध, दधि तथा तक्र के गुणों को सोमदेव ने विस्तार से बताया है। मधुर पदार्थों में शर्करा, शिता, गुड़ तथा मधु का उल्लेख है। भाग-सब्जी और फलों की तो एक लम्बी सूची आयी है—पटोल, कोहल, कारवेल, वृन्ताक, बाल, कदल, जीवन्ती, कद, किमलय, विस, वास्तूल, तण्डुलीय, चिल्ली, चिर्भटिका, मूलक, आर्द्रक, धात्रीफल, एवारु, अलाव, कर्कारु, मालूर, चक्रक, अग्निदमन, रिगणीफल, अगस्ति, आम्र, आम्रातक, पिचुमन्द, सोभाजन, वृहतीवार्ताक, एरण्ड, पलाण्डु, वल्लक, रालक, करेकुन्द, कौकमाची, नागरग, ताल, मन्दर, नाग-वल्ली, वाण, आसंन, पूग, अक्षोल, खर्जूर, लवली, जम्बीर, अदवत्थ, कपित्थ नमेरु, पारिजात, पनस, ककुभ, वट, कुरवक, जम्बू, ददंरीक, पुण्ड्रेक्षु, मृद्वीका, नारिकेल, उदम्बर तथा प्लक्ष।

तैयार की गई सामग्री में भक्त, मृग शकुली, समिध या समिता, यवाग्, मोदक, परमान्त, खाण्डव, रसान् अमिक्षा, पक्वान्त, अवदश, उपदश, सपिपिस्नात, अगार-पाचिन, दध्नापरिप्लुत, पयषा-विशुष्क तथा पर्पट के उल्लेख हैं।

मासाहार तथा मासाहार निषेध का भी पर्याप्त वर्णन है। जैन मासाहार के सौत्र विरोधी थे, किन्तु कौल-कापालिक आदि सम्प्रदायों में मासाहार धार्मिकरूप से अनुमत्त था। वध्य पशु-पक्षी तथा जलजन्तुओं में मेघ, महिष, मय, मातंग, मितदु, कुभीर, मकर, मालूर, कुलीर, कमठ, पाठीन, मेरुण्ड, क्रोच, कोक, कुक्कट, कुरर, कलहस, चमर, चमूर, हरिण, हरि, वृक, वराह, वानर तथा गोखुर के उल्लेख हैं। मासाहार का ब्राह्मण परिवारों में भी प्रचलन था। यज्ञ और आहुति के नाम पर मासाहार की धार्मिक स्वीकृति मान ली गई थी। इस परिच्छेद में इस मपूर्ण सामग्री का विवेचन किया गया है।

परिच्छेद छह में स्वास्थ्य, रोग और उनकी परिचर्या विषयक सामग्री का विवेचन है। खानपान और स्वास्थ्य का अनन्य संबंध है। जठराग्नि पर भोजन पान निर्भर

करता है। मनुष्यों की प्रकृति भिन्न भिन्न प्रकार की होती है। ऋतु के अनुसार प्रकृति में परिवर्तन होता रहता है। इसलिए भोजनपान आदि की व्यवस्था ऋतुओं के अनुसार करना चाहिए। भोजन का समय, सहभोजन, भोजन के समय वर्जनीय व्यक्ति, भोज्य और अभोज्य पदार्थ, विषयुक्त भोजन, भोजन करने की विधि, नीहार या मलमूत्र विसर्जन, अभ्यंग उद्वर्तन व्यायाम तथा स्नान इत्यादि के विषय में यशस्तिलक में पर्याप्त सामग्री आयी है। उम्र सबका इस परिच्छेद में विवेचन किया गया है।

रोगों में अजीर्ण, अजीर्ण के दो भेद विदाहि और दुर्जर, दृग्मान्य वमन, ज्वर, भगन्दर, गुल्म तथा सितदिवत के उल्लेख हैं। इनके कारणों तथा परिचर्या के विषय में भी प्रकाश डाला गया है।

औषधियों में मागधी, अमृता, सोम, विजया, जम्बूक, मुदर्शना, मरुद्भूव, अर्जुन, नकुल, सहदेव, अभीरु, लक्ष्मी, वृन्ती, नपस्विनी, चन्द्रलेखा, कलि, अर्क, अरिभेद, शिवप्रिय, गायत्री, ग्रन्थिपर्ण तथा पारदरस की जानकारी आयी है। सोमदेव ने आयुर्वेद के अनेक पारिभाषिक शब्दों का भी प्रयोग किया है। इस सब पर इस परिच्छेद में प्रकाश डाला गया है।

परिच्छेद सात में या यशस्तिलक में उल्लिखित वस्त्रों तथा वेशभूषा का विवेचन है। सोमदेव ने बिना सिले वस्त्रों में नेत्र, चीन, चित्रपटी, पटोले, रल्लिका, दुक्कल, अशुक तथा कौशेय का उल्लेख किया है। नेत्र के विषय में सर्वप्रथम डॉ० वामुदेवशरण अग्रवाल ने विस्तार से जानकारी दी थी। नेत्र का प्राचीनतम उल्लेख कालिदास के रघुवज का है। बाण ने भी नेत्र का उल्लेख किया है। वर्ण रत्नाकर में इसके चौदह प्रकार बताये हैं। चौदहवीं शती तक बंगाल में नेत्र का प्रचलन था। नेत्र की पाचुड़ी आंही और बिछायी जाती थी। जायसी ने पद्मावत में कई बार नेत्र का उल्लेख किया है। गोरखनाथ के गीतों तथा भोजपुरी लोकगीतों में नेत्र का उल्लेख मिलता है। चीन देश से आने वाले वस्त्रों को चीन कहा जाता था। भारत में चीनी वस्त्र आने के प्राचीनतम प्रमाण ईसा पूर्व पहली शताब्दी के मिलते हैं। डॉ० मोतीचन्द्र ने इस विषय पर

पर्याप्त प्रकाश डाला है। कार्लिदाम ने शाकुन्तल में चीना-शुक का उल्लेख किया है। वृहत्कल्पमूत्र में दसकी व्याख्या आयी है। चीन और बाह्यीक से और भी कई प्रकार के वस्त्र आते थे। चित्रपट सभवनया वे जामदानी वस्त्र थे, जिनकी बिनावट में ही पशु-पक्षियों या फूल-पत्तियों की भाँन डाल दी जाती थी। वाण ने चित्रपट के तकियों का उल्लेख किया है। पटोल गुजरात का एक विविष्ट वस्त्र था। आज भी वहाँ पटोला साड़ी का प्रचलन है। गलिका रल्लक नामक जगली बकरे के ऊन से बना वेग-कीमती वस्त्र था। युवागच्चाग ने भी इसका उल्लेख किया है। वस्त्रों में सबसे अधिक उल्लेख दुकूल के है। आचाराग तथा निशीथ-वर्ण में दुकूल की व्याख्या आया है। पोण्ड तथा सुवर्णकुण्या के दुकूल विविष्ट होते थे। दुकूल की बिनाई, दुकूल का जोड़ा पहनने का रिवाज, इस मिथुन लिखित दुकूल के जोड़े दुकूल के जाड़े पहनने की अन्य साहित्यिक साक्षी, दुकूल की साठिया, पलगपोल, तकियों के गिलाफ, दुकूल और धोम वस्त्रों में अन्न-ग्रो-समानता उत्थादि का इस परिच्छेद में पर्याप्त विवेचन किया गया है। अशुक एक प्रकार का महीन वस्त्र था। यह कई प्रकार का होता था। सफेद तथा रंगीन सभी प्रकार का अशुक बनता था। भारतीय और चीनी अशुक की अपनी-अपनी विशेषताएँ थी। काँजय कोशकार कीटों से उत्पन्न रेशम से बना था। इन कीड़ोंकी चार योनिया बतायी गयी है। उन्हीं के अनुसार काँजय भी कई प्रकार का होता था।

पहनने के वस्त्रों में सोमदेव ने कचुक, बारबाण, चोलक, चण्डातक, उष्णीष, कौपीन, उत्तरीय, चीवर, आवान, परिधान उपसंव्यान, और गुह्या का उल्लेख किया है। कचुक एक प्रकार के लम्बे कोट को कहा जाता था। और स्त्रियों की चोली को भी। सोमदेव ने चोली के अर्थ में कचुक का उल्लेख किया है। बारबाण पुटनों तक पहुँचनेवाला एक शाही कोट था। भारतीय वेशभूषा में यह सामानी ईगन की वेशभूषा में आया। बारबाण पहलवी भाषा का संस्कृत रूप है। शिल्प तथा मृष्मृतियों में बारबाण के अकन मिलते हैं। स्त्री और पुरुष दोनों बारबाण पहनते थे। बारबाण जिरहबस्तर को भी कहते थे, किन्तु

सोमदेव ने कोट के अर्थ में ही प्रयोग किया है। भारतीय साहित्य में बारबाण के उल्लेख कम ही मिलते हैं। चोलक भी एक प्रकार का कोट था। यह और कोटों की अपेक्षा गहरे अधिक लम्बा और ढीला बनता था। इसे सब वस्त्रों के ऊपर पहनते थे। उत्तर-पश्चिम भारत में नोके के समय चाला या चोलक पहनने का रिवाज अब भी है। भारत में चोलक सभवनया मध्य एशिया से शक लोगों के साथ आया और यहाँ की वेशभूषा में समा गया। भारतीय धर्म में इस प्रकार के कोट पहने मूर्तियाँ मिलती हैं। चण्डानक एक प्रकार का घघरीनुमा वस्त्र था। इसे स्त्री और पुरुष दोनों पहनते थे। उष्णीष पगड़ी को कहते थे। भारत में विभिन्न प्रकार की पगड़ियाँ बाधने का रिवाज प्राचीनकाल में चला आया है। छोटे चादर या दुपट्टा को कौपीन कहते थे। उत्तरीय ओढ़ने वाला चादर था। चीवर बाढ़ भिक्षुओं के वस्त्र कहलाते थे। आश्रमवासी साधुओं के वस्त्रों के लिए सोमदेव ने आवान कहा है। परिधान पुरुष की धोती को कहते थे। बुन्देलखण्ड की लोकभाषा में इसका परधानिया रूप अब भी सुरक्षित है। उपसंव्यान छोटे गोलों को कहते थे। गुह्या कछुटिया लंगोट था। इसतूलिका रई भरे गद्दे को कहा जाता था। उपधान तकियों के लिए बहु-प्रचलित शब्द था। कन्था पुगने कपड़ों को एक साथ मिलकर बनाई गई रजाई या गदरी थी। नमन ऊनी नमदे थे। निचोल बिस्तर पर बिछाने का चादर कहलाता था। सिचयोल्लोच चन्द्रातप या चदोवा को कहते थे। इस परिच्छेद में इन समस्त वस्त्रों के विषय में प्रमाणक सामग्री के साथ पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

परिच्छेद आठ में यशस्तिलक में उल्लिखित आभूषणों का परिचय दिया गया है। भारतीय अलकाशास्त्र की दृष्टि से यह सामग्री महत्वपूर्ण है। सोमदेव ने सिर के आभूषणों में किरीट, मौलि, पट्ट और मुकुट का उल्लेख किया है। किरीट, मौलि और मुकुट भिन्न-भिन्न प्रकार के मुकुट थे। किरीट प्रायः इन्द्र तथा अन्य देवी देवताओं के मुकुट को कहा जाता था। मौलि प्रायः राजे पहनते थे तथा मुकुट महासामन्त पट्ट सिर पर बाधने का एक विशेष आभूषण था, जो प्रायः सोने का बनता था। बृहत्संहिता में पाँच प्रकार के पट्ट बताये हैं।

कर्णभूषणों में सोमदेव ने अश्रुतंस, कर्णपूर, कर्णिका, कर्णात्पल तथा कुंडल का उल्लेख किया है। अश्रुतंस प्रायः पल्लव या पुष्पों के बनते थे। सोमदेव ने पल्लव, चम्पक, कचनार, उत्पल तथा कौरव के बने अश्रुतंसों के उल्लेख किये हैं। एक स्थान पर रत्नावतंसों का भी उल्लेख है। कर्णपुर पुष्प के आकार का बनता था। देशी भाषा में अभी इसे कर्णफूल कहा जाता है। कर्णिका तालपत्र के आकार का कर्णभूषण था। आजकल इसे तिकोना कहते हैं। उत्पल के आकार का बना कर्ण का आभूषण कर्णात्पल कहलाता था। कुण्डल, कुडमल तथा गोल बाली के आकार के बनते हैं। इनमें कानों को लपेटने के लिए एक पतली जंजीर भी लगी रहती थी। बुन्देलखण्ड में इस प्रकार के कुण्डलों का देहावली में अब भी रिवाज है।

मने में पहनने के आभूषणों में एकावली, काँठका, मौक्तिकदाम, हार तथा हारगण्टि का उल्लेख। एकावली मोक्षियों की इकहरी माला को कहते थे। सोमदेव ने इसे समस्त पृथ्वीमण्डल को वस मे करने के लिए आदेशमान्य के समान कहा है। गुप्त युग में ही विशिष्ट आभूषणों के विषय में अनेक किंवदंतियाँ प्रचलित हो गई थीं। एकावली के विषय में बाण ने एक रोचक किंवदन्ती का उल्लेख किया है। कठिका कठी को कहते थे। हार अनेक प्रकार के बनते थे। सोमदेव ने आठ बार हार का उल्लेख किया है। हारगण्टि संभवतया आगुल्फ लम्बा हार कहलाता था। मौक्तिक दाम मोतियों की माला को कहते थे।

भूजा के आभूषणों में अग्रद और केयूर का उल्लेख है। केयूर भूजा के शीर्ष भाग में पहना जाता था। अग्रद बहुत नुस्त होने के कारण ही संभवतया अग्रद कटलाना था। स्त्री और पुरुष दोनों अग्रद पहनते थे। कलाई के आभूषणों में कंकण और वलय का उल्लेख है। कंकण प्रायः सोने आदि के बनते थे और वलय सींग, हाथी दात या कच के। हाथ की अंगुली में पहना जाने वाला गान्धर्वल्ला उमिका कहलाता था। अंगुलियक भी अंगुली में पहना जाने वाला आभूषण था। कटि के आभूषणों में काँचो, मेखला रसना, सारमना तथा घर्षरमालिका का उल्लेख है ये सब करघनी के ही भिन्न-भिन्न प्रकार थे। मजीर, हिजीरक, तूपुर, तुलाकोटि और मसक पेटों में

पहनने के आभूषण थे।

इस परिच्छेद में इन सब आभूषणों के विषय में विस्तार से जानकारी दी गई है।

परिच्छेद नव में केश विन्यास, प्रसाधन सामग्री तथा पुष्प प्रसाधन की मुकुमार कला का विवेचन है। शिर धोने के बाद स्त्रियाँ सुगंधित घूप के घुएँ से केशों को घुपायित करती थीं। इससे केश भभरे हो जाते थे। भभरे केशों को अपनी रुचि के अनुसार अलकजाल, कुन्तलकलाप, केशपाश, चिकुरभग, धम्मिल्ल विन्यास, मौली, सीमन्त-सन्ति, वेणीदण्ड, जटाजूट या कबरी की तरह सवार लिया जाता था। केश सवारने के ये विभिन्न प्रकार थे। कला, शिल्प और मृण्मूर्तियों में इनका अकन मिलना है। इस परिच्छेद में इन सबका परिचय दिया गया है।

प्रसाधन सामग्री में अजन, अलक, कज्जल, अगुरु, ककोल, कुकुम, कर्पूर, चन्द्रकवल, तमालदलधूलि, ताम्बूल, पटवाम, मन, सिन तथा सिन्दूर का उल्लेख है। पुष्प प्रसाधन में पुष्पों के बने विभिन्न प्रकार के अलंकारों के नाम आये हैं। जैसे—अश्रुतंस कुबलय, कमल केयूर, कदलीप्रवाल मेखला, कर्णात्पल, कर्णपूर या कर्णफूल, मृणालवलय, पुन्नागमाला, बन्वूक तूपुर, शिरीष जघानकार, शिरीषकुसुमदाम, विचकिलाहारगण्टि तथा कुशक-मुकुलमृक। इन सबके विषय में प्रस्तुत परिच्छेद में जानकारी दी गयी है।

परिच्छेद दश में शिक्षा और साहित्य विषयक सामग्री का विवेचन है। बाल्यावस्था शिक्षा का उपयुक्त समय माना जाता था। गुरुकुल प्रणाली शिक्षा का आदर्श था। शिक्षा समाप्ति के बाद गोदान किया जाता था। शिक्षा के अनेक विषयों का सोमदेव ने उल्लेख किया है। अमृत-मति महारानी की द्वारपालिका को समस्त देशों की भाषा और वेश की जानकारी कहा गया है। तर्कशास्त्र, पुराण, काव्य, व्याकरण, गणित, शब्दशास्त्र, धर्माख्यान प्रमाणशास्त्र, राजनीति, गज और अश्व शिक्षा रथ, वाहन और जम्ब विद्या, रत्नपरीक्षा, संगीत, नाटक, चित्रकला, आयुर्वेद, युद्ध विद्या तथा कामशास्त्र शिक्षा के प्रमुख विषय थे। इन्द्र, जैनेन्द्र, चन्द्र, अपिशल, पाणिनि तथा पतंजलि के व्याकरणों का अध्ययन अध्यापन होता था। (क्रमशः)

(पृष्ठ ७२ का शेषार्थ)

—चूंकि युग के आदि ब्रह्मा भगवान् ऋषभदेव ने इस प्रकार कर्मयुग का प्रारम्भ किया था, इसलिये पुराण के जाननेवाले उन्हें कृतयुग के नाम से जानते हैं। कुतकृत्य भगवान् ऋषभदेव आषाढ़ मास के कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा के दिन कृतयुग का प्रारम्भ कर प्रजापति कहलाये।

ऋषभदेव ने जैन मान्यतानुसार कर्म की तरह धर्म का भी प्रचलन और उपदेश किया। उस समय कृतयुग था, जिसमें लोगों की प्रवृत्ति धर्म की ओर थी। जैन श्रमण मुनियों का सर्वत्र विहार था। यही बात भागवतकार कहते हैं। भागवत के उपर्युक्त श्लोको में “प्रायशः” शब्द विशेष उल्लेख योग्य है। उसका आशय यही है कि अधिकांश श्रमणों में ये गुण पाये जाते थे। प्रायः सभी श्रमणों का जीवन निष्पाप था। इसी प्रकार ऋषभदेव-काल की जनता के आचार-विचारों के सम्बन्ध में दोनों परम्परा एकमत हैं।

ब्रह्मोपनिषद् में भी पर ब्रह्म का अनुभव करनेवाले की दशा का जो वर्णन आया है, उसमें भी पहले कहे हुए आशय की पुष्टि होती है—

“श्रमणो न श्रमणस्तापसो न तापसः एकमेव तत् पर ब्रह्म विभाति निर्वाणम्।” —ब्रह्मोपनिषद्पृ० १५१

चतुर्थ संस्करण निर्णयसागर प्रेम।

श्रमण शब्द सर्व प्रथम ऋग्वेदके दशम मण्डल में उपलब्ध होता है। इस ऋचा में भी वृहदारण्यकोपनिषद् की तरह ध्यान की उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन किया गया है—

तृदिता अतृदितासो अत्रयोऽश्रमणा अभृथिता अमृत्यवः।
अनातुरा अजराः स्थामविण्णवः सुपविसो अतृथिता अतृण्णजः।^१

—ऋग्वेद १०।८।१४।११

(सायण) —अश्रमणाः श्रमणवर्जिताः अभृथिताः अन्यैरिगिथिलीकृताः अमृत्यवः अमारिताः अनातुराः अरोगाः अजराः जरारहिताः स्थामवथ । किञ्च अभविण्णवः उत्क्षेपणावक्षेपणगत्युपेताः हे आवाणः तृदिताः अन्येषां भेदकाः अतृदितास स्वयमन्येनाभिन्ताः सुपविस मुबलाः अतृथिता तृषा रहिताः अतृण्णजः निःस्पृहा भवथ।

हे आदरणीय ! अश्रमण आप श्रमण रहित, दूसरों के द्वारा शिथिल न किये जा सकने वाले, मृत्युवर्जित, रोग-

रहित, जरारहित और उत्क्षेपण-अवक्षेपण गतियुक्त हो। किन्तु आप भेदक (भेद विज्ञानी) किन्तु दूसरों से भेदन न किये जा सकने वाले, बलवान्, तृणारहित और निर्मोह हों।

विशेष—जिम चारित्र्यसे श्रमण कहलाता है, उससे मुक्त अर्थात् आत्मस्थ होने पर वह अश्रमण कहलाता है। शिथिल-लाचार रहित एवं मृत्यु, भय, बुढ़ापा, तृष्णा और लोभ से रहित कोई भी श्रमण तपस्वी अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल आत्म—ध्यान के बिना नहीं रह सकता अर्थात् छटा—सातवां गुण स्थान बदला करता है। किंच (अभविण्णवः उत्क्षेपणावक्षेपण गत्युपेता) बार बार ऊपर नीचे गुणस्थान में चढ़ता उतरता रहता है। तथा निर्मोही, निस्पृह, दुखों और सशयों में रहित, इन सब में बलवान् होने से वह आदर योग्य और सबसे भिन्न होता है।

श्रमण शब्द का अधिक महत्व रहा है। व्याकरण अत्यन्त अनिवार्य स्थिति में ही किसी शब्द विशेष के लिए नियम बनाने हैं, अन्यथा नहीं। किन्तु श्रमण शब्द के सम्बन्ध में व्याकरण ग्रन्थों में विशेष नियम उपलब्ध होता है। सर्वप्रथम शाकटायन ने ऐसा नियम बनाया है—

“कुमारः श्रमणादिना” —शाकटायन २-१-७८

श्रमण शब्द के साथ कुमार और कुमारी शब्द की सिद्धि विषयक यह सूत्र है। उस काल में “कुमार श्रमणा” जैसे पदलोक प्रचलित थे। यह शब्द मन्ना उस वापसी के लिए प्रचलित थी। जो कुमारी अवस्था में श्रमणा (आयिका) बन जाती थी। “श्रमणादि गणपाठ” के अन्तर्गत कुमार प्रवर्जिता, कुमार तापसी जैसे निष्पन्न शब्दों में यह सिद्ध होता है कि उस समय कुमारियाँ प्रव्रज्या ग्रहण करती थी, यह लोक विश्रुत था। भगवान् ऋषभदेव की ब्राह्मी और सुन्दरी दोनों पुत्रियों ने कुमारी अवस्था में ही श्रमणपद ग्रहण किया था। विवाह के लिए समुद्यत राजीमती भी नेमिनाथ द्वारा दीक्षा लेने पर श्रमण (आयिका) बन गई थी। तीर्थंकर नेमि-पाञ्च, वीरने भी

१ भरतम्यानुजा ब्राह्मी दीक्षित्वा गुर्वनुग्रहात्।

गणिनी पदमार्याणां मा भेजे पूजितामरैः॥

—महापुराण २४-१७५

कुमार श्रवस्थामें ही श्रमण दीक्षा वारण की थी। अस्तु—
स्वयं शकटायन श्रमण संघ के आचार्य थे—

“महाश्रमण संघाधिपतिर्यः शकटायनः ।”

—शकटायन व्याकरण चिन्तामणि टीका १
प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि ने कहा है—

“कुमारः श्रमणादिभिः” (अष्टाध्यायी २-१-७०)

येषां च विरोधः शास्वतिकः इत्यस्यावकाशः श्रमण-
ब्राह्मणम् ।” —पातंजल महाभाष्य ३-४-६

पाणिनि के इस सूत्र का यह उदाहरण है। जिनका शास्वत विरोध है, यह सूत्र का अर्थ है। यहां जो विरोध शास्वतिक बताया है, वह किसी हेतु विशेष से उत्पन्न नहीं हुआ। शास्वतिक विरोध मैदान्तिक ही हो सकता है क्योंकि किसी निमित्त से पैदा होने वाला विरोध उस निमित्त के दूर होने पर समाप्त हो जाता है। परन्तु महर्षि के “शास्वतिक” पद से यह सिद्ध होता है कि श्रमणों और ब्राह्मणों का कोई विरोध है, जो शास्वतिक है। इस आशय से हम इस निर्णय पर पहुँच सकते हैं कि ब्राह्मण वैदिक धारा का प्रतिनिधित्व करते हुए, एकेश्वरवाद तथा ज्ञान से मुक्ति मानते हैं तथा श्रमण

परंपरा अनेकेश्वर तथा अनेकान्त के साथ तप मे, श्रम से जिसकी मूल संगति आचार (सम्यक् चारित्र्य) के साथ है, मोक्ष मानती है। यही उनका शास्वतिक विरोध है। वास्तव में तो ज्ञान और क्रिया का एकायन ही मोक्षहेतु है। “ज्ञान क्रियाभ्या मोक्षः” इति सर्वशेषोपदेशः।

—मूत्रार्थ मुक्तावली ८५

ब्राह्मणा भुजते नित्यं नाथवन्तश्च भुजते ।

तापसा भुजते चापि श्रमणाश्चैव भुजते

बाल्मीकि रामायण वा० १.८।१२

वहां नित्य प्रति बहुत मे ब्राह्मण, नाथवन्त, तपस्वी और श्रमण भोजन करते थे।

“मोहनजोदरो से उपलब्ध ध्यानस्थ योगियों की मूर्तियों की प्राप्ति में जैनधर्म की प्राचीनता निर्विवाद सिद्ध होती है। वैदिक, युग में ब्राह्मणों और श्रमण—जानियों की परम्परा का प्रतिनिधित्व भी जैनधर्म ने ही किया। धर्म, दर्शन, संस्कृति और कला की दृष्टि से भारतीय इतिहास में जैनधर्म का विशेष योग रहा है।”

—श्री वाचस्पति गैरोला, प्रयाग

भारतीय दर्शन पृ० ६३

कविवर देवीदास का पदपंकत

डा० भागचन्द जैन, आचार्य, एम. ए., पो-एच. डो.

जैसा मैंने पिछले अंक में लिखा था, कविवर देवीदास के दो ग्रन्थ परमानन्द विलास और पदपंकत लिपिकार श्री प० प्रागदास तिवारी के द्वारा एक ही ग्रन्थ में संग्रहीत कर दिये गये हैं। उन्होंने ४८वें पृष्ठ पर परमानन्द विलास की समाप्ति की घोषणा कर दी और तुरन्त ही उसी पृष्ठ पर पदपंकत का लेखन प्रारम्भ कर दिया। परमानन्द विलास की तरह यह ग्रन्थ भी कवि की विभिन्न कालों में की गई रचनाओं का संग्रह मात्र है। परन्तु काल की इस विभिन्नता से काव्य में किसी भी प्रकार की विरसता अथवा प्रवाहहीनता नहीं आ पायी।

प्रायः समूचे ग्रन्थ में टेकों का उपयोग किया गया है।

प्रारम्भ भी टेक से ही हुआ है जिसे सापुनयम कीली कहा है।

नाभिनन्दन चरन सेवहु नाभिनन्दन चरन ।

तीन लोक संसार सांचे देव तारन तरन ॥टेका॥

धनुष सँ तन पांच सोभित विमल कंचन चरन ।

कामदेव सो कोट लाज ॥ गोट रवि छवि हरन ॥ से० १ ॥

भक्तितवंत सोपुर् घतिनके सत श्वेताकरन ।

ऊच गति कुल गोत उत्तम लहत उमि चरन ॥ से० २ ॥

मान कर भव भय सुभवन जन आन लेत सो सरन ।

देवीदास सो बेत पानी युक्त तरवर जन ॥ सेवहु ३ ॥

परमानन्द विलास में जो भाव और भाषा का गांभीर्य

दिखाई देता है वह पदपंकज में नहीं मिलता। वहाँ जैसा विषयवार विवेचन है वह भी यहाँ नहीं। इसका मुख्य कारण शायद यह हो सकता है कि कवि की ये फुटकर रचनाएँ हैं। बीच में जहाँ कहीं रचनाकाल भी दिया गया है। जैसे पृ० ५८ पर सं० १८२४ जेठ वदी ५ लिखा है। इसके बाद संवत् ४३ लिखा है जो १८४३ का संक्षिप्त रूप होगा। पृ० ७८ पर एक रचना के बाद संवत् १८७ लिखा है। लिपिकार की भूल से इसका अन्तिम अक्षर छूट गया जान पड़ता है। परन्तु यह तो निश्चित किया ही जा सकता है कि यह काल संवत् १८७१ से १८७६ तक कोई भी होगा। उससे यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कविवर देवीदाम संवत् १८८० तक रचनाएँ लिखते रहे। इसके बाद की उनकी रचना अभी तक कोई नहीं मिली। परमानन्द विलास के बुद्धि वावनी के अन्तिम पद्य में रचनाकाल म० १८१८ जैत्रवदी प्रतिपदा गुरुवार लिखा है। इसे यदि तीस वर्ष की अवस्था में भी लिखा गया माना जाय तो देवीदाम का स्थितिकाल लगभग संवत् १७८० से १८८० तक मिट्ट होगा।

अध्वेय प० परमानन्द जी शास्त्री प्रारम्भ से ही प्राकृत अपभ्रंश और हिन्दी के प्राचीन कवियों के विषय में बहुत लिखते रहे हैं उन्होंने अनेकान्त के वर्ष ११ किरण ७-८ सितम्बर अक्षर, १९५२ के अंक में “बुन्देलखण्ड के कविवर देवीदाम” नामक शीर्षक से एक लेख लिखा था। उसमें उन्होंने कवि के विषय में अनेक प्रचलित किंवदन्तियों का उल्लेख किया है जिनका परमानन्द विलास के कविवरों के सन्दर्भ में भी देखा जा सकता है। शास्त्री जी को उस समय कविवर देवीदाम के कुल दो ग्रन्थ मिले थे—चतुर्विंशति जिनपूजा और परमानन्द विलास। पिछले अंक में मैंने अपने लेख “कविवर देवीदाम का परमानन्द विलास” में कवि के वर्तमान चौबीसी विधानपूजा, परमानन्द विलास और पदपंकज इन तीन ग्रन्थों का उल्लेख किया था। वर्तमान चौबीसी विधानपूजा वही है जिसका उल्लेख शास्त्रीजी ने चतुर्विंशति जिनपूजा के नाम से किया है। शास्त्रीजी ने इस ग्रन्थ के विषय में अधिक नहीं लिखा और मेरे पास भी इस समय उसकी कोई प्रति नहीं इसलिए दोनों प्रतियों में तुलना करना सम्भव नहीं।

द्वितीय ग्रन्थ परमानन्दविलास की प्रति में अवश्य अन्तर दिखाई देता है। शास्त्रीजी ने जिस प्रति का उल्लेख किया है उसमें उन्हें कुल २४ रचनाओं का संग्रह मिला था। और मैंने जिस प्रति का उल्लेख किया है उसमें २८ रचनाओं का संकलन है। मीतलाष्टक, सरधान पञ्चीसी, कपायावलोकन पञ्चीसी और पचमकाल की विपरीत रीति ये चार विषय अधिक हैं। इसके अतिरिक्त पद्य सख्या में भी अन्तर है। कविका तृतीय ग्रन्थ पदपंकज है जो शायद अभी तक अपरिचित रहा है। इनके अतिरिक्त कवि के और भी ग्रन्थ होंगे जो किन्हीं मन्दिरों और भण्डारों में अभी भी किसी शोधक की गह देखते होंगे।

पदपंकज भी कवि की अन्तःपुकार का परिणाम प्रतीत होता है। उसमें उन्होंने रामकली, स्याल, ध्रुपद आदिका उपयोग कर १२४ कवित्त लिखे हैं। विषय का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है।

कवि की प्राध्यात्मिक रसिकता “भगतिमह चित्त बेन प्रभ नेरी” आदि जैसे पद्यांशों से स्पष्ट है। निजतत्त्व का श्रद्धान न होना अथवा आत्मिक शक्ति का आभास न होना ही संसार भ्रमण का कारण है। अनन्त काल से विषय वासनाओं में रमण करने हुए भी जीव को उनसे सन्तोष नहीं हुआ। उसका कविको बड़ा दुःख और आश्चर्य है—
तु जीय रे निज तत कौन भयो सरधानी ।
काल बहुत भटकत गये तो ये सौंज बिरानी ॥ टेक ॥
मिथ्या मय करके मतो गुरु सीख न मानी ।
ताप और न दूसरी जग मांहि अलहानी ॥ १॥
जब जब जिय गति में गयो अपनी करमानी ।
उर अंतर लोचन बिना दरसी न निसानी ॥ २॥
पर परमति रचि ज्यों तज्यो पावक जुत पानी ।
धाय धाय विषयन लग्यो ब्रसना न बुझानी ॥

काल के गाल में वसना हुआ भी जीव मंचेत नहीं होता। आज और कल करते हुए, मारा जीवन बिना धर्म पालन करते हुए, व्यतीत कर देता है।
वसत काल के गाल में जगजीव नर्सगो ।
हेय सहज समझ नहीं अथवत दिन अंगो ॥ टेक ॥
छिन-छिन प्रति तन छवि घटे दिन आवत नौरी ।
जगम मरन लख और की बेतति न सवेरी ॥ १॥

धन कारन डोलत फिरी जीवन मद भूलौ ।
छिन संतोष न मन धरं दुध ज्यों झूलौ ॥२॥
विषया रसकौ लोलुपी गुन आन न झेलं ।
कर्म कलंदर वस परी भरकट सम खेलं ॥३॥
तिन निज गुन साधर गहौ उर अन्तर जागौ ।
देवीदास मुकाल के बसतें बच भागौ ॥४॥

आत्मा के स्वरूप का विवेचन निम्न पक्तियों में देखिए—

आत्म तत्त्व विचारौ सुधी, तुम आत्म तत्त्व विचारौ ।
बीतराग परिनामन कौ करि विकल्पता सब डारौ ॥

सुधी तुम आत्म तत्त्व विचारौ ॥ टेक ॥

दरसन ज्ञान चरनमय चासुर सो निहचं उर धारौ ।
निज अनुभूति समान चिदानंद हीन अधिक न निहारौ ॥१॥
सुर दुरगंध हरित पीपरी दुत सेत असन पुन कारौ ।
कीमल कठिन चिकन रूक्ष सु-सव पुद्गल दरव पसारौ ॥२॥
सीत उसन हलकौ पन भारी कटु कामल मधुरारौ ।
तिक्त कसाय लगन सु अचेतन सो नहि रूप निहारौ ॥३॥
आप निकट घट माहि बिलोकहु सो सब देखन हारौ ।
देवीदास होहि इहि विधि सौ जड़ चेतन निरवारौ ॥४॥

इसके बाद वर्तमान चौबीस तीर्थंकरों के नामों को छन्दोबद्ध करके कवि ने विमलनाथ भगवान की विशेष रूप से मृत्यु की है और उसमें भक्तिरस का आकलन किया है। उदाहरणतः

तुम प्रभु जू पुकारत हों । सुहित अपनी विचारत हों ।
कर्म बारी सो तुम नासैं । तुम जब ज्ञान गुन भासैं ।
धरौ निज भक्ति उर तेरी । हरौ अब आपदा मेरी ।

तप का महत्त्व मुक्ति प्राप्त करने तक है। तीर्थंकर वनैरह ने तप के ही माहात्म्य से मोक्षपद पाया है। “तप सबकौ हितकारी जगत में” यह उसकी मुख्य पक्ति है। धर्मगीता में “ई भात धर्म सौ लागी जी जात धरी जाहा असही” इस टेक के साथ आठ पद्य हैं जिनमें कवि ने परम्परानुसार धर्म के स्वरूप का चित्रण किया है। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को प्रमाण मानकर चलना, पञ्च पापादिक से दूर रहकर दयादिक पालना, णमोकार मन्त्र

का जपन करना, पूजन करना आदि धर्म बताया है। इसके बाद जिन वचन का रसायन मान कर प्रत्येक व्यक्ति से उसके पान करने का आग्रह किया है—

जिन वचन रसायन पीजें जी ।

अमृत तुल स्वाद जाकं विषय मुख बम दीजें जी ।

परम अतीव्रिय मुख कौ कारन अनुभववरस उर भीजें जी ॥

जनम जरा मरनो त्रिवोष यह सो स्वयमेव हि छीजें जी ।

देवीदास करजकर मनको सूरवीर होइ दीजें जी ॥

कवि ने प्रत्येक व्यक्ति के लिए परिग्रह की एक सीमा निश्चित की है जिसके पान करने वाले को ‘बैठे देवीदास भारी धरम जिहाज में’ कहा है।

भूम कोस सें सु एक व्योपार के निमित्त जाय,

पांस रुपैया रोक पांचसं की गहनौ ।

तीस मानी नाज चार दुवती बनावं ग्रेह,

भाजन सुमन डेढ सें न और चाहनौ ॥

ताही जमा मं ते बीस चौमना रुई कम,

सिगुर गौन नौन जार बारा गौ न लहनौ ।

आठ मन घोऊ मन एक तेल के प्रमान,

राखें ना सिवाय आप करकं बिसहनौ ॥१॥

+ + + +

राखें दस पलिंग बिछौना बसहि उडोना

दस ही सुगंडुवे सुपंतौ दस जाजमें ।

घोरी एक महिषी सु दोय गौयें चार बल

चार ही छेरी एक विसावें सु साजमें ॥

बीस चर जूती दोय दूसरी ना करं जोय

अदत्ता ना लैहि थूल आपनी समाजमें ।

इतनी प्रतिज्ञा करिकं सुभवसागरमें बंठे

‘देवीदास’ भारी धरम जिहाज में ॥२॥

+ + + +

कुपरा कोरी बीस जी कर खरीद निदान ।

रगबावें ना धुआवही वनज हेत दिक थान ॥

लाख लील सन मन लोह सावन अरसी सौ ।

सोरा बिष हथियार नाज बीघे सुन पीसे ।

महवा गुली तिली हेत भंड सार ना गखें ॥

क्योंपार वे माफिक लंह वनज की नाही नाखं
संस फोर खटीक चमार धीवर पुन सु हलालिया ।
इनसो उधार करे न कबहुं लंह बंह लो हालीया ॥२॥

+ + + +
तीरय जल विवाहमे, लगे वड़े जो बर्ब ।
तीरय जल विवाह की नही मृजावा सर्व ॥
जोभष्टि करिके जो ही जा मृजाव तज देह ।
ताको फल यह जगत में नकविक खूब लेह ॥१॥
पाग परदनी धोवती खोर पिछौरी आवि ।
छोडि बंहरक सुबो वही बवं तज मृजाव ॥२॥
वस्त्र पुरानी जानके धोवत रंग न लेह ।
थोरो मोल विसाहक बड़ती भावो ना देह ॥३॥
जाको नही प्रमान कछु बसा लंह कर कौल ।
टका रुपया की कलग देत लेत में तौल ॥४॥

इन पद्यों में कुब्जलखण्डी बोली का तात्कालिक रूप और भी स्पष्ट हो जाता है। नाज, विछोना, वनज, खटीक, हलालिया, परदनी, पिछौरी आदि शब्द तो आज भी उसी रूप में हैं जिस रूप में १८-१९वीं शती में थे। भाषा की दृष्टि से इसलिए प्रस्तुत ग्रन्थ का और भी महत्व समझना चाहिए।

इसके बाद क्रोध, मान, कपट (माया) कृपणता (लोभ) इन चार कपायों पर सुन्दर कवित्व लिखे हैं और इसी सन्दर्भ में जिनमत को "मारग मुक्त की मुगुन धैनी" कहकर मानव जन्म और जैनधर्म दोनों की दुर्लभता का व्याख्यान किया है। आगे दानपूजा को "मुक्तिपुर की गली" कह कर जैनधर्म का पालन करने के लिए मनाह दी गई है।

श्रूवन क्षेत्र के विषय में कवि ने एक दादरा लिखा है। संभव है, यह उसका प्रिय क्षेत्र रहा हो।

चलत भव क्यों नाही विघन हरन श्रूवन ।
अति उन्नति जिन प्रतिमा जाकी बरन सकै छवि कौन ॥१॥
जो अपनो निज चहत सुधारयो या भव परभव दोन ॥२॥
इह यही काल बिषे तुम काज मुक्त महल को सौन ॥३॥
देखत दूर होत विकल्प सब अति परमानंद भौन ॥४॥
जा परसाद होत सुभ कारज अशुभ करम कर बौन ॥५॥
देवीदास कहत लतापुर ये गुन काज निरीन ॥६॥

कवि कर्मों को अत्यन्त निर्देयी मानता है। कर्मों की विविध स्वांग-रचना के कारण ही व्यक्ति की आत्मनिधि खो जाती है और उसे ससार में भटकना पड़ता है। इससे मुक्त होने के लिए स्याद्वाद में पगी हुई जिनवाणी के माध्यम से आत्म द्रव्य को पहचानना चाहिए। यह क्रिया अत्यन्त सरस, मधुर, अगोचर और अनुपम है। आतम रस अति जीठो साथो भाई आतम रस अति सीठो। स्याद्वाद रसना बिन जाको मिलत न स्वाद गरीठो ॥६॥ पीवत होत सरस मुख सो पुनि बहुरि न उलट पुलीठो। अचरज रूप अनूप अपुरव जा सभ और न ईठो ॥

साधो भाई ॥१॥

तिन उत्कृष्ट द्रष्ट रस चाखो मिथ्यामति दे पीठो।

तिन्ह को द्रव नरेंद्र आदि मुख सो सब लगत न सीठो ॥

साधो भाई ॥२॥

आनंद कंद सुछंद होयकार भुगतन हार पटीठो।

परम सुधा सुसर्म इक पर सत जनम जरावि न चीठो ॥

साधो भाई ॥३॥

बचन अतीत सुनीत अगोचर स्वादत फिर न उबीठो।

देविदास निरक्षर स्वारय अंतर के द्रव जीठो ॥

साधो भाई ॥४॥

देवीदास मूलतः भक्ति रस के कवि है। कहीं उन्होंने आत्मदर्शन करने का प्रयत्न किया है और कहीं भगवद्दर्शन का। आत्मदर्शन का प्रयत्न करते समय उससे विमुख रहने के कारणों पर विचार किया है और भगवद्दर्शन का विवेचन करते समय छवि की सुन्दरता का आख्यान किया है। इसी में कवि मुख्य और आनन्द की कल्पना करता है—

पुन नटय मूरत देख मुख पायो में प्रभ तेरी।

एक हजार आठ गुन सोभित लछन सरस सुहायो।

मे प्रभ तेरी मूरत देख मुख पायो ॥६॥

जनम जनम कित अशुभ करम को रिन सब तुरत सुकायो।

परमानन्द भयो परपूरत ग्यान घटा घट छायो ॥१॥

अति गंभीर गुन ठान वाद तुम मुख कर जात न गायो।

जाके सुने सरदहत प्राप्नो करम फंदा सुरसायो ॥२॥

विकल्पता नस गई अब मेरी निज गुन रतन मजायो।

जात हतौ कौडी के पलट जब लग परख न आयो ॥३॥

पर परनाम कुग्राम बास तज आतम नगर बसायो।

देवीदास अद्वैत भाव घर हाथ जोर सिर नाथी ॥४॥

भगवज्जिनेन्द्र के दर्शन के बिना कवि विह्वलता का अनुभव करता है। आश्रवका मूल उसकी दृष्टिमें भगवद्दर्शन के प्रति अरुचिभाव ही है। यहां कवि की आलोचक दृष्टि प्रग्वर हो जाती है। और उसे दुःख व आश्चर्य होता है कि व्यक्ति अभी तक आत्म बचक क्यों बना रहा? उसे अभी तक हेयोपादेय का ज्ञान क्यों नहीं हुआ? इसे कवि ने भौदू-पन की संज्ञा दी है। भौदू जब लघु आई तो को समझ नहीं इस भौदूपन को दूर करने के लिए कवि ने श्रद्धा ज्ञान और चरित्र के साथ-साथ सोनगिरि, शिखर सम्मेद, गिरिनार, कुण्डलपुर आदि जैसे पवित्र तीर्थ क्षेत्रों की बन्दना करने को कहा है। इनमें भी सायद कुण्डलपुर, महावीर और सोनगिरि की वन्दना करना उसे अधिक प्रिय था—कुण्डलपुर महावीर चलो भव बंदिये जू। बंदिये पाप निकदिये जू। इस प्रकार सोनगिरि के विषय में लिखा

है—सिउणागिर बड़ी क्षेत्र चली बदन को, बंदन को कर्म पाप निकदन को ॥ इसके बाद पुनः धर्म का महत्त्व दिया है। धर्मपालन करनेके बिना चतुर्गति में भटकना पड़ेगा—धर्म विन तू बैल हुहै। इसी प्रसंग में दर्शन और पूजन के विषय में भी कवित्त लिखे हैं। अन्तिम कवित्त है धर्मगीत—सुन लाला रे जिन मत की बातें कान दे। इसके अन्त में लिखा है—इती पद पंकत संपूर्ण। संवत् १९३५ माघ वदि १२ लिखतं पं० श्री प्रागदास तिवारी जी। पन्ना ७८.

इस प्रकार बुन्देलखण्ड के कविवर देवीदास का प्रस्तुत ग्रन्थ है पदपंकत भाव और भाषाकी दृष्टि से अत्यन्त महत्व पूर्ण है। कवि संस्कृत भाषा से परिचित है फिर भी उसने बुन्देलखण्डी बोली में अपने भाव व्यक्त किये हैं। इसलिए उस समय की और आज की बोली जाने वाली बुन्देलखण्डी बोली पर भाषा विज्ञान की दृष्टि से विचार करने के लिए यह ग्रन्थ पर्याप्त सहायक होगा, ऐसा मेरा विदवास है।

साहित्य-समोक्षा

१. श्री मद्राजचन्द्र और भक्तिरत्न—लेखक प्रेमचन्द्र रवजी भाई कोठारी, अनुवादक डा० जगदीशचन्द्र प्रकाशक, प्रेमचन्द्र रवजीभाई कोठारी ब्लाक नं० ६ महात्मा गांधी रोड, षटिकोपर, बम्बई ७७। मूल्य ६) रुपया।

प्रस्तुत कृति श्रीमद्राजचन्द्र की जयन्ती के उपलक्ष्य में निकाली गई है। श्रीमद्राजचन्द्र भी संत परम्परा में हुए हैं। सन् १९२४ में उनका जन्म काठियावाड में हुआ था। लघुवय में ही उन्होंने तत्त्वज्ञान की प्राप्ति की थी। उनकी स्मरण शक्ति आश्चर्यजनक थी। कोई भी बात एक बार देखने सुनने से उनके हृदय पटल पर अंकित हो जाती थी। वे हीरे जवाहरात के कुशल व्यापारी थे। किन्तु लौकिक महत्त्वकांक्षाओं से अत्यन्त दूर रहते थे। दुनिया की मात्र प्रतिष्ठा को उन्होंने कभी स्वीकार नहीं किया, किन्तु उन्होंने लोकेपणा से रहित होकर लौकिक कर्तव्यों का पालन किया। उनकी आन्तरिक वृत्ति आत्म-स्वरूप की ओर थी। वैराग्य और उपशम भाव की ओर

उनकी प्रवृत्ति निरन्तर बढ़ती जाती थी। वे कहा करते थे आज दुनिया में भूट, फरेब, अहंकार और छल कपट की प्रवृत्ति बढ़ रही है। उसको देखकर उनका हृदय अत्यन्त व्यथित होता था, इनसे हटकर आत्मधर्म की ओर प्रवृत्ति करना वे श्रेयस्कर मानते थे। जिसने स्वयं कल्याण मार्ग में प्रवृत्ति करते हुए दूसरों के सामने कल्याण का मार्ग प्रशन्न किया, जीवन के लिए उपयोगी चर्चा वार्ताओं का मकलन किया। ऐसे महापुरुष की जयन्ती मनाना अत्यन्त उपयोगी है। उससे मुमुक्षुओं को आत्म गुणों के विकास से सहायता मिलती है। पुस्तक में रामचन्द्रजी के परिचय के अतिरिक्त उनके बाद में उस परम ज्योति को उज्ज्वलित करने वालों का भी परिचय दिया हुआ है। मुमुक्षुओं में मगाकर अवश्य पढ़ना चाहिए।

२. जैन ग्रन्थ भण्डाराज इन राजस्थान—डा० कस्तूर चन्द कासलीवाल, प्रकाशक श्री गौदीलाल शाह एडवोकेट

मंत्री श्री दि० अतिशय क्षेत्र महावीर जी, जयपुर ।
मूल्य १५) रुपया ।

यह एक शोध प्रबन्ध है । इस पर कस्तूरचन्द जी कासलीवाल को पी. एच. डी. की डिग्री राजस्थान विश्व-विद्यालय ने प्रदान की है । प्रबन्ध की भाषा अंग्रेजी है, किन्तु उद्धरण सभी संस्कृत हिन्दी में दिये गए हैं । ग्रन्थ छह अध्यायों में विभक्त है । प्राथमिक कथन में ग्रन्थ लेखन आदि के सम्बन्ध में विस्तृत एवं जानने योग्य प्रकाश डाला गया है । कागज, स्याही, लेखन, लिखित प्रानि की सुरक्षा और वेष्टन आदि के विषय में लिखा गया है । दूसरे अधिकार में ग्रन्थ भण्डारों की स्थापना पर प्रकाश डालने हुए उत्तर और दक्षिण भारत के भण्डारों का परिचय दिया गया है । तीसरे में राजस्थान के (अजमेर जोधपुर, बीकानेर, उदयपुर और कोटा डिवीजन के) जैन ग्रन्थ भण्डारों का विस्तृत परिचय दिया है । चतुर्थ अधिकार में आमेर आदि जैन ग्रन्थ भण्डारों की ऐतिहासिक महत्ता पर प्रकाश डाला गया है । पाचवें में जैन ग्रन्थ भण्डारों में उपलब्ध शोध-सामग्री, ग्रॉट और प्रिन्टिंग का विवेचन किया है । और छठवें में अनुसन्धान की सामग्री या मूल्य आकते हुए हिन्दी राजस्थानी भाषाओं के लेखकों की रचनाओं का भी परिचय दिया गया है । अन्त के परिशिष्ट तो बहुत हैं उपयोगी है । डा० हीरालाल जी

ने अपने प्राक्कथन में कासलीवाल के इस शोध प्रबन्ध की बहुत प्रशंसा की है । इस तरह जहाँ यह शोधप्रबन्ध अन्वेषक विद्वानों के लिए महत्त्व की सामग्री प्रदान करता है वहाँ राजस्थानीय ग्रन्थ भण्डारों में प्राप्त दुर्लभ सामग्री का भी परिचय मिल जाता है । महावीर तीर्थ क्षेत्र कमेटी का यह कार्य अन्यान्य प्रशंसनीय है । सञ्चालकों को चाहिए कि वह ऐसे ग्रन्थों को भण्डार कर संरक्षित करें ।

३. युक्त्यनुशासन पूर्वाधिकार—प्रस्तावक क्षुल्लक दीपल-सागरजी और अनुवादक प० मूलचन्द जी शास्त्री, प्रकाशक दि० जैन पुस्तकालय सांगानेर (राजस्थान) मूल्य ७५ पैसे ।

आचार्य समन्तभद्र के युक्त्यनुशासन (वीरस्तवन) की ३२ कारिकाओं का विस्तृत हिन्दी विवेचन है । आचार्य विद्यानन्द की संस्कृत टीका के आधार पर उसका विवेचन किया गया है यदि इसमें मूल कारिकाओं के साथ संस्कृत टीका और लगा दी जाती और कारिका में आये हुए दार्शनिक मन्त्रों का ऐतिहासिक दृष्टि से तुलनात्मक विवेचन किया जाता और ग्रन्थ को एक ही भाग में रखा जाता तो यह निम्नन्देह विशेष लाभ प्रद होता । साथ में प्रस्तावना भी आजकल के दृष्टिकोण के अनुसार होना चाहिए । उसमें साहित्य की महत्ता का सहज ही बोध हो जाता है । छपाई सफाई साधारण है, ग्रन्थ मंगाकर अवश्य पढ़ना चाहिए ।

अनेकान्त के २०वें वर्ष की विषय-सूची

१ अग्रवालों का जैन संस्कृति में योगदान—

परमानन्द शास्त्री ६८, १७७, २३३

२ अलोप पार्वनाथ प्रसाद—मुनि कान्ति सागर ११

३ आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र पर एक प्राचीन

दिग्दर्शक टीका—श्री जुगलकिशोर मुख्तार १०७

४ अत्मनिरीक्षण—परमानन्द शास्त्री २३३

५ आत्म विद्या क्षत्रियों की देन—मुनिश्री नथमन १६२

६ एलिचपुर के राजा श्रीपाल उर्फ ईल—

नेमचन्द धनूसा जैन २५२

७ ऋषभ जिन स्तोत्रम्—मुनि श्री पद्मनन्दि ४६

८ कविवर देवीदाम का परमानन्द विलास—

डा० भागचन्द जैन एम. ए. पी. एच. डी. २८२

९ कविवर प० श्रीपाल का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

—डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल ४६

१० कारी नलाई की जैन मूर्तियाँ—प० गोपीलाल

'अमर' एम. ए. २४२

११ केशी गौतम सवाद—

प० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री २८८

१२ कैवल्य दिवस एक सुभाव—मुनि श्री नगराज ७४

- १३ खालियर के तोमर राजवंश के समय जैनधर्म—
परमानन्द शास्त्री
- १४ चारु कीर्ति गीत—डा० विद्याधर जोहरापुरकर २८
- १५ जैन आगमों के कुछ विचारणीय शब्द—
मुनि श्री नृशमल ४०
- १६ जैन ग्रन्थ संग्रहालयों का महत्त्व—डा०
कस्तूरचन्द कासलीवाल १६६
- १७ जैनतर्क में हेत्वनुमान—डा० प्रद्युम्नकुमार १३०
- १८ ज्ञानार्णव योगशास्त्र एक तुलनात्मक अध्ययन
—बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री १७
- १९ नृष्णा की विचित्रता—श्री मद्राजचन्द्र १५०
- २० देवगढ़ का ज्ञानतिनाथ जिनालय—
प्रो० भागचन्द्र जैन एम. ए. ६२
- २१ धनपाल, विरचित भविस्यत्तकहा और उसकी
रचना विधि—डा० देवेन्द्रकुमार जैन ३३
- २२ पं० भगवतीदासकृत वैश्वविनोद—
डा० विद्याधर जोहरापुरकर ६०
- २३ पद्मप्रभ जिनस्तुति—समन्तभद्राचार्य १६३
- २४ भगवान् महावीर और बुद्ध परिनिर्वाण—
मुनि श्री नगराज १८७, २१६
- २५ भ० विनयचन्द्र के समय पर विचार—
परमानन्द शास्त्री ३०
- २६ भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा १९६६ का पुरस्कार
घोषित—लक्ष्मीचन्द्र जैन ६१
- २७ भारतीय वास्तुशास्त्र में जैन प्रतिमा सम्बन्धी
ज्ञानव्य—अग्रचन्द्र नाहटा २०७
- २८ मन्दसौर में जैनधर्म—प० गोपीलाल
'अमर' एम. ए. १६६
- २९ महाकवि समयसुन्दर और उनका दानशील तप
भावना संवाद—सत्यनारायण स्वामी एम. ए. १८०
- ३० महान् सन्त भ० विजयकीर्ति—डा० कस्तूरचन्द्र
कासलीवाल १३७
- ३१ महावीर और बुद्ध के पारिपादिक भिक्षु
भिक्षुणियाँ—मुनि श्री नगराज ७५
- ३२ यशपाल जैन का अध्यक्षीय भाषण २२२
- ३३ यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन—डा०
गोकुलचन्द्र जैन आचार्य एम. ए. पी-एच. डी. २७६
- ३४ राजा श्रोणिक या विम्बसार का आयुष्यकाल
—पं० मिलापचन्द्र कटारिया ८४
- ३५ रूपक पद (कविता)—कवि घासीराम २७
- ३६ वादामी चालुक्य अभिलेखों में वर्णित जैन
सम्प्रदाय तथा आचार्य—प्रो० दुर्गाप्रसाद दीक्षित
एम. ए. १२६
- ३७ वादामी चालुक्य नरेश और जैनधर्म—
प्रो० दुर्गाप्रसाद दीक्षित एम. ए. १२६
- ३८ वैद्यता और उपादेयता—डा० प्रद्युम्नकुमार जैन २५५
- ३९ शिरपुर जैन मन्दिर दिगम्बर जैनियों का ही है २२७
- ४० श्रमण सस्कृति का प्राचीनत्व—
मुनि श्री विद्यानन्द २७१
- ४१ श्री अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ पवली दिगम्बर जैन
मन्दिर शिरपुर—नेमचन्द्र धन्नुसा जैन १६६
- ४२ श्री अन्तरिक्षपार्श्वनाथ पीली मन्दिर शिरपुर—
नेमचन्द्र धन्नुसा जैन ११
- ४३ श्री अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ वस्ती मन्दिर तथा मूल-
नायक मूर्ति शिरपुर—प० नेमचन्द्र धन्नुसा जैन १६६
- ४४ श्री अमृतचन्द्र सूरिकृत एक अपूर्व ग्रन्थ—डा०
ए. एन. उपाध्ये (टा० पेज २)
- ४५ श्री गुरुवर्य गोपालदाम जी बरैया—पं०
माणिकचन्द्र जी व्यायाचार्य ४२
- ४६ श्रीधर स्वामी की निर्वाणभूमि कुण्डलपुर—
प० जगन्मोहनलाल शास्त्री १६४
- ४७ श्री शान्तिनाथ स्तवनम्—वादीभसिंह १
- ४८ श्रेयो जिन स्तुति—समन्तभद्राचार्य २४१
- ४९ समर्पण और निष्ठुरता—मुनि श्री कन्हैयालाल २४६
- ५० मागार धर्माश्रम पर इतर श्रावकाचारों का
प्रभाव—प० बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री १५१
- ५१ मुपाश्वं जिन-स्तुति—समन्तभद्राचार्य ६७
- ५२ स्वर्गीय नरेन्द्रसिंह सिधी का संक्षिप्त परिचय २३७
- ५३ साहित्य-समीक्षा—परमानन्द शास्त्री ६३, १४३, २३६
- ५४ साहित्य-समीक्षा—डा० प्रेमसागर २३६

श्रीमती रूपादेवी का स्वर्गवास

श्रीमान धर्मवीर सेठ भागचन्द जी सोनी अजमेर की मातेश्वरी श्रीमती रूपादेवी का स्वर्गवास दिनांक १८ अप्रैल को हो गया, यह बड़े खेद की बात है। अजमेर का यह घराना अतिशय धार्मिक रहा है। सेठानी रूपा देवी अतिशय धार्मिक वृत्ति की महिला थी। वीर सेवा मन्दिर परिवार उनके वियोग से जो कुटुम्बी जतो को दुख हुआ है उसमें सहभागी होता हुआ यह हार्दिक कामना करता है कि स्वर्गीय आत्मा को शान्ति लाभ के साथ कुटुम्बीजनों को इस महान् दुख के सहन करने का धैर्य प्राप्त हो।

वीर-सेवा-मन्दिर और “अनेकान्त” के सहायक

१०००) श्री मिश्रीलाल जी धर्मचन्द जी जैन, कलकत्ता	१५०) श्री जगमोहन जी सरावगी, कलकत्ता
१०००) श्री देवेन्द्रकुमार जैन, टूस्ट	१५०) ,, कस्तूरचन्द जी प्रानन्दीलाल जी कलकत्ता
श्री साहु शीतलप्रसाद जी, कलकत्ता	१५०) ,, कन्हैयालाल जी सीताराम, कलकत्ता
५००) श्री रामजीवन सरावगी एण्ड सस, कलकत्ता	१५०) ,, पं० बाबूलाल जी जैन, कलकत्ता
५००) श्री गजराज जी सरावगी, कलकत्ता	१५०) ,, मालीराम जी सरावगी, कलकत्ता
५००) श्री नथमल जी सेठी, कलकत्ता	१५०) ,, प्रतापमल जी मदनलाल पांड्या, कलकत्ता
५००) श्री वंजनाथ जी धर्मचन्द जी, कलकत्ता	१५०) ,, भागचन्द जी पाटनी, कलकत्ता
५००) श्री रतनलाल जी भांभरी, कलकत्ता	१५०) ,, शिखरचन्द जी सरावगी, कलकत्ता
२५१) श्री रा० बा० हरलचन्द जी जैन, रांची	१५०) ,, सुरेन्द्रनाथ जी नरेन्द्रनाथ जी कलकत्ता
२५१) श्री भरमचन्द जी जैन (पहाडघा), कलकत्ता	१०) ,, मारवाड़ी दि० जैन समाज, व्यावर
२५१) श्री स० सि० धन्यकुमार जी जैन, कटनी	१०१) ,, दिगम्बर जैन समाज, केकड़ी
२५१) श्री सेठ सोहनलाल जी जैन,	१०१) ,, सेठ चन्दूलाल कस्तूरचन्दजी, बम्बई न० २
मंसस मुन्नालाल द्वारकादास, कलकत्ता	१०१) ,, लाला शान्तिलाल कागजी, धरियागज दिल्ली
२५१) श्री लाला जयप्रकाश जी जैन	१०१) ,, सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल, इम्फाल
स्वस्तिक मेटल वर्क्स, जगाधरी	१०१) ,, शान्तिप्रसाद जी जैन, जैन बुक एजेंसी, नई दिल्ली
२५०) श्री मोतीलाल होराचन्द गांधी, उस्मानाबाद	१०१) ,, सेठ जगन्नाथजी पाण्ड्या भूमरीतलैया
२५०) श्री बन्शीधर जी जुगलकिशोर जी, कलकत्ता	१०१) ,, सेठ भगवानदास शोभाराम जी सागर
२५०) श्री जगमन्दिरदास जी जैन, कलकत्ता	(म० प्र०)
२५०) श्री सिधई कुन्दनलाल जी, कटनी	१०१) ,, बाबू नृपेन्द्रकुमार जी जैन, कलकत्ता
२५०) श्री महावीरप्रसाद जी अग्रवाल, कलकत्ता	१००) ,, बट्टीप्रसाद जी आत्माराम जी, पटना
२५०) श्री बी० आर० सी० जैन, कलकत्ता	१००) ,, रूपचन्दजी जैन, कलकत्ता
२५०) श्री रामस्वरूप जी नेमिचन्द जी, कलकत्ता	१००) ,, जैन रतन सेठ गुलाबचन्द जी टोंग्या इन्दौर
१५०) श्री वजरगलाल जी चन्द्रकुमार जी, कलकत्ता	
१५०) श्री चम्पालाल जी सरावगी, कलकत्ता	

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

R. N. 10591/62

- (१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थों से उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। सम्पादक मुस्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कार्लोदास नाग, एम. ए. डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-व्योम के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, मजिन्द १५-००
- (२) आप्त परीक्षा—श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ मटीक अपूर्व कृति, प्राप्तो की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर, विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं. दरबारीनालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिन्द ८-००
- (३) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुस्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद तथा महत्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशीलित। ... २-००
- (४) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, मटीक, मानुवाद और श्री जुगल किशोर मुस्तार की महत्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-महित। १-५०
- (५) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पद्याध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिकरचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १-५०
- (६) युक्थयुक्तासन—तत्त्वज्ञान में परिपूर्ण समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुस्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिन्द। ... ७५
- (७) श्रीपुरपाहर्षनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्व की स्तुति, हिन्दी अनुवाद सहित। ७५
- (८) शामनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वीं शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित ७५
- (९) समीचीन धर्मशास्त्र—स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुस्तार श्री जुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिन्द। ... ३-००
- (१०) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० १ मस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिन्द। ... ४-००
- (११) समाधितन्त्र और इष्टोपदेश—अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ६-००
- (१२) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दाकी महत्वकी रचना, मुस्तार श्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित २५
- (१३) तत्वाथमूत्र—(प्रभाचन्द्राय)—मुस्तार श्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... २५
- (१४) भ्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैनतीर्थ। १-२५
- (१५) महावीर का सर्वोदय तीर्थ १९ पैस, (५) समन्तभद्र विचार-दीपिका १९ पैस, (६) महावीर पूजा २५
- (१६) बाहुबली पूजा—जुगलकिशोर मुस्तार कृत (समाप्त) २५
- (१७) अध्यात्म रहस्य—पं० आशाधर की सुन्दर कृति मुस्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। १-००
- (१८) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्वपूर्ण संग्रह। ५५ ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रन्थ-परिचय और परिशिष्टों सहित। स. पं० परमानन्द शास्त्री। सजिन्द १२-००
- (१९) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ ७४० सजिन्द (वीर-शासन-मध्य प्रकाशन ५-००
- (२०) कमायपाहुड सुत—मूलग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री पतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूनिमूत्र लिखे। सम्पादक पं० हीरालालजी मिश्रान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० में भी अधिक पृष्ठों में। पृष्ठ कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। ... २०-००
- (२१) Reality आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का ग्रंथजी पे पद्यवाद बड़े आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द ६-००

प्रकाशक—प्रेमचन्द जैन, वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागज, दिल्ली से मुद्रित।

